ISSN 2277-4351
UTTMUL 000 25/35/1/2012-TC

Vaidika Vāg-Jyotiḥ

An International Refereed Research Journal on Vedic Studies

Vol. 1 July-Dec. 2012 No.1
जौलाई–दिसम्बर 2012

सम्पादक
दिनेशचन्द्र शास्त्री

गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
Gurukula Kangri Vishwavidyalaya
Haridwar-249 404(Uttarakhand), India

http://www.gkv.ac.in

ISSN 2277-4
Vol. 1, July-Dec. 2012,

'वैदिक वाग्-ज्योतिः' 'Vaidika Vāg-Jyotiḥ'

An International Half Yearly Refereed Research Journal on Vedic Stud

Annual Subscription

Rs. 150.00, US $ 9, Single Copy: Rs. 75.00
Payment Mode :
D.D. in favour of Registrar G.K.V. Haridwar (U.K.)

Published by

Prof. A.K. Chopra
Registrar, GKV, Haridwar - 249 404 (Uttarakhand) I

Printed at

Kiran Offset Printing Press, Kankhal, Haridwar - 249
(U.K.) India, Tel: +91- 9837007222, 01334 -245975

ISSN 2277-4351
UTTMUL 000 25/35/1/2012-TC

वैदिक वाग्-ज्योतिः

Vaidika Vāg-Jyotiḥ

International Refereed Research Journal on Vedic Studies

July-Dec. 2012 No.1
जौलाई–दिसम्बर 2012

सम्पादक
प्रो० दिनेशचन्द्र शास्त्री
अध्यक्ष, वेद विभाग

गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
Gurukula Kangri Vishwavidyalaya
Haridwar-249 404(Uttarakhand), India
http://www.gkv.ac.in

विषयसूची

श्रुति-सुधा

प्रजापतिश्चरति गर्भेऽ अन्तरजायमानो बहुधा वि जायते।
तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा।। यजु०३१.१९

पदार्थ:-(प्रजापति:) प्रजापालको जगदीश्वर: **(चरति) (गर्भे)** गर्भस्थे जीवात्मनि **(अन्त:)** हृदि **(अजायमान:)** स्वस्वरूपेणानुत्पन्न: सन् **(बहुधा)** बहुप्रकारै: **(वि)** विशेषेण **(जायते)** प्रकटो भवति **(तस्य)** प्रजापते: **(योनिम्)** स्वरूपम् **(परि)** सर्वत: **(पश्यन्ति)** प्रेक्षन्ते **(धीरा:)** ध्यानवन्त: **(तस्मिन्)** जगदीश्वरे **(ह)** प्रसिद्धम् **(तस्थु:)** तिष्ठन्ति **(भुवनानि)** भवन्ति येषु तानि लोकजातानि **(विश्वा)** सर्वाणि।।

अन्वय:-हे मनुष्या: ! योऽजायमान: प्रजापतिर्गर्भेऽन्तश्चरति बहुधा विजायते तस्य योनिं धीरा: परिपश्यन्ति तस्मिन् ह विश्वा भुवनानि तस्थु:।।

भावार्थ:-योऽयं सर्वरक्षक ईश्वर: स्वयमनुत्पन्न: सन् स्वसामर्थ्याज्जगदुत्पाद्य तत्रान्त: प्रविश्य सर्वत्र विचरति, यमनेकप्रकारेण प्रसिद्धं विद्वांस एव जानन्ति, तं जगदधिकरणं सर्वव्यापकं परमात्मानं विज्ञाय मनुष्यैरानन्दितव्यम्।।

(महर्षिदयानन्दकृतवेदभाष्यम्)

Vaidika Vāg-Jyotiḥ
ISSN 2277-4351
Vol.1, No.1 (I-XII) Jul-Dec 2012

सम्पादकीय

वैदिक चिन्तन के आलोक में गॉड पार्टिकल (हिग्स बोसोन)

दिनेशचन्द्र शास्त्री
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, वेदविभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
dineshcshastri@gmail.com

जेनेवा स्थित यूरोपियन आर्गेनाइजेशन फॉर न्यूक्लियर रिसर्च (सर्न) द्वारा हाल ही में गॉड पार्टिकल **(हिग्स बोसोन)** की खोज से पूरी दुनियां रोमांचित है। इन्हीं कणों को ईश्वरीय कण, ब्रह्म कण या फिर दैव कणों के अलग-अलग नामों से सम्बोधित किया जा रहा है। इस सुखद समाचार से जिसको सबसे ज्यादा आनन्दपूर्ण गौरव की अनुभूति होनी चाहिए वह है वैदिक जगत्। इस खोज ने सदियों से चली आ रही भारतीय वैदिक मान्यता और दर्शन की वैज्ञानिक पुष्टि की है । **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'**-यह वैदिक विचार धारा बताती है कि कण-कण में परमपिता परमात्मा विराजमान है। आधुनिक वैज्ञानिकों की मान्यता है कि १३.७ अरब वर्ष पहले हुए महाविस्फोट के बाद ब्रह्माण्ड की रचना इन्हीं खोजे गये ब्रह्म कणों से हुई । हमारे दर्शन में भी ऐसें ब्रह्म कण का उल्लेख मिलता है । ब्रह्माण्ड का जो भी स्वरूप है वही ब्रह्म का रूप या शरीर है। वह अनादि है, अनन्त है। जैसे प्राण का शरीर में निवास है वैसे ही ब्रह्म का अपने शरीर या ब्रह्माण्ड में निवास है । वह कण-कण में व्याप्त है । अक्षर है, अविनाशी है, अनाम है, अगोचर है, शाश्वत है ऐसे में कण-कण में भगवान् जैसे वैदिक दर्शन को गॉड पार्टिकल की खोज द्वारा वैज्ञानिक प्रमाणिकता मिलना हम सभी वेदानुयायी भारतीयों के लिए बड़ा मुद्दा है। वैदिक दर्शन में **'ईशावास्यमिदꣳ सर्वम्'** अर्थात कण-कण में ब्रह्म है की मान्यता सहस्रों वर्षों से रही है, लेकिन अभी तक इसकी कोई वैज्ञानिक पुष्टि नहीं हो सकी थी, लेकिन गॉड पार्टिकल की खोज से विज्ञान के इस मूल प्रश्न के साथ ही दर्शन की यह रहस्यमय गुत्थी भी लगभग सुलझती नजर आ रही है । महाविस्फोट **(बिग बैंग)** के बाद ब्रह्माण्ड का निर्माण हुआ । इस दौरान एक ही तत्त्व का रंग या प्रभाव बाकी सभी पर चढ़ गया । यह और कुछ नहीं सम्भवतः सूक्ष्म बोसोन कण ही थे। इन्हीं बोसोन कणों के कारण सभी में भार आया जो परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया करके बाद में विभिन्न रूपों में प्रकाशमान अथवा

कहें कि अस्तित्वमान हुए । अब यदि दर्शन की शब्दावली पढें तो वहां लिखा गया है वह एक **(ईश्वर या ईश्वरीय कण)** ही अनेक (संसार की विभिन्न चीजों) में परिवर्तित हुआ। **रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव**[१]। कह सकते हैं यही वह तत्त्व है जो संसार का आदि निर्माता अथवा मूल तत्त्व है । इस तरह स्पष्ट है कि यदि बोसोन कणों की वास्तव में खोज कर ली गई है, तो अभी तक सबसे बड़ी गुत्थी सुलझने की ओर है और इससे विज्ञान के कई अंगों के साथ-साथ दर्शन का भी समाहितीकरण हो जायेगा। इस खोज का असली महत्त्व यह है कि ब्रह्माण्ड का अभी तक ९० प्रतिशत अज्ञात हिस्सा **(त्रिपादस्यामृतं दिवि**[२]**)** जिसे हम डार्क मैटर कहते हैं, को जानने में भी सहायता मिलेगी । इस तरह ब्रह्माण्ड के और रहस्यों से भी पर्दा उठेगा। यह एक ऐसी खोज है जिससे आने वाले समय में विज्ञान, ब्रह्माण्ड, दर्शन और मानव जीवन के बारे में हमारी वर्तमान कालिक मूलधारणाएं-अवधारणाएं काफी कुछ बदल जायेंगी और तकनीक के क्षेत्र में मानव एक बड़ी छलांग लगाने में समर्थ हो सकेगा। ऐसा मानना है परमाणु वैज्ञानिक प्रो० यशपाल का ।

गॉड पार्टिकल की खोज से जुड़े वैज्ञानिकों का मानना है कि इसकी मौजूदगी का पता लगाना उनके काम का बहुत अच्छा पारितोषिक है । गॉड पार्टिकल वह कण है जो पदार्थ को भार प्रदान करता है । अगर कणों में भार नहीं होता तो ब्रह्माण्ड और जीवन नहीं होता । इस खोज से भौतिक विज्ञान के बारे में बहुत-सी नई जानकारियां सामने आने की सम्भावना है । खोज में कई देशों के हजारों वैज्ञानिकों ने योगदान दिया। मगर तीन लोगों का इसमें खास योगदान है इनमें जॉयइन कैण्डेला और फैबिओला जिया नाटी ने दो शोध टीमों का नेतृत्त्व किया जिसने इस खोज को अन्जाम दिया और सर्न के डायरैक्टर जनरल रॉल्फ ह्यूअर सर्वाधिक प्रमुख हैं। फैबिओला का कहना है कि १९९५ में टॉप क्वार्क (पदार्थ का मौलिक कण) की खोज के बाद गॉड पार्टिकल की खोज को लेकर वैज्ञानिकों में जुनून आया । हमें इस प्रकार की चीजों को समझना था कि क्यों टॉप क्वार्क इतना भारी है और इलैक्ट्रॉन इतना हल्का है । मेरे लिए यह घटना आगमन बिन्दु भी है और प्रस्थान बिन्दु भी । आगमन इसलिए है क्योंकि यह वैज्ञानिकों का सपना था । हालांकि अभी बहुत से प्रश्नों के उत्तर खोजने हैं।' खोज से जुड़े यूरोपियन ऑर्गेनाइजेशन फॉर न्यूक्लियर रिसर्च (सर्न) के महानिदेशक ह्यूअर का कहना है कि हिग्स पहला मौलिक स्केलर पार्टिकल हो सकता है । स्केलर पार्टिकल की कोई पसन्दीदा दिशा नहीं होती है । उनके मुताबिक टॉप क्वार्क और हिग्स की खोज में अन्तर यह है कि हमें टॉप क्वार्क की मौजूदगी के बारे में पता था, लेकिन हिग्स के बारे में उम्मीद की जा रही थी कि इसकी मौजूदगी हो भी सकती है और नहीं भी । जॉयइन कैण्डेला के मुताबिक पहले खोजे गये पार्टिकल्स या तो मैटर पार्टिकल हैं या उनकी प्रतिकृति हैं । हिग्स उससे सम्बन्धित है। १९७० में सामने आये फिजिक्स के स्टैण्डर्ड मॉडल के मुताबिक ब्रह्माण्ड मूल कणों से मिलकर बना हुआ है। वैज्ञानिकों ने ११ कण तो खोज लिये हैं, लेकिन १२वें कण की उन्हें तलाश थी, जिसे हिग्स बोसोन माना जा रहा है ।

यह ब्रह्माण्ड रहस्यमय है और उससे भी कई ज्यादा रहस्यमय है उसके निर्माण की गाथा। सृष्टि

के आरम्भ में इस महाकाश में जो कुछ भी गोचर अगोचर है, वह सारा का सारा द्रव्य एक मटर के दाने सरीखे अति सघन पिण्ड में समाहित था जिसमें आज से करीब १४ अरब वर्ष पूर्व महाविस्फोट हुआ और उसके बाद ब्रह्माण्ड निर्मित हुआ । वैदिक चिन्तन में सृष्टि उत्पत्ति लगभग २ अरब वर्ष पूर्व हुई है।[3] यद्यपि शक्तिशाली वैज्ञानिक यन्त्रों की सहायता से ब्रह्माण्ड के कई रहस्यों का अनावरण हो चुका है लेकिन यह अब भी जानना बाकी है कि आखिर उस महाविस्फोट के 'पहले' पल के बाद क्या हुआ ? प्रश्न कई हैं । जैसे ग्रह नक्षत्र तारों और मन्दाकिनिओं का निर्माण कैसे हुआ ?

ऐसे अनेक प्रश्नों के समाधान के लिए जेनेवा के पास स्विट्जरलैण्ड और फ्रांस की सीमा पर लार्ड हेड्रन कोलाइडर नामक महामशीन लगाई गई। सर्न ने अप्रैल १९९८ से इस महत्वाकांक्षी परियोजना पर कार्य आरम्भ कर दिया था । इस प्रयोग से प्रोटोनों की महाभिढ़न्त कराकर आशा की गई कि इससे कुछ कुछ वैसी ही स्थितियां ' बिग बैंग ' उत्पन्न होंगी जो ब्रह्माण्ड के उद्भव के समय थीं । वैज्ञानिकों के अनुसार इस महाप्रयोग से कई मूलभूत कण निकल सकते हैं। जिनमें से एक हिग्स बोसोन हो सकता है। इस कण के बारे में पीटर हिग्स नामक वैज्ञानिक की मान्यता है कि इन्हीं कणों के कारण अन्य कणों में द्रव्यमान का सृजन हुआ और इसी के कारण अलग-अलग चीजों का द्रव्यमान एक दूसरे से अलग है, यद्यपि सभी एक ही द्रव्य से उद्भूत हुए हैं। गॉड पार्टिकल वस्तुतः एक काल्पनिक कण है जिसके बारे में वैज्ञानिकों की धारणा है कि आरम्भिक द्रव्य इसी के कारण इस लायक हो सका कि जिससे ब्रह्माण्ड की संरचना हुई । यद्यपि इन कणों से जुड़ी संकल्पना बहुत पहले ही विकसित हो चुकी थी लेकिन इनकी निष्पत्तियाँ आज तक अज्ञेय थीं । प्रयोगशालीय स्तर पर इनका सत्यापन नहीं हो पाया था और तभी से ये अनसुलझी पहेली ही हैं ।

ईश्वरीय कणों के सन्दर्भ में सर्न के वैज्ञानिकों का कहना है कि इन कणों को हमने खोज तो लिया है पर अभी प्रयोग के आरम्भिक स्तर पर हम उनकी मौजूदगी का कोई ठोस प्रमाण नहीं दे सकते हैं। सर्न की शोध टीमों का निष्कर्ष है कि स्पष्ट रूप से अभी भी नहीं कहा जा सकता है कि नवीन कण गॉड पार्टिकल ही है लेकिन इतना जरूर है कि वह उसके समानुरूप अवश्य है । इस कण का द्रव्यमान १२५.३ जी ई वी दर्ज किया गया है जो पूर्व के अनुमानों की पुष्टि करता है।

फिर भी मूल प्रश्न अनुत्तरित ही है यदि ईश्वरीय कणों से हम रूबरू हो भी जाते हैं तो भी यह जानना बाकी रहेगा कि आखिर इन कणों का निर्माण किसने किया और इस जगत् का नियन्ता कौन है ? जैसा कि कृष्ण ने उद्घोष किया था **'एको·हम् द्वितीयो नास्ति '** तो अभी भी उस 'एक' की खोज बाकी है । ईश्वर की संकल्पना अत्यन्त विराट् है और सारे मानवीय अभिज्ञान और साफल्य अत्यन्त क्षुद्र हैं। कृष्ण ही गीता में कहते हैं कि परमात्मा को जानने के लिए दिव्य दृष्टि चाहिए और वह विज्ञान की सीमा से परे है। बकौल शायर- 'जो उलझी थी कभी आदम के हाथों, वह गुत्थी आज भी सुलझा रहा हूं।'

हिग्स बोसोन (ईश्वरीय कण) ऐसा आधार भूत कण है जो एक दृष्टि से सूक्ष्म से लेकर सबसे बड़ी संरचना के अस्तित्व के लिए जिम्मेदार है जिनसे ब्रह्माण्ड का निर्माण हुआ। प्रयोगशाला में इस कण को देखने के बाद इसकी तुलना धर्म से की जाने लगी । तब से धर्म बनाम विज्ञान सम्बन्धी समस्त तुलनाएं और कहानियां प्रकाश में आयी हैं। कुछ लोग इसको विज्ञान की फतह के रूप में देख रहे हैं वहीं कुछ लोग इसको धर्म की विजय कह

रहे हैं । यह भी कहा जा रहा है कि कुछ नया उद्घाटित नहीं हुआ है क्योंकि कई प्राचीन धर्मों में प्राचीनतम वैदिक धर्म में पहले से ही ऐसा माना जाता है कि कण-कण में ईश्वर व्याप्त है-'**स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु**[४], **विभु प्रभु**[५]; **ईशावास्यमिदथं सर्वम्**[६]'। सो, यह खोज एक प्रकार से उन्हीं मान्यताओं की पुष्टि है।

कई वैज्ञानिक ऐसा मानते हैं कि हिग्स बोसोन की धर्म या धार्मिक विश्वास से तुलना का कोई औचित्य नहीं है क्योंकि हिग्स बोसोन जैसे कण की खोज न ही ईश्वर के अस्तित्त्व को खारिज करती है और न ही उसका समर्थन करती है।

यह सही है कि ईश्वर के गुणों और हिग्स बोसोन के बीच में समानताएं हैं लेकिन हमको इससे भ्रमित नहीं होना चाहिए । साथ ही इन दोनों का घालमेल करनी की जरूरत भी नहीं है। मान्यता है कि ईश्वर कण -कण में और सर्वत्र व्याप्त है। यही बात हिग्स फील्ड के बारे में कही जा रही है । वैज्ञानिकों का भी विश्वास है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में हिग्स फील्ड व्याप्त है। भले ही इस तरह की कई समानताएं दोनों के बीच दिखती हों लेकिन इसके बावजूद हिग्स बोसोन का अस्तित्त्व धार्मिक मान्यताओं एवं वैधता की न तो पुष्टि करता है और न ही खारिज करता है । यदि हिग्स बोसोन (गॉड पार्टिकल) का अस्तित्त्व नहीं भी होता तब भी कण कण में ईश्वर सम्बन्धी धार्मिक विश्वास पहले की तरह बरकरार रहता । हिग्स बोसोन कई आधार भूत कणों में से ही एक है। इसका अन्य कणों की अपेक्षा महत्त्व इसलिए अधिक है क्योंकि इस कण और इससे जुड़ा फील्ड (हिग्स फील्ड) बाकी सभी को भार प्रदान करता है। जिसके चलते ब्रह्माण्ड का अस्तित्त्व सम्भव हो सका। ठीक इसी तरह यह भी कहा जा सकता है कि इलैक्ट्रॉन, प्रोटोन भी हिग्स बोसोन की तरह ही महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि इनके अभाव में भी जीवन और संरचनाएं सम्भव नहीं हो पातीं ।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि हिग्स बोसोन विशेष रूप से कण-कण में व्याप्त भगवान् सम्बन्धी धार्मिक विश्वास को पुष्ट या खारिज नहीं करते। इसके साथ ही यह धर्म पर विजय भी नहीं है क्योंकि प्रश्न उठता है कि यदि हिग्स ही सभी प्रकार की संरचनाओं और जीवन की उत्पत्ति के लिए जिम्मेदार है तो बड़ा प्रश्न वैज्ञानिकों से यह पूछा जा सकता है कि किसने हिग्स बोसोन को बनाया ?

वैदिक वाङ्मय में जो बात लाखों वर्ष पूर्व ही समझायी जा चुकी है, जेनेवा में गॉड पार्टिकल की खोज ने उसको वैज्ञानिक आधार प्रदान किया है। वैज्ञानिकों ने हमारे ऋषियों मुनियों द्वारा बहुत पहले बताई बातों की ही पुष्टि की है। **अब तक हम केवल आध्यात्मिक आधार पर यह बात करते थे अब इसके भौतिक प्रमाण मिल गये हैं।** जो सूक्ष्म है वही ब्रह्माण्ड है। वैदिक सनातन परम्परा में इसका उल्लेख है। हमारे धर्म एवं दर्शन शास्त्रों में अणु, परमाणु व उससे छोटे कणों की विस्तृत व्याख्या है। गॉड पार्टिकल २१वीं सदी की सबसे बड़ी खोज है। विज्ञान व अध्यात्म नजदीक आ रहे हैं इससे आम आदमी को लाभ होगा। इससे हमें प्रकृति को समझने का और बेहतर मौका मिलेगा । ईश्वर और विज्ञान दोनों ही हैं, इनका इतना पास आना वास्तव में सुखद है। तमाम चीजों की जानकारी इससे मिलने की उम्मीद हम करते हैं । गॉड पार्टिकल की खोज ने कण-कण में भगवान् की पुष्टि करके इस सन्दर्भ में वैदिक अवधारणा को आधार प्रदान कर हमारे दर्शन को फिर शिखर पर पहुंचाया है। विज्ञान जिन जानकारियों की खोज अब कर रहा है, उनकी चर्चा हमारे वैदिक ग्रन्थों में पहले से ही है। यह खोज कण-कण में परमात्मा

की व्याप्ति को मजबूत आधार देती है। ऋग्वेद में सृष्टि-सृजन की श्रुति में कहा गया है - **सृष्टि से पहले सत् नहीं था, असत् भी नहीं, अन्तरिक्ष भी नहीं, आकाश भी नहीं था। छिपा था कहां क्या, किसने देखा था । उस पल तो अगम, अटल जल भी कहां था । बस एक बिन्दु था** (ऋ० १०/१२९) । ऋग्वेद इससे आगे भी रहस्य खोलता है । उसमें लिखा है कि ब्रह्म स्वयं प्रकाश है उसी से ब्रह्माण्ड प्रकाशित है । उस एक परमतत्त्व ब्रह्म में से ही ब्रह्माण्ड का प्रस्फुटन हुआ है। उपनिषद् में एक जगह उल्लेख है कि ब्रह्म, ब्रह्माण्ड और आत्मा, ये तीन तत्त्व ही हैं। ब्रह्म शब्द √बृहि धातु से बना है, जिसका अर्थ बढ़ना या फूट पड़ना होता है। ब्रह्म वह है, जिसमें से सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति हुई या जिसमें से वे फूट पड़े हैं। विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का कारण ब्रह्म है। पदार्थ का विघटित रूप ही परम अणु है। जेनेवा प्रयोग में वैज्ञानिकों ने द्रव्य और द्रव्यमान के लिए इसी गॉड पार्टिकल को जिम्मेदार माना है। तै० उ० में इसी द्रव्य के बारे में समझाया गया है । इसमें कहा गया है कि पदार्थ का संगठित रूप जड़ है और विघटित रूप परम अणु है । इसी अणु को ही वेद परमतत्त्व कहते हैं और श्रमण पुद्गल। उपनिषद् में आगे कहा गया है कि आकाश के पश्चात् वायु, वायु के पश्चात् अग्नि, अग्नि के पश्चात् जल, जल के पश्चात् पृथ्वी, पृथ्वी से औषधि, औषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य, वीर्य से पुरुष अर्थात् शरीर उत्पन्न होता है ।

हिग्स बोसोन की खोज के परिप्रेक्ष्य में कहा जा सकता है कि आधुनिक वैज्ञानिकों ने हाल ही में पार्टिकल फिजिक्स और कास्मोलॉजी (ब्रह्माण्ड विज्ञान) के क्षेत्र में महत्वपूर्ण प्रगति की है। कास्मोलॉजी अब एक वास्तविक विज्ञान है । इसलिए हमें वास्तविक ब्रह्माण्ड तक पहुंच और उसके बारे में अनुसंधान करने के लिए कॉस्मॉस की जरूरत है । आशा है कि जल्द ही ऐसी परिकल्पना मिल जायेगी जिससे सैद्धान्तिक तौर पर ब्रह्माण्ड में होने वाली प्रत्येक घटना की भविष्यवाणी की जा सकेगी।

वेदों में ईश्वर एक ऐसी ज्ञानयुक्त, अखण्ड और एकरस अपरिवर्तनीय सूक्ष्म शक्ति है जो अणु अणु में व्यापक है-**य एतं देवमेकवृतं वेद** (अथर्व०१३/४/१५)। यजुर्वेद ४०/८ में उल्लेख है वह ईश्वर व्यापक है (स पर्यगात्), सबका अध्यक्ष है (परिभूः), वह स्वयं अपनी शक्ति से प्रकाशित होने वाला और अपनी सत्ता के लिए किसी दूसरी सत्ता का आश्रय न चाहने वाला (स्वयम्भूः) है। ऋग्वेद १०/५४/६ में कहा है कि ईश्वर वह है जिसने प्रकाश वाले पदार्थों में अपना प्रकाश रखा है (यो अदधात् ज्योतिषि ज्योतिरन्तः) । आधुनिक धर्मों में ईश्वर के प्रति जो भाव प्रकट किये गये हैं उनमें कोई ऐसा यथार्थ और उचित भाव नहीं है जो वैदिक चिन्तन में न हो । अथर्ववेद १०/२/२४,२५ में उल्लेख है कि भूमि, द्यौ, अन्तरिक्ष को धारण करने वाला ब्रह्म है (**ब्रह्मेदमूर्ध्वं तिर्यक् चान्तरिक्षं व्यचो हितम्**)। ऋग्वेद १०/१२१/७ में वर्णन मिलता है कि विस्तृत जलों ने जब विश्व रूपी गर्भ को धारण किया जिसमें अग्नि उत्पन्न हुई उस समय सब देवों का प्राणरूप एक ईश्वर था (**आपो ह यद्बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्**) । ऋग्वेद के इसी हिरण्यगर्भ सूक्त में कहा गया है कि सृष्टि के पूर्व एक प्रकाशपुंज था वही सबका एक स्वामी था (**हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्**)। ईश्वर सम्बन्धी इस प्रकार के प्रमाण वेदों में हजारों स्थलों पर देखने को मिलते हैं। जिनमें से कुछ और इस प्रकार हैं -**एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्** (ऋ०

८/५८/२)- ब्रह्म एक है परन्तु सृष्टि में भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्य करता है। **इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते** (ऋ० ६/४७/१८), सर्वं खल्विदं ब्रह्म (छान्दो० ३/१४/१) । ऋग्वेद १०/८८/२-**गीर्णं भुवनं तमसापगूळमाविः स्वरभवज्जाते अग्नौ। तस्य देवाः पृथिवी द्यौरुतापोऽरणयन्नोषधीः सख्ये अस्य॥**' में सृष्टि उत्पत्ति से पूर्व क्या था, कैसा था? आदि प्रश्नों का युक्तियुक्त और तर्कपूर्ण समाधान मिलता है । मन्त्रानुसार उत्पत्ति से पूर्व यह संसार निगला हुआ सा और अंधकार से अत्यन्त आच्छादित था। सूर्य, चन्द्र, ग्रह नक्षत्र, तारा आदि, सस्य श्यामला मही, कल कल ध्वनि करके बहते जल, सर सर करता धीर समीर (वायु) आदि पदार्थों का नाम संसार है। सृष्टि से पूर्व सुतराम् यह संसार अपने कारण में विलीन था (गीर्णं भुवनम्)। जब सूर्य चन्दादि प्रकाशमय पिण्ड न थे तो अंधकार ही होगा इस अवस्था को **तमसापगूळहम्**=अंधकार से अत्यन्त आच्छन्न था, शब्दों में व्यक्त किया गया है। सृष्टि में सबसे पूर्व एक आग्नेय पिण्ड पैदा हुआ और **आविः स्वरभवज्जाते अग्नौ**=अग्नि के उत्पन्न होने पर प्रकाश हो गया । इस आग्नेय पिण्ड की उत्पत्ति के पीछे सारी सृष्टि क्रमशः उत्पन्न हुई, **तस्य देवाः पृथिवी द्यौरुतापो·रणयन्नोषधीः सख्ये अस्य**=इस महान् आग्नेय पिण्ड के सहयोग से पृथिवी, द्यौ, जल और औषधियां रमण करने लगी । सूर्य से पृथिवी पिण्ड पृथक् हुआ, सहस्रों वर्ष उस पर मूसलाधार वर्षा होती रही। तब कहीं पृथिवी ठण्डी हुई, और उसके पश्चात् औषधि वनस्पति आदि की उत्पत्ति हुई। सृष्टि उत्पत्ति का यह क्रम आज कल के वैज्ञानिक बतलाते हैं, वेद विज्ञान का सिद्धान्त ग्रन्थ है इसमें ऐसे गम्भीर वैज्ञानिक तथ्यों को देखकर पश्चिमी विद्वान् चकित रह जाते हैं। ऋग्वेद १/१६४/१३-**पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने तस्मिन्ना तस्थुर्भुवनानि विश्वा। तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न शीर्यते सनाभिः॥** अर्थात् पंचभूतमय निरन्तर फिरते हुए इस संसार चक्र में सब भुवन स्थित हैं अर्थात् सारा संसार पांच भूतों से बना है, और इन्हीं में स्थित है। रथ के पहिए का अक्ष तप जाता है उसे विश्राम देना होता है परिमाण से अधिक भार पड़ जाय तो वह टूट जाता है, किन्तु यह चक्र **नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न शीर्यते सनाभिः**=इस चक्र का अक्ष न तपता है, न बहुत भार से टूटता है और न शीर्ण होता है, क्योंकि सनातन से यह **सनाभिः**=बन्धनयुक्त है। अनादि काल से यह संसार चला आ रहा है इसका अक्ष लक्ष्य पर पहुंचने से पूर्व तप ही नहीं सकता । बहुत भार तो तब हो, जब इससे बाहर कुछ भार हो । भार तो पहले सारा इसी में है। भगवान् इसकी नाभि है, अतः इसके शीर्ण होने का प्रश्न ही नहीं है। दिन के बाद रात्रि, रात्रि के पश्चात् दिन के समान सृष्टि के बाद प्रलय, प्रलय के बाद पुनः सृष्टि इसी तरह संसार चक्र चल रहा है।

संसार एक समष्टि शरीर है और परमात्मा उस शरीर में व्यापक है । कॉस्मोलॉजिकल आर्ग्यूमेंट के अनुसार जगत् की प्रवृत्ति किसी चेतन से हुई है, क्योंकि इसके विकास में बुद्धि द्योतक नियम काम करते हैं। वेद कहता है-**ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि**-(यजु० ३१/४) उस परम पुरुष से विश्व की प्रवृति हुई, जड़ चेतन दोनों की । टेलियोलॉजिकल आर्ग्यूमेंट का आधार विज्ञान है विज्ञान संसार के विविध अंगों में नियमों का अविष्कार करता है इसी को रचना या डिजाइन कहते हैं। अब प्रश्न फिर आपस में आन्तरिक

नियमों से मिले हैं। यथा वनस्पति शास्त्र वनस्पति जगत् के नियमों की सिद्धि करता है और पशु शास्त्र (जूलॉजी) पशु जगत् में । फिर वनस्पति शास्त्र का पशु शास्त्र से सम्बन्ध है क्योंकि पशु और वनस्पति आपस में एक अटूट रस्सी से बंधे हुए हैं। इस प्रकार सब विज्ञानों के ऊपर एक व्यापक विज्ञान है । उसे ब्रह्म विद्या कहते हैं । वेद में इस परम संश्लिष्ट Highest Synthesis को 'सूत्रस्य सूत्रम्' कहा है। **यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः। सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्याद् ब्राह्मणं महत्॥** (अथर्व० १०/८/३७)। प्रत्येक विज्ञान के आधार भूत नियमों का रचियता भी प्रभु है, और उस विज्ञान का प्रथम बोध भी ईश्वर देता है।

सृष्टि से पूर्व प्रकृति थी । व्यास मुनि ने यो० सू० २/१९ का भाष्य करते हुए प्रकृति को 'निस्सता सत् निःसदसत्' कहा है। प्रकृति असत् इसलिए न थी कि वह परमार्थ में थी । सत् इसलिए न थी कि उसका व्यवहार न था । अभाव से जो महान् ढ़का हुआ था, वह एक परमात्मा के तप से उत्पन्न हुआ-**तुच्छेयनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिनाजायतैकम्** (ऋग्०१०/१२९/३) । तपः का अर्थ 'स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया' है। उससे - नोसदासीत् -से आभु- Pure being सत् (महान्) उत्पन्न हुआ। मनसोरेतः प्रथमंयदासीत् (ऋ० १०/१२९/४) इससे ज्ञान का प्रथम बीज अहंकार -मैं हूं, यह ज्ञान और तन्मात्रा- **केवल वह,** यह ज्ञान पैदा हुआ । यह शुद्ध सत्व का अधिक व्यक्त रूप है।

इसके आगे सृष्टि का क्रम 'तिरश्चीनोरश्मिः' दोमुखा होता है। **स्वधा अवस्तात् प्रयतिः पुरस्तात्** (ऋ० १०/१२९/५) -अपने में आश्रित रहने वाले भूत एक ओर, प्रयत्न के साधन मन और इन्द्रिय दूसरी ओर। वैदिक तर्क प्रकृति का विकास पुरुषार्थ (जीवों की आवश्यकता के अनुसार) मानता है। वैशेषिक कथित परमाणु तन्मात्र ही हैं। कणाद को इन कणों से आगे प्रयोजन न था। भूतों के विकास के क्रम को वेद इस प्रकार व्यक्त करता है- **यदन्तरा द्यावापृथिवी अग्निरैत् प्रदहन् विश्वदाव्यः। यत्रातिष्ठन्नेकपत्नीः परस्तात् क्वेविासीन्मातरिश्वा तदानीम्॥** (अथर्व० १०/८/३९) अर्थात् १. आकाश (Etherial state) २. वायु (Gasious state) ३. अग्नि (Agneous state) ४. जल (Liquid state) ५. पृथिवी (Solid state) यह क्रम युक्ति युक्त है।

वैदिक चिन्तन में सृष्टि की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय का नियमन अन्तर्यामी चेतन ब्रह्म द्वारा होता है। किसी भी तत्त्व के पिण्ड का विभाग करते हुए जो अन्तिम खण्ड या कण है, दृश्यमान जगत् की उत्पत्ति के समय वही उसका परमाणु है और प्रारम्भिक या आदि कण होने से अविभाज्य मूल तत्त्व है, यद्यपि मूलतः वह सत्व रजस् तमस् की साम्यावस्था प्रकृति का कार्य है। ऐसे ही परमाणुओं से सृष्टि का निर्माण होता है। इतने सूक्ष्म तत्त्व परमाणु को हाथ से पकड़ने की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती । तब इनके द्वारा संयोग वियोग की क्रिया कैसे संभव है ? निश्चय ही उनके संयोग वियोग के द्वारा सृष्टि का निर्माण करने के लिये चेतन सत्ता का परमाणुओं के भीतर व्यापक होना आवश्यक है। जिससे वह ईक्षणमात्र से उनको गति दे सके । बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा है कि जो पृथिवी, जल, अग्नि, अन्तरिक्ष, वायु, द्यु, आदित्य, दिशाओं, चन्द्र तारक, आकाश, तमस्, तेज, वाणी, चक्षु, श्रोत्र, मन, त्वचा, विज्ञान तथा रेतस् में रहता हुआ भी इन सब से पृथक् है और फिर भी सबका नियमन करता है वही तेरा आत्मा 'अन्तर्यामी' है,

'अमृत' है (३/७/३-२३) इसी उपनिषद् में आगे चलकर याज्ञवल्क्य गार्गी से कहते हैं -हे गार्गि ! इस अविनाशी चेतन तत्त्व ब्रह्म के शासन में पूर्व और पश्चिम की तथा नयी व पुरानी विभिन्न नदियां निरन्तर बहती रहती हैं-**एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्यो अन्या नद्यः स्यन्दन्ते .... प्रतीच्यो अन्याः** (बृ० उ० ३/८/९) । यहां, जल आदि उपलक्षण मात्र हैं। वस्तुतः इससे सभी जड़ पदार्थों में चेतन निरपेक्ष प्रवृति का न हो सकना अभिप्रेत है।

वेदों में अनेकत्र सृष्टि को उत्पन्न करने वाले चेतन तत्त्व ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है -

- **इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।**- (ऋ० १०/१२९/७)
- **स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्** (यजु०१३.४)
- **तस्मिन्निदꣳ सं च वि चैति सर्वम्** (यजु०३२.८)

इन श्रुति वचनों में ब्रह्म के कर्ता, धर्ता एवं हर्ता होने का उल्लेख है । ब्रह्म सर्ग काल में अव्यक्त प्रकृति को कार्य रूप में परिणित कर जगद्रचना करता है। प्रकृति को नियंत्रित करने वाली शक्ति ब्रह्म है। सृष्टि का नियंत्रण, संचालन किन्हीं नियमों के आधार पर हो रहा है। नियमबद्धता प्रकृति में परमात्मा का प्रकटीकरण है। प्रकृति की सूक्ष्म शक्तियों तथा नियमबद्धता से अनुशासित विश्व परमात्मा के अस्तित्त्व का साक्षी है। विश्व के बृहद् आकार, ग्रह नक्षत्रों की अगणित संख्या और उन सब पर शासन करने वाले नियमों के वैविध्य को देखकर बुद्धिपूर्वक नियोजन करने वाले कुशल रचयिता पर विश्वास करना ही पड़ता है । यह सारी व्यवस्था इतनी सूक्ष्म और यथार्थ है कि उसकी संगति को प्रकट करने के लिए नियम खोजने पडते हैं। इन नियमों की खोज करना ही विज्ञान का लक्ष्य है । नियम क्या हैं? -ज्ञात तथ्यों का साधारणीकरण । जो नियम आज सत्य हैं, वे कल भी सत्य रहेंगे और परसों भी । जब तक यह विश्व रहेगा तब तक सत्य रहेंगे। यदि ऐसा न हो- इस प्रकार का विश्वास न हो तो गवेषणा करना व्यर्थ हो जाय और सारी वैज्ञानिक प्रगति ठप हो जाय । सृष्टि के रहस्यों को जानने में मन की असमर्थता का उल्लेख करते हुए प्रो० आइन्स्टीन ने लिखा है -**भौतिकी विज्ञानी का मुख्य उद्देश्य उन मूलभूत सामान्य नियमों की खोज करना है जिनसे सृष्टि रचना का तर्कशास्त्रीय ज्ञान प्राप्त हो सके, किन्तु इन नियमों को जानने के लिए कोई तर्क शास्त्रीय मार्ग है नहीं । यह तो अन्तर्ज्ञान (Intution) के द्वारा ही संभव है ।**

प्रत्येक विज्ञान बताता है कि संसार की स्थिति नियमों पर है। इन लेखों का संग्रहभूत विज्ञान (Science) है । विज्ञान नाम ही नियमों का है । ब्रह्माण्ड भौतिक पदार्थों से और फिर सारा भौतिक प्रपंच प्राणी जगत् से एक सूत्र में बंधा हुआ है। सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो प्रत्येक क्षेत्र की रचना निराली प्रतीत होती है । इन सब रचनाओं की फिर एक व्यापक रचना है । यह रचना सर्वज्ञ रचयिता के सिवा और किसकी हो सकती है? जो प्रत्येक विज्ञान के क्षेत्र में फैले हुए उस सूत्र को जानता है और फिर उस सूत्र के सूत्र को जानता है, वह परमात्मा को जानता है -**यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः। सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्याद् ब्राह्मणं महत्॥** (अथर्व० १०/८/३७)

जैसे मकान की एक ईंट दूसरी से जुड़ी होती है, वैसे ही सूर्य चन्द्रमा से, चन्द्रमा पृथिवी से, पृथिवी वनस्पति से और वनस्पति जीव-जन्तुओं से जुड़ी हैं । बड़ी से बड़ी वस्तु से लेकर छोटी से

छोटी वस्तु में नियम काम कर रहे हैं । सूक्ष्मतम परमाणु भी सौर मण्डल का छोटा रूप है। किसी सर्वेच्च चेतना और मस्तिष्क के बिना नियमों पर आधारित व्यवस्था नहीं बन सकती। सृष्टि का संचालन कर रहे नियमों में से ज्यों हि किसी नियम का पता चलता है त्यों हि वह नियम चिल्ला कर कहता है -''मेरा निर्माता ईश्वर है, तुमने तो बस मुझे खोज निकाला है ।'' विश्व के चमत्कारों में निष्पक्ष ज्योतिर्विदों को किसी ऐसी अज्ञात और कदाचित् अज्ञेय शक्ति पर विश्वास करने को विवश कर दिया है जो विश्व की विशालता और नियमबद्धता के लिए जिम्मेदार है । परमात्मा की सत्ता से शून्य विश्व के ढांचे में व्यवस्था की कल्पना करना ऐसा विरोधाभास है जिसका कोई अर्थ नहीं बनता । व्यवस्थापक की सत्ता को नकारना ऐसा ही है जैसे बगीचे की शोभा और उसके सौन्दर्य को सराहना, परन्तु माली के अस्तित्त्व को स्वीकार न करना।

सृष्टि में असंख्य ग्रह उपग्रह हैं जो अपनी धुरी और परिधि में गति कर रहे हैं। परन्तु लाखों करोड़ों वर्ष बीत जाने पर भी एक दूसरे के मार्ग में आकर नहीं टकराये। इसी कारण सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण की भविष्यवाणी सैकड़ों वर्ष पहले की जा सकती है। संसार के विविध पदार्थ एक दूसरे की आकर्षण आदि शक्तियों से स्थिर हैं। परन्तु यह आकर्षण भी तो बुद्धिपूर्वक कार्य कर रहा है। ग्रहों उपग्रहों ने आकर्षण करना भी किसी नियामकता से स्वीकार किया है। ज्वार भाटे के निश्चित समय की पहले से जानकारी रहने के कारण ही यथासमय जहाज चलाये जाते हैं। चक्रवर्ती राजा के कार्यालय में कार्यरत कर्मचारी भी कभी-कभी देर से पहुंच पाते हैं। परन्तु सूर्य और चन्द्रमा के उदयास्त के क्रम में कभी एक पल भी इधर उधर नहीं हो पाता- **कालेनोदेति सूर्यः काले नि विशते पुनः** (अथर्व १९/५४/१)। दिन के बाद रात और रात के बाद दिन का क्रम निरन्तर चलता रहता है । इसी प्रकार नियत क्रम के अनुसार ऋतुओं का चक्र घूमता रहता है । पहले फूल खिलता है, फिर फल आता है। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि पहले फल आ जाय और फिर फूल खिले । गुलाब के बीज से गुलाब और गेंदे के बीज से गेंदा ही पैदा होता है। जो आधारभूत नियम भारत में चलते हैं, वही अन्य देशों में भी । इस प्रकार की क्रमबद्धता तथा कार्यकारणशृंखला का बने रहना प्रभुसत्तासम्पन्न विश्वात्मा के बिना सम्भव नहीं।[७]

पुराणों में अनेक स्थलों पर समुद्र मंथन का वर्णन मिलता है । कूर्मपुराण पूर्वार्ध के प्रथम अध्याय में समुद्र मंथन से प्रादुर्भूत विष्णु पत्नी लक्ष्मी (श्री) को **सर्वजगत्सूतिः त्रिगुणात्मिका प्रकृतिः** कहा है इसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे वहां आलंकारिक रूप में सृष्टि उत्पत्ति का वर्णन किया हो । परमात्मा की प्रेरणा से प्रकृति के एक एक कण का विक्षुब्ध हो जाना समुद्र मंथन के समान है । प्रकृति स्वयं एक समुद्र के समान है । आद्य प्रेरणा से सर्ग रचना के समय जब उसका प्रत्येक परमाणु तेजी से गति करने लगता है तो यही उसका मंथन है। मुण्डकोपनिषद् में बताया है ''**पुमान् परमात्मा योषित्** प्रकृति में रेतः सिंचन करता है, इस प्रकार पुरुष से यह समस्त प्रजा प्रसूत है। परमात्मा का रेतः सिंचन, जगत्सर्ग के लिए प्रकृति में प्रेरणा देना है। ईश्वर और प्रकृति का पति और पत्नी अथवा पुरुष और नारी के रूप में औपचारिक कथन वैदिक एवं लौकिक साहित्य में अनेकत्र उपलब्ध है। वस्तु स्थिति यही है कि यदि चेतन ईश्वर के बिना जड़ प्रकृति कुछ नहीं कर

सकती तो मूल उपादान प्रकृति के बिना ईश्वर भी जगत् की रचना नहीं कर सकता । इसलिए विविध रूप में इन दोनों की एक पूर्णता के रूप में कल्पना कर ली जाती है किन्तु इस रूप में उनकी एकता का वर्णन औपचारिक ही समझना चाहिए । जिस साधन से सब जगत् की रचना होती है उसे प्रकृति कहते हैं। भारतीय दर्शन में सत्व, रजस् व तमस् को मूल तत्त्व माना है समस्त जड़ जगत् मूलतः इन्हीं तत्वों से मिलकर बना है। सत्व (शुद्ध) प्रीतिरूप है । प्रीति का अर्थ है - दूसरे को अपनी ओर आकृष्ट करना । इसके विपरीत रजस् (मध्य) अप्रीतिरूप है और इस कारण दूर हटाने की प्रवृति रखता है। तीसरा तमस् (जाड्य) विषादरूप है, अर्थात् न प्रीतिरूप और न अप्रीतिरूप । प्रलयकाल में बाह्य क्रिया की अनुपस्थिति का यह अर्थ नहीं कि कार्य करने की प्रवृति का अभाव हो जाता है। व्यक्त होने की प्रवृति (सत्व) और क्रियाशीलता (रजस्) अव्यक्त तथा निष्क्रियता (तमस्) की प्रवृतियों से प्रतिबद्ध रहती है। सत्व, रजस्और तमस् इन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग प्रधान पक्ष को लक्ष्य करके किया जाता है । ऐकान्तिक अथवा अनन्य स्वरूप को लक्ष्य करके नहीं । भौतिक जड़ पदार्थों में तमोगुण प्रधान है और सत्व तथा रजस् गौण । गतिमान् पदार्थों में रजोगुण प्रधान होता है और अन्य गुण प्रच्छन्न ।

आधुनिक विज्ञान समस्त विश्व का उपादान प्रोटोन, इलैक्ट्रॉन तथा न्यूट्रॉन नामक तीन तत्वों को मानता है । प्रोटोन आकर्षण शक्ति का पुंज है इसके विपरीत इलैक्ट्रॉन अपकर्षण स्वरूप है। पहला दूसरे को अपनी ओर आकृष्ट करता है जबकि दूसरा अपने अपकर्षण (दूर करने या हटने) मे प्रवृत रहता है । इन्हें पॉजिटिव और नैगेटिव पावर कहा जाता है । तीसरे तत्त्व न्यूट्रॉन मं ये बातें नहीं होती। समस्त विश्व के मूल में यही तीन तत्त्व हैं जिनसे उसका निर्माण हुआ है। इसलिए अथर्ववेद की शौनक शाखा के प्रथम मन्त्र में कहा है-**ये त्रि॒ष॒प्ताः परि॑यन्ति॒ विश्वा॑ रू॒पाणि॒ बिभ्र॑तः। वा॒चस्पति॒र्बला॒ तेषां॑ त॒न्वो॑ अ॒द्य द॑धातु मे॥** इस सन्तुलन का यह अभिप्राय नहीं है कि सत्व-रजस्-तमस् पूर्णतया क्रमशः प्रोटोन, इलेक्ट्रॉन और न्यूट्रॉन हैं, किन्तु मूलतत्वविषयक चिन्तन में आधुनिक विज्ञान और प्राचीन भारतीय विज्ञान (विज्ञान) दोनों में पर्याप्त समानता है । अतः सन्तुलन के आधार पर इतना तो कहा जा सकता है कि आधुनिक विज्ञान ने जो आज कहा है उसे भारतीय तत्वज्ञ ऋषियों ने बहुत पहले कह दिया था। यह भी सम्भव है कि वैदिक मनीषियों का चिन्तन उससे भी परे की मूल अवस्था की ओर हो । आधुनिक विज्ञान की मान्यता है कि न केवल एक ऊर्जा दूसरी ऊर्जा के रूप में परिवर्तित हो जाती है अपितु ऊर्जा (Energy) को वस्तु तत्त्व (Matter) के रूप में तथा वस्तु तत्त्व को ऊर्जा के रूप में परिवर्तित किया जा सकता है। यदि यह ठीक है तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ऊर्जा और वस्तु तत्त्व का उपादान एक ही है, अर्थात् वे दोनों मूलतः एक हैं। सामान्य व्यक्ति समझता है कि रोटी आटे से बनती है समझदार व्यक्ति कहता है कि रोटी गेहू से बनती है । कुछ अधिक समझदार व्यक्ति जानता है कि गेहूं उस पौधे से उत्पन्न होता है जिसका कारण अर्थात् बीज स्वयं गेहूं है। परन्तु गेहूं के एक दाने से इतने अधिक दाने कैसे बन जाते हैं ? वनस्पति शास्त्र का ज्ञाता बताता है कि धरती और वायुमण्डल में उपलब्ध जल, कार्बनडाई ऑक्साइड और नाइट्रोजन से प्राप्त गेहूं के स्टार्च और प्राटीन के संश्लेषण द्वारा एक से

अनेक की उत्पत्ति हुई । इस प्रकार के विश्लेषण के द्वारा हम स्थूल रोटी से उसके मूल उपादान जल, नाइट्रोजन तथा कार्बनडाई ऑक्साइड तक पहुंच जाते हैं । रसायनशास्त्री और गहराई में जाकर देखता है और इनके मूल में उसे ऑक्सीजन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन तथा कार्बन मिलते हैं । जहां रसायनशास्त्री परमाणु पर जाकर ठहर जाता है, वहां भौतिक वैज्ञानिक परमाणुओं को इलैक्ट्रॉन आदि में विभक्त करता है । इस प्रकार सूक्ष्म से सूक्ष्मतर की खोज करते हुए हम जब सूक्ष्मतम पर पहुंचते हैं तो हमें सत्वरजस्तमोगुणात्मक प्रकृति का दर्शन होता है। विश्व सम्बन्धी प्रक्रिया के दो रूप हैं - रचनात्मक तथा विनाशात्मक । **मूल प्रकृति में से भिन्न भिन्न व्यवस्थाओं के व्यक्त होने का नाम रचना है और उनके विश्लिष्ट होकर मूल प्रकृति में विलीन हो जाने का नाम विनाश है। प्रकृति की साम्यावस्था में विक्षोभ होने के परिणाम स्वरूप विश्व अपने भिन्न भिन्न तत्वों के साथ विकसित होता है और सर्ग काल की समाप्ति पर विपरीत गति द्वारा विकास की पूर्व स्थिति में लौट जाता है, तथा अन्त में प्रकृति रूप होकर विलीन हो जाता है । प्रकृति तब तक इसी दशा में रहती है जब तक नयी सृष्टि की उत्पत्ति होने का समय नहीं आता। विकास तथा पुनर्विलय का यह चक्र अनादि काल से चला आ रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा। वैदिक दर्शन की यह अटूट मान्यता है।**

वैज्ञानिकों के द्वारा आज जिस ईश्वरीय कण की खोज की गई है उससे वैज्ञानिकों को ब्रह्माण्ड के पदार्थों का पता मिला है केवल मात्र चार शतांश बाकी ९६ शतांश कहां है? वैज्ञानिक आशा करते हैं जो नया कण मिला है, उसी से मिलेगा और ९६ शतांश का भेद किसी चीज का आकार और द्रव्यमान बनना उसी ईश्वरीय कण से ही होता है। ऐसा विद्वानों का कहना है। ईश्वर को समझना भौतिक वैज्ञानिको के बस के बाहर है क्योंकि वह प्रकृति का कोई कण नहीं है । वह सर्वत्र व्यापक है उसकी कोई गति नहीं है पर उसी के प्रभावकारी नियम से सूक्ष्म से सूक्ष्म कण जो जैसा है उसमें वैसा ही कम्पन और गति का संचार हो रहा है और उसी के आदि विज्ञान से परमाणु के समूह से आकार के रूप में सृष्टि के सब पदार्थ बनते आ रहे हैं। शुक्ल यजुर्वेद ४०/५ में कहा है -**तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥** अर्थात् वह ब्रह्म-जगत उत्पन्न करने के लिए, गतिशून्य प्रकृति को गति देता है, परन्तु स्वयं गति में नहीं आता । वह दूर है वह समीप भी है वह सब जगत् के अन्दर और बाहर भी है । कभी-कभी उपादान परमाणुओं के संयोग वियोग से जड़ पदार्थ बिगड़ते भी हैं और बनते भी हैं। यह सृष्टि का नियम है। जहां-जहां तक जो बिगड़ता है वहां-वहां से पुनः उत्पन्न होने का क्रम प्रारम्भ हो जाता है । प्रकाश के कण एवं अणु परमाणु तो जड़ हैं वे न देख सकते न समझ सकते फिर मानव मस्तिष्क के जड़ तन्तु में चेतना का उदय कैसे हुआ? यदि कहा जाय कि जैसे मशीन के चलने से बिजली उत्पन्न होती है वैसे ही शरीर की क्रियाओं से मस्तिष्क से चेतन मनन चिन्तन आदि की उत्पत्ति होती है। तो देखिए बिजली जड़ है और चेतन युक्त आत्मा जड़ से पृथक सत्ता है अतः शरीरधारी प्राणियों की क्रिया बिना आत्मा के संभव नहीं है । इसलिए जो तत्त्व सृष्टि में विद्यमान होता है वह भले ही न दिखता हो किन्तु उसके अस्तित्त्व को प्रकट करने जैसे कर्ता के द्वारा साधन जब बन जाते हैं तब उसकी क्रियाओं से वह प्रकट होता है जैसे तिल में तेल मौजूद है पर वह दिखता नहीं है और जब उसकी पेराई होती है तब वह दिखने लगता है। इसी प्रकार बिजली के

कण सृष्टि में विद्यमान थे तभी उसे मशीन द्वारा प्राप्त किया जाता है । उसी प्रकार आत्मा भी वायु मण्डल के प्राण तत्त्व में विद्यमान था, तभी अन्नमय एवं प्राणों के माध्यम से शरीर और शरीर के मस्तिष्क के माध्यम से उसका चेतन तत्त्व का गुण प्रकट होने लगता है।

परमाणु के भीतर अभी कितना रहस्य छिपा हुआ है जानना बाकी है । जैसे परमाणुओं के भार के व्यतिक्रम से एवं उनके योग के भिन्न भिन्न गुणों से पांचों तत्त्व को ईश्वरीय नियम ने बुद्धिपूर्वक जीवन उपयोगी बना दिया उसी प्रकार सारे मौलिक उपादान के कणों को भी उसी ने बनाया।

वेदों में परमात्मा की एक संज्ञा कवि है । उस कवि के दो काव्य हैं-एक शब्दरूप जिसे वेद कहते हैं और दूसरा अर्थरूप जिसे जगत् कहते हैं । एक ही काव्य के दो पृष्ठ हैं-एक पर पद अंकित हैं, दूसरे पर पदार्थ । दोनों में सामंजस्य होने से यह सिद्ध होता है कि दोनों एक ही की रचनाएं हैं। वेदों में सृष्टिविषयक जो संकेत मिलते हैं, सृष्टिक्रम के साथ उनका संतुलन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि न शास्त्र में कोई ऐसी बात है जो सृष्टिक्रम के विरुद्ध हो और न सृष्टि में कोई ऐसी बात दिखती है जो शास्त्र के विपरीत हो । इसलिए **स्वामी दयानन्द सरस्वती** ने वेद को प्रकृति की पुस्तक अर्थात् सृष्टि के अनुकूल सिद्ध करने का प्रयत्न किया था। वस्तुतः यदि वेद और सृष्टि दोनों एक ही सत्ता के कार्य हैं तो दोनों में सामंजस्य होना स्वाभाविक एवं अनिवार्य है- ऐसा न होना ही आश्चर्यजनक होगा । संसार में कोई घटना सृष्टिक्रम के विरुद्ध नहीं घट सकती-भले ही अपनी अल्पज्ञता के कारण हम उसकी व्याख्या न कर सकें। शास्त्र से सृष्टि रचना का बोध होता है और सृष्टिरचना से शास्त्र की परीक्षा की जा सकती है। इस प्रकार विश्व की उभयविध नामरूपात्मक रचना में समन्वय होने से ब्रह्म की सत्ता का प्रत्यक्ष होता है। गॉड पार्टिकल की खोज भी इस समन्वयात्मक दृष्टि को ही बढ़ाती है।

पाद-टिप्पणियां-

१ ऋग्०६.४७.१८; ३.५३.८

२ यजु०३१.३

३ स्वामी दयानन्द, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदोत्पत्ति प्रकरण

४ यजु०३२.८

५ ऋग्०१.९.५

६ यजु०४०.१

७ **Aristotle,** *The Book of Knowledge*; **James Jeans**, *The Mysterious Universe* p.148; **J.H.Holms,** *Is Science Windicating Religion,* p.20; **Plato,** *Christianity and Greek Philosophy;* **स्वामी विद्यानन्द सरस्वती,** *तत्त्वमसि,* पृ०४९।

Vaidika Vāg-Jyotiḥ
ISSN 2277-4351

Vol.1, No.1 (1-12) Jul-Dec 2012

वेद-वाक् तथा संस्कृतभाषा

भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर (स्व०)

द्वारा-पूर्वी पटेल नगर, नई दिल्ली

अगणित शक्तियाँ चली गयी हैं। काल व्यतीत होता गया। किसी भी भारतीय विद्वान् को सन्देह नहीं हुआ कि वेद सृष्टि के आदि में प्रकाशित नहीं हुए तथा संस्कृत पुराकाल में संसार-मात्र की भाषा नहीं थी। वर्तमान युग में पश्चिम के कथित-विद्वानों ने यह मत चलाया कि 'लोक-भाषा संस्कृत, वेदकाल के बहुत पश्चात् प्रयुक्त हुई तथा वेदवाक् पुरानी बोलियों का रूपान्तर है।' ऐसे मत सुन्दर शब्दों में प्रकट किये गये और कतिपय पाठकों को रुचिकर भी लगे। पर थे ये मत कल्पित और तर्क-शून्य। तथापि आधुनिक शिक्षा-प्रणाली के एकदेशीय होने के कारण वर्तमान शिक्षा प्राप्त अनेक भारतीय विद्वानों के हृदयों में इन विचारों ने सन्देह उत्पन्न कर दिये। इन मिथ्या विचारों के निराकरण और परम्परागत विषयों में इतिहास सिद्ध यथार्थ पक्ष को उपस्थित करने के लिये वैदिक वाङ्मय का इतिहास लिखा जाता है।

आर्य-परम्परा में सृष्टि-आरम्भ से यह तथ्य सुरक्षित रहा है कि वेद-वाक् दैवी-वाक् है। यह वाक् मानव की उत्पत्ति से बहुत पूर्व अन्तरिक्षस्थ तथा द्युलोकस्थ देवों और ऋषियों अर्थात् ईश्वर की भौतिक विभूतियों द्वारा प्रकट हो चुकी थी। ओम्, अथ, व्याहृतियां और मन्त्र हिरण्यगर्भ आदि से तन्मात्रारूप वागिन्द्रिय द्वारा उचारे जा चुके थे। वह वाक् क्षीण नहीं हुई, परम व्योम आकाश में स्थिर रही। मानव सृष्टि के आरम्भ में जब ऋषियों ने आदि शरीर धारण किये, तो वह दैवी वाक् ईश्वर प्रेरणा से उसमें प्रविष्ट हुई। उसे उन्होंने सुना। इस कारण वेद-वाक् का एक नाम श्रुति है। उसी काल में वेद-शब्दों के आधार पर ऋषियों के व्यवहार की भाषा को जन्म दिया। ब्रह्मा, स्वयम्भुव मनु[१] और सप्तर्षि आदि ऋषियों के उपदेश, आगम-ग्रन्थ तथा मूल सिद्धान्त उसी व्यवहार की भाषा में थे।

आश्चर्य है कि उनके कतिपय अंश अब भी सुलभ हैं।[२] वह भाषा आदि में मानव-मात्र की भाषा थी और थी अत्यन्त विस्तृत और समृद्ध। वह भूमि पर ब्राह्मण ही था। इसलिये वह भाषा शिष्ट-भाषा थी, ग्रामीण बोली न थी। उसमें उच्चारण की परम सावधानता थी। दीर्घकाल के पश्चात्, संसार में लोभ के कारण कुछ अधर्म प्रवृत्त होने लगा। उस समय क्षत्रिय आदि वर्ण बन चुके थे। उच्चारण के भेद आरम्भ हो गये थे। इसके बहुत उत्तर काल में देश, काल, परिस्थिति के भेद, उच्चारण शक्ति की विकलता और अशक्तिजानुकरण आदि के कारण उस व्यावहारिक संस्कृत भाषा के विकार म्लेच्छ भाषाओं प्राकृत और अपभ्रंश में प्रकट हुए, अर्थात् अतिप्राचीन व्यवहार की मानव-वाक् अर्थात् पाणिनि से सहस्रों वर्ष पूर्व की संस्कृतभाषा संसार की सम्पूर्ण भाषाओं की जननी है। उस काल में अनेक क्षत्रिय जातियाँ शूद्र और म्लेच्छ बन चुकी थीं। मिश्र, पितर देश, काल्डिया, ईरान के असुर, यूनानी तथा अरब के लोग उन्हें प्राचीन क्षत्रिय जातियों की सन्तान में से हैं। उन सब की भाषाएं इसी तथ्य का संकत करती हैं। इस से बहुत काल

पश्चात् भारत-युद्ध हुआ। उसके दो सौ वर्ष पश्चात् पाणिनि ने उस भाषा के अपने काल में अवशिष्ट तथा प्रचलित अति-संकुचित रूप का अपने व्याकरण में अनुशासन किया। यह पाणिनि-निर्दिष्ट भाषा आज तक ग्रन्थों और शिष्टों की व्यवहृत रही। पाणिनि-निर्दिष्ट भाषा और उससे पूर्व की भाषा में जो भेद प्रतीत होता है उसका कारण भाषा का ह्रास अर्थात् बहुविध शब्दों और अनेक अर्थों का लुप्त तथा संकुचित होना है।

गम्भीरतम प्राचीन मत का यह सार संक्षेप है। भाषा की उत्पत्ति और भाषा के उत्तरोत्तर इतिहास का यह एक मात्र वैज्ञानिक पक्ष औपमन्यव, औदुम्बरायण, यास्क, द्वैपायन व्यास, व्याडि, उपवर्ष, पाणिनि, पतञ्जलि और भर्तृहरि को सर्वथा ज्ञात था। भर्तृहरि के पश्चात् गत दो सहस्र वर्षों में यह लुप्त-प्रायः रहा। अब पुनः उसी तर्कयुक्त प्राचीन पक्ष का स्पष्टीकरण और विपरीत मतों का निराकरण किया जाता है।

संसार की प्राचीन जातियों का मत-मिश्र और यूनान आदि के अति प्राचीन लोग देवों और उनकी विभूतियों को थोड़ा सा समझते थे। देवज्ञान और अधिभूत-ज्ञान[३] की थोड़ी सी मात्रा उनके पास आ रही थी। उनके पुराने विद्वान् दैवी और मानुषी वाक् का भेद कुछ-कुछ समझते थे।

(क) मिश्र के प्राचीन विश्वास के विषय में मर्सर लिखता है-

Egyptians had their 'Sacred writing' ...'writings of the words of the god's often kept in a 'house of sacred writings."[4]

अर्थात् मिश्र के लोग अपने पवित्र लेख रखते थे। 'देवों के शब्दों का लेख' जिसे वे प्रायः 'पवित्र लेखों का घर' में रखते थे।

(ख) मिश्र विद्वान् इस लेख के लिये ndw-ntr (न्द्वं-न्त्र[५] -the speech of the gods) शब्द प्रयुक्त करते थे। निस्सन्देह मिश्री भाषा में 'न्द्व' पद में 'द्व' शब्द देव शब्द का संकेत करता है और 'न्त्र' पद वाग्वाची वैदिक शब्द 'मन्द्रा' का बोध कराता है। अर्थात् मिश्री लोग देवों की वाणी को 'देवमन्द्रा' कहते थे। मिश्री 'न्द्व-न्त्र' का जो मूल रूप होगा वह देवमन्द्रा के अधिक समीप होगा।

(ग) यूनान का प्रसिद्ध प्राचीन लेखक होमर (ईसा से ८०० वर्ष पूर्व?) 'देवों की भाषा और मानवी भाषा' का वर्णन अपने लेख में करता है- The language of gods and of men.[६]

अरस्तू देवों आदि के विषय को पूरा नहीं समझ पाया।[७] तत्पश्चात् देवविद्या यौरोप से सर्वथा विलुप्त हो गयी।

मिश्र और यूनान के प्राचीन ग्रन्थकारों ने 'देवों की वाक्' वा 'देवमन्द्रा' शब्द भी प्राचीन आर्यों के लिये हैं। यह कल्पना कि उन्होंने स्वतन्त्र ऐसा लिखा भ्रम मात्र है।

इसी तथ्य की तारापुरवाला ने निम्नलिखित शब्दों में दोहराया है-

The ancient peoples all ascribed their speech to the gods.[8]

जो वाक् की उत्पत्ति का वास्तविक मत वेदों से मिश्र और यूनान आदि ने लिया उसे अणुमात्र न समझ कर हर्डर[९] आदि ने जो कल्पित पक्ष खड़े किये, जिनका निदर्शन आगे होगा।

पाश्चात्य मत-अब नवीन कल्पनाओं और यत्किञ्चित् परीक्षणों का युग योरोप में आरम्भ हुआ। इसे scientific age वा विज्ञान युग का नाम दिया गया। महान् आत्मा के अस्तित्व को माने बिना भौतिक आधार-मात्र द्वारा सब बातें समझ में आएं, यह इस युग की नस-नस में रम रहा था। इस रुचि के अनुसार गत शतियों में योरोप के कुछ

लोगों ने विभिन्न भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन आरम्भ किया। प्राचीन इतिहास को अणुमात्र न जानते हुए, उन्होंने लिखा-

The chief innovation of the beginning of the nineteenth century was the historical point of view.[10]

जब पाश्चात्य लोगों के पास संस्कृत पहुंची तो उन में से कई एक ने मुक्तकण्ठ से कहा कि संस्कृत योरोपीय भाषाओं की जननी है। उस से संसार के पुरातन इतिहास पर अभूतपूर्व प्रकाश पड़ेगा। फ्राईड्रिश श्लेगल ने इन्हीं भावों का ओजस्वी शब्दों में उल्लेख किया-

"F. Schlegal...., wrote that he expected nothing less from India than ample information on the history of the primitive world, shrouded hitherto in utter darkness.[11]

अर्थात्-फ्राईड्रिश श्लेगल ने लिखा कि वह भारत से एक महती आशा रखता है। भारत द्वारा, अब तक पूर्ण अधिकार-आवृत्त संसार के पुरातन इतिहास का ज्ञान मिलेगा।

फ्रान्स बाप (१७९१-१८७६) ने लिखा है :-

"I do not believe that the Greek, Latin and other European languages are to considered as derived form the sanskrit in the state in which we find it in Indian books; I feel rather inclined to consider them altogether as subsequent variations of one original tongue, which, however, the sanskrit has preserved more prefect than its kindred dialects."[12]

अर्थात्-जिस रूप में वर्तमान भारतीय ग्रन्थों में संस्कृत उपलब्ध है, उससे ग्रीक, लैटिन अथवा अन्य योरोपीय भाषाएं निकलीं, इसमें मेरा विश्वास नहीं। मैं यह विचार रखता हूँ कि ये सब एक मूल-भाषा की रूपान्तर हैं, जिसे संस्कृत ने अन्य भाषाओं की अपेक्षा अधिक पूर्ण रूप से सुरक्षित रखा है।

यह बात ईसाई पादरियों और ईसाई संस्कृताध्यापकों को रुचिकर न हुई। उन्होंने बाप सदृश विद्वान् पर भी आक्षेप किया कि वह संस्कृत को योरोपीय भाषाओं की माता सिद्ध कर रहा है। भयभीत बाप को लिखना पड़ा-

I cannot, however, express myself with sufficient strength in guarding against the misapprehension of supposing that I wish to accord to the sanscrit universally the distinction of having preserved its original character. I have, on the contrary, often noticed in the earlier portions of this work and also in my system of conjugations and in the Annals of Oriental Literature for the year 1820, that the sanscrit has, in many points, experienced alterations where one or other of the European sister idioms has more truly transmitted to us the original form.[13]

अर्थात् मेरे पास पर्याप्त शक्ति नहीं कि मैं धारणा की भ्रान्ति के विपरीत सावधान करूं कि मैं व्यापक रूप से संस्कृत को मूल-भाषा के मूल-रूप को सुरक्षित करने वाला समझता हूँ। मैंने सन् १८२० में भी लिखा था कि अनेक स्थानों पर संस्कृत में बहुत परिवर्तन हो गया है और उन्हीं स्थानों पर दूसरी योरोपीय भाषाओं ने सत्यता से मूलरूप को हम तक अधिक सुरक्षित पहुंचाया है। इति।

बाप ने स्वीकार किया कि योरोपीय भाषाओं के उच्चारण में ह्रस्व 'ए' और ह्रस्व 'ओ' का भारतीय संस्कृत में लिपि की अपूर्णता से 'अ' मात्र रहा। अन्त में ग्रिम के प्रभाव से उसने संस्कृत के 'अ' 'इ' 'उ' को मूलस्वर माना और गाथिक, ग्रीक आदि के ह्रस्व 'ए' और 'ओ' को उनका ध्वनि विकार। बाप लिखता है-संस्कृत 'अ' ग्रीक में अर्ध **अ, ए, ओ** हो गया।[२४]

श्री बाबूराम सक्सेना को यह सत्य अखरा और उन्होंने लिखा कि यह दुर्भाग्य की बात थी।[२५]

भाषा-अध्ययन के क्षेत्र में डैनमार्क निवासी रास्क (सन् १७८७-१८३२) आगे आया। उसने अनेक तर्कहीन बातें प्रारम्भ कीं। उसके अनुसार द्राविड़ भाषायें संस्कृत से सम्बन्ध नहीं रखतीं। अरविन्द घोष ने लिखा है कि द्राविड़ भाषाएं भी संस्कृत से ही निकली हैं। महाभारत अनुशासन पर्व ६१.२२ तथा १४६.१७ में द्राविड़ पुराने क्षत्रिय लोग कहे गये हैं। भारतीय इतिहास के अति पुरातन होने का भय योरोपीयं लेखकों को आरम्भ से लग रहा था। मार्ग निकलता न देखकर उन्होंने लिखना आरम्भ किया कि भारत में इतिहास लिखा ही नहीं गया। आर्य लोग भारत में बाहर से आये। उनका भारत आगमन ईसा से २५०० वर्ष पूर्व से अधिक पूर्व का नहीं है। डार्विन के प्रसिद्ध विकास मत ने उन्हें सहायता दी।

इन कल्पनाओं का आधार सर्वथा अपूर्ण और निराधार 'भाषा-विज्ञान' पर रखा गया। विज्ञान का गन्ध मात्र न रखने वाले तर्कहीन मतों को विज्ञान का नाम दिया गया, और इस प्रकार सिद्ध करने का यत्न किया गया कि एक मूल योरोपीय (इण्डो-योरोपीय) भाषा थी। संस्कृत उसकी दूसरी पीढ़ी में उत्पन्न हुई। सन् १९१५ से हित्ती भाषा का अध्ययन अधिक हुआ। इसके इतिहास को भी कल्पित रंग से रंगा गया। तब संस्कृत को भारोपीय भाषावर्ग की तीसरी पीढ़ी में कर दिया गया।

वेद की शाखाओं का इतिहास लिखने से पूर्व यह आवश्यक प्रतीत होता है कि योरोप के अहंमन्य अध्यापक-ब्रुवों के इस 'भाषाविज्ञान' की कुछ परीक्षा की जाये। इस कथित 'भाषा-विज्ञान' के अतिव्याप्ति और अव्याप्ति-दोषपूर्ण कल्पित नियमों की समालोचना करने से पूर्व **'दैवी-वाक् और मानुषी वाक् का भेद तथा संस्कृत की सृष्टि के आरम्भ में सतद्वीपा वसुमती की व्यावहारिकी भाषा थी' इन विषयों को जान लेना अत्यावश्यक है।**

यद्यपि इस इतिहास के ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थ भाग[२६] तथा भारतवर्ष का बृहद् इतिहास[२७] में इस पृथ्वी का लोकभाषा और वेद-वाक् की समकालिकता के कतिपय तर्क दिये थे, तथापि उत्तरवर्ती रीनो और बरो आदि योरोपीय तथा बटकृष्ण घोष आदि उनके अनुयायियों ने उनका स्पर्शमात्र नहीं किया और अपनी रट लगाते रहे। उनके अधूरे ज्ञान की यही अभिव्यक्ति है।

अब हम इस विषय पर कुछ अधिक विस्तार से प्रकाश डालने वाली सामग्री प्रस्तुत करते हैं।

दैवी-वाक्-

संसार की पुरातन जातियों ने उपरिलिखित दैवी-वाक् का जो सिद्धान्त ग्रहण किया वह शुद्ध वैदिक सिद्धान्त है। इसे समझने के लिये दैवी-वाक् और देवों के स्वरूप को, जिनके विषय में योरोप ने अनेक भ्रान्तियां फैलाई हैं, यत्किञ्चित् समझना अत्यावश्यक है।

भाषा की उत्पत्ति का आर्षवाद-

१. भर्तृहरि और वाक् सिद्धान्त-महान् वैयाकरण और व्याकरण-आगम के उद्धारक भर्तृहरि (लगभग प्रथम शती विक्रम) ने अपने बहुमूल्य ग्रन्थ वाक्यपदीय के आगम काण्ड का आरम्भ निम्नलिखित श्लोक से किया है-

अनादि-निधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्। विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यत:॥

अर्थात्-अनादि और निधन-रहित, अविनाशी शब्दतत्त्व रूप जो ब्रह्म है, वह अर्थ के भाव से विवर्त को प्राप्त होता है, उससे जगत् की प्रक्रिया निकली। शतपथ ब्राह्मण में विस्तृत वर्णन है-

विश्वकर्म ऋषिरिति। वाग्वै विश्वकर्मर्षिर्वाचा हीदं सर्वं कृतं तस्माद्वाग्विश्वकर्मर्षि: प्रजापतिगृहीतया त्वयेति प्रजापति सृष्टया त्वयेत्येतद्वाचं गृह्णामि प्रजाभ्य: इति वाचमुपरिष्टात्प्रापादयत नानोपदधाति ये नानाकामा वाचि तांस्तद्दधाति सकृत्सादयत्येकां तद्वाचं करोत्यथ यन्नानासादयेद्वाच: ह विच्छिन्द्यात्सैषा त्रिवृदिष्टका तस्योक्तो बन्धु:॥८.१.२.९॥

इसका भाव यह है कि शब्द ब्रह्म अनादि है। ऐतरेय ब्राह्मण में भी यही भाव अभिव्यक्त है-**न वै वाक् क्षीयते।**[१८] अर्थात्-वाक् नष्ट नहीं होती।

आगम काण्ड की समाप्ति पर सूक्ष्म-दार्शनिक भर्तृहरि उपसंहार के रूप में लिखता है-

दैवी वाग् व्यतिकीर्णेयम् अशक्तैरभिधातृभि:। अनित्यदर्शिनां त्वस्मिन् वादे बुद्धिविपर्यय:॥१५५॥[१९]

अर्थात्-यह दैवी वाक् (बहुरूपों में) बिखरी, अशक्त बोलने वालों के कारण (अर्थात् बोलने वालों की सामर्थ्य-हीनता से बहुविध अपभ्रशों में बिखरी)। (वाक् को) अनित्य मानने वालों का इस वाद में बुद्धि का विपर्यास है।

आदि सृष्टि से लेकर कृत युग के अन्त तक संसार की वाक् शुद्ध थी। तत्पश्चात् बोलने वालों की अशक्ति के कारण प्राकृतों का प्रादुर्भाव हुआ।

२. व्याडि और दैवी वाक्- भर्तृहरि से पूर्व व्याडि ने दैवी वाक् के विषय में क्या लिखा था, यह अज्ञात है। था व्याडि भी शब्दब्रह्मवादी। कृष्णचरित में महाराज समुद्रगुप्त ने लिखा है-

रसाचार्य: कविर्व्याडि: शब्दब्रह्मैकवाङ्मुनि:॥१६॥

अर्थात्-आचार्य व्याडि शब्दब्रह्मैकवाद का प्रतिपादक था।

३. शौनक और सौरी वाक्-व्याडि के समकालीन शौनक मुनि (विक्रम से २८०० वर्ष पूर्व) ने अपने बृहद्देवता ४.११२-११४ में सौरी वाक् का विलक्षण प्रकार से वर्णन किया है-

सौदासस्य महायज्ञे शक्तिना गाथिसूनवे। निगृहीतं बलाच्चेत: सोऽवसीदद् विचेतन:॥ तस्मै ब्राह्मीं तु सौरीं वा नाम्ना वाचं ससर्परीम्। सूर्यक्षयाद् इहाहृत्य ददुस्ते जमदग्नय:॥ कुशिकानां तत: सा वाग् अमतिं तामपाहनत्।

अर्थात्-सौदारा के महायज्ञ में (वसिष्ठ पुत्र) शक्ति द्वारा गाथि-पुत्र (विश्वामित्र) के चित्त के बलपूर्वक निगृहीत नियम पर, वह गाथिपुत्र संज्ञाहीन होकर गिरा। उस (विसंज्ञ) के लिये ब्राह्मी तथा सौरी नाम की ससर्परी[२०] वाक् को, सूर्य-ग्रह से पृथ्वी पर लाकर उन जमदग्नियों ने उस के लिये दिया। उस वाक् ने कुशिकों की उस अमति (संज्ञा-हीनता) को नष्ट कर दिया।

ब्राह्मी अथवा सौरी नामिका ससर्परी वाक् सूर्यग्रह से पृथ्वी पर कैसे लाई गयी, यह नष्ट चेतना को किस प्रकार हटाती है, जमदग्नियों ने किस प्रकार प्रेम के कारण विश्वामित्रों को चेतना युक्त कर दिया, इन गम्भीर विषयों के स्पष्टीकरण का यह स्थान नहीं है। ये श्लोक यहाँ इसलिये उद्धृत किये गये हैं कि जिस वाक् को अन्यत्र देवी अथवा दैवी कहा गया, उसे ही यहाँ ब्राह्मी अथवा सौरी कहा है।

सौरी का अर्थ-सौरी का अर्थ है, सूर्य अर्थात् सुरों में से एक अर्थात् देवों की। देवों की वाक् होने से इसे दिव्य-वाक् भी कहते हैं।

४. आपस्तम्ब और दैवी वाक्-आपस्तम्ब श्रौतसूत्र का वचन है-

अथ यजमानो व्रतमुपैति। वाचं यच्छत्यनृतात् सत्यमुपैमि। मानुषाद् दैवमुपैमि। दैवीं वाचं यच्छामि।५.२.८.१॥

इस पर धूर्तस्वामी का भाष्य है-**दै (दे) वाभिधानाद् दैविकी-दैवी वाक्।** अर्थात् ङ्कमानुष वाक् है और दैवी वाक्।

५. **व्यास और दिव्या वाक्-** महाभारत शान्तिपर्व अध्याय २३१ में कृष्ण द्वैपायन व्यास (विक्रम से ३००० वर्ष पूर्व) ने निम्नलिखित श्लोक कहा है-

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥

अर्थात्-आदि और निधन रहित नित्य वाक् स्वयंभू ब्रह्मा-प्रजापति ने उत्सृष्ट की। आदि में वेदमयी दिव्य वाक् थी। उस वाक् से संसार की सब प्रवृत्तियाँ हुईं। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय का पूर्वोद्धृत प्रथम श्लोक, इसी श्लोक की छाया पर रचा है।

भाषा-शास्त्र का महान् तथ्य-इस श्लोक में ऐसे वैज्ञानिक तथ्य का संकेत है, जो संसार में अन्यत्र नहीं मिलता। उत्सृष्टा का अर्थ है त्यागी, मुक्त की, बाहर निकाली। यह उत्सृष्टा-वाक् दिव्य अर्थात् देवों की वाक् थी। किस प्रकार के देवों की वाक्, यह आगे स्पष्ट किया जायेगा। इस वाक् को विराट् रूप में स्थित श्री भगवान् ब्रह्मा अथवा प्रजापति-पुरुष ने उत्सृष्ट किया। उसे ही मानुषों के आदि पुरुष ब्रह्मदेव ने पृथिवी पर पुनः प्रकट किया।

६. **यास्क और दैवी वाक्-**शौनक के पूर्ववर्ती और भारत युद्ध के आस-पास अपने निरुक्त को लिखने वाले उदारधी मुनि यास्क ने लिखा है-**तेषां मनुष्यवद् देवताभिधानम्।** अर्थात्-उन (शब्दों) में मनुष्य के समान देवताओं का भी अभिधान अथवा कथन होता है। शब्दों के द्वारा ही इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि आकाशस्थ देवताओं ने कथन किया है।

७. **ब्राह्मणग्रन्थ और दैवी वाक्-**काठक और मैत्रायणी संहिता (विक्रम से ३२०० वर्ष पूर्व) अन्तर्गत ब्राह्मण पाठों में लिखा है-

देवा वै नानैव यज्ञान् अपश्यन्। इमम् अहम् इमं त्वम् इति।...अथैतं प्रजापतिः आहरत्। तस्मिन् देवा अपित्वम् ऐच्छन्त। तेभ्यः छन्दांसि उज्जितीः प्रायच्छद्।...यावन्तो हि देवा सोममपिबन् ते वाजमगच्छन्। तस्मात् सर्व एव सोमं पिपासति। वाग्वै वाजस्य प्रसवः। सा वाग् दृष्टा चतुर्धा व्यभवत्। एषु लोकेषु त्रीणि तुरीयाणी, पशुषु तुरीयम्।

या दिवि सा बृहती सा स्तनयित्नौ। या अन्तरिक्षे सा वाते सा वामदेव्ये।

या पृथिव्यां साग्नौ सा रथन्तरे। या पशुषु तस्या यद् अतिरिच्यत तां ब्राह्मणे न्यदधुः।

तस्माद् ब्राह्मणे उभे वाचौ वदति दैवीं च मानुषीं च। करोति वाचा वीर्यं य एवं वेद। काठक संहिता।१४.५॥[२१]

अर्थात्-(आकाशस्थ) देवों ने नाना यज्ञ देखे। इस (यज्ञ) को मैं (करूँगा) इस को तुम। ...फिर इसको प्रजापति ने किया। उसमें देवों ने भाग चाहा। (प्रजापति ने) उन (देवों) के लिये छन्द रूपी विजय को दिया।...जितने देवों ने सोम (द्युलोकस्थ) आपों का सार पिया, वे वाज=शक्ति अथवा बल को प्राप्त हुए। इसलिये सब सोम को पीने की इच्छा करते हैं। वाणी ही शक्ति का उत्पत्तिस्थान है। वह वाणी दर्शन में आयी, चार प्रकार से विस्तृत हुई। इन लोकों में तीन-चौथाईयां। पशुओं में एक चौथाई। इसलिये ब्राह्मण दोनों वाणियों को बोलता है, दैवी को और मानुषी को।

इस लम्बे उद्धरण का यह प्रयोजन है कि इस ब्राह्मण-वचन में भी दैवी वाक् का उल्लेख उपलब्ध

होता है। काठक संहिता के पाठ से उपलब्ध होता है। काठक संहिता के पाठ से लगभग मिलता जुलता पाठ मैत्रायणी संहिता १.११.५ में भी दृष्टिगत होता है। इस दोनों पाठों से बहुत कुछ मिलता, पर किसी अन्य ब्राह्मण का सर्वथा स्वतन्त्र पाठ निरुक्त १३.८ में है। यथा-**तस्माद् ब्राह्मण उभयीं वाचं वदति। या च देवानां या च मनुष्याणाम्॥** अर्थात् इसलिये ब्राह्मण दोनों प्रकार की वाक् को बोलता है, जो देवों की और जो मनुष्यों की।

स्पष्ट है कि ब्राह्मण-प्रवक्ता ऋषि, मनुष्यों की वाणी के अतिरिक्त, देवों की वाक् का भी ज्ञान रखते थे। मनुष्यों की वाक् थी लौकिक संस्कृत और देवों की वाक् थी देववाणी।

८. **वैष्णवी वाक्**-अधियज्ञ के विचार में एक अन्य तथ्य भी ध्यान देने योग्य है। यज्ञ के समय यजमान और याज्ञिकों के मौन रहने का विधान है-**स वै वाचंयम एव स्यात्।**[२२] इस रहस्य का आधार स्पष्ट है। यज्ञ मन्त्रों द्वारा सम्पन्न होता है। मन्त्र दैवी-वाक् हैं, उनके द्वारा कर्म की सम्पन्नता के काल में मानुषी वाक् का प्रयोग कर्म का ध्वंसकारी हो जाता है। दो विभिन्न वाक् अन्तरिक्ष में विरोध-जनक होते हैं। अतः यदि यज्ञ में मानुषी वाक् बोले, तो प्रायश्चित्त-निमित्त दैवी वाक् का जप करें। देवों में विष्णु (=सूत्रात्मा वायु)[२३] अन्तिम है। तदुच्चरित ऋक् अथवा यजरूपी वाक् के बोलने से प्रसंग विशेष में प्रायश्चित्त सम्पन्न होता है। शतपथब्राह्मण में कहा है-

स यदि पुरा मानुषी वाचं व्याहरेत्। वैष्णवीमृचं वा यजुर्वा जपेत्॥[२४] स्पष्ट है कि आरम्भ से ऋक् और यजुः मानुषी वाक् से भिन्न हैं।

९. **दैवी वाक् और मन्त्र-समाम्नाय**-विषय के स्पष्टीकरण के लिये ऋग्वेद के कुछ मन्त्र अथवा मन्त्रांश आगे उद्धृत हैं-

(क) **उप यो नमो नमसि स्तभायन्नियर्ति वाचं जनयन् यजध्यै॥**४.२१.५॥

अर्थात् जो (अन्तरिक्षस्थ इन्द्र, लोकों को) उपस्तभायन्=स्थिर करता हुआ, अन्न को हवि में प्रेरित करता है, वाणी को उत्पन्न करता हुआ, यज्ञार्थ।

(ख) **ब्राह्मणासः सोमिनो वाचमक्रत॥**
७.१०३.८

अर्थात् सोम पीने वालों ने वाणी को दिया।

(ग) **यद्वाग्वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा। चतस्र ऊर्जं दुदुहे पयांसि क्व स्विदस्याः परमं जगाम॥** ८.१००.१०

यह मन्त्र निरुक्त ११.२८ में माध्यमिका वाक् के व्याख्यान में उद्धृत है।

अर्थात्-जब वाणी, बोलती हुई अस्पष्ट-अविज्ञात (पदों) को, राष्ट्री=ईश्वरी मध्यमस्थानी देवों की, बैठी चित्ताकर्षक बोली वाली। चारों (अनुदिशाओं) के अन्न-जल को (इस वाणी ने) दोहन किया। कहाँ इस (वाणी का) अति सुन्दर रूप (अब) गया।

स्मरण रखना चाहिये कि इस मन्त्र को मध्यमस्थानी देवों की राष्ट्री अथवा उन पर राज्य करने वाली कहा है-

(घ) ऋग्वेद के वाक् सूक्त में वाणी स्वयं कहती है-

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्। तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्॥ १०.१२५.३॥

अर्थात्-मैं राष्ट्री, एकत्र करने वाली वसुओं की, ज्ञानवती, प्रथमा[२५] यज्ञिय पदार्थों में। ऐसी मुझे देवों ने बनाया बहुत स्थानों में, अनेक स्थानों में प्रवेश करने वाली को।

इस मन्त्र में पुनः स्पष्ट उल्लेख है कि वाक् राष्ट्री है। इसे देवों ने रखा या बनाया है।

अथर्ववेद में निम्नलिखित मन्त्र है-

इयं पित्र्या राष्ट्र्येत्वग्रे ॥४.१.२॥

यह मन्त्र ऐतरेय ब्राह्मण में (अध्याय ४, खण्ड २) में प्रतीकमात्र से पढ़ा गया है। अतः निश्चित ही वह कभी ऋग्वेदीय ऐतरेय संहिता में सुरक्षित था। इस मन्त्र की व्याख्या में ऐतरेय ब्राह्मण में "वाग्वै राष्ट्री" कहा है।

अगला मन्त्र अति स्पष्ट रूप से दैवी वाक् का वर्णन करता है-

(ङ) देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति। सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु॥ ८.१००.११॥ [२६]

अर्थात्-देवी वाक् को उत्पन्न किया देवों ने। उसको सब प्रकार के पशु=मनुष्य आदि बोलते हैं। वह चित्ताकर्षक बोली वाली, हमारे लिये अन्न और रस को दुहती हुई धेनु-रूपी वाक्, अच्छे प्रकार स्तुता, हमें प्राप्त हो। माध्यमिका वाक् अन्न और रस के दुहने का क्या काम करती है, यह विज्ञान का गम्भीर विषय है।

यदि वह देवी-वाक् आकाशीय मध्यस्थान में उत्पन्न न होती तो संसार मात्र में कोई ध्वनि उत्पन्न न हो सकती। इस माध्यमिका वाक् का रूपान्तर व्यक्त और अव्यक्त वाक् है। जिस प्रकार महान् मन तथा दिव्यचक्षु का मानव मन का प्राणीमात्र के नेत्र से सम्बन्ध है, उसी प्रकार देवी वाक् का सम्पूर्ण वाक् से सम्बन्ध है। जिस प्रकार पहले अग्नि उत्पन्न हुआ और तत्पश्चात् सूर्य आदि बने, इसी प्रकार पहले शब्दगुण धारण करने वाला आकाश उत्पन्न हुआ और तदनन्तर माध्यमिका वाक् बनी। तत्पश्चात् मानुषी वाक् बनी।

(ग) से (ङ) तक उद्धृत मन्त्रों का केवल इतना प्रयोग है कि इन मन्त्रों में वाक् को देवों की ईश्वरीय, देव-निर्मिता तथा देवी कहा है।

आकाशस्थ ऋषि वाक्-कर्त्ता-

(च) वसिष्ठासः पितृवद् वाचमक्रत देवां ईलाना ऋषिवत् स्वस्तये। ऋग्०१०.६६.१४

अर्थात्-(आकाशस्थ) वसिष्ठों ने पितरों के समान वाणी को किया, देवों की स्तुति करते हुओं ने, ऋषि के समान कल्याण के लिये।[२७] भर्तृहरि, शौनक, व्यास, यास्क और कठ आदि मुनि देवी वाक् के अस्तित्व को स्वीकार करते थे। यह भी स्पष्ट है कि मन्त्रों में भी दैवी वाक् का उल्लेख पाया गया है।

निरुक्तकार यास्क यह भी लिखता है कि मानुष वाक् से सर्वथा भिन्न देवों की वाक् होती है। यही नहीं निरुक्त में उद्धृत ब्राह्मण पाठ से स्पष्ट ज्ञात होता है कि आकाशस्थ देवों की वाक् भी है।

इन सब प्रमाणों से निम्नलिखित बातें स्पष्ट हैं-

१. सारा जगत् दैवी वाक् का विवर्त है।
२. संसार मात्र की अपभ्रंश भाषायें दैवी वाक् की व्यतिकीर्णता से उत्पन्न हुईं।
३. दैवी अथवा सौरी वाक् को ब्राह्मी वाक् भी कहते हैं।
४. दिव्या वाक् को आदि में स्वयंभू ब्रह्म ने उत्सृष्टा।
५. वाणी उस समय विस्तृत हुई, जब आकाशस्थ देव नाना यज्ञ करने लगे।
६. आकाशस्थ यज्ञार्थ इन्द्र वाणी को उत्पन्न करता है।
७. आकाशस्थ ब्राह्मण और वसिष्ठ वाणी को उत्पन्न करते हैं।
८. आकाशस्थ ऋषि और पितर वाणी को उत्पन्न करते हैं।

ये विषय इतने विस्तृत और विज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले हैं कि इन में से प्रत्येक पर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा जा सकता है। सर्वप्रथम वाणी के उत्पादक देव कौन थे, इसका वर्णन आगे किया जाता है।

वाणी के उत्पादक देव

सृष्टि-उत्पत्ति के सूक्ष्म ज्ञान के बिना यह विषय स्पष्ट नहीं होता अतः इसका संक्षिप्त विवरण निम्न है।

सृष्टि क्रम सांख्य शास्त्रों में-आर्य शास्त्रों में सृष्टि उत्पत्ति का अति सुन्दर और वैज्ञानिक वर्णन सुरक्षित है। योरोपीय लोगों ने इस विषय पर जितने भी ग्रन्थ लिखें है, उनमें सृष्टि उत्पत्ति का वर्णन आंशिक रूपेण ठीक है, पर अधिकांश में निराधार और कल्पित है।

यह विषय प्रधानता से सांख्य शास्त्र का है, पर उपलब्ध सांख्य दर्शन और सांख्य-सप्तति से इस विषय का पूरा ज्ञान नहीं होता। विशद् ज्ञान होता है मनुस्मृति, महाभारत, पुराणों के सर्ग-प्रतिसर्ग उल्लेख तथा ब्राह्मणग्रन्थों से। इन ग्रन्थों में प्राचीन सांख्य की सृष्टि-उत्पत्ति-विषयक पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती है। ज्ञान की उत्तरोत्तर उन्नति (Progress) का अभिमान करने वालों के लिये यह विशेष रूप से पठितव्य है।

सृष्टि-क्रम-प्रकृति का गुण साम्य ईश्वर-प्रेरणा से रजोगुण के प्रधान होने पर भंग हुआ। गुणों में वैषम्य आया (वायु ५.९), तब महान् उत्पन्न हुआ। यह महान् ईश्वर-प्रेरणा से प्रेरित सृष्टि करता है। भूतचिन्तक अथवा स्वभाववादी इस महान् से पूर्व की दशा को नहीं जानते। पाश्चात्य विज्ञानवेत्ता जो सृष्टि का कारण स्वभाव (Nature) में ही ढूंढते हैं, वे भूतों तक यत् किञ्चित् सोच पाये हैं। इन से पूर्व की अवस्थाएं उनके लिये अभी स्वप्न मात्र हैं। महान् से अंहकार उपजता है।

अहंकार=मन-अहंकार व्यापक मन है। यह सारा विकृत को प्राप्त नहीं होता। केवल इसका एक अंश विकृति को ग्रहण करता है। मन्त्र पदों में संकेत इस व्यापक मन से होता है। इसी मन से दैवी वाक् सम्बन्ध रखती है। यथा-

मनसा वाचमक्रत। ऋग्०१०.७१.२

पुनरेहिं वाचस्पते देवेन मनसा सह।

अथर्व०१.१.२

तन्मात्रा और महाभूत-अहंकार के पश्चात् क्रमशः भूतों की तन्मात्राएं उत्पन्न होती हैं। यह भूतों का अति सूक्ष्मरूप है। यहाँ तक की सृष्टि अवशेष सृष्टि कहलाती है। इसके पश्चात् महाभूत अथवा स्थूल-भूत उत्पन्न होते हैं।

विशेष-स्थूल भूतों को विशेष कहते हैं। विशेष इन्द्रियग्राह्य हो जाते हैं। इन विशेषों का अद्भुत प्रदर्शन करने के कारण ही कणाद मुनि के शास्त्र को वैशेषिक शास्त्र कहते हैं। वर्तमान पाश्चात्य विज्ञान इस ज्ञान की तुलना में अधूरा है।

आपः सृष्टि-इस सृष्टि में आपः प्रधान और व्यापक हो गयीं। शतपथ ब्राह्मण ६.१.३.१ से प्रजापति द्वारा आपों से सृष्टि उत्पत्ति का कथन है। मनुस्मृति १.८ में भी यहीं से उत्पत्ति क्रम प्रारम्भ होता है। ब्राह्मणग्रन्थों के सृष्टि उत्पत्तिविषयक सब प्रकरणों में आपः सदा स्त्री स्थानी है। **योषा वा आपः**।[२८] इसलिये दैवी वाक् और उसकी अनुकरणकर्त्री संस्कृतभाषा में **आपः** शब्द नियत स्त्रीलिंग में ही व्यवहृत होता है।

आपः का स्वरूप-आपः पद से यहाँ जलों का अभिप्राय नहीं है। आपः तन्मात्राओं और महाभूत जल के मध्य की अवस्था का नाम है।

मैकडानल की भ्रान्ति-मन्त्रगत विद्या को अणुमात्र न समझता हुआ, ऑक्सफोर्ड का परलोकगत अध्यापक आर्थर एन्थनि मैकडानल-**सलिलस्य मध्यात्**[२९] का अर्थ करता है-from the midst of the sea. सलिल का अर्थ नहीं बनता। पुनः-**अप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्**[३०] में वह सलिल का अर्थ Water[३१] करता है। यह भी सर्वथा अयुक्त है। सृष्टि उत्पत्ति के प्रकरणों में **सलिल** पारिभाषिक शब्द है।

हमने शतपथ ब्राह्मण के आगे उद्धृत वचन में सलिल का अर्थ एकार्णवी भूतावस्था वाला

किया है। मन्त्रों में इसे ही अर्णव समुद्र कहा है। यह महाभारत और वायुपुराण (१०.१७८) की व्याख्या के अनुसार है। मैकडानल ने आपः का अर्थ Aerial Water किया है। वस्तुतः अंग्रेजी भाषा और पाश्चात्य विज्ञान में **सलिल** और **आपः** के लिये कोई शब्द नहीं है। योरोपीय साइंस इस ज्ञान तक नहीं पहुंचा।

आपः से प्रजापति पर्यन्त-बृहदारण्यक में अत्यन्त सुन्दर और संक्षिप्त रूप से इस क्रम का उल्लेख है-

आप एवेदमग्र आसुः। ता आपः सत्यमसृजन्त। सत्यं ब्रह्म। ब्रह्म प्रजापतिम्, प्रजापतिर्देवान्॥ ५.५.१॥

अर्थात्-आपः ही पहले थे। उन आपों ने सत्य (=बीज?) को उत्पन्न किया, सत्य ने ब्रह्म (=अण्ड), को, अण्ड ने प्रजापति (=पुरुष) को। प्रजापति ने देवों को। देवों की उत्पत्ति का यह क्रम समझे बिना वेदमन्त्रों का अभिप्राय स्पष्ट नहीं हो सकता।

अण्ड की उत्पत्ति-वायुपुराण के चतुर्थ अध्याय में लिखा है-

पुरुषाधिष्ठितत्वाच्च अव्यक्तानुग्रहेण च। महदादयो विशेषान्ता अण्डमुत्पादयन्ति ते॥ ७४॥

एककालं समुत्पन्नं जलबुद्बुदवच्च तत्। विशेषेभ्योऽण्डमभवद् बृहत्तदुदकं च यत्॥ ७५॥

अर्थात्-पुरुष के अधिष्ठान के कारण और अव्यक्त प्रकृति की कृपा से महत् से विशेष पर्यन्त पदार्थ अण्ड को उत्पन्न करते हैं। जल के बुलबुले के समान अण्ड सहसा उत्पन्न हुआ (इसमें समय नहीं लगा)।

वेद में गर्भ=अण्ड की उत्पत्ति-ऋग्वेद के मन्त्र में कहा है-

तमिद् गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छन्तं विश्वे। अजस्य नाभावस्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः॥ १०.८२.६

अर्थात्-उस गर्भ (अथवा अण्ड) को पहले धारण करते थे आपः, जहाँ विश्वे देवाः एकत्रित थे। अज अर्थात् सत्त्व, रज और तम की साम्यावस्था की नाभी (=मध्य) में। वह एक था जिसमें सम्पूर्ण भुवन ठहरे थे।

अजस्य नाभौ-यह पद विशेष विचार योग्य है। ऋग्वेद की एक दूसरी ऋचा भी इस अर्थ को प्रकट करती है-

आपो ह यद्बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्। १०.१२१.७

अर्थात्-आपः निश्चय से जो महान् (थे), विश्व में व्यापक थे। (अण्ड अथवा) गर्भ को धारण करते हुए, (और) उत्पन्न करते हुए अग्नि को। वेदमन्त्रों में वर्णित इस आश्चर्यजनक वैज्ञानिक सत्य का वायुपुराण के चतुर्थ अध्याय में वर्णन है-

अन्तस्तस्मिन् त्विमे लोका अन्तर्विश्वमिदं जगत्॥ ८२॥ चन्द्रादित्यौ सनक्षत्रौ सग्रहौ सह वायुना। लोकालोकं च यत् किञ्चिचाण्डे तस्मिन् समर्पितम्॥ ८३॥ अद्भिर्दशगुणाभिस्तु बाह्यतोऽण्डं समावृत्तम्॥ ८४॥

अर्थात्-अन्दर उसके ये लोक, अन्दर सम्पूर्ण जगत्। चन्द्र, आदित्य, नक्षत्र, ग्रह, साथ वायु के (उसमें थे)। प्रकाशयुक्त और अन्धकारयुक्त जो कुछ था, उस अण्ड में था। आपों से जो दश गुणा थे, बाहर से वह अण्ड आवृत्त था। पूर्व उद्धृत वेदमन्त्रों का यह सुन्दर भाष्य है।

हिरण्यगर्भ=महदण्ड-इस क्रमिक परिणाम के पश्चात् अथवा महाभूतों के सृजन के अनन्तर तथा आपों के प्रधान होने पर, उन आपों में हिरण्यगर्भ का प्रादुर्भाव हुआ। पूर्व-प्रदर्शित विषय का कुछ विस्तार करते हुए शतपथ ब्राह्मण में लिखा-

आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास। ता अकामयन्त। कथं नु प्रजायेमहि इति। ता अश्राम्यन्।

तास्तपोऽतप्यन्त। तासु तपस्तप्यमानासु हिरण्यमाण्डं सम्बभूव। तदिदं हिरण्यमाण्डं यावत् संवत्सरस्य वेला तावत् पर्यप्लवत। ततः संवत्सरे पुरुषः समभवत्। स प्रजापतिः॥ ११.१.६.१॥

अर्थात् आपः-निश्चय ही आरम्भ में सलिलावस्था[३२] (एकार्णवीभूतावस्था) में ही थे। उनमें (स्वयंभू ब्रह्म द्वारा) कामना हुई। कैसे हम प्रजारूप में फैलें। उन्होंने श्रम किया। उन्होंने तप किया। उन तप तपते हुओं में हिरण्याण्ड उत्पन्न हुआ। (वह) हिरण्याण्ड जब तक (एक देव) वर्ष का काल, तब तक चक्र में तैरता रहा। तब संवत्सर (के बीत जाने) पर पुरुष प्रकट हुआ।[३३] वह प्रजापति था।

हिरण्याण्ड की उत्पत्ति का वर्णन कितना वैज्ञानिक है। वह अण्ड अग्नि के प्रभाव के कारण हैमवर्ण और सहस्रांशु समप्रभ हो गया।[३४] इस हिरण्यगर्भ को स्वयम्भू ब्रह्म ने अपना महान् विराट् शरीर बनाया। ब्राह्मणग्रन्थों में इस हेमाभ महान् अण्ड को बहुधा पुरुष अथवा प्रजापति भी कहा है।

(क्रमशः)

पाद-टिप्पणियां-

१ श्री पाण्डुरंग वामन काणे सदृश लेखक विवेचनात्मक अध्ययन करके इस परिणाम पर पहुंचा कि अनुष्टुप छन्द में आमूलचूल लिखे गये ग्रन्थ आवश्यक नहीं कि सूत्रों से उत्तरवर्ती हों। वह लिखता है-

The present writer does not subscribe to the views of Max Muller (H.A.S.L. p.68) and others that works in continuous anushtubh meter followed sūtra works. (Kāṇe, History of Dharmaśāstra, Vol.I, p.10).

काणे, मैक्समूलर आदि द्वारा प्रतिपादित मत कि "आद्यान्त अनुष्टुप् छन्द में लिखे गये ग्रन्थ, सूत्रग्रन्थों के उत्तरवर्ती हैं," नहीं मानता है। उपलब्ध धर्म-सूत्रों में प्राचीन श्लोक-बद्ध धर्मशास्त्रों के शतशः वचन उद्धृत उद्धृत हैं। इसके विपरीत किसी भी प्राचीन श्लोकबद्ध धर्मशास्त्र में से धर्मसूत्रों के वचन उद्धृत नहीं हैं। अतः गौतम और आपस्तम्ब आदि धर्मसूत्र, भृगु-प्रोक्त आमूलचूल अनुष्टुप छन्दोबद्ध मानव धर्मशास्त्र के उत्तरवर्ती हैं। मैक्समूलर आदि पाश्चात्य लेखक कितनी निर्मूल कल्पनायें करते हैं, यह स्पष्ट है।

२ हिरण्यगर्भ ब्रह्मा के योगशास्त्र के दो श्लोक विष्णुपुराण २.१३.४२-४३ में उद्धृत हैं-

(क) सम्मानना परां हानिं योगर्द्धेः कुरुते यतः।
जनेनावमतो योगी योगसिद्धिञ्च विन्दति॥ ४२॥

(ख) तस्माच्चरेत् वै योगी सतां मार्गमदूषयन्।
जना यथावमन्येरन् गच्छेयुर्नैव सङ्गतिम्॥ ४३॥

दो अन्य श्लोक सनत्सुजात शांकरभाष्य २.४१ तथा ४२ पर उद्धृत हैं। ब्रह्मगीत गाथाएं महाभारत शान्तिपर्व में २७०/१० से आगे उद्धृत हैं।

३ तुलना करें निरुक्त पर दुर्गवृत्ति १३.९

४ p.12, The Religion of Ancient Egypt. Mercer. S.A.B., 1949.

५ p.87, The Story of Language, Mario Pai.

६ pp.299-303, Asianic Elements in Greek Civilization, Ramsay.

७ pp.983 B, 997 B, 1000A, Book A-3. Vol. VIII, Metaphysics, The Works of Aristotle. Eng. tr. Oxford, 1948

८ p.10, Elements of the Science of Language. 1951.

९ तुलना करें, Herder's Schriften, Vol.IX. p.207. 1807; मैक्समूलर कृत हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ०५ पर उद्धृत।

१० p.32, Language, its nature, development and origin, otto Jesperson, 1950.

११ p.x, Appendix I, A Second Selection of Hymns form the Rigveda, Zimmerman. 1939.

१२ p.48. Language : its nature. development and origin. Otto Jesperson 1950

१३ p. 709. Vol.II. Comparative Grammar of Greek. etc. 1845

१४ p.XIII. Preface. वही

१५ पृ० १५०, सामान्य भाषाविज्ञान, संस्करण चतुर्थ, २०१०

१६ पृष्ठ ९८-१०१. भगवद्दत्त तथा सत्यश्रवा, देहली, १९७४

१७ पृष्ठ ४२-५५ तथा ७२-७६, प्रथमभाग, द्वितीय संस्करण, भगवद्दत्त, दिल्ली, २०१८

१८ ५.१६

१९ तुलना करें-शब्दस्य परिणामोऽयम् इत्याम्नायविदो विदु:। छन्दोभ्य एव प्रथमम् एतद् विश्वं व्यवर्तत॥ १.१२१, वाक्यपदीय

२० लोकों की गति बहुविधा है। पक्षि-सदृश गति करने वाले लोक वयांसि और सर्प-सदृश गति वाले सर्प कहाते हैं, जिनकी वाक् ससर्परी है।

२१ शतपथ ब्राह्मण ४.१.३.१६ में भी ऐसा ही भाव है।

२२ १.७.४.१९ शत०ब्राह्मण।

२३ तुलना करें, सूत्र संहिता-१.११.९॥ से-तत्रस्थो भगवान् विष्णु: सूत्रात्मेति प्रकीर्तित:।

२४ १.७.४.२०॥

२५ भर्तृहरि-यत: **सर्वा प्रवृत्तय:**-वाक्यपदीय १.१॥

२६ इस मन्त्रस्थ पद की छाया पर मनु ने **'दुदोह'** (१.१४) पद का प्रयोग किया और वाणी की धेनु से तुलना की।

२७ (ख) और (च) की तुलना करें-**यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत** (ऋग्०१०.७१.२) यह मन्त्र पातञ्जल व्याकरण महाभाष्य के पस्पशाह्निक में उद्धृत है।

२८ शत०ब्रा०१.१.१.१८॥

२९ ऋग्०७.४९.१

३० ऋग्०१०.१२९.३

३१ p.21, Vedic Reader.

३२ यहाँ सब लीन था।

३३ पुरुषसूक्त इस पुरुष का वर्णन करता है।

३४ १.९, मनुस्मृति।

Vaidika Vāg-Jyotiḥ
ISSN 2277-4351

Vol.1, No.1 (13-18) Jul-Dec 2012

वेद और ज्योति सिद्धान्त

विश्वनाथ विद्यालंकार (स्व०)

पूर्व वेदोपाध्याय, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उ०ख०)

सामान्य ज्योति के स्थूल दृष्ट्या वेद में चार विभाग किये हैं-

१. प्रथम ज्योति तो इस पृथिवी पर रहने वाली है। जाठराग्नि, ओषधि आदि में रहने वाली अग्नि, वाडवानल (जो समुद्र में रहती है) तथा पृथिवी के गर्भ में रहने वाली अग्नि इसी ज्योति के भिन्न-भिन्न रूप हैं। इनमें सर्वजन प्रत्यक्ष ज्योति आग ही है। इन्हें वेद में ''पार्थिवाग्नि'' शब्द से कहा है।

२. द्वितीय ज्योति अन्तरिक्ष में रहने वाली है। जिसका विशेषतया प्रत्यक्ष वर्षा ऋतु में होता है। इस का निवासस्थान अन्तरिक्ष में रहने वाले कण हैं, ऐसा ही वेद में वर्णन आता है। यह भाव-

(क) अपां मित्रम्।

(ख) अप्सु ते सधि:।

(ग) अप्सु अग्नि:।

(घ) अपां नपात्।

इत्यादि वैदिक नामों तथा अन्य वर्णनों से प्रतीत होता है। अन्तरिक्ष की इस अग्नि को **वैद्युताग्नि** कहते हैं, जिसका भाव है ''विद्युत् रूपी अग्नि'' या आग।

३. तृतीय ज्योति सूर्य है, जो प्रतिदिन प्रात:काल पूर्व दिशा में दर्शन देता है।

४. चतुर्थ ज्योति से वेद में रात्रि की ज्योति का वर्णन किया है। इस ज्योति में चन्द्र, नक्षत्र तथा तारागण सम्मिलित हैं।

इन सब ज्योतियों का वर्णन ऋग्वेद ३ अष्टक, १ अध्याय, २२ वर्ग, द्वितीय मन्त्र में एक साथ पाया गया है। वह मन्त्र निम्नलिखित है-

''अग्ने यत् ते दिवि वर्चः पृथिव्यां यदोषधीष्वप्स्वा यजत्र। येनान्तरिक्षमुर्वाततन्थ त्वेषः स भानुरर्णवो नृचक्षाः॥''

इस मन्त्र में दिवि वर्चः से १. सूर्य रूप ज्योति का ग्रहण है, **यत् पृथिव्यां** से (२) पार्थिव अग्नि का, **यत् ओषधीषु** से भी उसी पार्थिव अग्नि का ग्रहण है जो कि रूपान्तर से ओषधियों में रहती है, तथा जिन ओषधियों के जलाने से यह पार्थिव अग्नि का रूप धारण कर लेती है। **यत् अप्सु** अर्थात् जो जलों में निवास करती है, इससे ३. अन्तरिक्ष की विद्युत् का ग्रहण किया गया है।

''येनान्तरिक्षमुर्वाततन्थ'' इससे चतुर्थ ज्योति का ग्रहण है जो कि ज्योति विस्तृत अन्तरिक्ष में चारों और व्यास है, और रात्रि को जब हम अपनी चक्षु को अन्तरिक्ष में फैंकते हैं, तो बड़ा भारी अन्तरिक्ष जिस चन्द्र, नक्षत्र तथा तारामण्डल रूपी ज्योति से सर्वत्र व्याप्त प्रतीत होता है।

अर्णवः शब्द से समुद्र में रहने वाली ज्योति का ग्रहण किया है, जिसे संस्कृत में वाडवानल कहते हैं।

इस उपर्युक्त ज्योतियों में से पृथिवी, ओषधि और समुद्र में रहने वाली ज्योतियों का ग्रहण पार्थिवाग्नि शब्द से हो सकता है। क्योंकि पार्थिव अग्नि ही इन तीनों में सर्वजन प्रत्यक्ष होने से प्रधान है। बहुत सम्भत्र है कि उपर्युक्त मन्त्र में **यत् पृथिव्यां** से पृथिवी के गर्भ में रहने वाली अग्नि का भी ग्रहण हो, जो कि कभी-कभी ज्वालामुखी

पर्वतों के रूप में भी प्रत्यक्ष होती है, जिसे अंग्रेजी में "सबटैरेनियन हीट" कहते हैं। किन्तु इस विषय में, यतः कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिला, अतः यह बात विवादास्पद अवश्य है।

इस प्रकार वेद में ज्योति के चार मुख्य भाग किये गये हैं। इन चारों में चन्द्र, नक्षत्र तथा तारागण की ज्योति को भी द्युलोक की ज्योति में शामिल कर लेते हैं। इस लिये वेद में बहुत स्थानों पर त्रिज्योति का ही वर्णन है।

तीन ज्योतियों का सामान्य कारण-

इस प्रकार द्युलोक, अन्तरिक्षलोक तथा भूलोक की ज्योतियों के वर्णन के पश्चात् हम इस प्रश्न पर आते हैं कि "क्या ये तीनों ज्योतियाँ एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न हैं या सामान्यकरण रूप से अत्यन्त भिन्न नहीं। जिस प्रकार जल, भाप और बर्फ यद्यपि नाम रूप से भिन्न हैं, किन्तु जलरूप से सब अभिन्न हैं। या घड़ा, मटका, कसोरा, दीवा ये नाम रूप से तो एक-दूसरे से भिन्न हैं, किन्तु मिट्टी रूप से तो सब एक ही हैं। इस प्रकार क्या द्युज्योति, अन्तरिक्ष ज्योति तथा भूज्योति केवल नाम रूप से भिन्न होती हुई भी, किसी सामान्य करण के रूप से एक है या लोहा, चाँदी और कोयले की तरह सर्वथा ही एक-दूसरे से भिन्न हैं। दूसरे शब्दों में हम इस प्रश्न को इस रूप में भी रख सकते हैं कि "क्या अनादिकाल से ही ये तीनों ज्योतियाँ एक-दूसरे से नितान्त विलक्षण हैं, या ये तीनों किसी एक सामान्य करण के कार्य हैं।

वेद और इस प्रश्न का हल-

१. ऋग्०३.१.२२.२ में कहा गया है कि द्युलोक, अन्तरिक्ष लोक तथा भूलोक की ज्योतियों का कारण है और उस सामान्य कारण का नाम अग्नि है।

२. ऋग्०७.८.२८.१ (१०.४५.१), वा यजु०१२.१८; तैत्ति०सं०१.३.१४.५; ४.२.२.१ मन्त्र निम्नलिखित है-

"दिवस्पर्ति प्रथमं जज्ञे अग्निरस्मद् द्वितीयं परि जातवेदाः। तृतीयमप्सु नृमणा अजस्रमिन्धान एनं जरते स्वाधीः॥"

इसका अभिप्राय यह है कि अग्नि ने प्रथम द्युलोक में आदित्य का रूप धारण किया। तदनन्तर पार्थिव अग्नि तथा वैद्युत् अग्नि का। इस वर्णन से भी तीनों ज्योतियों का एक सामान्य कारण बताया गया है, जिसको अग्नि शब्द में कहा है।

३. दुर्गाचार्य, नैगमकाण्ड, अध्याय ४, खण्ड २४, शब्द ५२ में लिखते हैं। यथा-

"अयमेक एव त्रिषु स्थानेषु जायते"

इसका अभिप्राय यह है कि यह सामान्य कारण अपने रूप से एक ही है, किन्तु तीन ज्योतियों में परिणत होता है।

४. ऋग्०६.३.३९.१६ (८.४४.१६) का मन्त्र निम्नलिखित है-

"अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत् पतिः पृथिव्या अयम्। अपां रेतांसि जिन्वति॥"

अर्थात् अग्नि सबसे श्रेष्ठ है। द्युलोक में सूर्यरूप से बढ़ा हुआ भाग अग्नि ही है। तथा पृथिवी का पति जो आग है, वह भी अग्नि ही है। तथा अन्तरिक्ष में जलों का सारभूत जो विद्युत् है वह भी अग्नि का रूपान्तर ही है। इस वर्णन से भी उपर्युक्त बात ही सिद्ध होती है।

५. दुर्गाचार्य निरुक्त, दैवतकाण्ड, अध्याय ७, खण्ड २९ में लिखते हैं-

"एकमेवेदं ज्योतिः ज्योतिष्ट्वाविशेषात्। तत्पुनरेतज्जगद्यात्रासिद्धये त्रिधा विभक्तं पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवि च। विभक्ताभिधानं सम्पद्यते अग्निर्विद्युदादित्य इति॥"

अर्थात् ज्योति वास्तव में एक ही है। यह तीनों रूपों में परिणत होकर पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में रहती है। उन परिणत रूपों का नाम अग्नि, विद्युत् और सूर्य है।

६. ऋग्०१.१६४.१ में निम्नलिखित मन्त्र आया है-

"अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः। तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्॥"

इस मन्त्र में सूर्य, विद्युत् और अग्नि को एक-दूसरे का भाई कहा है। यह भाई शब्द इनके एक सामान्य करण को सूचित करता है, जिसके कि ये तीनों पुत्रस्थानापन्न हैं।

इस प्रकार हमें ज्ञात हुआ है कि वेद में तीनों ज्योतियों को एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न नहीं माना, किन्तु वेद के मन्तव्य के अनुसार इन सब में एक सामान्य रूप अनुस्यूत है, जो वास्तव में इन तीनों रूपों का कारण है। और इस सामान्य कारण को वेद में अग्नि शब्द से पुकारा गया है।

सामान्य कारण का स्वरूप-

इस सामान्य कारण का स्वरूप क्या है, क्या यह सामान्य कारण शक्तिस्वरूप है या द्रव्यस्वरूप है? इस प्रश्न का उत्तर इन वेदमन्त्रों में मिलता है, जिनमें इन तीन ज्योतियों की उत्पत्ति बतायी गयी है। निम्न मन्त्रों में इस पार्थिव अग्नि के विशेषण निम्नलिखित हैं-

१. **सहसपुत्रः।** ऋग्०२.५.२८.६

२. **सहसः सूनवाहुत ।** ऋग्०६.५.२४.३. (८.७५.३)

३. **सहसो यहो ।** ऋग्०१.५.२७.४ (१.७९.४)

४. **सहस्कृत।** ऋग्०८.४४.११

५. **ऊर्जोनपात्।** ऋग्०६.३.३९.३

६. **सहसा जायमानः।** ऋग्०१.१५.९६.१

७. **ऊर्जः पुत्रम् ।** ऋग्०१.७.५.३ (१.९६.३)

इन सब विशेषणों का अर्थ है "बल से पैदा हुआ, या बल का पुत्र"। कई मन्त्रों में यह भी वर्णन आता है कि यह पार्थिव अग्नि मन्थन करने से या एक पदार्थ को दूसरे पदार्थ पर रगड़ने से पैदा होती है। अतः वेद के मन्तव्य के अनुसार पार्थिव अग्नि का कारण बल अर्थात् शक्ति है।

विद्युत् का कारण-

विद्युत् का कारण वेदानुसार द्रव्य है या शक्ति।

ऋग्०१०.७३.१०वां मन्त्र निम्नलिखित है, जो कि विद्युत् का वर्णन करता है।

अश्वादियायेति यद्वदन्त्योजसो जातमुत मन्य एनम्। मन्योरियाय हर्म्येषु तस्थौ यतः प्रजज्ञ इन्द्रो अस्य वेद॥

इस मन्त्र में विद्युत् के विषय में कहा गया है-ओजसो जातम्। इसका अर्थ है बल से पैदा हुआ। इस पर दुर्गाचार्य लिखते हैं-

कुतश्चिदति महतो बलाशेः जातम्।

इसका अर्थ यह है कि विद्युत् जो अन्तरिक्ष में है, बड़ी बल की राशि से पैदा हुई है। इस वर्णन से भी प्रतीत होता है कि विद्युत् के पैदा करने का कारण भी शक्ति रूप है न कि द्रव्य रूप।

सूर्य की उत्पत्ति का कारण-

ऋग्०३.१.१७.५ (३.१७.५) में विद्युत् के वर्णन में निम्नलिखित शब्द आये हैं-"**द्विता च सत्ता**"। इस पर निरुक्त, नैगम काण्ड, अध्याय ५, खण्ड ३, शब्द १९ पर यास्काचार्य लिखते हैं-

"द्वैध सत्ता, मध्यमे च स्थाने, उत्तमे च।"

अर्थात् विद्युत् की सत्ता दो स्थानों में है, एक अन्तरिक्ष में तथा द्वितीय द्युलोक में। इस पर दुर्गाचार्य लिखते हैं-

मध्यमे च स्थाने विद्युद् भावेन, उत्तमे च स्थाने सूर्य भावेन।

अर्थात् अन्तरिक्ष लोक में जो विद्युत् विद्युत् रूप में रहती है, परन्तु द्युलोक में सूर्य रूप से रहती है। इस वर्णन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि सूर्य **के तेज का कारण विद्युत् ही है। जब विद्युत् का कारण शक्ति है तो सूर्य का कारण शक्ति स्वतः सिद्ध है। अतः वेद द्वारा यह सिद्धान्त अत्यन्त पुष्ट**

है कि तीनों ज्योतियों का सामान्य कारण शक्ति रूप है, न कि द्रव्य रूप और वेद में इस सामान्य शक्ति को भी अग्नि शब्द से सूचित किया है।

परस्परोत्पाद्योत्पादकभाव-

ज्योति सिद्धान्त का सबसे आवश्यक प्रश्न अभी अवशिष्ट है। वह यह कि इन ज्योतियों में प्रत्येक ज्योति, अन्य ज्योति के रूप में परिणत हो सकती है या नहीं? अर्थात् क्या सूर्य-ज्योति से पार्थिव ज्योति और वैद्युत्-ज्योति, या वैद्युत् ज्योति से पार्थिव और सूर्य ज्योति या पार्थिव ज्योति से अन्य ज्योतियाँ पैदा हो सकती हैं या नहीं? यह उस बहुत महत्त्व का है। अब हमें देखना चाहिये कि वेद इस प्रकार के बारे में क्या सम्मति रखते हैं।

विद्युत् से पार्थिव ज्योति की उत्पत्ति-

निरुक्त दैवतकाण्ड, अध्याय ८, खण्ड २ में **द्रविणोदा** शब्द पर विचार करते हुए यास्काचार्य लिखते हैं-

तत्को द्रविणोदाः इन्द्र इति क्रौष्टुकिः अथाप्यग्निं द्रविणोदसमाह एष पुनरेतस्मात् जायत इति''।

इसका अर्थ यह है कि क्रौष्टुकि आचार्य के मत में द्रविणोदा शब्द से विद्युत् अर्थ लेने में कारण यह देते हैं कि इस पार्थिव अग्नि के लिये वेद में ''द्रविणोदस्'' शब्द आया है। और द्रविणोदस् का अर्थ है, ''द्रविणोदा से पैदा हुआ।'' यतः पार्थिव अग्नि, विद्युत् से पैदा होती है, अतः विद्युत् का नाम ही द्रविणोदा होना चाहिये। इस प्रकार क्रौष्टुकि आचार्य के मतानुसार हमें यह प्रतीत होता है कि पार्थिव अग्नि, विद्युत् से पैदा हो सकती है। क्रौष्टुकि आचार्य अपने मत की पुष्टि में एक वेदमन्त्र भी प्रस्तुत करते हैं, जो कि निम्नलिखित है-

१. **यो हत्वाहिमरिणात् सप्त सिन्धून् यो गा उदाजदपधा वलस्य। यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान संवृक् समत्सु स जनास इन्द्रः॥** ऋग्०२.६.७.३

इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि जो अन्तरिक्ष के मेघ को काटकर उसमें से जलों को नीचे की तरफ बहाता है, वह विस्तृत द्यावापृथिवी में अग्नि को पैदा भी करता है। इस वर्णन से स्पष्ट है कि विद्युत् को ही यहाँ पार्थिव अग्नि का कारण बताया गया है। क्योंकि वही अन्तरिक्ष में मेघों को छिन्न-भिन्न कर वर्षा का कारण होता है।

दुर्गाचार्य इस पर लिखते हैं-

एव पुनः अग्निः एतस्मादिन्द्रात् जायत इति।

अर्थात् यह पार्थिव अग्नि इस विद्युत् से पैदा होती है।

२. इसी प्रकार यजुर्वेद अ०१२, मन्त्र ३६ भी इसी बात की पुष्टि करता है। वह मन्त्र निम्नलिखित है-

''अप्स्वग्ने सधिष्टव सौषधीरनु रुध्यसे। गर्भे सञ्जायसे पुनः॥''

इस पर महीधर लिखते हैं-

''अप्सु जलेषु तव सधिः स्थानं, स त्वमोषधीः यवाद्या अनुरुध्यसे, ओषधिपरिणाम मनु विपरिणमसे किञ्च गर्भे अरण्योर्मध्ये स्थितः सन् पुनर्जायसे।''

इस वेद मन्त्र का तथा महीधर का अभिप्राय यह है कि अग्नि जिसका कि स्थान जल है वह अर्थात् विद्युत रूपी अग्नि ही ओषधियों में रूपान्तर से विद्यमान है तथा वही विद्युत् जो कि रूप बदलकर ओषधियों में रहती है। ओषधियों के जलाने पर प्रार्थिव अग्नि का रूप धारण कर लेती है, इस वर्णन से यह प्रतीत होता है कि वेदानुसार पार्थिव अग्नि का कारण विद्युत् है। लेकिन पूर्व मन्त्र में जो विद्युत् को पार्थिव अग्नि का साक्षात् कारण कहा था, परन्तु इस मन्त्र में साक्षात् नहीं प्रत्युत् परम्परया विद्युत् को पार्थिव अग्नि का कारण बताया है।

पार्थिव अग्नि का कारण सूर्य-

निरुक्त दैवतकाण्ड में वैश्वानर शब्द पर यास्काचार्य ब्राह्मणग्रन्थों में से निम्नलिखित वाक्य उद्धृत करते हैं-

''देव सवितरेतं त्वा वृणतेऽग्निहोत्राय सह पित्रा वैश्वानरेण।''

इस पर यास्काचार्य टिप्पणी करते हैं-

''इममेवाग्निं सवितारमाह सर्वस्य प्रसवितारं मध्यमं वोत्तमं वा पितरम्।'' अर्थात् पार्थिव अग्नि को सविता शब्द से कहा है। विद्युत् तथा सूर्य को इस पार्थिव अग्नि का उत्पादक कहा है। इससे यह बात स्पष्ट कि पार्थिव अग्नि का उत्पादक सूर्य भी वेदाद्यभिमत है।

इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि वेद में पार्थिव अग्नि की उत्पत्ति विद्युत् से बतायी गयी है और सूर्य से भी। इस सिद्धान्त की पुष्टि के लिये यास्काचार्य ने निरुक्त में निम्नलिखित शब्दों में एक बहुत रोचक परीक्षण भी दिया है।

''अयमेवाग्नि: वैश्वानर इति शाकपूणि:। विश्वानरावेते उत्तरे ज्योतिषी, वैश्वानरोऽयं यत्ताभ्यां जायते। कथं वैताभ्यां जायते-यत्र वैद्युत: शरणमभि हन्ति यावदनुपत्तो भवति मध्यम धर्मेव तावद्भाति, उदकेन्धन: शरीरोपशमन:, उपादीयमान एवायं सम्पद्यते उदकोपशमन: शरीरदीप्ति:। ''अथादित्यादुदीची प्रथम समावृत्ते आदित्ये कंसं वा मणिं वा परिमृज्य प्रतिस्वेर शुष्कगोमयमसंस्पृशन् धारयति तत् प्रदीप्यते, सोऽयमेव सम्पद्यते।

इन वाक्यों में प्रथम तो यास्काचार्य ने यह सिद्ध किया है कि पृथिवी पर रहने वाली विद्युत् तथा अन्तरिक्ष में रहने वाली विद्युत् में कई समानतायें हैं। यह परीक्षण **बेन्जामिन फैङ्कलिन** ने भी किया था। उसके बाद यास्काचार्य कहते हैं कि जब यह सिद्ध हो गया है कि पृथिवी की विद्युत् तथा अन्तरिक्ष की विद्युत् समान कार्य करती है, तो चूंकि पृथिवी की विद्युत् का जब हम उपादान करते हैं अर्थात् इसे अपने कार्यों में प्रयुक्त करते हैं तो यह आग का रूप धारण कर लेती है, इससे हम अनुमान लगा सकते हैं कि अन्तरिक्ष की विद्युत् भी इस पार्थिव अग्नि का रूप धारण कर सकती है। इस परीक्षण द्वारा बहुत बुद्धिमत्ता से यास्काचार्य ने विद्युत् को पार्थिव अग्नि का कारण सिद्ध किया है। द्वितीय परीक्षण में यास्काचार्य इस पार्थिव अग्नि का सूर्य से भी पैदा होना सिद्ध करते हैं। उनके परीक्षण का आशय इस प्रकार है-

वे कहते हैं-''जब सूर्य अपनी प्रखर किरणों के साथ विद्यमान हो या अन्तरिक्ष में बादल या कोहरा न हो। उस समय यदि बिल्कुल साफ कांसी के पात्र को लेकर सूर्य की किरणों के सामने रखें और उस कांसी के पात्र के Foucs या केन्द्र में जहाँ पर क़िरणें आकर इकट्ठी हों, सुखा गोबर रखें, तो गोबर में आग लग जायेगी। इस परीक्षण में कांसे के पात्र द्वारा सूर्य की क़िरणें एक बिन्दु पर इकट्ठी हो जाती हैं और इस प्रकार उसमें ताकत बढ़ जाती है, और इसलिये सुखा गोबर या सरकण्डा जल उठता है। क्या बुद्धिमत्ता से यास्काचार्य ने इस वैदिक सिद्धान्त की पुष्टि की है कि यह पार्थिव अग्नि सूर्य से भी पैदा हो सकती है।

नोट-इस परीक्षण में विचार यह उपस्थित है कि कांसी का बर्तन किस आकार का होना चाहिये। जिन्होंने आजकल के विज्ञान में कुछ भी प्रवेश किया है, वे जानते हैं कि यदि घड़े के ऊपर के भाग या पार्श्व के भागों को तोड़ दिया जाये, तो निचला भाग (जिसके कि पार्श्व चारों ओर से कुछ ऊपर उठे हुए हों) रह जावेगा, ठीक उसकी शक्ल का यह कांसी का पात्र होना चाहिये, नहीं तो किरणें इकट्ठी एक केन्द्र में नहीं हो सकतीं और न परीक्षण ही सिद्ध हो सकता है।

२. इसी उपर्युक्त सिद्धान्त की पुष्टि यास्काचार्य ने एक अन्य परीक्षण से भी की है। उस परीक्षण में कांसी के बर्तन के स्थान में 'मणि' का प्रयोग किया है-''**कांस्यं वा मणिं वा**''। यह मणि वह है जिसमें से सूर्य की किरणें आर-पार गुजर कर मणि के दूसरे और एक केन्द्र में इकट्ठी हो जाने से उनमें ताकत बढ़ जाती है, और दूसरी और पड़ी हुई दाह्य वस्तु जल उठती है। इस मणि की रचना पर यदि हम विचार करना चाहें तो हमारी कल्पना में यह आजकल के पाश्चात्य विज्ञान में लैंस का प्रतिरूप है। और उन लैंसों में से भी यह यास्काचार्य का लैंस वह है जो मध्य से मोटा तथा पार्श्वों में पतला होता है, जिसे संस्कृत में उन्नतोदर और अंग्रेजी में कॉनवेक्स कहते हैं। इन लैंसों का वर्णन अन्य संस्कृत साहित्य में भी आता है।

इस सम्बन्ध में न्यायदर्शन अ०३, आह्निक १, सूत्र ४७ निम्नलिखित है-

''**स्फटिकान्तरितेऽप्यादित्यरश्मेः दाह्येऽविघातात्।**

इसमें यह भी बताया गया है कि सूर्य की किरणें स्फटिक में से गुजर कर दूसरी और पड़ी दाह्य वस्तु को जला देती है। यह स्फटिक भी लैंस के सिवाय अन्य कोई वस्तु नहीं।

विद्युत् सूर्य से पैदा होती है-

इस सम्बन्ध में एक भाग शेष रह गया वह यह कि विद्युत् का कारण वेद में क्या बताया है। वेद के आलोचन से विद्युत् के तीन कारण प्रतीत होते हैं-

१. जल के कणों की परस्पर रगड़।

२. जल के कणों की वायु के साथ रगड़।

३. सूर्य की किरणों की वायु के साथ रगड़।

विद्युत् के इन तीन कारणों में से पहले दो कारणों को पाश्चात्य विज्ञानवेत्ता भी मानते हैं, परन्तु तीसरे कारण पर अभी तक पर्याप्त परीक्षण नहीं हुए हैं। तीसरे कारण के प्रमाण निम्मलिखित हैं-

१. ऋग्वेद का निम्नलिखित मन्त्र स्मरणीय है-

''**वडित्था...................मातरा।**''

इस पर दुर्गाचार्य जी लिखते हैं-

''वां समानो जनिता, जनयिता सूर्यः।

तौ युवामेवं कृत्वा, एक पितृकौ, एक जन्मानौ ''यमौ भ्रातरौ''। ''इह इह मातरा'' इह च पृथिवी लोके, इह च अन्तरिक्षलोके अवस्थितौ ''मातरौ'' सर्वस्य लोकस्य निर्माण कार्य्यौ। एवमिह मन्त्रे पितृत्वेन सूर्यो व्यपदिष्टः। इन्द्राग्नी यमौ इति यम शब्देन मध्यमस्थान पृथिवीस्थानयोर्ग्रहणम्।''

इसका अभिप्राय यह है कि पार्थिव अग्नि तथा मध्यम अग्नि अर्थात् विद्युत् ये दोनों सूर्य की किरणों से पैदा होते हैं।

दूसरा मन्त्र ऋग्०६.८.४ का है। यथा-

अपामुपस्थे महिषा अगृभ्णत् विशो राजानमुप तस्थुर्ऋग्मियम्। आ दूतो अग्निमभरद् विवस्वतो वैश्वानरं मातरिश्वा परावतः॥

इसका भाव यह है कि अन्तरिक्ष लोक में जहाँ की जल उपस्थित हो, वायु द्वारा सूर्य की किरणें विद्युत् का रूप धारण कर लेती हैं।

३. महर्षि दयानन्द ऋग्वेद के निम्नलिखित मन्त्र पर भाष्य करते हुए भी इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं। वह निम्नलिखित है-

''**त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत।**

मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः॥'' (यजु०१५.२२)

इस मन्त्र का भाव ऋषि निम्नलिखित शब्दों में बताते हैं-

''जैसे पदार्थ विद्या के जानने वाले जन सूर्य आदि के समीप से, बिजुली को ग्रहण करके कार्यो को सिद्ध करते हैं, वैसे ही आप लोग भी सिद्ध करो।''

इस प्रकार इस लेख में वेद के ज्योति के सम्बन्ध में कुछ सिद्धान्त उपस्थित किये गये हैं।

Vaidika Vāg-Jyotiḥ
ISSN 2277-4351

Vol.1, No.1 (19-22) Jul-Dec 2012

वैदिक ज्योति

वासुदेवशरण अग्रवाल

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल वर्तमान युग के ऋषि और मन्त्रद्रष्टा थे। सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषयों का उन्होंने प्रत्यक्षीकरण किया था। वे बहुमुखी प्रतिभा वाले व्यक्ति थे। वेद, पुराण, कला, स्थापत्य, इतिहास, वैदिक दर्शन आदि के उद्‌भट विद्वान् थे। उनका सूत्रात्मक यह लेख पठनीय और माननीय है। (सम्पादक)

१.एक और बहुधा-

एको वेदो बहुशाखो ह्यनन्तस्वामेवैकं बोधयत्येकरूपम्।

एक वेदतत्त्व है। वही बीज अव्यक्तभाव से व्यक्त सृष्टि के रूप में आता है। एक तत्त्व मूल में बहुधा या अनेक तूल हैं। उसी एक का विस्तार विश्व है। एक 'तत्' है। बहुधा 'इदं सर्वम्' है। एक अव्यक्त भाव है। उस अदृश्य के लिये वेदों में तत् संकेत है। बहुधा को व्यक्त, स्थूल या दृश्य कहते हैं, जो 'एतत्' या विश्व या भूत है।

'एतद् वै तत्'

२. एकं॒ सद्विप्रा॑ बहु॒धा व॑दन्ति॒-

यही सृष्टि का सूत्र है जिसमें सारे भूत और प्रजाएं ओत-प्रोत हैं। विश्व का मूल एक शक्ति तत्त्व है, जो अनेक भूत और प्रजाओं के रूप में दृश्य बन रहा है। भूत और प्रजाएं एक शक्ति के अनेक या बहुधा रूप हैं। उस एक महासत्तावान् शक्ति की संज्ञा ब्रह्म है। एक और अनेक दोनों ब्रह्म रूप हैं। जो स्वयं अविकारी रहता हुआ इस विकारवान् भूतमय जगत् की सृष्टि करता है वह तत्त्व ब्रह्म है। वह अपने एक अंश से स्वयं ही इस विश्व के रूप में अभिव्यक्त होता है।

'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्'

यही उस ब्रह्मतत्त्व की प्रतिस्विक या निजी शक्ति है। वह एक होते हुए भी बहुधा प्रकट होता है।

'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'

एक रूप में वह अस्ति या सत्ता है। जैसे ही वह 'भवति' या होता है वह 'बहु' बन जाता है। बहुभाव को ही परोक्षभाषा में भूमाभाव या ब्रह्म कहते हैं।

३. गतितत्त्व-

विश्व का अव्यक्त मूल स्थिति तत्त्व है उसे ही रस कहा जाता है। रस के धरातल पर बलों का आविर्भाव ही सृष्टि का क्षोभ है। बलों की नाना ग्रन्थियाँ ही बहुभाव या सृष्टि है। बलतत्त्व ही गति है। गति स्पन्दन है। गति-आगति रूप द्वन्द्व का नाम ही प्राण है। प्राणशक्ति का स्पन्दन है। शतपथ के अनुसार प्राण की वैज्ञानिक परिभाषा यह है-

प्राणो वै समंचनप्रसारणम्। (शत०८.१.४.१०)

फैलना और सिकुड़ना, गति और आगति यही प्रजापति का निरुक्त, व्यक्त, मूर्त, प्रत्यक्ष प्रकट रूप है। इसी स्पन्दन को प्रजापति का तैजसरूप कहा जाता है। गति का उत्थान केन्द्र से परिधि की ओर होता है। परिधि तक पहुंच कर यही गति पुनः केन्द्र की ओर लौटती है तब उसे आगति कहते हैं। केन्द्र से परिधि तक प्रसारण और परिधि से केन्द्र

तक समंचन-यही गति आगति का स्वरूप है। इनमें गति या प्रसारण को इन्द्र और आगति या समंचन को विष्णु कहते हैं। इन्द्र और विष्णु की सतत स्पर्धा का भाव ही सृष्टि है-

उभा जिग्यथुर्न परा जयेथे न परा जिग्ये कतरश्चनैनोः। इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथाम्॥ ऋग्०६.६९.८॥

प्रत्येक अभिव्यक्त केन्द्र में इन्द्र और विष्णु का यह गति-आगतिरूप या प्रसारण-समंचन रूप द्वन्द्व निरन्तर चलता रहता है। यही प्राणन-अप्राणन क्रियाशक्ति का जागरण या द्विविरुद्धभाव है। विष्णु को इन्द्र का सहयुक्त सखा कहा गया है-'**इन्द्रस्य युज्यः सखा**'। पौराणिक भाषा में इन्द्र का छोटा भाई विष्णु का यह संघर्ष अर्थात् गति-आगति का स्पन्दन बिना किसी शान्त धरातल के सम्भव नहीं है। उसे ही स्थिति तत्त्व या ब्रह्मा कहा जाता है।

ब्रह्मा वै सर्वस्य प्रतिष्ठा

४. हृदयविद्या-

हृदयविद्या की संज्ञा ब्रह्मा है। स्थितिभाव से ही गति का जन्म होता है। स्थिति मानो जल की घनीभूत निश्चेष्ट अवस्था है। उसी का प्रतिभाव गति है, स्थिति निद्रा है, गति जागरण है। गति-आगति का प्रादुर्भाव केन्द्र में प्रसुप्त शक्ति का जागरण है। ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु के इस समन्वित भाव की संज्ञा हृदय है। स्थिति गति आगति की व्याख्या वेद की हृदयविद्या है। अनिरुक्त अमृत अमूर्त नम्य प्रजापतिरूप को ही हृदय कहा जाता है। केन्द्र की संज्ञा हृदय है। यही हृद्देश है। अभिव्यक्त पदार्थ का अव्यक्त केन्द्र उसका हृदय है। वहीं से देवतत्त्व या शक्ति का विकास होता है।

ब्राह्मणग्रन्थों में प्रायः प्रश्न किया जाता है कि हृदयतत्त्व क्या है? उत्तर में प्रतीकशैली से व्याख्या की जाती है कि हृदय में तीन अक्षर हैं- ह, द, य। ये तीन अक्षर तो प्रकट ही हैं, वस्तुतः ऋषि की दृष्टि स्थिति-गति-आगति रूप प्राणन या स्पन्दन की ओर है। उसे ही अक्षरतत्त्व कहते हैं। प्राण ही अक्षर शक्ति है। इन तीन अक्षर देवों में 'ह' आहरण या आगति 'द' विकिरण प्रसारण या गति का, और 'य' गति-आगति के नियमन या स्थिति का प्रतीक है। 'ह' विष्णु, 'द' इन्द्र, 'य' ब्रह्मा या प्रतिष्ठा-तत्त्व का संकेत है। ये ही तीन अक्षर देवता हैं। इन्हीं तीन अक्षर देवों की हलचल प्राणात्मक स्पन्दन से प्रत्येक प्राणी का जन्म, वृद्धि, विकास और ह्रास सम्भव होता है। प्रत्येक बीज या अंकुर में प्रसुप्त प्राणशक्ति जब जागरण भाव में आती है, तभी वह बाहर से भूतों को खींच कर अपने केन्द्रों में लाती है और स्वरूप में परिणत कर लेती है। यही प्रक्रिया प्राण, गति, तेजस्, अग्नि आदि कितने संकेतों या नामों से प्रकट की जाती है।

स्थिति-गति-आगति के त्रिक का वैदिक नाम हृदयविद्या है। हृदय का सामान्य लौकिक अर्थ वह अवयव है जो रुधिर का अभिसरण करते हुए नित्य स्पन्दित रहता है और जब उसका स्पन्दन है तभी तक आयुष्य है। स्पन्दन ही आयुष्य है, अथवा आयुर्बल ही स्पन्दन है। दोनों एक ही तथ्य हैं। आयुष्य ही अमृत है। अतएव शक्ति का स्पन्दन ही अमृतत्त्व है। अमृत का ही दूसरा नाम अक्षरतत्त्व या प्राणतत्त्व है। स्थिति-गति-आगति के प्रतीक तीन प्राण देवता क्रमशः ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु वैदिक परिभाषा में अक्षर देवता कहलाते हैं। अक्षर अविनाशी प्राणतत्त्व है। विनाशी भूततत्त्व को क्षर कहा जाता है, जैसा गीता में स्पष्ट कहा गया है-

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते,

कूट का अर्थ ढेर है। ढेर, राशि, कूट, स्तोम एक ही अर्थ के वाचक हैं, एक ही बहुभाव में अभिव्यक्त कूट या स्तोम के नियम के अनुसार

होती है। नाना कलाओं या संख्याओं की समष्टि से कूट बनता है। प्रत्येक भूत कूट है अर्थात् शक्ति की अनेक कलाओं के राशि-भूत होने से बनता है। जो शक्ति अभिव्यक्त नहीं हुई वह अखण्ड या निष्फल होती है। उसकी अभिव्यक्ति की एक-एक इकाई जब कूट या समूह बनाती है उसे ही भूत या क्षर कहा जाता है। शक्ति अक्षर, अखण्ड, अविनाशी प्राणतत्त्व है। वही भूत या कूट की विधृति है, अतएव अक्षर को गीताकार ने कूटस्थ कहा है। अस्यवामीय सूक्त के अनुसार :-

'ततः क्षरत्यक्षरं तद् विश्वमुप जीवति'

(ऋग्०१.१६४.४२)

५. वेद और अग्नि सोम-

वैदिक परिभाषाओं में त्रयीविद्या का स्वरूप महत्त्वपूर्ण है। वेद तत्त्व क्या है? ऋक्-यजु-साम का क्या स्वरूप है? त्रयीविद्या और चौथे अथर्ववेद का क्या सम्बन्ध है? इन प्रश्नों को जितना ही स्पष्टता से परिज्ञात किया जायेगा, वेदार्थ के परिचय में उतनी ही सुविधा होगी। अग्नि और सोम के सम्मिलन का नाम सृष्टि है। अग्नि में सोम की आहुति यज्ञ है। समस्त विश्व अग्नीषोमात्मक यज्ञ का परिणाम है। अग्नि अन्नाद है, सोम उसका अन्न है। अग्नि मूल तत्त्व है, सोम उसी का सहकारी है। शीत और उष्ण धाराओं की समष्टि ही विश्व है। ये ही शक्ति के ऋण और धन अथवा एक ही मौलिक प्राण के प्राण और अपान नामक दो भेद हैं। हमारे सौर ब्रह्माण्ड में सूर्य और चन्द्र इन्हीं दो धाराओं के प्रतीक हैं। इस ब्रह्माण्ड में कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है जो शीत और उष्ण के दस-नियमन से बाहर हो। प्राण के स्पन्दन का हेतु शीत और उष्ण का परस्पर में टकराने वाला ही है।

६. सृष्टि का मूलतत्त्व अग्नि या अग्नि :-

सृष्टि का मूल कारण या उपक्रम उसी अग्नितत्त्व या गतितत्त्व से उद्गत होता है। प्राणन क्रिया ही सृष्टि है। प्राणन ही गति है। सृष्टि के प्रारम्भ में अभिव्यक्त होने के कारण इसे 'अग्रि' **(यदग्रे आस)** कहा जाता है। वही परोक्ष भाषा में 'अग्नि' है। अग्नि शब्द की कई व्युत्पत्तियाँ ब्राह्मणग्रन्थों और निरुक्त में मिलती हैं। उनमें से एक यह भी है। विभिन्न दृष्टिकोणों से वे सभी संगत हैं। अर्वाचीन व्युत्पत्ति शास्त्र या शब्द निरुक्ति की कसौटी इस प्रकार के प्रयत्नों को सन्देह की दृष्टि से देखती है किन्तु सृष्टि-विज्ञान के तत्त्वात्मक अर्थों की दृष्टि से उनमें भारी सार है। वही उनकी चरितार्थता भी है। दर्शनार्थक उदन्द्र से भी इन्द्र एवं इन्धनार्थक इन्ध से भी इन्द्र दोनों व्युत्पत्तियाँ अर्थदृष्ट्या समीचीन है। इसे परोक्ष निर्वचन शैली कहा जाता है, जिसकी संगति ध्वनिमूलक न होकर अर्थमूलक थी। अतएव सृष्टि के अग्रिम गतितत्त्व को अग्रि और प्रतीक भाषा में अग्नि कहा जाता है।

७. सूर्य त्रयी विद्या का प्रतीक है-

अग्नि मूर्तिमती त्रयीविद्या है। ऋग्-यजु-साम का त्रिकात्मक संस्थान अग्नि का सम्पूर्ण रूप है। अग्नि का ही विशिष्ट प्रतिनिधि सूर्य है। इस सौर ब्रह्माण्ड में सूर्य ही प्रतिष्ठा और केन्द्र है। सूर्य के लिये कहा गया है-

'सैषा त्रयी विद्या तपति'

त्रयी विद्या के साक्षत् दर्शन करना चाहें तो सूर्य उसकी स्फुट मूर्ति है। उसका अभिप्राय यही है कि त्रिकात्मक स्पन्दन या घर्षण से उत्पन्न जो तप, ऊष्मा या प्राण विश्व में व्याप्त है, उसका सब बलिष्ठ ओजिष्ठ महिष्ठ रूप सूर्य है।

'निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च' मर्त्य भूत और अमृत प्राण तत्त्व को देशकाल में निर्दिष्ट करता हुआ सूर्य का हिरण्मय देवरथ सतत गतिशील है। (ऋग्०१.३५.२) उसी की संज्ञा व्यक्त कालान्तर संवत्सर है। केन्द्र-व्यास-परिधि के अर्बुद-खर्बुद उदाहरण हैं। एक-एक परमाणु में यही संस्थान

व्याप्त है, किन्तु इस सौर मण्डल में उसका सबसे विशिष्ट रूप सूर्य की रश्मियों में जो गति तत्त्व या तरंगात्मक कम्पन है, उसे ही सहस्र गौओं का ब्रह्माण्ड व्यापी विचरण कहा जाता है। सूर्य रश्मियाँ आती हैं, सीधे 'ऊर्ध्वस्थिति' या विजडित आकार में नहीं। वे क्रीडा करती हुई, आगे बढ़ती और पीछे हटती हुई, दाएं-बाएं झूमती हुई जाती हैं-

'क्रीडन्नो रश्म आभुवः'

८. ऋत-सत्य-

ऊपर जिस त्रयीविद्या का उल्लेख हुआ है, वह सृष्टि की आंगिरसी धारा है। यह आग्नेय प्राणतत्त्व है। जिस में केन्द्र हो वह प्राण का आग्नेय रूप है। जिसमें केन्द्र का विकास न हुआ हो वह ऋतात्मा सौम्य रूप होता है। केन्द्र का ही नाम सत्य या हृदय है। स-हृदय—स-शरीर तत्त्व सत्य कहा जाता है। अ-हृदय स-शरीर तत्त्व ऋत कहा जाता है। हिम रूप में घनीभूत जल सत्य का रूप है। सत्य का एक देश पकड़ कर खींचा जाये तो उसे पकड़ना चाहें तो एक देश से उसका सम्पूर्ण शरीर आकृष्ट नहीं होगा। वृक्ष के भीतर का रस गति-आगति के आघात-प्रतिघात से घनीभूत होता हुआ जब काष्ठ बन जाता है, तब सत्यात्मक हो जाता है। इस दृष्टि से सूर्य की मूर्ति है। वह सत्यनारायणदेव हैं। जितने पिण्ड हैं सब सत्य के रूप हैं। वस्तुतः जो अग्नि जल में व्याप्त है वह ऋताग्नि कहलाती है। जल में कम या अधिक जो कुछ तापमान है, वह अग्नि का रूप है, वह ऋताग्नि है। जिस के कण बिखरे हुए हैं, वह ऋताग्नि है। वे ही अग्निकण जब घनीभूत होकर एक केन्द्र में संचित हो जाते हैं, तब ऋताग्नि सत्याग्नि में परिणत हो जाती है और अग्नि-सत्ता का स्पष्ट भान होने लगता है। ऋताग्नि को प्रायः अग्नि कहते हैं, सत्याग्नि को इन्द्र शब्द से अभिहित किया जाता है। (अहोरात्रवाद, पृ०२६) सूर्य और इन्द्र किन्हीं अर्थों में पर्यायवाची हैं एवं सूर्य सत्य का रूप है। त्रयीविद्या सत्य और आग्नेय है। उसका पूरक अथर्व ऋत और सौम्य है।

Vol.1, No.1 (23-26) Jul-Dec 2012

Vaidika Vāg-Jyotiḥ
ISSN 2277-4351

वेदों में सौर ऊर्जा

रामनाथ वेदालंकार (राष्ट्रपति-पुरस्कृत)

वेद मन्दिर, ज्वालापुर (हरिद्वार)

हमारी आकाश-गंगा में लगभग १५० अरब तारे हैं। उन्हीं में से एक छोटा तारा हमारा सूर्य है, जो अपने ग्रह-उपग्रहों से मिल कर सौर परिवार बनाता है। अन्य तारे भी सूर्य ही हैं, जिनके अपने-अपने ग्रह-उपग्रह हैं। हमारे सौर परिवार में अब तक ९ प्रमुख ग्रह खोजे गये हैं-बुध, शुक्र, पृथिवी, मंगल, बृहस्पति, शनि, यूरेनस, नेपचून और प्लूटो। ये ग्रह क्रमशः सूर्य से अधिक-अधिक दूरी पर रहते हुए उसकी परिक्रमा करते हैं। यूरेनस की खोज सन् १७८१ में और नेपचून की सन् १८४६ में हुई, प्लूटो १९३० में खोजा गया। सौर मण्डल के इन नव ग्रहों में बुध, शुक्र, पृथिवी, मंगल तथा प्लूटो छोटे ग्रह हैं बृहस्पति, शनि, यूरेनस और नेपचून बड़े ग्रह हैं। बृहस्पति हमारे सौर मण्डल का सबसे बड़ा ग्रह है, जो हमारी पृथिवी से १३०० गुणा बड़ा और ३१८ गुणा भारी है। अभी बृहस्पति के पास एक छोटा सा स्वतन्त्र सौर मण्डल देखा गया है। बुध, शुक्र, मंगल तथा प्लूटो हमारी पृथिवी से छोटे हैं। जो पिण्ड ग्रहों की परिक्रमा करते हैं उन्हें हम उपग्रह कहते हैं। हमारा चन्द्रमा हमारी पृथिवी का उपग्रह है। बुध और शुक्र का कोई उपग्रह नहीं है। मंगल के २, बृहस्पति के १६, शनि के १८, यूरेनस के १५ और नेपचून के ४ उपग्रह या चन्द्र हैं। प्लूटो के १ चन्द्र की खोज हुई है।

हमारी पृथिवी का भार लगभग ६६ खरब टन है। हमारा सूर्य हमारी पृथिवी से १३ लाख गुणा बड़ा और ३ लाख ३० हजार गुणा भारी है। जुलाई महीने के आरम्भ में सूर्य और हमारी पृथिवी के बीच की दूरी अधिकतम दूरी होती है और जनवरी महीने के आरम्भ में न्यूनतम। औसत निकालें तो सूर्य और पृथिवी के बीच की दूरी लगभग १४ करोड़ ९५ लाख कि०मी० होती है। प्रति सेकेण्ड सूर्य का चालीस लाख टन द्रव्य भस्म होकर ऊर्जा में रूपान्तरित होता रहता है। सूर्य के केन्द्रभाग में भीषण ऊर्जा है। सूर्य की सतह इसके केन्द्रभाग के करीब सात लाख कि०मी० दूर है। सम्पूर्ण सूर्य एक सी गति से अपनी धुरी पर परिक्रमा नहीं करता। सूर्य की सतह का तापमान लगभग ६ हजार सेंटीग्रेड और केन्द्र का तापमान १६ करोड़ सेंटीग्रेड है। प्रकाशकिरणों का वेग प्रति सेकेण्ड ३ लाख कि०मी० होता है। सूर्य की किरणों को पृथिवी तक आने में ८ मिनिट १८ सेकेण्ड लगते हैं।

१. सौर ऊर्जा से प्रदूषण, रोग आदि का निवारण-

सूर्य ऊर्जा का महान् स्रोत है। अपने सब ग्रह-उपग्रहों के जड़-चेतन को ऊर्जा वही देता है। प्रश्नोपनिषद् में सूर्य को प्राणों का स्रोत कहा गया है-**प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः**। वेदों में सूर्य के नाम के अतिरिक्त सूर्य के वाचक सविता, त्वष्टा, पूषा, विष्णु, वैश्वानर, केशी, यम, आदित्य, मित्र, वरुण, अर्यमा आदि नाम भी प्रयुक्त हुए हैं, जो सूर्य के गुण-कर्मों की दृष्टि से हैं। अतः वैदिक सूर्य-विज्ञान का अध्ययन सभी नामों के आधार पर होता है। सूर्य हमारे द्वेष्य प्रदूषण, रोग आदि को नष्ट करता है-

उदगादयमादित्यो विश्वेन सहसा सह।
द्विषन्तं मह्यं रन्धयन् मो अहं द्विषते रधम्॥

ऋग्०१.५०.१३

उत् सूर्यो दिव एति पुरो रक्षांसि निजूर्वन्।
आदित्यः पर्वतेभ्यो विश्वदृष्टो अदृष्टहा॥

अथर्व०६.५२.१

वेद में सूर्य को हृदयरोग और कामला रोग का नाशक कहा गया है-

उद्यन्नद्य मित्रमह आरोहन्नुत्तरां दिवम्।
हृद्रोगं मम सूर्य हरिमाणं च नाशय॥

ऋग्०१.५०.११

२. सौर ऊर्जा के कतिपय यन्त्र-

वेदों में सौर ऊर्जा से चलने वाले यन्त्रों का वर्णन मिलता है, जिनमें से कुछ का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है-

सौर अंगीठी-

उत्थाय बृहती भवोदु तिष्ठ ध्रुवा त्वम्। मित्रैतां त उखां परि ददाम्यभित्या एषा मा भेदि॥ यजु०११.६४

हे सौर अंगीठी! तू (उत्थाय) ऊपर उठकर (बृहती भव) बड़ी हो जा, (उ त्वं ध्रुवा उत् तिष्ठ) और तू स्थिरता के साथ ऊंची खड़ी रह। (मित्र) हे सूर्य! (एताम् उरवाम्) अंगीठी को सौर ऊर्जा से प्रज्वलित करने हेतु मैं (ते परिददामि) तुझे देता हूँ अर्थात् तेरी धूप में रखता हूँ, (अमित्त्यै) न टूटने देने के लिये। (एषा मा भेदि) यह अंगीठी टूटे नहीं।

मन्त्र से ज्ञात होता है कि सौर ऊर्जा से दहकने वाली अंगीठी आवश्यकतानुसार ऊपर खींच कर बड़ी भी की जा सकती है। उसके डिब्बों में पकने वाला अन्न रखकर इसे सूर्य की धूप में रख देने से भोजन पक जाता है। ऐसे छोटे-बड़े चूल्हों का प्रचलन आधुनिक युग में चिरकाल से हो रहा है।

ऊन बुनने और वस्त्र धोने की मशीन-

आधीषमाणायाः पतिः शुचायांश्च शुचस्य च।
वासोवायोऽवीनामा वासांसि मर्मृजत्॥

ऋग्०१०.२६.६

पूषा सूर्य (आधीषमाणायाः) बैटरियों में आधान की जाने वाली (शुचायाः) दीप्त सौर ऊर्जा का (शुचस्य च) और दीप्त सूर्यताप का (पतिः) अधिपति है। सूर्यताप (अवीनां वासोवायः) भेड़ों की ऊन के वस्त्र बुनने वाला है, और वह (वासांसि आ मर्मृजत्) वस्त्रों को धोकर साफ भी करता है।

इस मन्त्र से विदित होता है कि सौर ऊर्जा को बैटरियों में भरकर उनके द्वारा स्वैटर आदि ऊनी वस्त्र बुनने की मशीनें तथा कपड़े धोने की मशीनें चलायी जा सकती हैं।

अन्न को टंकियों में भरने वाला यन्त्र-

उपयामगृहीतोऽसि सावित्रोऽसि चनोधा-श्चनोधा असि चनो मयि धेहि। जिन्व यज्ञं जिन्व यज्ञपतिं भगाय देवाय त्वा सवित्रे॥ यजु०८.७

हे ताप! तू (सावित्रः असि) सूर्य का है, (उपयामगृहीतः असि) यन्त्र में गृहीत किया गया है। (चनोधाः) अन्न को ऊपर उठाने वाला है, (चनोधाः असि) अन्न को टंकियों में भरने वाला है। (चनः मयि धेहि) अन्न मुझे प्रदान कर।

अन्न को साफ करने वाला यन्त्र-

यद्यामं चक्रुर्निखनन्तो अग्रे कार्षीवणा अन्नविदो न विद्यया। वैवस्वते राजनि तज्जुहोम्यथ यज्ञियं मधुमदस्तु नोऽन्नम्॥ अथर्व०६.११६.१

(अन्नविदः न) अन्नविद्या के ज्ञाताओं के समान (कार्षीवणाः) कृषि के विशेषज्ञ विद्वानों ने (विद्यया) कृषिविद्या की जानकारी के साथ (अग्रे निखनतनः) आगे गाड़ते हुए (यद् यामं चक्रुः) जिस अन्न साफ करने वाले यन्त्र को बताया, उस (राजनि) चमकदार (वैवस्वते) सौर ऊर्जा से चलने वाले यन्त्र में (तत्) उस अन्न को (जुहोमि) साफ करने के लिये डालता हूँ। (अथ) तदनन्तर (नः यज्ञियम् अन्नम्) हमारा यज्ञोपयोगी अन्न (मधुमत् अस्तु) स्वच्छ और मधुर हो जाये।

यहाँ 'मधुमत्' शब्द से यह सूचित होता है कि भूसी आदि से युक्त अन्न उस यन्त्र में डालने से साफ भी हो जायेगा और मधुर भी। मधुर करने के लिये उस यन्त्र में अन्न के साथ कोई चूर्ण या द्रव मिलाया जायेगा।

सौर ऊर्जा से विविध यानों का संचालन-

वेदों में भूमियान, जलपोत, पनडुब्बी, विमान, युद्धयान, भारवाही यान आदि विविध यानों का सौर ऊर्जा से संचालन वर्णित हुआ है, उसे यहाँ हम संक्षेप में दर्शा रहे हैं।

भूमि, समुद्र और अन्तरिक्ष संचारी यान-

वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्।
वेद नावः समुद्रियः॥ ऋग्०१.२५.७

यह मन्त्र वरुण के विषय में है। निघण्टु एवं निरुक्त में वरुण का परिगणन मध्यमस्थानीय तथा उत्तमस्थानीय दोनों देवों में हुआ है। मध्यमस्थानीय वरुण वायु का वाचक तथा उत्तमस्थानीय वरुण सूर्य का वाचक होता है। प्रस्तुत मन्त्र में वरुण को सूर्यवाचक मानने पर यह अर्थ होता है-

(समुद्रियः यः) अपनी किरणों से पार्थिव समुद्र तथा अन्तरिक्ष-समुद्र दोनों समुद्रों में स्थित सूर्य (अन्तरिक्षेण पततां वीनां पदं वेद) अन्तरिक्ष में उड़ते हुए विमानों की उड़ान को जानता है, और (नावः पदं वेद) समुद्र में चलने वाली नौका भी चाल को जानता है।

यह आलंकारिक भाषा है, जिसमें सूर्य को चेतन प्राणी मानकर यह स्थापना की गयी है कि वह आकाश में विमान और समुद्र में जलपोत दोनों चलाना जानता है। तांत्पर्य यह है कि सौर ऊर्जा से विमान और जलपोत दोनों चल सकते हैं। पक्षीवाचक (वि, पतङ्गः, पतत्रि आदि शब्द विमानों के लिये भी वेद में प्रमुख होते हैं) इसी सूच्य का एक अन्य मन्त्र है, जो सूर्य संचालित भूमि-रथों के विषय में है-

दर्शं नु विश्वदर्शतं दर्शं रथमधि क्षमि ।

ऋग्०१.२५.१८

(विश्वदर्शं वरुणं दर्शं नु) मैंने विश्वदर्शनीय सूर्य को निश्चय ही देख लिया है, और (अधि क्षमि रथं दर्शम्) भूमि पर इसकी ऊर्जा से चलने वाले रथ को भी देख लिया है।

द्रष्टा कह रहा है कि मैंने सूर्य के महत्त्व को भी देख लिया है और यह भी देख लिया है कि इसकी ऊर्जा से भूमि पर तिपहिए यान, मोटरकार, रेलगाड़ी, भारवाही यान, बुलडोज़र आदि चल सकते हैं।

सूर्यकिरणों से चलने वाला विमान-

अनश्वो जातो अनभीशुरुक्थ्योरथस्त्रिचक्रः परि वर्तते रजः। महत् तद् वो देव्यस्य प्रवाचनं द्यामृभवः पृथिवीं यच्च पुष्यथ॥

ऋग्०४.३६.२

इस मन्त्र में ऋभु देवताओं की कारीगरी का वर्णन है। निरुक्तकार ने 'ऋभवः' का एक अर्थ सूर्यकिरणें किया है-आदित्यरश्मयोऽपि ऋभवः उच्यन्ते, निरु०११.१४.१०। अब मन्त्रार्थ देखिए-

(ऋभवः) हे सूर्यकिरणो! तुम्हारी सौर ऊर्जा से चलनेवाला (अनश्वः) बिन घोड़ों का, (अनमीशुः) बिना लगाम का, (उक्टयः) प्रशंसनीय, (त्रिचक्रुः) तीन पहियों वाला (रथः) रथ अर्थात् विमान (जातः) बना है, जो (रजः परिवर्तते) अन्तरिक्षलोक में चक्कर लगाता है। हे सूर्यकिरणो! (तद् वः देव्यस्य प्रवाचनम्) यह तुम्हारी कलाकारिता को बताने वाला (बृहत्) महत् कार्य है (यत्) कि तुम अपनी सौर ऊर्जा से (द्यां पृथिवीं च पुष्यथ) आकाश और भूमि को परिपुष्ट करती हो, अर्थात् अपनी सौर ऊर्जा से आकाश और भूमि पर तरह-तरह के यन्त्र चलाती हो।

सौर ऊर्जा से चलने वाले जलपोत-

आदित्य नावमारुक्षः शतारित्रां स्वस्तये।
अहर्मात्यपीपरो रात्रिं सत्राति पारय॥

अथर्व०१७.१.२५

(आदित्य) हे सूर्य! तू सौर ऊर्जा द्वारा (स्वस्तये) हमारे कल्याण के लिये (शतारित्रां नावम् आरुक्षः) सौ कलायन्त्रों वाली नौका पर आरूढ़ हुआ है। तूने (अहः मा अत्यपीपरः) दिन से मुझे पार कर दिया है, (सत्रा रात्रिम् अतिपारय) साथ ही रात्रि को भी पार कर दे।

सौर ऊर्जा का प्रयोग करके कोई सौ कलायन्त्रों वाला विशाल समुद्री जहाज चलाया गया है, जिससे यात्रियों ने दिन में पार कर लिया है, वे रात्रि भी सकुशल पार कर लेने की इच्छा प्रदर्शित कर रहे हैं।

समुद्र और अन्तरिक्ष संचारी सौर यान-

यास्ते पूषन्नावो अन्तः समुद्रे हिरण्ययीरन्तरिक्षे चरन्ति। ताभिर्यासि दूत्यां सूर्यस्य कामेन कृत श्रव इच्छमानः॥ ऋग०६.५८.३॥

(पूषन्) हे सौर ऊर्जा के प्रयोक्ता शिल्पी! (याः ते हिरण्ययीः नावः) जो तेरी सुनहरी चमकीली नौकाएं अर्थात् नौकाकार जलपोत और विमान (अन्तः समुद्रे) समुद्र में अन्दर तथा (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (चरन्ति) चलते हैं (ताभिः सूर्यस्य दूत्यां यासि) उनमें तू सूर्य की तप्त ऊर्जा को प्रयुक्त करता है। तू (कामेन कृतः) कामना से प्रेरित होकर, उन जलपोतों तथा विमानों द्वारा (श्रवः इच्छमानः) अन्न लाने का इच्छुक होता है।

यहाँ नौकाकार होने के कारण समुद्रयानों तथा अन्तरिक्षयानों दोनों को नौका कहा गया है। उन यानों में अन्न लाने या ले जाने का कार्य भी किया जा सकता है, यह भी मन्त्र सूचित कर रहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदों में स्वाभाविक या संचित सौर ऊर्जा के प्रदीपों द्वारा भवनों या राजमार्गों को प्रकाशित करने तथा विविध यन्त्रों एवं यानों को चलाने आदि के पर्याप्त निर्देश मिलते हैं। चिरकाल से हमारे वैज्ञानिक भी कोयले, तेल, पैट्रोल आदि के स्थान पर सौर ऊर्जा से यन्त्रादि का संचालन करने की दिशा में क्रियात्मक कदम उठा रहे हैं और उन्होंने सौर ऊर्जा से चलने वाले अनेक यन्त्रों का आविष्कार किया है। मार्गों में सौर ऊर्जा से जलने वाले प्रदीप प्रायः दृष्टिगोचर होते हैं। देहरादून से प्रकाशित होने वाले 'अमर उजाला' दैनिक पत्र में १४ जुलाई २०१० के अंक में पृष्ठ ३ पर 'सौर ऊर्जा से उड़ने वाले विमान' शीर्षक से विमान का चित्र देकर निम्न सूचना छपी है-

'सौर विमानः एक प्रामाणिक उड़ान के तहत स्विटजरलैण्ड में सौर ऊर्जा की मदद से उड़ने वाले एक विमान 'सोलर इंजल्स' ने २४ घण्टे से ज्यादा उड़ान भरने का नया इतिहास रचा। यह ३५ किलोमीटर प्रति घण्टे की रफ्तार से २५ घण्टे तक आकाश में उड़ा। यह १२ हजार सोलर सेल की मदद से चलता है।'

यही 'अमर उजाला' पत्र अपने ४ सितम्बर २०१० के अंक में लिखता है-" सौर ऊर्जा की ४५ परियोजनाओं पर शीघ्र होगा काम। सौर ऊर्जा से ५४४ गाँवों को रोशन किया जायेगा। ये सभी गाँव ऐसे हैं, जहाँ बिजली के तार आज तक भी नहीं पहुंचे हैं। ३५०० मेगावाट बिजली पर नजरें टिकी हैं, बांधों की नहीं होगी जरुरत।"

Vaidika Vāg-Jyotiḥ
ISSN 2277-4351

Vol.1, No.1 (27-35) Jul-Dec 2012

वेद और श्रीअरविन्द

पं० जगन्नाथ वेदालंकार (स्व०)

द्वारा-यशोदा प्रकाशन, आदर्श नगर, दिल्ली-३३

वेद कितने हैं?

कभी-कभी मेरे पास कोई श्रद्धालु सज्जन आकर पूछते हैं-आपके पास वेद हैं क्या? हम वेद देखना चाहते हैं। मैं कहता हूँ-हाँ, मेरे पास हैं। लीजिये, देखिये। यह है सबसे पहला और बड़ा ऋग्वेद, फिर यह है उससे छोटा यजुर्वेद, फिर यह है उससे भी छोटा सामवेद और अन्त में, यजुर्वेद और सामवेद दोनों को मिलाकर भी उनसे बड़ा अथर्ववेद। उन्हें देखकर वे कहते हैं-बस वेद इतना ही है क्या? उन्हें विश्वास ही नहीं होता कि वेद इतना छोटा हो सकता है, जिस वेद की इतनी महान् महिमा है, वह इन छोटी-सी चार पुस्तकों में समास हो सकता है। उनके मन में ऐसी सहज और अगाध श्रद्धा होती है कि वेद एक महान् वस्तु है। और उनकी यह श्रद्धा बिल्कुल सत्य है, यह बात हमें थोड़ी-सी गम्भीरता के साथ सोचने पर स्पष्ट रूप में पता चल जायेगी। अतः अब मैं आपको एक अति प्राचीन कथा के आधार पर यह बताना चाहता हूँ कि वेद क्या है और कितना है।

वेद अनन्त है

आपने सुना ही होगा कि वेद के सबसे प्राचीन व्याख्या-ग्रन्थों का नाम ब्राह्मणग्रन्थ है जिनमें वेद के गूढ़ स्थलों का अर्थ कथानकों या उपाख्यानों के आधार पर स्पष्ट किया गया है तथा क्लिष्ट शब्दों के अर्थ भी दिये गये हैं। हर एक वेद के अलग-अलग ब्राह्मणग्रन्थ हैं। उनमें से तैत्तिरीय ब्राह्मण में कश्यपमुनि की एक कथा आती है कि उन्होंने सारी आयु ब्रह्मचर्यपूर्वक रहकर तप करते हुए वेदों का अध्ययन किया। उन्हें मनुष्य की पूर्ण आयु, १०० वर्ष की आयु प्राप्त हुई और सारी की सारी उन्होंने वेदों के अध्ययन में लगा दी। जब महाप्रयाण की वेला आयी तो उन्होंने ब्रह्मा से कहा-मुझे १०० वर्ष की आयु और प्रदान कीजिये। ब्रह्मा ने पूछा-इस दूसरी आयु का क्या करोगे? उन्होंने उत्तर दिया-'वेदों का स्वाध्याय पूरा नहीं हुआ। मैं वेदों का स्वाध्याय करूंगा। ब्रह्मा ने तथास्तु कहकर उन्हें और १०० वर्ष की आयु प्रदान कर दी और कश्यपमुनि फिर से वेदों के स्वाध्याय में जुट गये। दूसरी आयु पूरी हो जाने पर उन्होंने फिर ब्रह्मा जी से कहा-हे प्रजापते! मेरा वेदों का अध्ययन तो अभी भी पूरा नहीं हुआ, मुझे एक और पूर्ण आयु चाहिये। ब्रह्माजी ने उनके तप, ब्रह्मचर्य और स्वाध्याय से प्रसन्न होकर उन्हें तीसरी पूर्णायु प्रदान कर दी। वे भी पुनः स्वाध्याय में लग गये और इस प्रकार ३०० वर्ष तक निरन्तर एकमात्र वेदों का स्वाध्याय करते रहने पर भी उनका पार नहीं पाया। तब उनके मुख से सहसा निकल पड़ा-**अनन्ता वै वेदाः** अर्थात् वेद अनन्त हैं, उनका अन्त या पार नहीं पाया जा सकता। इस उपाख्यान के द्वारा ब्राह्मणकार अर्थात् ब्राह्मणग्रन्थ के रचयिता ऋषि हमें यह समझाना चाहते हैं कि वेद इन चारों ग्रन्थों में ही सीमित नहीं हैं। ये चार वेद तो ऐसे हैं जैसे ब्रह्माजी ने अनन्त ज्ञानराशि में से, ज्ञान के विशाल

पर्वत में वर्तमान सृष्टि के लिये आवश्यक चार मुट्ठी-भर ज्ञानरत्न उठाकर दे दिये हों।

वेद ज्ञानरूप हैं, ग्रन्थरूप नहीं-

वस्तुतः वेद इन चार ग्रन्थों का नाम नहीं है। वेद का अर्थ तो है ज्ञान निःसन्देह अन्य धर्मग्रन्थ, कुरान शरीफ, बाइबल, गुरुग्रन्थसाहब, जैन्दअवेस्ता आदि अपने विषय में ऐसा ही संकेत करते हैं कि वे आदेशों की पट्टिका या एक ग्रन्थ के रूप में ईश्वर से प्राप्त हुए। सिक्खों के धर्मग्रन्थ का तो नाम ही गुरुग्रन्थसाहब है अर्थात् गुरु या गुरुओं का ग्रन्थ। पर वेद के विषय में प्राचीन धारणा यह है कि वे पुस्तकों में आबद्ध नहीं हैं, वे पुस्तकरूप में होकर ज्ञानरूप हैं।

वेद हृदय में निहित सनातन वाणी है-

इस विषय में श्रीअरविन्द ने अपने ग्रन्थ On the Veda में सुन्दर रीति से प्रकाश डाला है। इस ग्रन्थ का अधिकांश 'वेद-रहस्य' के नाम से हिन्दी में भी प्राप्य है। उसमें वे कहते हैं-वेद दिव्यवाणी है, भगवान् की वाणी है जो अनन्त में से निकलकर स्पन्दन करती हुई उस मनुष्य के अन्तःश्रोत्र में पहुंची जिसने अपने आपको ईश्वरीय ज्ञान का, अपौरुषेय ज्ञान का पात्र बना रखा था। अतः वास्तव में यह दिव्यवाणी असीम ही है, अनन्त ही है। अनन्त से निकलकर यह ऋषियों के हृदय में पहुंची। इस बात को श्री अरविन्द ने Synthesis of Yoga के पहले अध्याय में Four Aids अर्थात् योग के चार साधनों का वर्णन करते हुए एक और ढंग से कहा है-'पूर्णयोग का परमशास्त्र वह सनातन वेद है जो प्रत्येक विचारशील मनुष्य के हृदय में गुप्त रूप से निहित है। नित्य ज्ञान और नित्य पूर्णता का कमल एक अनखिली और मुन्दी हुई कली के रूप में हमारे अन्दर ही विद्यमान है। एक बार जब मनुष्य का मन सनातन की ओर मुड़ने लगता है, तब वह कली शीघ्र या शनैः-शनैः, एक-एक पंखुड़ी करके, एक-एक उपलब्धि के द्वारा खुलने लगती है।'' श्रीअरविन्द के इस कथन से भी स्पष्ट पता चलता है कि वे वेद को कोई ग्रन्थ न मानकर सनातन और अनन्त ज्ञानरूप मानते हैं तथा इसे प्रत्येक मनुष्य के हृदय में अन्तर्निहित समझते हैं। तो यह है हमारे वेद का वास्तविक स्वरूप।

वेद शब्द का अर्थ-

'वेद' शब्द का शाब्दिक अर्थ भी इसी बात की पुष्टि करता है कि यह शब्द विद् ज्ञाने, विद् सत्तायाम् और विद्लृ लाभे धातुओं से बना है। गणभेद के अनुसार विद् धातु के तीन अर्थ हैं- होना, जागना और प्राप्त करना। ये तीनों अर्थ सच्चिदानन्द के तीन मूल तत्त्वों का संकेत करते हैं। होना सत् है, जानना चित् है और प्राप्त करना या परम प्राप्ति एवं परम लाभ आनन्द है-**आनन्दात् न परो लाभः, यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।** 'वेद' शब्द की इस व्युत्पत्ति के अनुसार वेद वह सनातन ज्ञान है जो हमें सच्चिदानन्द के निज स्वरूप का तथा उनकी इस प्रकट सृष्टि, इस विकासशील सृष्टि का पूर्ण ज्ञान कराता है।

वेद में है क्या?

यहाँ तक हमने 'वेद' शब्द और उसके अर्थ का संक्षिप्त विवेचन किया है। अब हम यह बताना चाहते हैं कि वेद में है क्या? इस विषय पर अनेक दृष्टियों से प्रकाश डाला जा सकता है। किन्तु यहाँ हम श्रीअरविन्द के दृष्टिकोण से ही इस पर विचार करेंगे। श्री अरविन्द का दृष्टिकोण उनके प्रत्यक्ष अनुभव पर आधारित है। वेद का अध्ययन करने से पहले हम यह देखेंगे कि वेद के देवताओं का स्वरूप एवं उनका प्रतीकात्मक अर्थ उन्हें कैसे स्फुरित हुआ। इस विषय में वे अपने ग्रन्थ On the Veda अर्थात् वेदरहस्य में अपने एक रोचक अनुभव का वर्णन करते हैं। उससे पता

लगता है कि वेद का अध्ययन आरम्भ करने से पहले ही उन्हें वैदिक देव-देवियों का साक्षात्कार होता था और उनका प्रतीकात्मक या सांकेतित स्वरूप भी स्फुरित होता था। वे लिखते हैं-जब मैं भारतीय योगविधि से आत्मविकास के लिये यत्न कर रहा था तब मेरे मन के अन्दर प्रतीकों की, सांकेतित शब्दों की शृंखला आप-से-आप उभरने लगी। वे प्रतीक मेरी आध्यात्मिक अनुभूतियों से सम्बद्ध थे। वे अनुभूतियाँ और प्रतीकों की स्फुरणाएँ मुझे योगसाधना के समय नियम से होती थीं। उन अनुभवों में एक बार इळा, सरस्वती और सरमा नामक देवियों के अर्थात् स्त्रीलिंगी दिव्य-शक्तियों के प्रतीक भी मेरे समक्ष प्रकट हुए। ये शक्तियाँ अन्तर्ज्ञानमय बुद्धि या Intuitive Reason की शक्तियों को सूचित करती थी। ये शक्तियाँ अन्तर्ज्ञान की शक्तियाँ थीं। अर्थात् ये स्वत: प्रकाश, अन्त:प्रेरणा और अन्तर्ज्ञान की शक्तियाँ थीं जिन्हें आंग्लभाषा में क्रम से Revelation, Inspiration और Intuition कहा जाता है। इसके आगे श्रीअरविन्द कहते हैं कि जब मुझे ये अनुभव हो रहे थे तब मुझे यह भी मालूम नहीं था कि इळा, सरस्वती और सरमा में से पहली दो अर्थात् इळा और सरस्वती वैदिक देवियों के नाम हैं। मैं प्रचलित हिन्दू धर्म के अनुसार अथवा प्राचीन पौराणिक कथा के अनुसार सरस्वती को विद्या की देवी ही समझता था तथा इळा को चन्द्रवंश की माता। मुझे पता था कि सरमा देवशुनी अर्थात् देवताओं कीं या स्वर्ग की कुक्कुरी (Hound of Heaven) मानी जाती है। ऐसा होने पर भी सरमा की जो आकृति आध्यात्मिक अनुभूति में मेरे अन्त:करण में नामसहित स्फुरित हुई उसके साथ स्वर्ग की कुक्कुरी का सम्बन्ध मैं नहीं समझ सका। मैं सरमा को ग्रीक देवी Hellen की भाँति स्थूल उषा के रूपक की सूचक ही समझता रहा।

वेदोक्त चार देवियाँ-

किन्तु आगे चलकर प्रत्यक्ष अन्तरनुभव के बल पर मुझे स्पष्ट पता चल गया कि इळा, सरस्वती, सरमा और इसके साथ ही दक्षिणा-ये चारों देवियाँ आध्यात्मिक प्रतीक ही हैं। ये ऋत को अर्थात् सत्यचेतना की चार शक्तियों को द्योतित करती हैं। जो चेतना वेदों में ऋतचित् (Truth Conciousness) के नाम से वर्णित है और जो उपनिषदों में विज्ञानमय कोष के नाम से निरूपित की गयी है उसी की चार शक्तियाँ ही हैं ये देवियाँ। इनमें इळा सत्य के दर्शन या दिव्य स्वत:प्रकाश को सूचित करती है, सरस्वती सत्य के श्रवण दिव्य अन्त:प्रेरणा या दिव्यवाणी को द्योतित करती है। सरमा दिव्य अन्तर्ज्ञान व सहज ज्ञान को और दक्षिणा अन्तर्ज्ञानमय विवेक को बोधित करती है। प्राचीन परिभाषा के अनुसार इन्हें क्रमश: दृष्टि, श्रुति, स्मृति और स्मार्त विवेक कहा जाता है। इनमें से इळा व सरस्वती का उल्लेख मही नामक एक अन्य देवी के साथ एक प्रसिद्ध मन्त्र में किया गया है-

इळा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः।
बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः॥ ऋग्०१.१३.९

इस प्रकार हमने देखा है कि वेदों का अध्ययन करने से भी पहले श्रीअरविन्द को वैदिक देवताओं का साक्षात्कार हुआ, उनके आध्यात्मिक और प्रतीकात्मक स्वरूप की स्फुरणा हुई। देवों का यह साक्षात्कार और उनके प्रतीकात्मक स्वरूप की यह स्फुरणा उन्हें उसी प्रकार हुई जिस प्रकार सृष्टि के आदिकाल में अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा नामक महर्षियों के अन्त:करण में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के मन्त्र स्फुरित हुए और उन मन्त्रों के तथा उनके देवताओं के प्रतीकात्मक अर्थ भी प्रतिभासित हुए। इसलिये महर्षि

श्रीअरविन्द ने अन्तरनुभूति के बल पर वेद का जो रहस्यमय अर्थ प्रकाशित किया है, और वेद-व्याख्या की जो पद्धति आविष्कृत की है वह स्वत:प्रमाण, निर्भ्रान्त तथा परममान्य है इनमें तनिक भी सन्देह नहीं।

वेद के त्रिविध अर्थ-

अब प्रश्न यह पैदा होता है कि उन्होंने जो रहस्यमय अर्थ आविष्कृत किया है वह क्या है तथा उसकी भाष्यपद्धति क्या है? वेदार्थ के विषय में परम्परागत सिद्धान्त यह है कि वेदमन्त्रों का अर्थ तीन प्रकार का हो सकता है-आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। इस पर श्रीअरविन्द का कहना है कि इन तीनों अर्थों के सम्भव होने पर भी इनमें से आध्यात्मिक अर्थ ही मुख्य है, वही वेदों का वास्तविक प्रतिपाद्य विषय है।

देवताओं का आध्यात्मिक स्वरूप-

किन्तु वेदों का जो कोई भी अर्थ किया जाये उसके लिये वैदिक देवताओं के स्वरूप का ज्ञान अनिवार्य है। वेदों के आन्तरिक, आध्यात्मिक अर्थ में देवता प्रकृति की सार्वभौम आन्तरिक शक्तियाँ हैं अर्थात् वे विराट् संकल्पशक्ति, विराट् मन:शक्ति (Cosmic Will Cosmic Mind) आदि शक्तियाँ हैं। इन दिव्य विराट् आन्तरिक शक्तियों तथा देवताओं का आध्यात्मिक स्वरूप और कार्यव्यापार आदि श्रीअरविन्द ने On the Veda के Selected Hymns नामक खण्ड अर्थात् वेद-रहस्य के द्वितीय भाग में विस्तारपूर्वक वर्णित किया है। उसके अनुसार अग्निदेवता भगवान् की इच्छाशक्ति वा विराट् संकल्पशक्ति का अधिष्ठातृदेव है, He is the Lord of the Will, the Divine Will-force or Cosmic Will-force. इसी प्रकार इन्द्र दिव्य मन या ईश्वरीय मन का अधिपति है, वह दिव्य प्रकाश का दाता है। मरुत् देवता उस इन्द्र की सहायक शक्तियाँ हैं, वे दिव्य मन या विचार की शक्तियाँ हैं, सूर्य दिव्य सत्य का सूर्य है, उषा दिव्य ज्योति की उषा है, दिव्य चैतन्य एवं दिव्य ज्ञान की उषा है, अश्विनौ आनन्द के अधिपति हैं, सोम आनन्द और अमरता का अधिष्ठातृदेव है इत्यादि। किन्तु ये देवता भगवान् के केवल अमूर्त भाव से उनकी निराकार शक्तियाँ ही नहीं हैं, इन सबका अपना विशिष्ट व्यक्तित्व एवं आकार भी है और इनका ध्यान-चिन्तन करने वाले को इसका साक्षात्कार हो सकता है। इस प्रकार देवता भगवान् की मूर्तिमती शक्तियाँ हैं जो व्यक्ति में और विश्व में अपना विशेष-विशेष कार्य करती हैं।

वैदिक शब्दों के अर्थ-

देवताओं के इस आध्यात्मिक स्वरूप का ज्ञान आन्तरिक मर्म खोलने के लिये अनिवार्य है। इसी प्रकार वेदों का रहस्यमय अर्थ जानने के लिये एक और साधन भी आवश्यक है। वेदों में कुछ ऐसे शब्द हैं जो अपने लोक-प्रसिद्ध अर्थ से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त किये गये हैं। उनके गूढ़ आन्तरिक अर्थ को जान लेने से हमें वेदों का अर्थ करने की कुञ्जी मिल जाती है। ऐसे कुछ शब्दों को हम उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हैं। वेद में गो, अश्व, घृत, आपः आदि जो शब्द पुनः-पुनः आते हैं वे वास्तव में सांकेतिक और प्रतीकात्मक हैं। इसी प्रकार ऋतु, वन, धी, रत्न, रयि, राधः, क्रतु, श्रवः, कवि आदि अनेकार्थक शब्दों का वेद के गूढ़ार्थपक्ष में सर्वत्र एक ही सुनिश्चित अर्थ है। श्रीअरविन्द अपने अन्तरनुभव के बल पर तथा वेदों की अन्तःसाक्षी के आधार पर कहते हैं कि आध्यात्मिक अर्थ में 'गो' शब्द सर्वत्र दिव्य प्रकाश का वाचक है। इसी प्रकार 'अश्व' शब्द वेद में आध्यात्मिक शक्ति का प्रतीक है। आप जानते हैं कि लोक-व्यवहार में तथा भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में भी Horse Power की परिभाषा प्रचलित है जिससे पता चलता है कि 'अश्व' शक्ति का एक स्वाभाविक

प्रतीक है। प्राचीनतम वैदिककाल में भी अश्व शब्द शक्ति के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त होता था।

इसी प्रकार वेदमन्त्रों में 'घृत' शब्द मन की निर्मलता या मन के निर्मल प्रकाश का द्योतक है। 'आप:' जो साधारण संस्कृत में जलधारा का वाचक है वेदों के आध्यात्मिक अर्थ में सच्चिदानन्द की वृष्टि, चिन्मयसत्ता की वृष्टिधारा को द्योतित करता है अर्थात् दिव्यसत्ता के सत्य, चैतन्य और आनन्द की दिव्यवृष्टि ही 'आप:' है। 'ऋत' शब्द दिव्य सत्य का तथा 'वन' आनन्द का बोधक है। और फिर रत्न, रयि, राध: ये ऐश्वर्यवाचक शब्द आनन्दरूपी ऐश्वर्य को सूचित करते हैं। एवमेव क्रतु का अर्थ होता है संकल्पशक्ति, श्रव: का अर्थ अन्त:श्रवण, अन्त:श्रुत ज्ञान या अन्त:प्रेरणा। कवि शब्द का गूढ़ अर्थ है क्रान्तद्रष्टा ऋषि। वेद के ऐसे कुञ्जीरूप शब्दों का अर्थ देकर श्रीअरविन्द कहते हैं कि हमें वेद के इन विशेष शब्दों के अर्थ एकबारगी निर्धारित करके सर्वत्र वही अर्थ करने चाहिये, अन्यथा वेदार्थ के विषय में दुर्व्यवस्था एवं धाँधली का अन्त न होगा। इस प्रकार की दुर्व्यवस्था का प्रत्यक्ष उदाहरण है सुप्रसिद्ध भाष्यकार सायणाचार्य का भाष्य। वे महापण्डित सायण सभी मन्त्रों का याज्ञिक, यज्ञ वा कर्मकाण्ड-परक अर्थ करने के लिये कमर कसे हुए एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न मन्त्रों में सर्वथा भिन्न अर्थ करते हैं। उदाहरणार्थ 'ऋत' शब्द 'ऋ' गतौ से क्त प्रत्यय करने से बना है और इसका अर्थ है 'गत' अर्थात् गया हुआ। किन्तु जब कभी वे खींचतान करके भी 'ऋत' शब्द के सब अर्थ नहीं बिठा पाते तब वे लाचार होकर इसका अर्थ सत्य मान कर उस मन्त्र का आध्यात्मपरक अर्थ करने को बाध्य होते हैं। वेद जैसे ईश्वरीय ज्ञान के ग्रन्थ के अध्ययन से इस प्रकार का पूर्वाग्रह (Prejudice और preconception) सर्वथा अवांछनीय है और यथार्थ सत्य के अन्वेषक विद्वान् ऐसे मनमाने अर्थ कभी नहीं करेंगे।

वेदों के शब्द यौगिक हैं-

श्रीअरविन्द ने इन विशेष शब्दों के जो अर्थ किये हैं वे व्याकरण और व्युत्पत्तिशास्त्र की कसौटी पर खरे उतरते हैं, क्योंकि वेद के शब्द यौगिक हैं, रूढ़ या योगरूढ़ नहीं। स्वामी दयानन्दजी भी वेद के शब्दों को यौगिक मानते हैं। श्रीअरविन्द अपनी पुस्तक Bankim-Tilak-Dayanand में कहते हैं कि स्वामी दयानन्द ने हमें वेद का अर्थ करने की एक कुंजी प्रदान की है। इस कुंजी से वेदों के रहस्य अर्थ के बन्द द्वारों को खोलने में महान् सहायता प्राप्त होती है।

वैदिक तत्त्वज्ञान-

अब तक हमने वेद के देवताओं के आध्यात्मिक स्वरूप तथा उसके कुछ विशेष शब्दों के अर्थ पर प्रकाश डाला है। अब प्रश्न यह उठता है कि इन दोनों की सहायता से वेदों का अध्ययन करने पर उसमें से क्या ज्ञान प्राप्त होता है। यहाँ हम उसका संक्षेप में निरूपण करना चाहते हैं। उसे हम चार भागों में विभक्त कर सकते हैं, अर्थात् उस ज्ञान के चार अंग या तत्त्व हैं।

परम सत्य, ज्योति, देवत्व और अमृतत्व-

(१) प्रथम तत्त्व यह है कि हमारी बाह्य सत्ता के पीछे तथा इस बाह्य जगत् के पीछे एक परम सत्य है जो कि हमारी बाह्य सत्ता से अधिक गम्भीर और उच्च है; इसी प्रकार एक ज्योति भी है जो हमारी मानवीय बुद्धि के प्रकाश से अधिक महान्, उच्च और विशाल है तथा स्वत:प्रकाश है; एक दिव्यता और अमरता की अवस्था भी है जिसकी खोज और प्राप्ति जीव को करनी चाहिये और उसे

खोजकर उसी में निवास करना चाहिये। यह सब एक वेदमन्त्र के उत्तरार्ध में एक साथ कहा गया है। वह क्या है सुनिये-'भजन्त विश्वे देवत्वं नाम ऋतं सपन्तो अमृतम् एवैः' इसी प्रकार, **सत्यं तदिन्द्रो दुशभिर्दशग्वैः सूर्यं विवेदु तमसि क्षियन्तम्** (ऋग्०३.३९.५); **गूळहं ज्योतिः पितरो अन्वविन्दन्त्सत्यमन्त्रा अजनयन्नुषासम्** (ऋग्०७.७६.४) में भी इन्हीं सत्य और ज्योति आदि की ओर निर्देश है।

इस सत्य, ज्योति, देवत्व और अमृतत्व की प्राप्ति सत्य के मार्ग से ही हो सकती है, किसी अन्य साधन से नहीं। यह भी एक वेदमन्त्र से प्रतिपादित किया गया है-पन्था ऋतस्य साधुया। अदर्शि वि स्रुतिर्दिवः। ये सत्य, ज्योति आदि और इनका उद्गम एवं आधार-रूप दैवी शक्ति मनुष्य के अन्दर क्रियाशील हैं। इन सबकी स्तुति और इनके दिव्य दानों और कृपाओं की स्तुति ही वेदमन्त्रों का प्रधान विषय हैं।

इहलोक का सत्य-

(२) अब हम वैदिक ज्ञान का दूसरा तत्त्व लें। वेदमन्त्रों से पता चलता है कि यहाँ एक इहलोक का भी सत्य है, जो निम्नकोटि का है और असत्य से मिश्रित है। एक वेदमन्त्र में कहा गया है-**इमे चेतारो अनृतस्य भूरेर्मित्रो अर्यमा वरुणो हि सन्ति** (ऋग्०७.६०.५)। इसमें 'भूरेः अनृतस्य' शब्दों से असत्यबहुल ऐहलौकिक सत्य का ही निर्देश किया गया है। किन्तु यह इहलोक चाहे ही असत्य से भरा क्यों न हो, है यह सत्य ही। जो वेदमन्त्र मैंने अभी सुनाया है उसमें यह कहा गया है कि मित्र, वरुण और अर्यमा इस जगत् के प्रचुर असत्य को जानते हैं और इसे अपनी-अपनी शक्ति से सत्य की ओर ले जा रहे हैं; अर्थात् मित्र देवता प्रेम, मैत्री, ऐक्य, सामञ्जस्य एवं समरसता की शक्ति से, वरुण देवता चेतना की पवित्रता एवं विशालता की शक्ति के द्वारा तथा अर्यमा सत्य की विजय के लिये निर्भयतापूर्वक सतत संघर्ष और संग्राम करने की शक्ति द्वारा ही इस असत्यपूर्ण जगत् को सत्यमय बनाने का यत्न कर रहे हैं। अतः श्रीअरविन्द के अनुसार **वेद 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' का उद्घोष नहीं करते बल्कि 'ब्रह्म सत्यं जगत् सत्यं सर्वं ब्रह्ममयं जगत्। एकमेवाद्वितीयं तत् जीवो ब्रह्मैव नापरः' का सन्देश देते हैं।**

वेद में जहाँ इस असत्यबहुल ऐहलौकिक सत्य का निर्देश किया गया है वहाँ यह भी कहा गया है कि उर्ध्वतम स्तर में सत्य का निज धाम या भुवन है जिसे वेद में **ऋतचित् ऋतस्य सदनम्** इत्यादि शब्दों से वर्णित किया गया है। उदाहरण के लिये हम इस वेदमन्त्र को देख सकते हैं-**त आवंवृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते** (ऋग्०१.१६४.४७)। इन दोनों सत्यों या दोनों लोकों के बीच में अनेकानेक लोक हैं जिनका अपना-अपना विशेष प्रकार का प्रकाश है किन्तु वह ऋत का धाम ही परमोच्च ज्योति या सत्य के सूर्य का लोक है। उसका वर्णन वेदों में 'सत्यम्, ऋतं, बृहत्' इन शब्दों से या 'स्वः', 'बृहती द्यौः' इन शब्दों से किया गया है। वेद कहते हैं कि इस लोक की प्राप्ति का मार्ग मनुष्य को ढूंढ़ना होगा।

मानव-जीवन देवासुर-संग्राम है-

(३) अब हम वैदिक रहस्य-ज्ञान का तीसरा तत्त्व लेते हैं। वेद के अनुसार हमारा यह जीवन

देवासुर-शक्तियों का संग्रामस्थल है। इसमें एक ओर तो हैं दिव्य ज्योति की शक्तियाँ अर्थात् अग्नि, इन्द्र, सूर्य, मित्र, वरुण, भग, अर्यमा आदि देवता और दूसरी और हैं अन्धकार की शक्तियाँ अर्थात् वृत्र, बल, पणि, दस्यु, नमुचि, शुष्ण आदि असुर। अन्धकार की इन शक्तियों को परास्त करने के लिये देव-शक्तियों का आवाहन करना होता है। आवाहन करने पर वे हमारे अन्दर उतरकर हमारे मन को मिथ्या प्रकाश से उबारती हैं और परम सत्य के मार्ग से ज्योतिर्मयी, कल्याणमयी अमरता की अवस्था तक पहुंचा देती हैं। इस अवस्था का ही नाम है-दिव्य सिद्धि।

इस सिद्धि का साधन है आन्तरिक यज्ञ। 'वेदों की सृष्टि यज्ञ के लिये ही हुई'-'**वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः**' इस प्राचीन उक्ति से श्रीअरविन्द का कोई विरोध नहीं। पर वे स्पष्ट और प्रबल रूप से घोषित करते हैं कि वेद में वर्णित यज्ञ नख से शिख तक, अपने सभी अंगोपांगों सहित एक प्रतीकात्मक यज्ञ है। वह प्रधानतया आन्तरिक है न कि बाह्य। वेदोक्त यज्ञ के सभी अंग हमारे अन्दर ही हैं। मनुष्य के अन्दर ही है अग्नि और अन्दर ही है वेदि, हवि और होता। अन्दर ही ऋषि, मन्त्र और देवता। हमारे अन्दर ही होता है यज्ञ के प्रधान पुरोहित ब्रह्मा का वेदगान। इसके साथ ही हमारे अन्दर ही बैठे हैं देवद्वेषी दैत्य और अन्दर ही है अन्धकाररूपी वृत्र। और अन्दर ही बैठे हैं वृत्र का वध करनेवाले प्रकाशाधिपति इन्द्र। अधिक क्या कहें, इस यज्ञ का यजमान, पुरोहित, हवि, समिधा, घी, सोम, पुरोडाश और यज्ञ का फल-ये सभी आन्तरिक ही हैं।

अन्तर्यज्ञ के यजमान, पुरोहित आदि क्या हैं?

यदि ऐसा है तो यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि इस यज्ञ का यजमान कौन है, पुरोहित कौन है और समिधा आदि क्या हैं, हमारा जीव ही, हमारी आत्मा ही इस अन्तर्यज्ञ का यजमान है, यजमान का हृदय ही वेदि है। हृदय में स्थित दिव्य संकल्पाग्नि अथवा अभीप्सा की अग्नि ही पुरोहित है। तो फिर समिधायें क्या हैं? जीव के देह, प्राण और मन तीन मुख्य समिधायें हैं जो शुरू-शुरू में डाली जाती हैं, और उसकी सत्ता के अन्य अंगोपांग भी नानाविध समिधायें हैं। तो घी क्या है? मन और बुद्धि की निर्मलता और उनकी प्रकाशयुक्त अवस्था ही घी है। तो फिर हवि क्या है? देह, प्राण और मन की नाना अवस्थाएं, भाव-भावनायें और वृत्तियाँ-प्रवृत्तियाँ ही हवि हैं, इसी प्रकार सत्य को खोजने और प्रकट करने के लिये किये जाने वाले सभी कार्य हवि हैं, आहुतियाँ हैं। अगर ऐसा ही है तो ऐसी सूक्ष्म अन्तर्हवि देने का फल क्या होता है? द्युलोक से ज्योति, शक्ति, सत्य, आनन्द, अमृतत्व आदि दिव्य ऐश्वर्यों की वृष्टि ही इसका फल है।

आरोहण-अवरोहण का रूपक-

जैसे-जैसे यजमान अपनी संकल्पाग्नि एवं अभीप्साग्नि को अधिकाधिक प्रदीप्त करता है वैसे-वैसे यह अग्नि चेतना की उच्चतर भूमिका पर आरोहण करता है और यजमान को भी वहाँ आरोहण कराता है। इस भूलोक से अर्थात् दिव्य चैतन्य की भूमिका में पहुँचता है। जब वह द्युलोक में पहुंचता है तो वहाँ का अधिपति इन्द्र उसके प्रत्युत्तर के रूप में, उसकी अभीप्सा के प्रतिफल के रूप में विद्युद्-देवताओं के साथ भूलोक पर उतर कर आता है अर्थात् ईश्वरीय मन दिव्यप्रकाश की द्युतियों के साथ हमारी अन्नमय भूमिका में उतरता है। वहाँ पहुंचकर वह वृत्र का वध करता है अर्थात् प्रकाश पर पड़े आवरणों को दूर करता है, दिव्य जीवन की विघ्न-बाधाओं को हटाता है, सब प्रकार के प्रतिबन्धक आवरणों को हटाकर हमारे आत्माकाश में सूर्य का उदय कर देता है, सत्यरूपी सूर्य को प्रकाशित कर देता है। साथ ही वह इन्द्र

पर्जन्य-देवता और वृषा बनाकर ज्ञानधारा, ज्योति, शक्ति तथा अन्य दिव्य ऐश्वर्यों की वृष्टि भी करता है।

मानव जीवन एक यज्ञ, यात्रा व युद्ध है-

इस प्रकार हमने वेदोक्त यज्ञ का प्रतीकात्मक स्वरूप देखा। यह अन्तर्यज्ञ वेदों की भाषा में एक यात्रा है, ऊर्ध्वारोहण-रूपी यात्रा है, देवत्व-प्राप्ति के लिये की जानेवाली तीर्थयात्रा है और यह यात्रा फिर युद्धमय है, क्योंकि इसमें अन्धकार की शक्तियों के साथ प्रचण्ड संग्राम करना होता है। इस युद्धमयी यज्ञयात्रा को हम अग्निदेव को पुरोहित बनाकर उसकी सहायता से पूर्ण करते हैं।

एकमेवाद्वितीय सत्ता-

(४) अब हम वैदिक तत्त्वज्ञान के अन्तिम या चौथे तत्त्व को लेते हैं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में एक ही वास्तविक सत्ता है जो अद्वितीय है अर्थात् जिसके अतिरिक्त अन्य किसी भी सत्ता का अस्तित्व नहीं है। 'एकमेव अद्वितीयम्' का यह रहस्य वेदज्ञान का चरम शिखर है। यह बात वेद के सैकड़ों मन्त्रों में स्पष्ट रूप से घोषित की गयी है। उसमें से कुछ मन्त्र मैं आपको सुनाना चाहता हूँ।

ऋग्वेद में कहा गया है-

ओम् इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गुरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ ऋग्०१.१६४.४६

आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास॥ ऋग्०१०.१२९.२

एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः। एकैवोषाः सर्वमिदं वि भात्येकं वा इदं वि बभूव सर्वम्॥ ऋग्०८.५८.२

इसी प्रकार अथर्ववेद में भी कुछ मन्त्र प्रसिद्ध हैं-

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते।
य एतं देवमेकवृतं वेद॥ अथर्व०१३.५.१६

न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते।
य एतं देवमेकवृतं वेद॥ अथर्व०१३.५.१७

नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते।
य एतं देवमेकवृतं वेद॥ अथर्व०१३.५.१८

यजुर्वेद में कहा गया है-

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ताऽआपः स प्रजापतिः॥
यजु०३२.१

इन मन्त्रों का भावार्थ यह है-

१. उस एकमेव सत् को ज्ञानी लोग इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि कहते हैं, वही दिव्य, सर्वत्र परिपूर्ण, सबका प्रतिपालक परमात्मा है और उसी को ज्ञानीजन नाना नामों से पुकारते हैं, उसी को अग्नि, यम और मातरिश्वा भी कहते हैं।

२. तब वह एक ही निज विधान से, बिना श्वास के जी रहा था; निश्चय ही तब उससे अन्य कुछ भी नहीं था, न उससे परे ही कुछ था।

३. एक ही अग्नि यहाँ नाना प्रकार से, नाना रूपों में प्रदीप्त है, एक ही सूर्य विश्व में अपने प्रभाव और प्रताप का विस्तार कर रहा है, एक ही उषा इस सब कुछ को उद्भासित कर रही है। निःसन्देह वह एक ही यह सब कुछ बन गया है।

४. वह देव न दूसरा कहलाता है, न तीसरा, न चौथा। वह न पाँचवां कहाता है, न छठा न सातवां, न आठवां, न नौवां, न दसवां। जो व्यक्ति इस देव को अकेले ही वर्तमान, एकमात्र-सत्तावान् जानता है, वही असल जानता है (इस वाक्य को यहाँ बार-बार दोहराया गया है)।

५. यह शक्ति उस परमात्मा में निश्चित रूप से विद्यमान है। वही शुक्र, वही ब्रह्म है, वही आपः (जल) और वही प्रजापति है। अर्थात् वस्तुतः और तत्त्वतः वह देव एक ही है। अग्नि, इन्द्र, मित्र

आदि अन्य सब देव तो उसी देवाधिदेव के नाम और उसी की मूर्तिमती शक्तियाँ हैं। उस सच्चिदानन्द-स्वरूप को ही हमें खोजना और प्राप्त करना चाहिये। यही वेद का प्रधान प्रतिपाद्य है, अभिमत और अभिप्रेत अर्थ है। यह बात स्वयं वेद भगवान् ने अपने श्रीमुख से कही है-

ओ३म् ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥ ऋग्० १.१६४.३९

यह एक बहुत ही सरल और सुन्दर मन्त्र है जिसमें वेद का स्वरूप और प्रतिपाद्य अर्थात् 'वेद क्या है और वेद में क्या है? ये दोनों ही बातें मार्मिक ढंग से बतायी गयी हैं। **'ऋचः अक्षरे परमे व्योमन्'** ऋचाएं अर्थात् वेदमन्त्र इस अविनाशी परम देव में, ओमस्वरूप परब्रह्म में स्थित हैं (वि **ओमन्**), जिसमें ही सब देवता भी प्रतिष्ठित हैं। **'य तत् न वेद किम् ऋचा करिष्यति'**-जो उस ब्रह्म को नहीं जानता वह ऋचाओं से क्या करेगा? ऋचाओं के शब्दों से क्या प्रयोजन? किन्तु जो उस परब्रह्म को जानते हैं वही उसमें एकीभूत होकर आसीन हो जाते हैं, उसी में निवास करते हैं-**सम् आसते**, उसके साथ समरस होकर पूर्णतया सामंजस्यमय जीवन व्यतीत करते हैं।

Vaidika Vāg-Jyotiḥ
ISSN 2277-4351
Vol.1, No.1 (36-47) Jul-Dec 2012

गतांक से आगे-

स्वामी दयानन्दकृत 'संस्कारविधि' का पाठालोचन-(२)

पं०राजवीर शास्त्री (सं० दयानन्द सन्देश)
भूपेन्द्रपुरी, मोदीनगर, गाजियाबाद (उ०प्र०)

श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक द्वारा सम्पादित संस्कारविधि के प्रामाणिक संस्करण में सीमन्तोन्नयन संस्कार में स्वामी जी ने जो-

''ओ३म् राकामहं सुहवाम्०'' इत्यादि मन्त्र *दिये हैं, उनके विषय में श्री मीमांसक जी ने लिखा है कि-'ये मन्त्र मन्त्रब्राह्मण से उद्धृत हैं। प्रतीत होता है कि हस्तलेख में लिखते समय पाठ आगे पीछे हो गया है। अत: सं०२-१७ तक पाठ निम्न प्रकार से अस्तव्यस्त छपा मिलता है।''*

इस स्थल पर श्री मीमांसक जी को तथा अन्य विद्वानों को पुनर्विचार करना चाहिये। किसी विषय की खोज किये बिना सहसैव निर्णय देना उचित नहीं। हमारे विचार में महर्षि के दिये मन्त्र शुद्ध ही हैं। हस्तलेख में ऐसी त्रुटि सम्भव नहीं थी, क्योंकि महर्षि हस्तलेखों को अच्छी प्रकार देखा करते थे। स्वामी जी के समय के किसी गृह्यसूत्र में ही ऐसा पाठ हो सकता है, अथवा स्वामी जी ने इस पाठ को ऊहित करके लिखा हो, यह भी सम्भव है। कर्मकाण्ड में ऊहित-प्रक्रिया को तो सभी विद्वान् मानते हैं।

श्री मीमांसक जी ने इस सं०वि० के संस्करण में वेदपाठों में परिर्वतन, स्वरचिह्नों में परिवर्तन, ऊहित पाठों में परिवर्तन, ऋषि की भाषा में परिवर्तन, मनुस्मृति के पाठों में परिवर्तन तथा सैकड़ों टिप्पणियाँ दी हैं। जिनका खण्डन आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट द्वारा सम्पादित संस्कारविधि के प्रथम संस्करण में बहुत अच्छी प्रकार से किया गया है, जिनका कोई उत्तर नहीं दिया गया है। प्रतीत होता है कि उन्होंने शीघ्रता में यह कार्य किया है। यथार्थ में किसी मूल लेखक के ग्रन्थ में परिवर्त्तन करने का किसी को भी अधिकार नहीं है। महर्षि के ग्रन्थों को अक्षुण्ण ही बनाये रखना चाहिये। क्योंकि अल्पज्ञ मनुष्य ऋषि की गम्भीरता को कैसे समझ सकते हैं? जहाँ कहीं ऋषिग्रन्थों में त्रुटि प्रतीत होवे, उसको पृथक् से दिखाना चाहिये। प्राय: यह देखा गया है कि जिसे हम आज अशुद्ध समझ रहे हैं, वह ही कालान्तर में किसी प्रकार से हमारी समझ में आ रहा है। प्रकाशकों का यह भी कर्त्तव्य होना चाहिये कि वे अपनी टिप्पणियों तथा मूल लेखक की टिप्पणियों में किसी प्रकार भेद अवश्य दिखायें। जिससे पाठकों को यह स्पष्ट पता लग जाये कि यह टिप्पणी किसकी है? और अनावश्यक या भ्रान्तिजनक टिप्पणियाँ नहीं देनी चाहियें।

श्री मीमांसक जी की कतिपय अनावश्यक टिप्पणियाँ-

१. ऋषि के पाठ का सर्वथा खण्डन करते हुए पण्डित जी लिखते हैं-*'यहाँ आघाराहुति और आज्यभागाहुति के मन्त्र विपरीत छपे हैं।'* (पृ० ३८ टि०४)

यह बात मीमांसक जी ने बिना प्रमाण के ही लिख दी है। स्वामी जी ने उत्तर व दक्षिण में जिन मन्त्रों से आहुति लिखी है, मीमांसक जी ने उनसे विपरीत 'प्रजापतये स्वाहा, इन्द्राय स्वाहा' मन्त्रों

से आहुति लिखी है। क्या यह महर्षि से विरोध नहीं है।

२. श्री मीमांसक जी ने 'ओ३म्' 'स्वाहा' 'इदन्नमम' इन पदों का मन्त्र से बहिर्भूत दिखाने के लिये अनेक स्थानों पर टिप्पणियाँ दी हैं। शास्त्रों में मन्त्रारम्भ में 'ओ३म्' का विधान तथा 'स्वाहा' का आहुति के लिये विधान किया है। 'इदन्न मम' स्वत्व निवारण के लिये प्राचीन ऋषियों ने विधान किया है, ये पद मन्त्रांश न होते हुए भी अग्निहोत्र में आवश्यक हैं। अतः इनको बहिर्भूत बनाने के लिये टिप्पणियाँ अनावश्यक ही हैं।

३. संस्कारविधि में दिये हुए पात्रों का संस्कारविधि में प्रयोग नहीं होता अतः ये व्यर्थ हैं। और व्यर्थता से ज्ञापक निकाला है कि ऋषि अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त श्रौतयज्ञों का विधान बनाना चाहते थे। (पृ०२४-२५ टि०) यह पण्डित जी की कल्पना मात्र ही है। यदि महर्षि का ऐसा भाव होता, तो कहीं पर (भूमिकादि में) अवश्य निर्देश करते।

४. संस्कारविधि के सामान्य प्रकरण में वामदेव्यगान के तीनों मन्त्रों के आरम्भ में 'भूर्भुवः स्वः' पर ऋषि ने ऋग्वेदानुसारी स्वरचिह्न दिये हैं। पण्डित जी ने पृ०४३ पर टि० दी है-हमने उनके स्थान पर सामवेदानुसारी स्वरचिह्न दे दिये हैं। जब सामवेद में 'भूर्भुवः स्वः' व्याहृति का पाठ है ही नहीं, तो पण्डित जी ने स्वरचिह्न कहां से दिये? क्या इसे कोई बुद्धिमत्ता कह सकता है?

५. पण्डित जी ने ऋषि-लिखित वेदपाठ में भी परिवर्तन करने का अनावश्यक प्रयास किया है। जैसे- 'यस्यच्छाया' के स्थान पर 'यस्य छाया' 'योऽन्तरिक्षे' के स्थान पर यो अन्तरिक्षे', 'स्वः स्तभितं०' के स्थान पर 'स्व स्तभितम् 'जुहुमस्तन्नोऽस्तु' के स्थान पर 'जुहुमस्तन्नो अस्तु' पाठ कर दिये हैं। सम्भव है कि पण्डित जी को कहीं ऐसे पाठ-भेद भी मिले हों, किन्तु ऋषि के पाठों को परिवर्तित करना अनधिकार चेष्टा ही कहा जायेगा। जबकि व्याकरणादि नियमों में भी ऋषि-लिखित पाठों में कोई दोष नहीं आता अथवा विकल्प से दोनों ही रूप ठीक हैं, तब परिवर्तन की क्या आवश्यकता है? इत्यादि टिप्पणियों या परिवर्तनों के होते हुए यह कहना कि हमारा संस्करण प्रामाणिक है, यह केवल मिथ्या गर्वोक्ति मात्र ही है।

श्री मीमांसक जी द्वारा सम्पादित सं०वि० के सम्पादकीय में लिखा है-'इन उपर्युक्त संशोधनों एवं परिवर्तनों को देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ऋषि की उत्तराधिकारिणी सभा अपने उत्तरादायित्व का कहाँ तक पालन कर रही है। यह सब ऋषि-ग्रन्थों के प्रकाशन के एकाधिकार का खुल्लमखुल्ला दुरुपयोग है। ऋषि के साथ विश्वासघात और अनर्थ है।'

ऊपर हमने कुछ श्री मीमांसक जी की टिप्पणियों के नमूने प्रदर्शित किये हैं, क्या ऐसी अनावश्यक टिप्पणियाँ तथा पाठ-परिवर्तन एवं संशोधन करना ऋषि के साथ अन्याय नहीं है? क्या यह ऋषि-ग्रन्थों में परिवर्तन की प्रवृत्ति अनधिकारचेष्टा नहीं है?

श्री मीमांसक जी ने पर्याप्त संख्या में सं०वि० में मनुस्मृति के पाठ-भेदों को भी दिखाया है। उनमें महर्षि-लिखित पाठ ही सुसंगत तथा शुद्ध हैं। मनुस्मृति के भिन्न-भिन्न प्रकाशनों में पाठ-भेद मिलते हैं। परन्तु महर्षि के समय जो प्रकाशन उन्हें उपलब्ध हुआ, महर्षि के मनुस्मृति के पाठ उसी के अनुकूल ही सम्भव हैं। विभिन्न पाठ-भेदों के प्रकरण तथा श्लोकार्थ की संगति को भी देखना आवश्यक होता है। पण्डित जी ने महर्षि के शुद्ध पाठों को कहीं भी प्रामाणिक नहीं लिखा। यह उनकी भ्रान्ति ही है। अन्यथा जहाँ-जहाँ पाठ-भेद

उन्हें मिले हैं, उनकी प्रामाणिकता का भी निर्णय करना चाहिये था। संस्कारविधि के दूसरे संस्करण को पण्डित जी ने प्रामाणिक स्वीकार किया है। किन्तु अपने टीका-टिप्पणियों से पूर्ण पाठान्तरों से संशोधित संस्करण को भी प्रामाणिक लिखा है। ये दोनों बातें सत्य नहीं हो सकतीं। यदि आप द्वि०सं० को प्रामाणिक मानते हैं, तो आपका संस्करण कैसे प्रामाणिक हो सकता है? महर्षि के अनुयायियों यह शोभा नहीं देता कि अपनी विद्वत्ता के बल से महर्षि के शुद्ध-पाठों को भी सुसंगत एवं शुद्ध न कह सकें और असंगत पाठ-भेदों को दिखाकर पाठकों के मन में भ्रान्तियाँ उत्पन्न करें।

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली ने पण्डित जी का ध्यान इन आवश्यक पाठ-भेदों की ओर दिलाया और पण्डित जी को वैदिक-यन्त्रालय में महर्षि-कालीन कुछ मनुस्मृति के कागज प्राप्त हुए। उनमें महर्षि के पाठों की पुष्टि देखकर पण्डित जी को आश्चर्य हुआ और उन्होंने अपने टिप्पणी युक्त कुछ पाठों में संशोधन भी कर दिया है। गुण-ग्राहियों को ऐसा करना उचित भी है। किन्तु हमारा निवेदन है कि विद्वानों को विवादास्पद या संशयास्पद स्थलों पर बहुत सोचकर लेखनी उठानी चाहिये।

पौराणिकों के मिथ्या आक्षेप-महर्षि दयानन्द के समस्त ग्रन्थों पर ही पौराणिक-बन्धु मिथ्या आक्षेप करते रहे हैं, तब **संस्कारविधि** कैसे पृथक् बच सकती थी? पौराणिकों की छिद्रान्वेषण प्रवृत्ति कहें, या मत्सर-वृत्ति कहें, इस विवाद में फंसकर हम सं० वि० से सम्बद्ध उनके लगाये मिथ्या आक्षेपों का उत्तर इसलिये देना उचित समझ रहे हैं कि जिससे विद्वज्जन उनकी वञ्चनावृत्ति के दूषित प्रभाव से बच सकें और उनके आक्षेपों की निस्सारता को समझ सकें।

(१). क्योंकि आर्यसमाजी वेदों को ही स्वतः प्रमाण मानते हैं; अतः उन्हें स्वामी जी की प्रत्येक बात वेदमन्त्रों से ही दिखानी चाहिये। अन्यथा महर्षि के ग्रन्थ वैदिक नहीं कहला सकते। किन्तु ऐसे व्यक्ति शास्त्रीय चर्चा से जहां अनभिज्ञ हैं, वहाँ आर्यसमाज और उनके संस्थापक महर्षि दयानन्द के पक्ष को नहीं समझ सके हैं। महर्षि ने अपनी मान्यता को बहुत ही स्पष्ट करके लिखा-

(क) **वेदादि-शास्त्र-सिद्धान्तमाध्याय परमादरात्। आर्यैतिह्यं पुरस्कृत्य शरीरात्मविशुद्धये॥**

संस्कारविधि, पृ०३

अर्थात् वेदादिशास्त्रों का परमादर से चिन्तन करके आर्यों के इतिहासानुकूल शरीर और आत्मा की शुद्धि के लिये (यद्यन्मेध्यमत्र तदुच्यते) जो-जो पवित्र बातें हैं, उन्हें यहाँ कहा जाता है। इससे स्पष्ट है कि महर्षि दयानन्द ने संस्कारविधि में उन पवित्र बातों को कहा है जो वेदादि शास्त्रों के अनुसार आर्यों में प्रचलित थीं।

(ख) '**वेदेषु सर्वा विद्याः सन्त्याहोस्विन्नेति। अत्रोच्यते। सर्वाः सन्ति मूलोद्देशतः।** (ऋ०भू०पृ०८८) अर्थात् वेदों में सब विद्याएं हैं, अथवा नहीं? इसके उत्तर में महर्षि लिखते हैं-वेदों में सब विद्याएं तो हैं-मूलोद्देश से। उद्देश शब्द शास्त्रीय है। जिसका अर्थ है-नामपूर्वक कथन। अर्थात् वेदों में सब विद्याओं का मूल-नाम पूर्वक कहा गया है, उनका लक्षण व परीक्षादि विस्तार नहीं है। उस बीजरूप वेदविद्या का ब्राह्मण, उपनिषद्, वेदांग, उपांग तथा गृह्यसूत्रादि में ऋषि-महर्षियों ने विस्तार से व्याख्या किया है।

(ग) 'कर्मकाण्ड में लगाये हुए वेदमन्त्रों में से जहाँ-जहाँ जो-जो कर्म अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध के अन्तपर्यन्त करने चाहिये, उनका वर्णन यहाँ नहीं किया जायेगा। क्योंकि उनके **अनुष्ठान का यथार्थ विनियोग** ऐतरेय, शतपथादि ब्राह्मण, पूर्वमीमांसा श्रौत और गृह्यसूत्रादिकों में कहा हुआ है।....इसलिये जो-जो कर्मकाण्डवेदानुकूल युक्ति

प्रमाणसिद्ध है, उसी को मानना योग्य है, अयुक्त को नहीं।'' (ऋ०भू० प्रतिज्ञाविषयः)

उपर्युक्त महर्षि-ग्रन्थों के उद्धरणों से महर्षि की मान्यता का स्पष्ट वर्णन है कि महर्षि वेद तथा वेदानुकूल उन सभी बातों को मानते हैं, जो युक्ति-प्रमाण-सिद्ध हैं। और वेदानुकूल बातें आर्यों में प्रचलित हैं। संस्कारविधि में भी महर्षि की यही मान्यता है। अतः प्रतिपक्षी पौराणिकों का यह आक्षेप भ्रान्तिपूर्ण तथा महर्षि की मान्यता के सर्वथा विरुद्ध है।

(२) महर्षि दयानन्द ने संस्कारविधि के प्रारम्भ में लिखा है-

'गर्भाद्या मृत्युपर्यन्ताः संस्काराः षोडशैव हि।'

(सं०वि०, पृ०३)

'अर्थात् गर्भाधान से लेकर मृत्युपर्यन्त सोलह संस्कार ही होते हैं। इस पर पौराणिक बन्धुओं का यह आक्षेप है कि महर्षि ने इस अपनी प्रतिज्ञा का निर्वाह अपने ग्रन्थ में नहीं किया है। क्योंकि संस्कारविधि में सोलह संस्कारों के अतिरिक्त 'गृहाश्रमसंस्कार' तथा 'शालादिसंस्कार' भी माने हैं, जिन्हें मिलाने से संस्कारों की संख्या अधिक हो जाती है। इसके उत्तर में हमारा निवेदन है कि महर्षि दयानन्द ने निम्नलिखित १६ संस्कार ही माने हैं-

१. गर्भाधानम्, २. पुंसवनम्, ३. सीमन्तोन्नयनम्, ४. जातकर्मसंस्कारः, ५. नामकरणम्, ६. निष्क्रमणसंस्कारः, चूडाकर्मसंस्कारः, ८. अन्नप्राशनसंस्कारः, ९. कर्णवेधसंस्कारः, १०. उपनयनसंस्कारः, ११. वेदारम्भसंस्कारः, १२. समावर्त्तनसंस्कारः, १३. विवाहसंस्कारः, १४. वानप्रस्थाश्रमसंस्कारः, १५. संन्यासाश्रमसंस्कारः, १६. अन्त्येष्टिकर्मविधिः।

इन संस्कारों से भिन्न 'गृहाश्रमसंस्कार' या 'शालासंस्कार' ये विवाहसंस्कार के अन्तर्गत ही हैं, उससे भिन्न नहीं। क्योंकि इनमें गार्हस्थ्य जीवन के कर्त्तव्यों का ही उपदेश किया गया है। कई सज्जनों का यह कथन भी ठीक नहीं कि 'अन्त्येष्टि' को महर्षि ने संस्कार नहीं माना है। क्योंकि-महर्षि ने इसे 'अन्त्येष्टिकर्म' लिखा है, संस्कार नहीं। उन्हें महर्षि के निम्न वचन पर ध्यान देना चाहिये।

(क) 'अन्त्येष्टिकर्म उसको कहते हैं जो शरीर के अन्त का संस्कार है, जिसके आगे उस शरीर के लिये कोई भी अन्य संस्कार नहीं है।'

(संस्कारविधि, पृ०२१८)

(ख) इति मृतकसंस्कारविधिः समाप्तः।'

(सं०वि०पृ०२२६)

यहाँ महर्षि ने 'अन्त्येष्टि' को स्पष्ट ही संस्कार माना है। यथार्थ में महर्षि को 'कर्म' शब्द भी संस्कार अर्थ में अभिप्रेत है।

(३) संस्कारविधि में सीमन्तोन्नयनप्रकरण (पृ०४४) में महर्षि लिखते हैं-'खिचड़ी में पुष्कल घृत डालकर गर्भिणी स्त्री अपना प्रतिबिम्ब उस घी में देखे। उस समय पति स्त्री से पूछे-'**किं पश्यसि**'। स्त्री उत्तर देवे-'**प्रजां पश्यामि।**' इस पर कुछ सज्जन आक्षेप करते हैं कि यह स्वामी जी ने कल्पना करके ही बिना प्रमाण के लिख दिया है। उनके संशय निवारणार्थ श्री पं०रामगोपाल जी शास्त्री ने '**संस्कारविधि-मण्डनम्**' में निम्न लिखित प्रमाण दिखाया है, जो कि प्रशंसनीय तथा खोजपूर्ण है-

'कृसरः स्थालीपाक उत्तरघृतस्तमेवेक्षयेत्-किं पश्यसीत्युक्त्वा प्रजामिति वाचयेत्, तं सा स्वयं भुञ्जीत्।' (गोभिल गृह्यसूत्र अ०२, खं०७, सू०९-११)

अर्थः-खिचड़ी पका उसमें घृत डाल उसे देखे। (पति पत्नी से पूछे 'कि पश्यसि?, क्या देखती है?' पत्नी उत्तर दे कि 'प्रजाम्-प्रजा को देखती हूँ। यह कह कर स्त्री उस घृत-मिश्रित खिचड़ी को स्वयं खाए। इससे स्पष्ट है कि महर्षि ने

कहीं कहीं बिना प्रमाण के भी जो बातें लिखी हैं, वे भी कल्पित नहीं हैं। उनके प्रमाण भी शास्त्रों में खोजने से अवश्य मिल सकते हैं।

(४). आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, नई दिल्ली से प्रकाशित संस्कारविधिः के जातकर्मसंस्कार में पृ०५१ पर महर्षि लिखते हैं-'नित्य सायं और प्रातःकाल सन्धिवेला में निम्नलिखित दो मन्त्रों में (**शण्डामर्काभ्यामुपवीरः** इत्यादि मन्त्रों से) भात और सरसों मिलाके दश दिन तक बराबर आहुतियाँ देवे।'' इस पर भी कुछ व्यक्ति आक्षेप किया करते हैं कि कुछ भूत-प्रेत पिशाच आदियों को न मानने वाले महर्षि ने यहाँ पर प्रसूता स्त्री की भूत-प्रेतादिकों से रक्षा करने के लिये गौर-सर्षप धुखाने का विधान क्यों किया ? इन मन्त्रों से भी यह संशय होता है कि शण्डा, मर्क, उपवीरादि असुरों को दूर करने के लिये ही इनमें प्रार्थना की गयी है। पौराणिकों की यही मान्यता है कि प्रसवागार में असुरों को दूर करने के लिये ही प्रसवकाल में स्त्रियाँ अपने सिर की ओर चाकू या अन्य लोहे की वस्तु रखती हैं। प्रसूता स्त्री को अकेली नहीं छोड़ा जाता। प्रसवगृह में २४ घण्टे अग्नि रक्खी जाती है और दीपक जलाया जाता है। इस विषय में स्त्रियाँ यही उत्तर देती हैं कि यह भूत-प्रेतादि से सुरक्षा के लिये ही किया जाता है।

ये असुर कौन हैं ? क्या ये पुरुषाकार होते हैं, जिनके मुख पीछे और एडी आगे को होती है ? क्या वेदों में-

येषां पश्चात् प्रपदानि पुरः पार्ष्णीः पुरो मुखा। (अथर्व०८.६.१५) कह कर स्पष्ट वर्णन नहीं किया कि असुरों के पैर पीछे और एड़ी आगे को होती है। क्या वेदों में भी ऐसे भूत-प्रेतादि का वर्णन है ? इत्यादि भ्रान्तियों का मूल अज्ञानता है। वेदादिशास्त्रों में असुर उन क्रिमियों को कहा गया है, जो कि प्रसवागार में प्रवेश करके अपने विष के द्वारा स्त्री और बालक के प्राण-हरण करना चाहते हैं। उन क्रिमियों को ही प्रसवागार से दूर करके बालकादि की रक्षा के लिये गौर सर्षपादि की आहुतियाँ दी जाती हैं। इन्हीं क्रिमियों का वर्णन वेदों में है-

(क) **त्रिशीर्षाणं त्रिककुदं क्रिमिं सारङ्गमर्जुनम्।**
(अथर्व०५.२३.९)

अर्थ-तीन शिर और तीन ककुदों वाले क्रिमि को।

(ख) **विश्वरूपं चतुरक्षं क्रिमिं।** (अथर्व०२.३२.२)

अर्थ-बड़े रूप वाले व चार आँखों वाले क्रिमि को।

(ग) **येषां पश्चात् प्रपदानि पुरः पार्ष्णीः पुरो मुखा। खलजाः शकधूमजा उरुण्डा ये च मट्मटाः कुम्भमुष्का अयाशवः तानस्या ब्रह्मणस्पते प्रतीबोधेन नाशय॥** (अथर्व०८.६.१५)

अर्थ-जिन क्रिमियों के पाँव पीछे को और एड़ी आगे को है। जो खलियान और पुरीषादि मलों से उत्पन्न होते हैं।

(घ) **ये अम्नो जातान् मारयन्ति सूतिका अनुशेरते।** (अथर्व०८.६.१९)।

अर्थ-जो उत्पन्न मात्र जातकों को नष्ट कर देते हैं और जो सूतिका स्थान में रहते हैं।

इत्यादि प्रमाणों से इन असुर क्रिमियों का स्पष्टीकरण हो जाता है कि ये असुर पुरुषाकार भूत-प्रेत नहीं हैं, किन्तु प्रसवगृहादि में मलमूत्रादि से उत्पन्न होने वाले विषैले कृमि ही हैं। जिनसे सुरक्षा के लिये गौरसर्षपादि की आहुतियाँ तथा प्रकाशादि प्रसूतिगृह में परमावश्यक है। इस विषय में विस्तृत वर्णन के लिये श्री रामगोपाल जी शास्त्री द्वारा लिखित 'संस्कारविधिमण्डनम्' पुस्तक को अवश्य देखना चाहिये। मान्य विद्वान् ने इस विषय में एक विशेष खोज करके जहाँ जनसाधारण की एक महाभ्रान्ति का निवारण किया है, वहाँ यह भी

स्पष्ट किया है कि अथर्ववेद में भूत-प्रेतादि का वर्णन नहीं है, प्रत्युत बालकादि की स्वास्थ्य-रक्षा के लिये विभिन्न क्रिमियों से सुरक्षा के उपाय बताये हैं। 'शण्डामर्काभ्याम्०' इत्यादि मन्त्रों में भी ऐसे क्रिमियों से ही सुरक्षा का वर्णन किया गया है। इन मन्त्रों में वर्णित पदार्थ देखिये-

(क) शण्डा:-(शडि रुजायाम्) रोगोत्पादक, मर्का:-शीघ्रगतिवाला, उपवीर:-(अज गतौ क्षेपणे च) विषों को फैंकने वाला, शौण्डिकेय:-(शुण गतौ) बडे वेग से वायुमण्डल में उड़ने वाला, ऊलूखल:-ऊपर आकाश में उड़ता हुआ प्राणियों के प्राण ग्रहण करने वाला, मलिम्लुच:-मलादि से उत्पन्न होने त्यागने योग्य तथा स्वास्थ्य को चुराने वाला तस्कर, द्रोणास:-बड़ी नाक वाला, च्यवन:-वेगवान् क्रिमि: नश्यताद् इत:-यहाँ से नष्ट हो।

(ख) आलिखन्-त्वचा को बिगाड़ने वाला, अनिमिष:-चक्षु-स्पन्दन रहित, किंवदन्त:-कुत्सित शब्दकर्त्ता, उपश्रुति:-कानों के समीप उड़ने वाला, हर्यक्ष:-भूरे नेत्र वाला, कुम्भी शत्रु:-जिसका शत्रु गुग्गुल है, पात्रपाणि:-हाथ ही जिसका विषैला पात्र है, नृमणि:-मनुष्यों में मन्-मन् शब्दानुकृति करने वाला, हन्त्रीमुख:-हिंसक मुख वाला, सर्षपारुण:-सरसों की भाँति लाल, च्यवन:-शीघ्र वेग वाला कीड़ा, नश्यताद् इत:-यहाँ से (प्रसवगृह से) नष्ट होवे।

मन्त्रोक्त सभी पदार्थों में कीट विशेषों का ही वर्णन स्पष्ट होता है, भूतादि का नहीं। महर्षि दयानन्द ने ऐसी आवश्यक तथा वैज्ञानिक संस्कार की क्रियाओं को कहीं भी नहीं छोड़ा है। उसको न समझने से ही अज्ञानियों को भ्रान्तियाँ होती रहती हैं।

(५) **संस्कारविधि** में नामकरण संस्कार में महर्षि दयानन्द लिखते हैं-''*जिस तिथि जिस नक्षत्र में बालक का जन्म हुआ हो, उस तिथि और नक्षत्र का नाम लेके, उस तिथि और उस नक्षत्र के देवता के नाम से ४ आहुति देनी।*'' इस पर पौराणिक बन्धुओं का यह आक्षेप है कि तिथि व देवता का परस्पर क्या सम्बन्ध है? क्या स्वामी जी ने यहाँ नक्षत्रादि के देवताओं को मानकर पौराणिकता को स्वीकार नहीं किया है। इससे स्वामी जी ने बालक के जन्म के साथ नक्षत्रादि के प्रभाव को मानकर फलित ज्योतिष को माना है।

किन्तु महर्षि का तिथि व नक्षत्र के नाम की आहुति का अभिप्राय केवल जन्मदिन के स्मरण के लिये ही है, किसी अन्य पौराणिक फलित प्रभाव से नहीं। तिथि व नक्षत्र के देवता उनके पर्यायवाची ही हैं। नक्षत्राहुति नाक्षत्रिक नाम परम्परा को बताती है। यह भी सम्भव है कि ज्योतिष के ग्रन्थों में इन देवताओं को पर्यायवाची किसी कारण से भी बनाया हो। जैसे प्रथमा तिथि का ब्रह्म है। 'ब्रह्म' एक ही है, अत: प्रथमा का देवता। अष्टमी का देवता वसु है। क्योंकि वसु भी आठ होते हैं। एकादशी का देवता रुद्र है, क्योंकि रुद्र ११ होते हैं। अलंकार शास्त्र में भी इसी प्रकार एक दो आदि अंकों के ब्रह्म, नेत्र, राम, वेदादि नाम रक्खे गये हैं।

यदि कोई ऐसी आशंका करे कि जन्म-दिन के स्मरण के लिये तो तिथि व नक्षत्र की आहुति ही पर्याप्त थी, देवताओं की आहुति की क्या आवश्यकता है? लोक में देखा जाता है कि दो-दो बार भिन्न रूप में उसी एक बात को कहने से वह बात अच्छी तरह स्मरण रह जाती है, वैसे ही यहाँ भी जानना चाहिये। यह प्राचीन शास्त्रीय शैली है। जैसे-छन्द:शास्त्र में गायत्र्यादि छन्दों के अग्नि, सवितादि सात देवता माने गये हैं। और यह भी लिखा है-'देवतादितश्च' (छन्द०३.६२) सन्देहास्पद छन्दों का निर्णय देवतादि से करें। छन्द जानने के लिये महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य में छन्दों के नाम के साथ-साथ षड्जादि स्वर भी

लिखे हैं, जिससे संशयास्पद छन्द का निर्णय शीघ्र हो सके। इस प्रकार जैसे छन्दःशास्त्र में प्राचीनाचार्यों ने छन्दोज्ञान के लिये देवता, वर्ण, गोत्रादि लिखे हैं, वैसे ही नामकरण में जन्मदिन के स्मरणार्थ तिथि व नक्षत्र के साथ उनके देवता भी लिखे हैं।

(६) संस्कारविधि में निष्क्रमणसंस्कार में महर्षि ने लिखा है *''बालक की माता दाहिनी ओर से लौट कर बांई ओर आ अञ्जलि भर के चन्द्रमा के सम्मुख खड़ी रहके* **'ओं यददश्चन्द्रमसि कृष्णं पृथिव्या हृदयं श्रितम्०'** इस मन्त्र से परमात्मा की स्तुति करके जल को पृथिवी पर छोड़ देवे।' (संस्कारविधि, आर्य साहित्य प्रचार ट्रस्ट, नई दिल्ली, पृ० ५६-५७) यहाँ पर भी पौराणिक बन्धुओं का आक्षेप है कि मूर्त्तिपूजा की जड़ पर कुठाराघात करने वाल और बहु-देवतापूजा के प्रबल विरोधी स्वामी दयानन्द ने चन्द्रमा के प्रति जल छुड़वाकर यहाँ मूर्त्तिपूजा को स्वीकार किया है। यथार्थ में यहाँ महर्षि ने 'परमात्मा की स्तुति करके' लिखकर अपने भाव को बहुत ही स्पष्ट कर दिया है। यहाँ कोई जड़-चन्द्र की पूजा को स्वामी जी ने कदापि स्वीकार नहीं किया है। संस्कारों में प्रायः बाह्यविधियों के द्वारा किसी न किसी प्रकार की शिक्षा या रहस्य को समझाया जाता है। जिसे विवाह में स्त्री-पुरुषों के हृदयों को जोड़ने के लिये वस्त्र की ग्रन्थि लगायी जाती है। ऐसे ही शिलारोहण, लाजाहोम, ध्रुव-अरुन्धती-तारा प्रदर्शन तथा सूर्यावलोकनादि विधियाँ पतिव्रतधर्म में दृढ़ता के लिये ही कोई न कोई शिक्षा या रहस्य को समझाती हैं। वैसे ही निष्क्रमणसंस्कार में चन्द्र की ओर देखकर पृथिवी पर जल छोड़ कर परमात्मा के स्तवन से यह रहस्य समझाया गया है-हे परमेश्वर! जैसे जल और चन्द्र का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। (शुक्लपक्ष में चाँद की चाँदनी में समुद्र के जल के छलकने से इस बात को अच्छी प्रकार समझा जा सकता है) वैसे ही बालक का हमारे साथ भी सदा घनिष्ठ सम्बन्ध बना रहे।' इसमें किसी प्रकार का भी पौराणिक भाव या जड़पूजा का वर्णन कदापि नहीं है।

(७) संस्कारविधि के चूड़ाकर्मसंस्कार में महर्षि ने लिखा है-'तीन दर्भ लेके दाहिनी बाजू के केशों के समूहे को हाथ में दबा के 'ओं विष्णोर्दᳬष्ट्रोसि' इस मन्त्र से छुरे की ओर देखके-

ओं शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्ते मा मा हिंसीः॥

इस मन्त्र को बोल के छुरे को दाहिने हाथ में लेवे।''

यहाँ पौराणिक इन मन्त्रब्राह्मण के वाक्यों तथा प्रकरण को न समझकर यह मिथ्यार्थ करके लोगों को बहकाते हैं-'हे छुरे! तू विष्णु-ईश्वर की दाढ़ है।' इस अर्थ से यह भी सिद्ध करते हैं-परमेश्वर को निराकार मानने वाले दयानन्द ने भी छुरे को विष्णु को दाढ़ मानकर नमस्ते कही है। अतः वे भी जड़-पूजा को यहाँ मान रहें हैं। किन्तु उनका यह अर्थ प्रकरणविरुद्ध तथा शास्त्रविरुद्ध है। यह प्रकरण यज्ञ का है। विष्णु परमेश्वर का भी नाम है, किन्तु विष्णु 'यज्ञो वै विष्णु' (श०१.१.२.१३) प्रमाण से यज्ञ का भी नाम है। और 'द्रंष्ट्र' शब्द 'दंश दशने' धातु से करण कारक में 'ष्ट्रन्' प्रत्यय करने से बना है। जिसका अर्थ है-काटने का साधन। लोक में दाढ़ को भी 'दंष्ट्र' अन्नादि को काटने के कारण ही कहते हैं। चूड़ाकर्म में बाल काटने का साधन छुरा होता है। प्रकरणानुसार अर्थ इस प्रकार हुआ-

'हे छुरे! तु विष्णु-यज्ञ का (यज्ञसम्बन्धी) दंष्ट्रः-कांटने वाला शस्त्र है।' यहाँ कोई यह भी आशंका कर सकता है कि जड़ छुरे को सम्बोधित क्यों किया गया है? क्या छुरा हमारे वचनों को

सुन सकता है? इसका उत्तर यह है कि यह वेद और ब्राह्मणादि ग्रन्थों की प्राचीन शैली है, जिसको न समझने से विद्वान् भी भ्रान्ति में पड़ जाते हैं। इस शैली में प्रत्यक्ष स्तुति में जड़ पदार्थ में भी सम्बोधन और मध्यम पुरुष का प्रयोग करते हैं, परन्तु अर्थ करते समय मध्यम पुरुष का प्रथम पुरुष में व्यत्यय करना चाहिये। महर्षि दयानन्द ने इस वैदिक नियम को बहुत समझाकर स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है-

''वेद के प्रयोगों में इतनी विशेषता होती है कि जड़ पदार्थ भी प्रत्यक्ष हों तो वहाँ निरुक्तकार के उक्त नियम से मध्यम पुरुष का प्रयोग किया है। इससे यह भी जानना आवश्यक है कि ईश्वर ने संसारी जड़ पदार्थों को प्रत्यक्ष कराके केवल उनसे अनेक उपकार लेना जनाया है।'' (ऋ०भू०, पृ०३५३)

निरुक्त (७.१.१,२) में ऋचाओं के तीन भेद किये हैं-परोक्षकृत, प्रत्यक्षकृत और आध्यात्मिक। वेद जिस पदार्थ की प्रत्यक्षरूप में स्तुति करता है, चाहे वह स्तोतव्य पदार्थ जड़ हो या चेतन, उसका वर्णन मध्यमपुरुष में करता है। और व्याकरण अष्टाध्यायी का 'व्यत्ययो बहुलम्' (३.१.८५) सूत्र व्यत्ययों का स्पष्ट निर्देश कर रहा है।

इस प्रकार नियमों से अनभिज्ञ व्यक्ति ही शास्त्र के मिथ्या अर्थ करके अनर्थ करते रहते हैं। इसी प्रकार चूड़ाकर्म के प्रकरण में **'ओषधे त्रायस्व एनं, मैनं हिंसीः'** इस वाक्य का भी वे अनर्थ ही करते हैं। किन्तु व्यत्यय के नियम को समझकर इसका युक्तियुक्त तथा सुसंगत अर्थ इस प्रकार है- 'ओषधे-यह औषधि त्रायस्व-रक्षा करती है, एनम्-इसको मा हिंसीः-हिंसन नहीं करती है। इसी प्रकार पूर्वोद्धृत 'ओं शिवो नामासि०' वाक्य का अर्थ भी गलत करते हैं और महर्षि दयानन्द पर यह आक्षेप करते हैं कि ये जड़ छुरे को भी तो नमस्ते करते हैं किन्तु मूर्ति के आगे सिर झुकाने से घबराते हैं। क्या छुरे के आगे सिर झुकाना जड़पूजा नहीं है। किन्तु पूर्वोक्त नियमों के जानने से ऐसे मिथ्यार्थों का समूल उन्मूलन हो जाता है। इस मन्त्र का सत्यार्थ इस प्रकार है-''शिवः-कल्याण करने वाला, असि=निश्चय से तू है, स्वधितिः=वज्र अर्थात् लोहा, ते=तेरा, पिता=उत्पत्तिस्थान है, नमः=सत्कार, ते=इसका, मा=मत, मा=मुझको, हिंसीः=दुःख दे।''

यह छुरे का वर्णन है। छुरे की उत्पत्ति लोहे से बतायी है और चूड़ाकर्म में छुरे का प्रयोग सत्कार पूर्वक अर्थात् बहुत ही सावधानी से करना चाहिये। बच्चे की त्वचा अत्यधिक कोमल है, इसको किसी प्रकार का कष्ट न हो। इस प्रकार इस मन्त्र में जड़पूजा की कहीं गन्ध भी नहीं है। पौराणिक बन्धुओं को 'नमः' शब्द के 'नमस्कार' 'सत्कार' 'अन्न' तथा वज्रादि अर्थों को ध्यान देकर ही प्रकरणानुसार अर्थ करना चाहिये।

इसी प्रकार समावर्त्तन संस्कार के-**'ओं प्रतिष्ठे स्थो विश्वतो मा पातम्'** (सं०वि०, ९६ पृ०) अर्थ में भी पौराणिकों को महाभ्रान्ति है। इसका अर्थ वे इस प्रकार करते हैं-हे जूते! तू मेरी सब तरह से रक्षा कर। किन्तु यह भ्रान्ति पूर्वोक्त नियमों की अनभिज्ञता के कारण ही है। महर्षि ने इस का अर्थ नहीं किया है। गृहस्थ में प्रवेश करने वाले पुरुष को उपाहन, पादवेष्टन, पगरखादि इस मन्त्र से धारण करनें के लिये स्वामी जी ने लिखा है। इसकी भी पुरुष व्यत्यय से ही संगति तथा प्रकरण के अनुकूल अर्थ करना उचित है। क्योंकि मन्त्र में किसी वस्तु का नाम नहीं है। लोक में जो भी शरीर की सुरक्षा के बाह्य साधन हैं, वे 'प्रतिष्ठा' पद से गृहीत किये हैं। वे कण्टकादि व सर्दी-गर्मी से शरीर की रक्षा करते हैं। यदि कोई द्विवचनान्त का आग्रह करके 'जूता' ही अर्थ करने का दुराग्रह करे,

तब भी पुरुष व्यत्यय से अर्थ की संगति ठीक लगती है। यहाँ 'जूते' से प्रार्थना नहीं की गयी है। ऐसे स्थलों पर भ्रान्ति का मूलकारण पूर्वोक्त वैदिक नियमों से अनभिज्ञता ही है।

(८) कुछ लोगों का यह भी मिथ्यापेक्ष है कि वेदों में वानप्रस्थ तथा संन्यास का कहीं विधान नहीं है। क्योंकि वेद में कहीं भी 'वानप्रस्थ' तथा 'संन्यास' शब्द नहीं है। अत: महर्षि दयानन्द के ये दोनों संस्कार ही अवैदिक हैं। किन्तु यह आक्षेप मिथ्या ही है। शास्त्रों में वानप्रस्थ के लिये 'मुनि:' तथा संन्यास के लिये 'यति:' शब्द का प्रयोग आता है। जैसे मनुस्मृति में छठे अध्याय में वानप्रस्थ के लिये बहुधा 'मुनि' शब्द का प्रयोग है। उपनिषदों में 'वनी' शब्द का प्रयोग हुआ है। वेद में भी वानप्रस्थ के लिये मुनि शब्द का प्रयोग हुआ है। जैसे-ऋग्०१०.१३६.५ में **'अथो देवेषितो मुनि:'** शब्द वानप्रस्थ के लिये आया है। और संन्यास के 'यति' शब्द का प्रयोग शास्त्रों में मिलता है। मनुस्मृति में **'भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत्'** (६.५६) **'एष धर्मोऽनुशिष्टो वो यतीनां नियतात्मनाम्** (६.८६) इत्यादि स्थलों में 'यति' शब्द का प्रयोग 'संन्यास' के लिये आया है। उपनिषदों में इसी 'यति' शब्द का प्रयोग मिलता है। जैसे-(संन्यासयोगाद्यतय: शुद्धसत्त्वा: ! (मु०उ०३.२.६) में स्पष्ट ही 'यति' शब्द संन्यास के लिये पठित हैं। वेदों में भी संन्यास के लिये 'यति:' शब्द का बहुधा प्रयोग हुआ है-

यद्देवा अद: सलिले सुसंरब्धा अतिष्ठत।

(ऋग्०१०.७२.७)

'वैश्वानराय यतये मतीनाम्।

(ऋग्०७.१३.१)

'य इन्द्र यतयस्त्वा भृगवो ये च तुष्टुवु:।

(ऋग्०८.६.१८)

'अपामर्थं यतीनां ब्रह्मा भवति सारथि:।

(ऋग्०१.१५८.६)

इत्यादि स्थलों पर 'यति' शब्द का प्रयोग संन्यास के लिये हुआ है। अत: वानप्रस्थ तथा संन्यास दोनों आश्रमों का मूल वेदों में होने से पौराणिकों के आक्षेपों का स्पष्ट रूप से खण्डन हो जाता है। और उनके मिथ्याक्षपों से उनकी ज्ञानलवविदग्धता ही प्रकट होती है।

इसी प्रकार स्वामी जी पर उपनयन संस्कार के 'यज्ञोपवीतं परमं०' मन्त्र को भी अवैदिक बताकर आक्षेप किया करते हैं। किन्तु स्वामी जी ने प्राचीन आर्यों की श्रेष्ठ परम्पराओं को कहीं भी नहीं छोड़ा है। इस भाव से गृह्यसूत्रों के प्रमाण रखे हैं। उपनयन के लिये वेदों में बहुत प्रमाण मिलते हैं। जैसे कुछ निम्न हैं-

(क) **युवा सुवासा: परिवीत आगात्।**

(ऋग्०३.८.४)

(ख) **आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्त:।** (अथर्व०११.५.३)

(ग) **नमो हरिकेशायोपवीतिने पुष्टानां पतये नम:।**

(यजु०१६.१७)

इत्यादि वेदमन्त्रों से उपनयन की प्रामाणिकता स्पष्ट है। गृह्यसूत्रों के उपनयन मन्त्र को महर्षि ने इसलिये भी संस्कारविधि में स्थान दिया है कि ऋषि-मुनियों ने इसमें यज्ञोपवीत के लाभों का समावेश करके इसकी उपयोगिता अत्यधिक बढ़ा दी है। अत: महर्षि का कोई भी प्रकरण अवैदिक नहीं है। यह मिथ्या समझने वालों की भ्रान्ति ही है।

(९) संस्कारविधि में गर्भाधानप्रकरण में जो *'गर्भाधान की विधि अर्थात् जब वीर्य गर्भाशय में जाने का समय आवे इत्यादि'* लिखी है, उस पर भी वेदों व शास्त्रों से अनभिज्ञ व्यक्ति आक्षेप किया करते हैं कि यह स्वामी जी ने कहाँ से और कैसे लिख दी? स्वामी जी तो बाल ब्रह्मचारी थे। अत: उनके निष्कलंक चरित्र को भी दूषित करने का

दुस्साहस तथा कुचेष्टा किया करते हैं। किन्तु उन्हें ध्यान करना चाहिये कि सभी ज्ञान अनुभव से ही नहीं सीखा जाता। वेदादि शास्त्रों को पढ़कर भी बहुत कुछ सीखा जाता है। इस विषय में श्री रामगोपाल जी शास्त्री ने वेदादि शास्त्रों के निम्न प्रमाण दर्शाए हैं, जो बहुत ही अच्छे ढंग से इस विषय में प्रकाश डालते हैं-

(क) **ओं मुखं तदस्य शिर इत्सतेन, जिह्वा पवित्रमश्विनासन् सरस्वती। चप्यं न पायुर्भिषगस्य वालो, वस्तीर्न शेपो हरसा तरस्वो॥** (यजु०१९.८८)

इस मन्त्र का महर्षिकृत भाष्य पाठकों को देखना चाहिये। जिससे महर्षि के लेख की स्पष्ट प्रामाणिकता मिल जाती है। महर्षि ने इस मन्त्र के भावार्थ में इस विधि की आवश्यकता तथा उपयोगिता बताते हुए लिखा है-''स्त्रीपुरुष गर्भाधान के समय में परस्पर मिल, प्रेम से पूरित होकर, मुख के साथ मुख, आँख के साथ आंख, मन के साथ मन, शरीर के साथ शरीर का अनुसन्धान करके गर्भ का धारण करें। जिससे कुरूप वा वक्रांग सन्तान न होवे।'

(ख) **'अथ यामिच्छेत् गर्भं दधीतेति तस्यामर्थं निष्ठाप्य मुखे मुखं सन्धायापान्याभिप्राण्याद् इन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदधामीति गर्भिण्येव भवति।'** (शत०१४.७.५.१०)

यहाँ भी वेदोक्त विधियों की ही ऋषियों ने व्याख्या की है। इसी प्रकार की व्याख्या पारस्कर गृह्यसूत्र (१.११.५) में तथा चरक के शरीरस्थान (८.८) में मिलती है। स्वामी जी ने वेदादिशास्त्रों में ही पढ़कर इस विधि को लिखा है। अतः उन पर जो मिथ्याक्षेप किया जाता है, उनका कोई आधार नहीं है।

(१०) पौराणिक पण्डित महर्षि के ग्रन्थों पर कैसे-कैसे मिथ्या दोष लगाते हैं, उनकी छल-कपटपूर्ण हृदयस्थ कलंक कालिमा का एक नमूना देखिए-

महर्षि ने विवाह संस्कार से पूर्व लड़का व लड़की के अपने-अपने घरों पर ही कुछ क्रियाओं का विधान करते हुए लिखा है-''*इन मन्त्रों से सुगन्धित शुद्ध जल से पूर्ण कलशों को लेके वधू और वर स्नान कर वधू उत्तम वस्त्रालंकार धारण करके उत्तम आसन पर पूर्वाभिमुख बैठे।*''

(सं०वि०विवाहप्रकरणम्)

इस पर पौराणिकों का आक्षेप यह है कि विवाहसंस्कार से पूर्व लड़का व लड़की को एकान्त में स्नान करने के लिये कौन माता-पिता अनुमति देंगे? यह महर्षि का व्यवहार-विरुद्ध तथा अप्रामाणिक लेख है। किन्तु यह पौराणिकों को प्रकरणानभिज्ञता के कारण ही भ्रान्ति हुई। इसमें निम्नलिखित बातों पर ध्यान देने से भ्रान्ति का निराकरण स्वतः ही हो जाता है-

(क) मन्त्रों का उच्चारण करके सुगन्धित जल से स्नान की विधि लड़का व लड़की दोनों के लिये महर्षि ने लिखी है। किन्तु इसका अभिप्राय विवाह से पूर्व एकान्तवास से नहीं है। क्योंकि महर्षि की समस्त विधियां दोनों के लिये समान अधिकार की बोधक हैं। अतः यह स्नानविधि अपने-अपने घरों पर करने के लिये महर्षि ने लिखी है।

(ख) यदि महर्षि का अभिप्राय विवाह से पूर्व लड़का व लड़की के इकट्ठे स्नान से होता तो उसी स्थान पर महर्षि आगे ऐसा क्यों लिखते-''वैसे ही वर भी एकान्त अपने घर में जाके उत्तम वस्त्रालंकार करके...वधू के घर जाने का ढंग करे।'' अतः पौराणिकों का आक्षेप पूर्वापर-प्रकरण से विरुद्ध शरारत पूर्ण ही है। उन्हें ऐसे आक्षेप करते समय लेशमात्र भी लज्जा व संकोच क्यों नहीं होता? यह पामरता की पराकाष्ठा ही है।

संस्कारों में दैनिक-यज्ञादि महर्षि-सम्मत नहीं हैं-

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने प्रत्येक संस्कार की उचित स्थान पर सम्पूर्ण विधि लिखी है। और

सब संस्कारों में सामान्य तथा उचित समय पर कर्त्तव्य विधियों का संग्रह 'सामान्य-प्रकरण' में किया है। किन्तु दैनिक-यज्ञ के मन्त्रों से ('सूर्यो ज्योति०' से 'अग्ने नय०' तक) किसी संस्कार की आहुतियाँ नहीं लिखीं। प्राय: यह देखने में आता है कि संस्कारों की समाप्ति दैनिक-यज्ञ से की जाती है। यह संस्कारों में दैनिकयज्ञ का मिश्रण, शान्तिपाठ के 'ओ३म् द्यौः शान्तिः' और 'यज्ञ-रूप प्रभो' इत्यादि गीतों का गायनों का महर्षि ने कहीं विधान नहीं किया और न ही इनका कहीं गृह्यसूत्रादि कर्मकाण्ड के ग्रन्थों में विधान है। प्रत्येक संस्कारकी समाप्ति सामवेदोक्त महावामदेव्य गान से करने का विधान महर्षि ने किया है। अतः आर्यों को महर्षि के लेख का आदर करके कर्त्तव्य-कर्मों का ग्रहण और अकर्त्तव्यों को छोड़ देना चाहिये।

प्रमाण भाग के पते क्यों नहीं-

महर्षि दयानन्द ने संस्कारविधि में भी अन्य ग्रन्थों की भाँति प्रमाणभाग में बहुतों के पते नहीं दिये। केवल ग्रन्थों के नाम ही दिये हैं। कुछ विद्वानों ने उनके पते खोजकर लिखने का प्रयास किया है। उनके विचार में इससे पाठकों को देखने तथा विचारने में सुविधा हो जाती है। परन्तु उन पतों से अनेक भ्रान्तियाँ भी पैदा हो गयी हैं। जैसे-

(१) महर्षि द्वारा ऊहित-पाठों के पते कहाँ और कैसे मिल सकेंगे? और यदि मिलेंगे तो पाठभेद अवश्य होगा। क्या उससे सन्देह नहीं होगा कि कौन-कौन पाठ शुद्ध हैं।

(२) महर्षि ने कहीं भिन्न-भिन्न मन्त्रों के भागों को भी एकत्र दिखाया है। उनके पते न मिलने पर क्या उन्हें प्रामाणिक न माना जाये? अथवा एक भाग के मिलने पर दूसरे भाग को अशुद्ध माना जाये?

(३) महर्षि के बाद के प्रकाशनों में बहुत से पाठ-भेद हुए हैं, उन ग्रन्थों से क्या महर्षि के पाठों की तुलना करना उचित है? और कौन सा पाठ प्रामाणिक माना जायेगा?

(४) अनेक ग्रन्थों में श्लोक ही बदल दिये हैं, अथवा सम्बद्ध परिशिष्ट भागों को ही पृथक् कर दिया गया है। उनके पते उन ग्रन्थों में कहां मिल सकेंगे?

अतः महर्षि के ग्रन्थों में पते देना भ्रान्तियों को ही जन्म देना है। हमारा यह परम कर्त्तव्य है कि हम महर्षि के ग्रन्थों को यथालिखित ही रहने दें। उसमें कहीं भी कोई संशोधन या परिवर्धन न करें।

सामान्य प्रकरण को न समझने से एक भ्रान्ति-

महर्षि दयानन्द ने सामान्य-प्रकरण के विषय में बहुत ही स्पष्ट लिखा है-"इसमें सामान्य विषय जो कि सब संस्कारों के आदि और उचित समय तथा स्थान में अवश्य करना चाहिये, वह प्रथम सामान्य प्रकरण में लिख दिया है। और जो मन्त्र वा क्रिया सामान्य प्रकरण की संस्कारों में अपेक्षित है, उसके पृष्ठ पंक्ति की प्रतीक उन कर्त्तव्य संस्कारों में लिखी है कि जिसको देखके सामान्यविधि की क्रिया वहाँ सुगमता से कर सकें और सामान्यप्रकरण की विधि भी सामान्यप्रकरण में लिख दिया है अर्थात् वहाँ का विधि कर के संस्कार का कर्त्तव्य-कर्म करे।" (सं०वि०भूमिका)

इस महर्षि के लेख को न समझ कर कुछ विद्वान् पुरोहित ऐसा भी करते हुए देखे गये हैं कि प्रथम सामान्यप्रकरण की सब विधियाँ कराकर फिर संस्कार की क्रियाएं प्रारम्भ करते हैं। उन्हें उपर्युद्धृत महर्षि की रेखांकित पर विशेष ध्यान देना चाहिये। जिसमें बहुत ही स्पष्ट है कि संस्कारों में सामान्य-प्रकरण की जिन विधियों की आवश्यकता है, उनका महर्षि ने यथास्थान पृष्ठ भाग तथा क्रिया का नाम देकर निर्देश किया है, अतः उचित स्थान व समय पर उन विधियों को करना चाहिये। अन्यथा संस्कारों में पृष्ठ तथा क्रियाओं के नाम लिखने की

क्या आवश्यकता थी यदि सामान्य-प्रकरण की समस्त विधियाँ संस्कारों के प्रारम्भ में करनी ही होती? सामान्य-प्रकरण की समस्त विधियाँ संस्कारों के प्रारम्भ में करना महर्षि के लेख के सर्वथा विरुद्ध है। इस भ्रान्ति का जन्म कतिपय नामकरण व अन्नप्राशन संस्कारों में महर्षि लिखित 'सम्पूर्ण विधि करके' शब्दों से भी पुष्ट हुई है। किन्तु यदि महर्षि का यह भाव होता, तो उसी के आगे सामान्य प्रकरण की विधियों को पुनः न लिखते। अतः वहाँ वहाँ 'सम्पूर्ण' शब्द सापेक्ष ही है। अतः विद्वान् पुरोहितों को संस्कारों में महर्षि लिखित यथानिर्दिष्ट विधियों का ही अनुसरण करके एकरूपता अपनानी चाहिये।

संस्कारों में उपदिष्ट कर्त्तव्य-

महर्षि दयानन्द ने संस्कारविधि में जहाँ संस्कारों का समय तथा संस्कारों की विधियाँ सप्रमाण लिखी हैं, वहाँ संस्कृत व्यक्तियों के लिये जो-जो कर्त्तव्य धर्म आवश्यक हैं, उनका भी सप्रमाण उपदेश दिया है। क्या यह कर्त्तव्योपदेश संस्कार के दिन तक का ही निश्चित है? ऐसा महर्षि का भाव नहीं है। कर्त्तव्य कर्मों में दो प्रकार के उपदेश महर्षि ने लिखे हैं-(१) सामान्य धर्म, (२) विशेष धर्म। सामान्य कर्त्तव्य तो सब मनुष्यों को सब अवस्थाओं में करने ही चाहिए। किन्तु जो विशेष-कर्त्तव्यों की शिक्षा दी है, उनका पालन तब तक अवश्य करना चाहिये, जब तक दूसरा संस्कार न हो। जैसे वेदारम्भ संस्कार में जो ब्रह्मचारी व ब्रह्मचारिणी को कर्त्तव्य कर्मों का उपदेश दिया है, उसका पालन तब तक विधिवत् करना चाहिये, जब तक दूसरा संस्कार न हो। कहने का तात्पर्य यह है कि समस्त संस्कार एक शृंखला की भाँति परस्पर सम्बद्ध तथा किसी विशेषावस्था को छोड़कर क्रमबद्ध ही हैं। जो मानव-जीवन को एक ऐसी पद्धति का मार्गदर्शन कराते हैं, जिससे मानव स्वतः ही जीवन के लक्ष्य की ओर अग्रसर होकर प्रगति करता जाये। अतः स्पष्ट है कि संस्कारों में उपदिष्ट-धर्म दूसरे संस्कारों तक श्रद्धा से अवश्य करते रहना चाहिये।

Vaidika Vāg-Jyotiḥ
ISSN 2277-4351
Vol.1, No.1 (48-54) Jul-Dec 2012

क्लिष्ट एवं दुरूह वेदमन्त्रों का अर्थानुसन्धान

दिनेशचन्द्र शास्त्री
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, वेदविभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
dineshcshastri@gmail.com

वेदों के कुन्ताप आदि सूक्तों की दुरूहता या अस्पष्टता कही जाती है[१] वैसे ही वेदों में अन्य अनेक ऐसे मन्त्र हैं, जो दुरूह एवं अस्पष्ट प्रतीत होते हैं । इस दुरूहता एवं अस्पष्टता के समाधान के लिए ही वेद के अंगों, उपांगों, उपवेदों, ब्राह्मण ग्रन्थों, शाखाओं, विभिन्न संहिताओं, स्मृति आदि आर्ष ग्रन्थों का अध्ययन आवश्यक है। इन शास्त्रों के गम्भीर अध्ययन के साथ-साथ श्रद्धापूर्वक योगाभ्यास भी आवश्यक है ; जिससे वेद की व्याख्या व्यर्थ न हो । इसीलिए बृहद्देवताकार ने लिखा है-

योगेन दाक्ष्येण दमेन बुद्ध्या बाहुश्रुत्येन तपसा नियोगैः । उपास्यास्ताः कृत्स्नशो देवता या ऋचो ह यो वेद स वेद देवान् (८/१३०) ।

मन्त्रों के प्रतिपाद्य को, उसके वास्तविक अर्थ को समझने के लिए घोर तप करना होता है। अतएव वेंकट माधव ने लिखा है-**देवतातत्वविज्ञानं महता तपसा भवेत्। शक्यते किमस्माभिर्याथातथ्येन भाषितम् ।।** ये क्लिष्ट वेद मंत्र संस्कृत वाङ्मय के क्लिष्ट कूट श्लोकों के समान कूट मन्त्र हैं। जैसे महाभारत उद्योग पर्व १६/४३, ४४ के श्लोक हैं जो कि इस प्रकार हैं -

काकुदीकं शुकं नाकमक्षिसन्तर्जनं तथा ।
सन्तानं नर्तनं घोरमास्यमोदकमष्टकम्।।
एतैर्विद्धाः सर्व एव मरणं यान्ति मानवाः।
उन्मत्ताश्च विचेष्टन्ते नष्टसंज्ञा विचेतसः।।

जैसे संस्कृत वाङ्मय के इस प्रकार के श्लोकों की व्याख्या की जाती है वैसे ही इन कूट मन्त्रों की व्याख्या भी प्रतीकात्मक अर्थबोध से सम्भव है। यह बात भी ध्यातव्य है कि वेद लोकोत्तर काव्य सुषमा से विभूषित,परमोदात्त ईश्वरीय दिव्य काव्य है। जिसके विषय में स्वयं भगवान् वेद कहता है-

देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति

(अथर्व १०/८/३२)

वेद के इस अलौकिक काव्य की वर्णन शैली अलौकिक है। विश्व के काव्य साहित्य में जो भी गीत-संवाद-नाटक-कथानक-सुभाषित-कूटोक्ति-पहेली-प्रश्नोत्तर आदि शैलियाँ उपलब्ध होती हैं। उन सभी का स्रोत वेद है। सो, वेद के सम्पूर्ण कूटार्थ मन्त्रों की व्याख्या तो इस निबन्ध में सम्भव नहीं है केवल कतिपय मन्त्रों की व्याख्या ही इस निबन्ध में प्रदर्शित की जा रही है। यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि वेद मन्त्रों का अर्थानुसंधान करना साधारण कार्य नहीं है। अर्थानुसन्धान के लिए आवश्यक उपर्युक्त वेङ्कट माधव आदि के द्वारा निर्दिष्ट बातों का वेदज्ञ में होना बहुत आवश्यक है जिनके आलोक में यदि विचार करें तो पता चलता है कि अनेक बार साधारण मन्त्रों के अर्थ भी हृदयंगम नहीं हो पाते हैं । इसके अनेक कारण हैं जैसे अन्यमनस्कता, आलस्य, प्रमाद आदि । जिन पदों के व्याकरण निरुक्त आदि

प्रक्रिया सुलभ निर्वचन एवं प्रकृति प्रत्यय आदि का अनायास पता नहीं लगता, वे क्लिष्ट होते हैं उनको प्रौढ़िवाद से अनर्थक कह दिया जाता है। वेद के पद को अनर्थक कहना दुस्साहस मात्र हैं; प्रत्येक पद का कुछ न कुछ प्रयोजन रहता है। इस निबन्ध में वेदों के कतिपय क्लिष्ट मन्त्र इस प्रकार हैं जिनके अर्थों पर चिन्तन प्रस्तुत किया जाता है।

सृ॒ण्ये॑व ज॒र्भरी॑ तु॒र्फरी॑तू नैतो॒शेव॑ तु॒र्फरी॑ पर्फ॒रीका॑। उ॒द॒न्य॒जेव॒ जेम॑ना मदे॒रू ता मे॑ ज॒राय्व॒जरं॑ म॒रायु॑॥

उपर्युक्त उदाहृत मन्त्र ऋग्वेद के दशम मण्डल के १०६वें सूक्त का छठा मन्त्र है। इस सूक्त का देवता **'अश्विनौ'** है तथा ऋषि का नाम **'भूतांश'** है। आचार्य उदयवीर शास्त्री[२] के अनुसार इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है -

'अश्विनौ' दो जुड़े (अन्योन्यमिथुनीभूत) ऐसे देवता हैं, जो कभी एक-दूसरे से अलग नहीं हो सकते । यदि अलग होते हैं, तो उनका अस्तित्व ही नहीं रहता । वेद में देवताओं के जोड़े और भी हैं-'मित्रावरुणौ, अग्नीषोमौ' आदि। परन्तु ये जोड़े टूटनेवाले हैं । जैसे कहीं ये मिलित रूप में वर्णित हैं, वैसे अलग-अलग भी वर्णित हैं । मित्र, वरुण, अग्नि, सोम का स्तुतिरूप वर्णन अनेक सूक्तों में पृथक् रूप से हुआ है, परन्तु 'अश्विनौ' का पृथक् रूप में स्तवन-वर्णन कहीं उपलब्ध नहीं है। यह जोड़ा अटूट है। इस सूक्त का प्रारम्भ ही 'उभौ' पद से होता है। दो मिलकर ही 'अश्विनौ' इकाई बनती है । सूक्त में इसके सब विशेषण द्विवचनान्त हैं । **विशेषज्ञ विद्वानों ने सुझाव दिया है-वेद के 'अश्विनौ' आधुनिक विज्ञान के पॉजिटिव- नैगेटिव विद्युत्-सम्बन्धी तत्व हैं, जो सदा मिलकर ही अपने अस्तित्व को बनाये रह सकते हैं;** इनका पार्थक्य कल्पनातीत है, क्योंकि उस दशा में इनका अस्तित्व ही खटाई में पड़ सकता है। इस सूक्त का ऋषि नाम 'भूतांशः' इस कथा की पुष्टि की ओर संकेत करता प्रतीत होता है।

यह नाम भूत+अंश दो पदों का समुच्चय है। विद्युत्-सम्बन्धी विवेचन-वर्णन-स्तवन आधिभौतिक विभाग द्वारा किया जाना सर्वथा उपयुक्त है। इस आधार की छाया में प्रस्तुत ऋचा के प्रतिपद -अर्थ पर विचार सरणि इस प्रकार है -

सृण्याऽइव-'सृणि' लोक में अंकुश का नाम है, जो हाथी के विचलित हो जाने पर उसे वश में करने तथा कम चलने पर संचालित करने के उपयोग में आता है। ये सृणि के दो कार्य अथवा दो प्रकार हुए-१ बिखरते-विचलित होते हाथी को अपनी सीमा में खींचकर रखना ; २ आगे गति बढाने के लिए धकेलना। यह विशेषण अथवा उपमा 'अश्विनौ' के दो प्रकारों -रूपों को बताता है- पकड़ना और धकेलना जो विद्युत् में स्पष्ट पाये जाते हैं । इसके अतिरिक्त 'सृणि' पद गत्यर्थक 'सृ' धातु से बना है, जिसका अर्थ है-सरणशील धारारूप में तीव्र गति से सरकने के स्वभाववाला। विद्युत् की तीव्र गति सर्वविदित है। इस पद में विद्युत् की समता को प्रकट करने का एक अन्य अन्तर्हित भाव है-सृणि-अंकुश का तीक्ष्ण नुकीला होना; विद्युत् की धारा इतनी नुकीली है कि लक्ष्य में प्रवेश के लिए क्षण भी नहीं लगाती।

जर्भरी- यह पद 'जृभ जृभि गात्रविनामे' धातु से बना है। धात्वर्थ है- शरीर का अदृश्य-जैसा होना। विद्युत्-रूप अश्विनौ का शरीर ऐसा ही है। अथवा यह पद 'भृ' धातु से भी सिद्ध होता है, जिसका अर्थ धारण व भरण-पोषण है। विद्युत् के सदुपयोग पर ये विशेषताएं स्पष्ट होती हैं।

तुर्फरीतू- हिंसार्थक √तृफ[३] धातु से यह पद निष्पन्न होता है। विद्युत्-रूप 'अश्विनौ' हिंसक भी हो जाते हैं, मार डालते हैं, वस्तु को भस्म कर

डालते हैं । यह तभी होता है, जब इनके उपयोग अथवा स्थिति में किसी प्रकार की न्यूनता हो । ऐसी अवस्था में यह तत्काल अपने विरोधी विजातीय तत्व पर प्रभावी होकर प्रयोक्ता को सम्पदाओं से भरकर तृप्त भी करता है।

नैतोशाऽइव- यह उपमा-पद है। 'नितोश' धातु वध कर देने अर्थ में प्रयुक्त होता है । वध करने वाला 'नितोश' कहा जाता है। उसकी क्रिया व उसकी परम्परा में आने वाला 'नैतोश' है। तात्पर्य है-वध की क्रिया तथा उसे करने वाला उक्त पद का वाच्य है। उसके समान हैं, 'अश्विनौ' (ऐतोशा-'शौ' इव)। उसके समान अश्विनौ क्या करते हैं ? यह अगले पद से बताया -

तुर्फरी- इस पद के धातु का निर्देश प्रथम कर दिया है। हिंसा और वध में थोड़ा अन्तर है। न्यूनाधिक चोट-फैंट आदि लग जाना जैसे हिंसा में आता है। जीवन से सर्वथा रहित कर देना हिंसा का रूप 'वध' है। हिंसार्थक 'तृफ' धातु के वधरूप अर्थ को यहां इस पद से-'नैतोशा' (वधकर्ता) की उपमा देकर-स्पष्ट किया है। 'अश्विनौ' की यह विशेषता (चोट-फैंट से लेकर वध-पर्यन्त हिंसा कर देने की क्षमता) मन्त्रों में दो स्थानों पर समान पद रखकर अभिव्यक्त की है। एक स्थान पर विशेषण-रहित पद है; दूसरे स्थान पर उपमा-सहित विशेषण के साथ।

पर्फरीका-मन्त्र के पूर्वार्द्ध का यह अन्तिम पद है। 'त्रिफला विशरणे' धातु से **'पर्फरीकादयश्च'** (४/२०) उणादि सूत्र के अनुसार सिद्ध होता है। 'विशरण' का तात्पर्य होता है-तोड़-फोड़कर बखेर देना, छिन्न-भिन्न कर देना। पहले व्याख्याकारों ने 'शत्रूणां विदारयितारौ ' अर्थ किया है।[४] तात्पर्य है -विरोधी वस्तुओं व तत्वों को छिन्न -भिन्न कर देना। विद्युत्-रूप 'अश्विनौ' में यह अपना विशेष सामर्थ्य है।

इस पद की सिद्धि 'पॄ पालनपूरणयोः' धातु से भी की जाती है। जो 'अश्विनौ' के स्तोता यथार्थ ज्ञाता एवं सदुपयोक्ता हैं, उनको ये देवता ऐश्वर्य, सम्पत्तियों, एवं विभूतियों से पूर्ण, सम्पन्न करने वाले हैं। विद्युत्-रूप 'अश्विनौ' की यह क्षमता आज लोकप्रसिद्ध है।

उदन्यजाऽइव-'उदन्यजौ' पद 'उदक' और 'जनी प्रादुर्भावे' धातु से मिलकर निष्पन्न होता है। 'उदन्य' का अर्थ है उदक-जल में होने वाला । यह जल में होने वाली एक क्रियाविशेष है। वैसे अपनी सामान्य गति या प्रसरण-बहावरूप क्रिया जल में रहती है, पर यह क्रियाविशेष उससे भिन्न है, जिसका संकेत ऋचा करती है। यह क्रिया है- सामूहिक रूप में जब जल ऊपर से नीचे की ओर बंधा हुआ गिरता है और एक दबाव को बनाता है। उस दबाव से उत्पन्न होने वाले हैं -'अश्विनौ', जो ऋचा में 'उदन्यजा' पद से कहे गये हैं । तात्पर्य है-उदक में होने वाली क्रियाविशेष से उत्पन्न। 'अश्विनौ' का यह विशेषण -पद उनके वास्तविक स्वरूप व स्थिति को स्पष्ट करता है । पानी के दबाव-रूप सहयोग से उत्पन्न की जाने वाली विद्युत्- हाइड्रो-इलैक्ट्रिसिटी के आज अनेकों प्लाण्ट नहरों ओर नदियों पर छोटे-बड़े रूप में लगे हैं, जो राष्ट्र की अतुल सम्पत्तियों एवं विभूतियों के लिए अनुपम स्रोत हैं।

जेमना- जेमनौ, जयशीलौ(अश्विनौ), सदा विजय की स्थिति में रहने वाले । तात्पर्य है-ये अन्य पदार्थों पर प्रभावी रहते हैं ; अन्य पदार्थ इनपर कोई प्रभाव नहीं डाल पाते ।

मदेरू-अतिशय शक्ति के कारण मत्त, उत्कर्षशील स्थिति वाले ; अथवा सदा हृष्ट-पुष्ट अवस्था में रहने वाले । इस रूप में सदा इनकी स्तुति-प्रशंसा की जाती है। 'अश्विनौ' के ये स्वरूप व विषेशताएं व्यवहार्य विद्युत् में सदा देखे जाते हैं।

ता-तौ-वे अश्विनौ। **मे-मम**-मेरे। **जरायु**- जराजीर्ण तथा शिथिल हाने वाले, अतएव, 'मरायु'- मरणशील विनाशी शरीर व जीवन को **अजरम्**- जरारहित करने वाले हों ।

प्राचीन भारतीय वाङ्मय में 'अश्विनौ' को देवों का चिकित्सक बताया गया है। 'देव' पद का तात्पर्य चाहे विद्वान् समझा जाय, अथवा कोई अदृश्य आधिभौतिक शक्तियाँ, जो प्राणि-जीवन अथवा विशेष रूप से मानव -जीवन की दीर्घ स्थायिता के लिए महत्त्वपूर्ण प्रयोजक मानी जाती हैं, अश्विनौ उन सबके उपकारक हैं । जब 'देव' पद से हमारे सामने विद्वान् आते हैं, तब स्पष्ट है- 'अश्विनौ' के वास्तविक जानकार, उनकी गतिविधियों को अन्तस्तल तक समझनेवाले मर्मज्ञ विद्वान् उनके सहयोग से अपने विविध रोगों- न्यूनताओं का निवारण कर मानवजीवन के स्थायित्व, सुविधाओं के वैपुल्य के रूप में उत्तम परिणामों को प्रस्तुत करने में समर्थ होते हैं। इस रूप में 'अश्विनौ' देवों के स्पष्ट चिकित्सक हैं। इसके विपरीत यदि 'अश्विनौ' किसी मूर्ख-अनजान के हाथ पड़ जाते हैं, अथवा ऐसा ही कोई उनसे खिलवाड़ करना चाहता है, तो उसे नष्ट करने में भी वे क्षण नहीं लगाते । 'अश्विनौ' के चिकित्सक-रूप को बनाये रखने में विद्वान् ही समर्थ रहता है। अश्विनौ को-देवों का चिकित्सक-कहे जाने में यही रहस्य है।

'देव' पद यदि आधिभौतिक अदृश्य शक्तियों का निर्देशक माना जाता है, तो निस्सन्देह ये 'अश्विनौ' अपने निरन्तर व निरवधिक संचार से उन औषधि-वनस्पति-गत अथवा वातावरणीय शक्तियों का हृष्ट-पुष्ट व जीवनोपयोगी बनाये रखने में महत्त्वपूर्ण योगदान द्वारा अपने चिकित्सक होने के स्वरूप को प्रमाणित करते हैं। भौतिक जगत् में जिस अनवरत अज्ञातप्राय विद्युत्-संचार-मानव -जीवनोपयोगी तत्त्व-अपने सुस्थ- स्वस्थ रूप में सदा अवस्थित रहते हैं, प्रस्तुत मन्त्र द्वारा उसी स्थिति को अभिव्यक्त करने का प्रयास हुआ है। जैसे यह स्थिति प्रच्छन्न एवं अस्पष्ट-सी रहती है, मन्त्र में पदों का प्रयोग भी प्राय: वैसा ही हुआ है। अन्य कतिपय क्लिष्ट मन्त्रों का विवेचन इस प्रकार है-

एकया प्रतिधापिबत् साकं सरांसि त्रिंशतम्।
इन्द्रः सोमस्य काणुका।। ऋग्०८/७७/४

मन्त्र की अनर्थकता दिखाने के लिए व्याख्याग्रन्थों में ऋचा के प्राय: अन्तिम चरण का उल्लेख किया जाता हैं। उतने अंश के पदों का अपना अर्थ होते हुए भी पदसमूह का कोई उपयुक्त अर्थ नहीं हो पाता, क्योंकि ऋचा के अन्य पदों के साथ सम्बद्ध होकर ही ये पद पूरे अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं। अर्थ की स्पष्टता के लिए पदों का अन्वय इस प्रकार होगा-

इन्द्रः सोमस्य त्रिंशतं काणुका सरांसि एकया प्रतिधा साकं अपिबत्।

लोकभाषा के अनुसार इसका यह अर्थ किया जा सकता है-इन्द्र सोम के भरे तीस कान्तियुक्त कुण्ड एक झटके के साथ, एक -साथ (एक सांस में) पी गया । यह अर्थ स्वत: अटपटा लगता है। इन्द्र कौन है? सोम क्या है? वे तीस कुण्ड या पात्र क्या हैं? कैसे हैं? तीस ही क्यों हैं ? न्यूनाधिक क्यों नहीं ? यह सब स्पष्ट नहीं होता। कहा जा सकता है-इन्द्र कोई बड़ा मानवाकृति देव है, सोम कोई मद्यसदृश उन्मादकारी पेय पदार्थ है, जो तीस पात्रों में भरा है। इन्द्र उसे एक-साथ एक सांस में पी जाता है। वेदार्थ के साथ वस्तुतः यह मजाक है। इस रूप में कहने को यह भले ही अच्छा न लगे, पर साधारण रूप में यह व्यवहार्य कदापि नहीं । ऐसे बेसिर-पैर के वेदार्थ को सुनकर

निश्चित ही वेद को निरर्थक बताने का साहस उभरकर ऊपर आता है।

मनीषी आचार्यों ने मन्त्र का अर्थ बताया है- वेद में 'इन्द्र' पद प्राय: द्युस्थान सूर्य के लिए प्रयुक्त हुआ माना जाता है। सूक्त के देवता इन्द्र का अपर नाम सूर्य है। सूर्य की नक्षत्रक्रान्ति प्रतिमास होती है। चित्रा नक्षत्र से विशाखा, विशाखा से ज्येष्ठा, ज्येष्ठा से अषाढ़ा आदि। प्रत्येक नक्षत्र में स्थिति का काल प्राय: दिन है। इन दिनों में सूर्य की किरणें और चन्द्रमा की ज्योत्स्ना (जो सूर्य की ही किरणें हैं) ओषधि-वनस्पतियों एवं वातावरण में जीवनी शक्तियों का संचार किया करती हैं; वही सोम है, जो तीस दिन रूपी पात्रों में ओषधि आदि आधार पर भरा जाता है। उतने दिन के अनन्तर वह क्रम एक साथ एक झटके में समाप्त हो जाता है, जैसे ही सूर्य एक नक्षत्र के क्रान्तिवृत्त को लांघकर अगले नक्षत्र के वृत्त में दिखाई देने लगता है। यही इन्द्र का त्रिंशत् पात्रों के सोम का एक-साथ पी जाना है। अगले नक्षत्रकाल के अनुसार सोमनिर्माण (त्रिंशत् पात्रगत सोमपूर्ति) का कार्यक्रम पुन: प्रारम्भ हो जाता है। सूर्य जब से चमका, और जब तक चमकता रहेगा, यही क्रम चालू रहता है। वह सोम- जीवनी शक्तियाँ, 'काणुका' हैं; पूर्ण कान्तियुक्त हैं, उनका उपयोग प्राणी के लिए कान्तिप्रद एवं जीवन का आधार है। यही सब-कुछ प्रस्तुत ऋचा में बताया गया है। इससे मन्त्र की सार्थकता स्पष्ट होती है।

मन्त्र की क्लिष्टता एवं दुरूहता के कारण निरर्थकवादी ने ऐसा एक और मन्त्र प्रस्तुत किया-

अम्यक् सा तं इन्द्र ऋष्टिरस्मे सनेम्यभ्वं मरुतो जुनन्ति। अग्निश्चिद्धि ष्मातसे शुशुक्वानापो न द्वीपं दधति प्रयांसि॥ ऋग्० १/१६९/३

सूक्त का ऋषि अगस्त्य और देवता इन्द्र होने से प्रस्तुत ऋचा के ऋषि-देवता वही हैं। ऋचा में शक्तिशाली सूर्य की मेघवृष्टि के द्वारा स्तुति के साथ उसके सहयोगी मरुतों की भी प्रशंसा की गई है-हे इन्द्र! तुम्हारी वह प्रसिद्ध शक्ति (ऋष्टि), हम प्राणियों के कल्याण के लिए उपयुक्त स्थान पर पहुंच गई है (-अम्यक्) । मेघों में भरे पुराने (-सनेमि) जलों (अभ्वं) को बरसाने के लिए अब मरुत् भी सन्नद्ध हो गये हैं। जैसे सूखे काष्ठ (-अतसे) में अग्नि दीप्त होता है, ऐसे ही तुम (इन्द्र-सूर्य) विद्युत्-रूप से मेघों में दीप्त होते हो । जल जैसे द्वीप (जलों के मध्यभूस्थल) को घेरे रहते हैं, ऐसे ही मेघों ने जलों को अपने बीच घेरा हुआ है, धारण किया हुआ है। तुम्हारी शक्ति ने मरुतों के सहयोग से वर्षा रूप में उसे पृथिवी पर प्राणियों की सुख-सुविधाओं के लिए बिखेर दिया है।

ऋतु के अनुसार सूर्य की प्रचण्ड किरण पृथिवी-आवरण के अन्तरिक्षस्थ वातावरण को प्रतप्त कर वर्षोन्मुख बना देती हैं। वैदिक वाङ्मय में 'मरुत:' पद से अन्तरिक्षस्थ अनेक वातावरणों का निर्देश अपेक्षित होता है, जिनकी कुल संख्या ४९ है। परन्तु यहां केवल उन मरुतों (वात-आवरणों) का निर्देश अभीष्ट है, जो वर्षा को लाने में सहायक होते हैं। उनको आधुनिक भाषा में मॉनसून (Monsoon) और लौकिक संस्कृत में 'पुरोवात' कहा जाता है। इन्द्र (सूर्य) और मरुतों के सहयोग से वर्षा किस प्रकार होती है, इसी का दिग्दर्शन प्रस्तुत ऋचा द्वारा कराया गया है।

कुछ मन्त्रों की रचना श्लेषमूलक प्रहेलिकात्मक शैली में देखने को मिलती हैं जिनमें असम्भव वर्णन प्राप्त होता है। अर्थ चिन्तन के उपरान्त यह देखने में आता है कि जितना अधिक असम्भव वर्णन है उतना ही अधिक मन्त्र की पहेली में चमत्कार आया है। ऋग्वेद के कुछ क्लिष्ट मन्त्र इस प्रकार हैं जिनमें यह शैली देखी जाती है-

इह ब्रवीतु य ईमङ्ग वेदास्य वामस्य निहितं पदं वेः। शीर्ष्णः क्षीरं दुह्रते गावो अस्य वव्रिं वसाना उदकं पदापुः॥ ऋग् १/१६४/७

यह मन्त्र अथर्ववेद ९/९/५ में भी पठित है।

इस मन्त्र में सिर से दूध देने तथा पैरों से पानी पीने वाली गौओं का असम्भव वर्णन है। सामान्य मन्त्रार्थ इस प्रकार है -'जो कोई इस विषय में निश्चयपूर्वक जानता है, वह बताये कि एक बड़ा ही भव्य पक्षी है, जिसने अपना पैर निहित किया हुआ है । उसके पास गौएं हैं । उसकी वे गौएं सिर से दूध देती हैं, तथा रूप को धारण करने वाली वे पैर से पानी पीती हैं ।' उक्त मन्त्र में समागत प्रहेलिका को डॉ०रामनाथ वेदालंकार ने पूर्ववर्ती भाष्यकारों को उद्धृत करते हुए कई प्रकार से स्पष्ट किया है, वे अपने शोध प्रबन्ध[५] में लिखते हैं-यह पक्षी सूर्य है[६]। जिसने द्युलोक में अपना पैर रखा हुआ है । उसकी गौएं किरणें हैं[७]। वे सिर से दूध देती हैं, अर्थात् उपरिस्थ मेघमण्डल में से वर्षा करती हैं, और फिर अपने पैरों से भूमिष्ठ पानी को पी लेती हैं, वाष्प बनाकर ऊपर ले जाती हैं ।

अथवा इस पहेली को इस रूप में घटा सकते हैं कि यह सुन्दर पक्षी 'वृक्ष'[८] है, जिसने भूमि में अपना पैर निहित किया हुआ है, अर्थात् जड़ जमायी हुई है। इस पर चढ़ी हुई लताएं इसकी गौएं हैं, जो सिर से फलरूपी दूध देती हैं, तथा पैरों (जड़ों) से पानी पीती हैं।

एक अन्य प्रकार से भी उक्त मन्त्र के अर्थ को स्पष्ट करते हुए डॉ० रामनाथ वेदालंकार ने लिखा है-शरीर में आत्मारूप पक्षी[९] की गौएं ज्ञानेन्द्रियां हैं।[१०] वे इस स्नायु जाल रूपी पैरों से बाह्य समाचार ग्रहण करती हैं, तथा सिर के मुखादि अवयवों से ज्ञानरूप दूध देती हैं। पक्षी से हृदय भी गृहीत हो सकता है, जो एक स्थान पर पैर जमाए हुए निरन्तर अपने पंख चला रहा है, गति कर रहा है । इसकी पेशियां या गौएं पैर तुल्य दो शिराओं से शरीर के अशुद्ध रक्त रूपी पानी को पीती हैं तथा फुफ्फुसों द्वारा उसे शुद्ध करा शुद्ध रक्त रूपी दूध में परिणत कर शरीर की पुष्टि के लिए बृहत् धमनि रूपी सिर से बाहर भेज देती हैं। निम्न मन्त्रों में भी उक्त शैली के दर्शन होते हैं, जिसमें छह लोकों को धारण करने वाले अज का वर्णन किया गया है-

अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान्। वि यस्तस्तम्भ षळिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्॥ (ऋग्०१.१६४.६)

यह मन्त्र अथर्ववेद ९.९.७ में भी आया है। इस मन्त्र का सामान्य अर्थ इस प्रकार है-अज्ञ मैं विज्ञ मनीषियों से एक प्रश्न पूछता हूँ। सचमुच मैं ज्ञानवर्धन के लिये पूछ रहा हूँ। विद्वान् बन कर नहीं। मैंने सुना है कि अज (बकरे) का रूप धारण किये हुए कोई एक है, जिसने इन छहों लोकों (रजांसि) का भार उठाया हुआ है। वह कौन है? डॉ० रामनाथ वेदालंकार के अनुसार[११] प्रथम यह अज (बकरा) आदित्य है।[१२] क्योंकि यह अपनी धुरी पर गति करता है तथा अन्य पृथिव्यादि ग्रहोपग्रहों को अपने चारों ओर गति करता है (अज गतिक्षेपणयोः)। इस आदित्य ने ही सौर जगत् के पृथिवी, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि इन छहों लोकों का भार उठाया हुआ है। अथवा छह ऋतुएं छह लोक हैं।[१३] जिनका सूर्य निर्माण कराता है अथवा तीन भूमियाँ और तीन द्युलोक-ये छह लोक हैं।[१४] जिनका सूर्य निर्माण करता है। अथवा तीन भूमियाँ और तीन द्युलोक में छह लोक हैं। मध्य के तीन अन्तरिक्ष इन्हीं में समाविष्ट हो जाते हैं।

दूसरे यह अज परमात्मा हैं, यतः वह कभी जन्म नहीं लेता।[१५] वह भी उक्त छहों लोकों को धारण किये हुए है। शरीर में अज यह जीवात्मा

है।[१६] वह शरीर के पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा एक मन रूपी अथवा पाँच प्राण एवं एक मनरूपी षड्लोकों का धारणकर्त्ता है। आत्मानन्द ने अज का अर्थ नित्यात्मा तथा ''षड् रजांसि'' का अर्थ रजोगुण के कार्य काम आदि षड् रिपु किया है, जिन्हें आत्मा स्तम्भित करता है।[१७]

इस तरह वेदों में अनेकों मन्त्र ऐसे हैं, जो कि दुरूह एवं क्लिष्ट प्रतीत होते हैं परन्तु यदि षडङ्गों, ब्राह्मण ग्रन्थों, स्मृतिग्रन्थों, विभिन्न शाखा ग्रन्थों आदि आर्ष-ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन किया जाये तो यह दुरूहता एवं क्लिष्टता दूर हो जाती है।

पादटिप्पणियां-

१ वैदिकज्योतिः, षाण्मासिक रिसर्च जर्नल, वेदविभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार का द्वितीय अंक

२ मीमांसादर्शन, विद्योदय भाष्य, पृ०-१०५

३ तृफ तृंफ हिंसायाम्।

४ देखो, सायण भाष्य।

५ देखो, वेदों की वर्णन शैलियाँ, पृ०५५

६ वेः गन्तुरादित्यस्य-सायण।

७ सर्वेऽपि रश्मयोः गाव उच्यन्ते-निरु०२.७

८ वृक्ष पत्ररूपी पंखों वाला होने से पक्षी है। वह भूमि में जड़ रूप पैर निहित करता है-वृक्षो वृत्वा क्षां तिष्ठतीति-निरु०२.२

९ द्रष्टव्य द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया। ऋग्०१.१६४.२०

१० इन्द्रियं वै वीर्यं गावः, शत ५.४.३.१०। गावः पशवः इन्द्रियाणि वा-दयानन्द, ऋग्०१.३८.२ का भाष्य

११ द्रष्टव्यः वेदों की वर्णन शैलियाँ, पृ० ५४

१२ अजस्य गमनशीलस्य जन्मरहितस्य वा आदित्यस्य। सायण

१३ यद् वा, षड् रजांसि त्रिविधान् द्युलोकान् त्रिविधान् भूलोकांश्च यस्तस्तम्भ। तिस्रो भूमीर्धारयन् त्रीरुत द्यून् (ऋग्०२.२७.८) इति निगमः। -सायण।

१४ अथवा षडिमानि रजांसि विविधान् द्युलोकांश्च यस्तस्तम्भ। तिस्रो भूमी अरिमन् त्रीरुतद्यून् (ऋग्०२.२७.८) इति निगमः-सायण।

१५ अजस्य जननादिरहितस्य चतुर्मुखस्य ब्रह्मणः।-सायण।

१६ द्रष्टव्यः श्वेता ४.५

१७ इमा इमानि प्रसिद्धानि कामादीनि षड् रजांसि मलानि रजोगुणकार्याणि वा।

Vaidika Vāg-Jyotiḥ
ISSN 2277-4351

Vol.1, No.1 (55-63) Jul-Dec 2012

विश्व-गणित पर वैदिक भाषा का प्रभाव

सुद्युम्न आचार्य
पूर्व रीडर-स्नातकोत्तर संस्कृत अध्ययन एवं शोध विभाग,
श्री मु०म० टाउन, पी०जी० कॉलेज, बलिया (उ०प्र०)

सर्वज्ञानमय वेद ने मानव की वाणी को सार्थकता प्रदान करने तथा शास्त्रों को सही अर्थ में वाङ्मय का रूप देने हेतु अपार शब्द राशि प्रदान की है। गणित शास्त्र के साथ भी ऐसी ही स्थिति है। विश्व गणित का विशाल सौध जिन संख्या रूपी इष्टिकाओं से निर्मित है, वे मूलतः वेदों से प्राप्त हैं।

विश्व के भाषावैज्ञानिकों ने एशिया तथा यूरोप में पाई जाने वाली भाषाओं के साथ तुलना द्वारा इस अभिमत को समान रूप से स्वीकार किया है। उन्होंने पाया कि इन भाषाओं के संख्या-शब्दों में अचरजभरी समानता है। यह अकारण नहीं हो सकती। इसे कुछ भाषाओं के साथ प्रकट करते हैं-

संस्कृत	अवेस्ता	ग्रीक	गॉथिक	लैटिन	इंग्लिश
द्वौ	dav	duo	twai	duo	two
त्रयः	tri	treis	threis	tres	three
चत्वारः	cathwar	tettares	fidwor	quattuor	four
पञ्च	panca	pente	finf	quinque	five
षष्	xsvas	hex	saihs	sex	six
सप्त	hapta	hepta	sibun	septem	seven
अष्ट	asta	okto	ohtau	octo	eight
नव	nawa	ennea	viun	novm	nine
दश	dasa	deka	tehun	decem	ten [1]

भाषा-वैज्ञानिकों ने इस तुलना के क्रम में एक अन्य भी अद्भुत विशेषता देखी। उन्होंने पाया कि जिन कुछ भाषाओं में उष्म अक्षर प्राप्त होते हैं, उनके स्थान पर अन्य कुछ सरूप भाषाओं में कण्ठ्य ध्वनि प्राप्त होती है। इसके उदाहरण के लिये उन्होंने संस्कृत के संख्यावाचक 'शतम्' को एक आदर्श शब्द माना तथा इसके आधार पर भारतीय भाषाओं को सबसे पहले 'शतम्' तथा 'केन्तुम्' (Cantin-Latin) के नाम से उपविभाजित किया। इससे स्पष्ट होता है कि विश्व के भाषा-वैज्ञानिक 'शतम्' जैसे संख्यावाचक शब्दों को सबसे प्राचीन तथा सबसे अधिक प्रसारित, अत एव परस्पर तुलनीय शब्दों में स्वीकार करते हैं।

संख्या-शब्दों की यह तुल्यता उनकी संरचना में ही नहीं, अपितु उनमें निहित भावों तथा विचारों में भी है। सुदूर देशों के लोग एक ही प्रकार के विचारों से संख्या-शब्दों का प्रयोग करते रहे हैं। उदाहरण के लिये हजार अर्थ में वैदिक 'सहस्र' शब्द को लिया जा सकता है। आज से लगभग पौने ३ हजार वर्ष पहले महान् व्युत्पत्तिकार महर्षि यास्क ने कहा कि यह शब्द बल अर्थ वाले सहस् शब्द से 'र' प्रत्यय होकर विकसित है।[2] अतः इसका मौलिक अर्थ बलशाली है। हजार संख्या सौ से अधिक कहलायी होने से इस शब्द से सूचित है। निरुक्तकार की यह व्युत्पत्ति उनकी सबसे सफल व्युत्पत्तियों में से एक है। इसका प्रमाण भारोपीय तुलनीय शब्द Seghesto-Kmtom से प्राप्त है,

जहाँ इसका अर्थ 'शक्तिशाली सौ' यह है।[२] इससे लगता है कि सुदूर देश के लोगों में भी इस प्रकार के शब्दों के प्रयोग के पीछे एक ही प्रकार की भावना काम कर रही थी।

इस प्रकार इन संख्या-शब्दों को देख कर तो ऐसा लगता है मानों पूरी दुनियाँ एक साथ इकट्ठी हो गयी हो। विश्व के इतिहास में ऐसे बहुत कम उदाहरण देखने को मिलते हैं, जिसे पूरे विश्व ने अपनाया है। आधुनिक विविधता भरे युग में, जहाँ विश्व का प्रत्येक वर्ग अपनी भाषा तथा लिपि के मूल स्वरूप को आग्रह पर्वक बनाये रखने के लिये तत्पर हो वहाँ संख्या शब्दों, उसके क्रम आदि को एक साथ स्वीकार करना 'वेदों का चमत्कार' ही है। यजुर्वेद के एक मन्त्र में एक मनोरम परिकल्पना की गयी है-

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्। (यजु० ३२.८)

अर्थात् वेन या विद्वान् पुरुष ने एक ऐसी गुफा देखी, जहाँ पूरी दुनियाँ एक घोंसला बन जाये। सचमुच संख्या-शब्द एक ऐसी ही अद्भुत गुफा है, जिसमें पूरी दुनिया सिमट कर एक घोंसला बन गयी है।

संख्या शब्दों के क्रम-निर्धारण के लिए पद्धतियाँ-

वेद में संख्याओं के सुनिश्चित क्रम के लिये आवश्यकतानुसार अनेक विशिष्ट पद्धतियों का उपयोग किया गया है। यह उल्लेख बहुत महत्त्वपूर्ण है कि वैदिक शब्दों के निर्वचन से इन सभी पद्धतियों के अपनाने की स्पष्ट सूचना प्राप्त होती है। इनका क्रमिक विवरण इस प्रकार है-

१. दश गुणोत्तर पद्धति-यजुर्वेद के एक मन्त्र में यज्ञवेदि के लिये चुनी गयी ईंटें तथा गायों की गणना के लिये एक, दश, शत आदि क्रम से अतिविशाल संख्याओं के नाम दिये हैं।[३] इसमें सबसे बड़ी संख्या 'परार्ध' है जो दस खरब अथवा 10^{12} के समतुल्य है। ये उल्लिखित शब्द प्रत्येक पिछली संख्या के सापेक्ष अगली संख्या के दशगुणित मान को संसूचित करते हैं। अतः संख्या-शब्दों का यह क्रम दशगुणोत्तर-पद्धति के आधार पर विकसित है।

निरुक्तकार की व्युत्पत्ति से सर्वथा है कि ये संख्या-शब्द इसी अवधारणा से परिचालित हैं। उनका एक सफल निर्वचन इस प्रकार है-

शतं दश दशतः-निरु० ३.१०

दशगुणोत्तर पद्धति से संख्या लेखन-इस विलक्षण पद्धति की यह विशेषता है कि इसमें प्रत्येक पिछले अंक अगले अंक के सापेक्ष दशगुणित मान को संसूचित करते हैं। यह संख्याओं के स्थानीय मान (Place Value) के सिद्धान्त पर आधारित है। विद्वानों में इस तथ्य को लेकर मतभेद है कि इस पद्धति के अनुसार संख्या लेखन कब से प्रारम्भ हुआ। निरुक्तकार की व्युत्पत्ति से संकेत मिलता है कि उनके समय यह पद्धति प्रचलित थी। उनका एक निर्वचन इस प्रकार है-

दश दस्ता-निरुक्त ३.१०

अर्थात् 'दश' नाम इसलिये है, क्योंकि इस संख्या तक संख्या-लेखन के लिये अंक परिपूर्ण हो जाते हैं। इसके पश्चात् किसी भी बड़ी संख्या को लिखने हेतु इन्हीं अंकों की पुनरावृत्ति की जाती है।[४] यह स्थिति केवल इसी पद्धति द्वारा सम्भव है। अन्य किसी भी पद्धति में इससे अधिक अंकों की अनिवार्य आवश्यकता होती है। यद्यपि विद्वानों ने शिलालेखों, हस्तलेखों के सूक्ष्म अध्ययन से यह परिज्ञात किया है कि उस समय 20, 30 आदि संख्याओं के लिये भी अलग-अलग चिह्न नियत थे।[५] पर निरुक्त के इस वचन से स्पष्ट संकेत मिलता है कि उस समय स्थानीय मान के अनुसार भी संख्या लेखन अवश्य प्रचलित था।

यद्यापि इसे प्रकट करने वाले लेख इस समय विलुप्त हो चुके हैं।

प्राचीन परिपाटी के प्रचलन में उस समय के विवरणों को भी अवश्य आधार बनाया जाना चाहिये। प्राय: दूसरी ईसवी शताब्दी में विरचित योगसूत्र व्यास भाष्य में कहा है कि 'एक ही रेखा सौ के स्थान पर १०० का तथा दस के स्थान पर १० अर्थ प्रदान करती है।[६] क्या इस विवरण के रहते हुए भी हमें स्थानीय मान के प्रचलन का इस आधार पर निषेध करना चाहिये कि उस समय इस पद्धति पर आधारित संख्याओं के शिलालेख प्राप्त नहीं होते? वस्तुत: निरुक्तकार के विवरण के अनुसार भी उस समय स्थानीय मान के प्रचलन को स्वीकार करना समुचित है।

२. दशैकादिगुणोत्तर पद्धति-वेद में २०, ३० आदि के लिये विंशति त्रिंशत् आदि शब्द हैं। पाणिनि ने एक सूत्र में विंशति से शत संख्याओं का क्रमबद्ध उल्लेख किया है।[७] ये संख्याएं 'दशैकादिगुणोत्तर पद्धति' से विकसित हैं। निरुक्तकार की व्युत्पत्ति से स्पष्ट है कि ये निश्चय ही इस अवधारणा से परिचालित हैं। उनके द्वारा विंशति का निर्वचन इस प्रकार है।

विंशतिर्द्विर्दशत:-निरु०३.१०

अर्थात् विंशति शब्द दो बार 10 के कारण प्रयुक्त है। इस प्रकार इस शब्द में $2 \times 10=20$ यह गणितीय संक्रिया सन्निहित है। रोमन संख्याएं जो केवल एक हजार तक सीमित हैं, वे इस संक्रिया से परिचालित नहीं हैं।

३. दशैकादिगुणयोगोत्तर पद्धति-यजुर्वेद के एक मन्त्र में एकादश, त्रयोदश, पञ्चदश आदि विषम संख्याएं क्रमबद्ध रूप से उल्लिखित हैं।[८] ये संख्यायें 'दशैकादिगुणयोगोत्तर-पद्धति' से विकसित हैं। महावैयाकरण पाणिनि ने द्वन्द्व समास द्वारा योग की क्रिया संकेतित करते हुए इन्हें अनुशासित किया है। इस प्रकार पञ्चविंशति आदि शब्दों में 10 का 2 के साथ गुणनफल का 5 के साथ योग की संक्रिया अन्तर्निहित है। वेद में इस क्रम को आगे बढ़ाते हुए शतैकादि गुणयोगोत्तर पद्धति के अनुसार 720 के लिये 'सप्तशतानि विंशति:' जैसे प्रयोग प्रदान किये हैं।[९]

संख्याओं के इस वैज्ञानिक क्रम में इन तीनों पद्धतियों के उपयोग के साथ-साथ गणित के क्रमचय (permutation) का आवर्तन (repetition) के बढ़िया उदाहरण प्राप्त होते हैं। आगे चलकर भारतीय गणितशास्त्र में 'अंकपाश' के अन्तर्गत इन विधाओं का बहुत विकास किया गया।

तृतीय उपभेद के द्विविध प्रकार

वेदों में 'योग का क्रम-विनिमेय गुण' (Commutative law of addition) नामक गणितीय नियम के आधार पर तृतीय उपभेद की संख्याओं के लिये दो प्रकार के सम्बोधन प्रदान किये हैं। यथा-

क. एकादिपूर्व दशाद्युत्तर-इसके उदाहरण पूर्व उल्लिखित मन्त्र में एकादश, त्रयोदश आदि हैं। संस्कृत की संख्यामाला प्राय: इस पद्धति का अनुसरण करते हुए निर्मित है। इंग्लिश में भी fifteen, sixteen आदि शब्दों में इस पद्धति के चिह्न देखे जा सकते हैं।

इनमें भी नवपूर्व संख्या शब्दों के लिये पुन: दो प्रकार के प्रयोग आदिष्ट किये गये हैं। प्रथम के लिये वेद के नवविंशति, नवाशीति, नवनवति आदि उदाहरण हैं। इनका अनुसरण करते हुए हिन्दी में नवासी, निन्यानवे जैसे प्रयोग प्रचलित हुए हैं।

दूसरे प्रकार के प्रयोग **'ऊन'** शब्द के द्वारा विकसित किये गये हैं। वेद में पूर्ण के विपरीत ऊन का न्यून अर्थ आदिष्ट किया गया है।[१०] इसके आधार पर एकोनविंशति जैसे शब्दों का प्रयोग प्राप्त है।[११] इसका अनुसरण करते हुए हिन्दी में उन्नीस, उन्तीस आदि शब्द विकसित हुए हैं।

आगे चलकर पाणिनि ने इसके लिये **एकान्नविंशति** शब्द के प्रयोग की भी सूचना दी है। इसका आसान विग्रह '**एकात् न विंशति**' तथा इस प्रकार 'एक के कारण बीस नहीं' यह अर्थ हो सकता है। पर इस अर्थ में 'प्रसज्य प्रतिषेध से निर्मित एक शब्द संज्ञावाचक नहीं हो सकता' इस व्याकरणिक स्थिति के कारण उन्होंने इस शब्द को 'अदुक्' आगम द्वारा अनुशासित किया है।[१२]

ख. **दशादिपूर्व एकाद्युत्तर**-वेद में इस उपभेद के उदाहरण कम हैं। एक मन्त्र इस प्रकार है-

इन्द्रो॑ दधी॒चो अ॒स्थभि॑र्वृ॒त्राण्यप्र॑तिष्कुतः। ज॒घान॑ नव॒तीर्नव॑॥ ऋग्०१.८४.१३॥

यहाँ दशनवगुणित संख्या को पहले तथा नव का बाद में प्रयोग किया गया है। इंग्लिश की संख्या-माला में इसका अधिकांश प्रयोग करते हुए Twenty One आदि संख्यायें विकसित हैं।

वेदों में शून्य का प्रयोग

दशगुणोत्तर पद्धति से संख्या लेखन के लिये शून्य अंक के किसी चिह्न का प्रयोग अनिवार्य है। वेद में शून्य शब्द वर्तमान है। ग्रीक में इसका प्रतिरूप केन्योस् (Kenyos) प्राप्त होने से इस शब्द की व्यापकता स्पष्ट है। पर वेद में इसका अंक के रूप में किसी चिह्न के साथ किस प्रकार उपयोग हो सकता है, इसका उल्लेख नहीं है। जैसा कि ऊपर कहा गया, दश के निर्वचन में यह संकेत अवश्य है कि ९ के पश्चात् एक अन्य अंक भी है, जिसका उपयोग करने पर बड़ी से बड़ी संख्या लिखी जा सकती है। वेद में शून्य शब्द इस प्रकार है-

शू॒न्यै॒षी निर्ऋ॑ते॒ याज॒गन्थोत्ति॑ष्ठाराते॒ प्र प॑त॒ मेह रं॑स्थाः॥ अथर्व०१४.२.१९॥

यहाँ **शून्यैषी** का अर्थ उस स्थान में अनुपलब्ध वस्तु को चाहने वाला है। इस शब्द की वास्तविक व्युत्पत्ति द्वारा भी इसकी अनेक विशिष्टताएं प्रकट होती है। पर वार्तिकार ने '**घटं भित्त्वा परं छित्त्वा**' द्वारा किसी किसी प्रकार सिद्ध करने के आवेश में इसे कुत्ते अर्थ वाले श्वन् शब्द से हित अर्थ में यत् प्रत्यय होकर व्युत्पन्न बताया है।[१३] यहाँ कोई पूछ सकता है कि शून्य या एकान्त किस प्रकार कुत्ते का हित साधन करता है।

इस शब्द की बढ़िया व्युत्पत्ति के संकेत वैदिक साहित्य से प्राप्त होते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों तथा उपनिषदों में सृष्टि-प्रक्रिया का वर्णन करते हुए कहा है कि पहले असत् ही था। वह सत् हुआ तथा अण्ड बना। वह साल भर तक बढ़ता रहा तथा उसके बाद फूट कर रजत वर्ण की पृथिवी तथा सुवर्ण वर्ण के द्युलोक के रूप में विभक्त हो गया।[१४] इससे दूर-दूर तक खाली स्थान आकाश परिव्याप्त हो गया।

इस बढ़ने तथा सूजने आदि अर्थ में शूनं शब्द का प्रयोग वेदों में प्राप्त है।[१५] पाणिनीय व्याकरण के अनुसार यह शब्द सूजने अर्थ वाली श्वि धातु से भूतकाल में क्त प्रत्यय होकर निर्मित है। इन वर्णनों को मिलाकर देखने से इसकी यह व्याख्या सर्वाधिक सुसंगत प्रतीत होती है। आगे महावीराचार्य आदि गणित के विद्वानों ने भी इसे आकाश से सम्बद्ध करते हुए आकाश के पर्याय शब्दों के शून्य के नाम बताये हैं।[१६]

दर्शनशास्त्र में आकाश कोई स्थान हीं घेरता। उसे खाली स्थान के रूप में समझा जाता है। फिर भी वह अलग नाम वाले भाव पदार्थ के रूप में माना जाता है। वह अन्य पदार्थों को प्रतिष्ठित करता है। वह विभु या ऐसा व्यापक है जिसकी कोई सीमा नहीं, इस प्रकार वह अनन्त है।

गणितशास्त्र में शून्य के लिये तथा इससे दशगुणोत्तर पद्धति के विकास के लिये इस आकाश

से प्रेरणा प्राप्त हुई है। शून्य को खाली या अभाव रूप मानने पर भी इसका अलग नाम तथा अलग प्रतीक चिह्न है। वेद में आकाश या अवकाश से परिपूर्ण गोल छिद्र के लिये 'ख' का प्रयोग प्राप्त है।[२७] इसके आधार पर गणित में शून्य के लिये गोलाकार प्रतीक विकसित हुआ है।

दशगुणोत्तर संख्या पद्धति में उल्लिखित यह प्रतीक उस स्थान पर किसी भी संख्या के अभाव की सूचना देता है। फिर भी वह अपने साथ की संख्या के मान को बदलने की क्षमता रखता है। १ की दशगुणज तथा उसकी वर्ग, घन इत्यादि संख्याओं के लेखन के लिये दाहिने ओर क्रमशः शून्यों की संख्या बढ़ती जाती है तथा ये शून्य क्रमशः दशगुणित तथा इसके उत्तरोत्तर वर्धमान मान की सूचना देते हैं।

गणितशास्त्र के विद्वानों ने यह भी देखा कि किसी संख्या को शून्य से विभाजित करने पर उसके मान को किसी भी शब्द या किसी भी प्रतीक द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता। यह मान अनन्त (Infinite) होता है। भास्कराचार्य ने इसे पारिभाषिक रूप में 'खहर' नाम दिया है।[२८] इस पर किसी भी संख्या के साथ योग, व्यकलन आदि संक्रियाओं से कोई परिवर्तन नहीं आता। आधुनिक गणित में भी माना है कि संख्या को शून्य से विभाजित करने की संक्रिया से प्राप्त परिणाम सर्वथा अपरिभाष्य होता है।[२९] भारतीय गणित में इस अनन्त की संकल्पना के लिये भी आकाश से प्रेरणा प्राप्त हुई है।

वैदिक संख्या शब्दों का संरक्षण

एशिया तथा यूरोप में विकसित भाषाओं ने अपनी-अपनी सुविधानुसार वैदिक संख्याओं की ध्वनियों का संरक्षण किया है। इस प्रकार इन सभी भाषाओं को अपनी रीति से इन शब्दों की सुरक्षा का श्रेय प्राप्त है। उदाहरणतः संस्कृत में सप्तन्, नवन् इत्यादि नकारान्त प्रातिपदिक हैं। महर्षि पाणिनि ने षट् संज्ञा का विधान करते हुए इन्हें इस रूप में स्वीकार किया है।[३०] पर संस्कृत विभक्तियों में कहीं भी विभक्ति के स्थान में ऐस् आदेश नहीं होता। 'दशसु' में दश के अन्तिम अकार के स्थान में एकार नहीं होता। इससे प्रातिपदिक में नकार का अस्तित्व, परन्तु रूपों में इसका विलोप सूचित होता है।

यूरोप की लैटिन इंग्लिश आदि भाषाओं ने नवन्, दशन् के क्रमशः अन्तःस्थ, उष्म अक्षर, व, श की नहीं अपितु अन्तिम नकार ध्वनि को सुरक्षित रखा है। जैसा कि इनके लिये प्रयुक्त nine, ten शब्दों से प्रकट है।

वेद में २० संख्या के लिये विंशति शब्द प्राप्त है। महर्षि यास्क ने अपनी व्युत्पत्ति में बताया है कि यहाँ द्वि शब्द के दकार का लोप हो गया है। इंग्लिश के Twenty शब्द से इस धारणा की पुष्टि होती है। इस शब्द से यह ज्ञात होता है कि कभी वैदिक भाषा में **द्विंशति** शब्द भी जीवित था। इसीलिये इंग्लिश शब्द के प्रारम्भ में टकार ध्वनि आ गयी है। इस तुलना से 'विंशति' शब्द की व्याख्या सुसंगत हो जाती है। इस व्याख्या के होने पर पाणिनि के **पंक्तिविंशति**...पा०सू० ५.१.५९ सूत्र में व्याख्याकारों द्वारा किसी किसी प्रकार बलपूर्वक सिद्ध करने के आवेश में विन् आदेश और शतिच् प्रत्यय करने की आवश्यकता नहीं होती।[३१] अपितु द्वि+दशत्+ति इस विग्रह के अनुसार दकार लोप की आवश्यकता होती है। इस दृष्टि से महर्षि यास्क की पूर्वोक्त व्युत्पत्ति सर्वथा सुसंगत है।

पूरणार्थक शब्दों का ध्वनि संरक्षण-महर्षि पाणिनि ने लोक-प्रचलन के अनुसार कहीं थ तथा कहीं म ध्वनि वाले प्रत्यय द्वारा पूरण अर्थ वाले शब्दों को अनुशासित किया है। इस प्रकार एक ओर चतुर्थ, षष्ठ जैसे शब्द, दूसरी ओर पञ्चम, सप्तम आदि मकारयुक्त शब्दों का प्रयोग होता है। पर इंग्लिश में सर्वत्र थकारयुक्त ध्वनि वाले fifth, seventh शब्द प्रयुक्त होते हैं। वेदों से यह ज्ञात होता है कि ये वस्तुतः वैदिक प्रयोग हैं। वेदों में **पञ्चथः, सप्तथः** का उल्लेख प्राप्त होता है।[२२]

इससे सिद्ध होता है कि यूरोप की भाषाओं ने वेदों की थकार ध्वनियों की, जब कि संस्कृत ने मकार की सुरक्षा प्रदान की है। इस प्रकार दोनों को वैदिक ध्वनियों की सुरक्षा का श्रेय प्राप्त है।

वैदिक संख्याओं से निर्मित लाक्षणिक शब्द

वैदिक संख्याओं से कालक्रमानुसार ऐसे शब्द निर्मित हुए जो मूलतः संख्या से सम्बद्ध होकर भी किसी अन्य लाक्षणिक अर्थ को प्रकट करने लगे। इस प्रकार के रोचक शब्दों में एक 'चतुर' शब्द है। इसका क्रमशः विकास इस प्रकार है-

महर्षि पाणिनि ने द्यूत-क्रीडा करने वालों के लिये न या सु पूर्वक चतुर् शब्द से अचतुर, सुचतुर आदि शब्दों का अनुशासन किया है। उनके अनुसार यदि किसी के चार पासे एक समान पड़े तो वह विजय के पर्याप्त निकट होने से 'सुचतुर' कहा जाता है।[२३] इसे भी अन्य स्थान में **'परमेण चतुष्परि'** कहा गया है।[२४] पर इससे विपरीत स्थिति में हारने वाला खिलाड़ी 'अचतुर' से सम्बोधित होता था। यह शब्द नञ् पूर्वक चतुर् शब्द से समासान्त अच् प्रत्यय द्वारा निष्पन्न होता था।[२५]

कालक्रमानुसार यह शब्द मूर्ख अर्थ में रूढ़ हो गया। तब इसमें से निषेधार्थक अकार को हटाकर होशियार अर्थ में चतुर का प्रयोग होने लगा। इस स्थिति में अब इसका चार संख्या से कोई मतलब नहीं रह गया।

यद्यपि उणादिसूत्र में चत् धातु से उरन् प्रत्यय द्वारा चतुर शब्द की सिद्धि की गयी है। पर यह शब्द को सिद्ध करने मात्र के लिये कृत्रिम व्युत्पत्ति है। इससे शब्द विकास के क्रम पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। इस सिद्धि में याचना अर्थ वाली चत् धातु का 'चतुर' से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस धातु का प्रयोग वेद में बहुलता से है। पर लौकिक संस्कृत में यह लगभग विलुप्त है। इस स्थिति में उपरिलिखित क्रम से इस शब्द का विकास समुचित प्रतीत होता है।

पञ्च से निर्मित होने वाले लाक्षणिक शब्दों में एक 'पंक्ति' शब्द है। यहाँ पंक्ति का पञ्च से कोई सीधा सम्बन्ध न होने से व्याख्याकारों ने इसकी व्याख्या में हार मान ली है। उनका कहना है कि किसी किसी प्रकार से इसे सिद्ध कर देना चाहिये।[२६] अतः शब्दों के विकासक्रम में इसकी व्याख्या समुचित प्रतीत होती है।

वेद में मनुष्यों के ५ प्रमुख वर्गों के लिये पञ्चजन का प्रयोग है। आगे चलकर पद के स्थान पर पदार्थ के प्रयोग के सिद्धान्त के अनुसार अकेले पञ्च तथा केवल जन का भी मनुष्य के लिये प्रयोग हुआ। सामान्य भाषा में 'हम लोग' अर्थ से 'हम पञ्चें' का प्रयोग इसी धारणा को पुष्ट करता है। इस प्रकार लाक्षणिक रूप से सामान्य मनुष्य अर्थ वाले पञ्च शब्द से उनके क्रम के लिये पंक्ति शब्द निष्पन्न होता है।

यूरोप से 'पञ्च' शब्द तथा अंगुलि के प्रतिरूप से निर्मित शब्द से Finger का विकास हुआ है। मुट्ठी अर्थ में fist भी पञ्च से विकसित है।

वैदिक शब्दों में प्रतिबिम्बित गणितीय संक्रियाएं-

वैदिक संख्या शब्दों में योग, व्यकवलन तथा गुणन के संकेत का विवरण ऊपर दिया जा चुका है। 'पाद' शब्द के लाक्षणिक अर्थ में भाग संक्रिया के संकेत प्राप्त होते हैं। इसका मूल अर्थ पैर है। पशुओं का एक पैर चारों पैरों का एक चौथाई है। अत: यह शब्द इस अर्थ में लाक्षणिक रूप से प्रयुक्त है। इसे निरुक्तकार यास्क ने स्पष्ट रीति से समझाया है।[२७] यहाँ उन्होंने भाषा विज्ञान का यह नियम समझाया है कि सादृश्य से नए लाक्षणिक अर्थ विकसित होते हैं।

इस शब्द के इस अर्थ के आधार पर गणित के अनेक शब्द विकसित हैं। जैसे पादोन > पौना, सपाद > सवाया इत्यादि। स्वयं पाणिनि ने चाँदी के कार्षापण के चौथाई सिक्के के लिये पाद शब्द का प्रयोग किया है।[२८] यह सिक्का 'पादांश' के रूप में प्रयुक्त होकर पश्चात् काल में 'पैसा' के रूप में विकसित हुआ।

इसी प्रकार 'शफ' शब्द पशुओं के खुर के लिये प्रयुक्त होता है। उनका एक खुर सभी खुरों का 1/8 होने से यह शब्द इस अर्थ में विकसित हुआ है।[२९]

वेद में कोण के लिये अश्रि का प्रयोग प्राप्त है। साथ ही चार कोणों वाले वर्ग के लिये 'चतुरश्रि' भी उपलब्ध है।[३०] इसकी चारों रेखाओं के समान होने से वर्ग क्षेत्रफल वाला पदार्थ सममित समझा गया। पाणिनि ने इसके लिये 'चतुरश्र' इस विशेष शब्द की सूचना दी है।[३१] आगे चलकर लौकिक संस्कृत में यह प्रत्येक आर्जव या सीधापन के लिये प्रयुक्त होने लगा। इससे निर्मित 'चौरस' शब्द इसका ही संसूचक है।

नाप के मात्रकों के लिये वैदिक शब्द-

वेद में अंगुलि से नाप के आधार पर इसका प्रयोग है। आगे चलकर पाणिनि ने बताया है कि लकड़ी आदि के विस्तार को मापने के लिये समास में अंगुल का प्रयोग होता है।[३२] यह शब्द असमस्त रूप में आज भी जीवित है।

इससे बड़ी नाप के लिये हस्त का उपयोग होता है। अत: यह शब्द वेद में लाक्षणिक रूप से नाप के मात्रक के रूप में भी प्रयुक्त होता है।[३३] आगे चलकर गणित में श्रीधराचार्य आदि ने इसे २४ अंगुल मात्रक के रूप में प्रसिद्ध बताया है। वार्तिककार कात्यायन ने ऐसे जिन शब्दों को मात्रच् प्रत्यय का लोप करके सिद्ध किया है[३४], वे वास्तव में लाक्षणिक शब्द हैं। महर्षि पाणिनि ने अर्थ परिवर्तन की इस स्वाभाविक प्रक्रिया को ध्यान में रखकर इनका अलग से विधान नहीं किया है। इस प्रक्रिया से हाथ शब्द नाप अर्थ में भी आज भी जीवित है।

वेद में पैर के आधार पर नाप के लिये भी 'पाद' शब्द का प्रयोग प्राप्त है। शूल्व सूत्रों में इसकी नाप स्थिर कर दी गयी है। उनके अनुसार १५ अंगुल का पाद तथा इस प्रकार २ पाद का प्रक्रम ३० अंगुल का होता है।[३५] विदेशों में भी पैर के आधार पर नाप बहुत लोकप्रिय हुई। अत: वहाँ मूलत: पैर के लिये प्रयुक्त foot शब्द दूरी के मात्रक के रूप में भी पर्याप्त प्रचलित है।

इस लघु लेख से प्रकट है कि विश्व-गणित के लिये अनेकानेक वैदिक शब्दों का बहुमूल्य योगदान प्राप्त हुआ है।

पाद-टिप्पणियां-

१ सहस्रं सहस्वत्-निरु०३.१.०

२ It is a wonderful etymology, entirely accepted by comparative

philology , for the word has been traced to indo-Europion 'segheslo-kmtom, 'the powerful hundred-The Etymologies of Yaska by Dr. S.Verma, Page-4.

३ इमा मे अग्न इष्टका धेनवः सन्त्वेका च दश च दश च शतं च शतं च सहस्रं च सहस्रं चायुतं चायुतं च नियुतं च नियुतं च प्रयुतं चार्बुदं च न्यर्बुदं च समुद्रश्च मध्यं चान्तश्च परार्धश्चैता मे अग्न इष्टका धेनवः सन्त्वमुत्रामुष्मिँल्लोके॥ यजुर्वेद १७.२; शतं दश दशतः-निरु०३.१०

४ दशतन् ten is traced to be दस to be exhausted, so called because after the numbers are generally only the repetitions of the previous numbers-The Etymologies of Yaska. Page 24

५ मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, गौरी शंकर हरीचन्द ओझा, पृ०८६

६ यथैका रेखा शतस्थाने शतं दशस्थाने दशैकं चैकस्थाने। योग०सू०३.१३ पर व्यासभाष्य।

७ पंक्तिविंशतित्रिंशच्चत्वारिंशत्......पा०अ०सू०५.१.५९

८ यजु०१८.२४

९ आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः। ऋग्०१.१६४.११

१० दूरे पूर्णेन वसति दूर ऊनेन हीयते-अथर्व०१०.८.१५

११ एकोनविंशतिः स्वाहा-अथर्व०१९.२३.१६

१२ एकादिश्चैकस्य चादुक्-पा०सू०६.३.७६

१३ शुनः सम्प्रसारणं वा च दीर्घत्वम्-पा०सू०५.१.२ पर वार्त्तिक।

१४ असदेवेदमग्र आसीत्। तत्सदासीत् तत्समभवत्, तदाण्डं निरवर्तत। तत्संवत्सरस्य मात्रामशयत, तन्निरभिद्यत, ते अण्डकपाले रजतं सुवर्णं चाभवताम्। तद्यद्रजतं सेयं पृथिवी यत्सुवर्णं सा द्यौः छां०उप०३.१९

१५ मा शूने भूम सूर्यस्य संदृशि-ऋग्०१०.३७.६

१६ आकाशं गगनं शून्यमम्बरं खं नभो वियत्-गणितसार संग्रह।

१७ खे अराँ इव खेदया-ऋग्०८.७७.३

१८ खहारो भवेत् खेन भक्तश्च राशिः-भास्करीय बीजगणित, धनर्ण षड्विधम्, श्लोक ३

१९ Division bye zero is prohibited, for this operation is undefined-Scientific Encyclopedia U.S.A. on the word 'zero'.

२० ष्णान्ताः षट्-अष्टाध्यायी सूत्र १.१.२४

२१ द्वयोर्दशतोर्विन्भावः शतिच्च प्रत्ययः-पा०सू०५.१.५९

२२ सरस्वती सप्तथी सिन्धुमाता-ऋग्०७.३६.६ तथा काठकसंहिता ९.३

२३ शोभनानि चत्वारि यस्य स सुचतुरः-पा०सू०५.४.७७ पर काशिका।

२४ पा०सू०२.१.१० पर काशिका।

२५ पाणिनीय अष्टाध्यायी सूत्र ५.४.७७

२६ ....ते यथाकथंचिद् व्युत्पाद्याः। पा०सू०५.१.५९ पर काशिका।

२७ पशुपादप्रकृतिः प्रभागपादः। प्रभागपादसामान्यादितराणि पदानि-निरु०२.७।

२८ पणपादमाषशताद् यत्-पा०सू०५.१.३४

२९ शफशः-पंचविंश ब्राह्मण-१५.१.८

३० त्रिरश्रिं हन्ति चतुरश्रिरुग्रो-ऋग्०१.१५२.२

३१ सुप्रातसुश्वसुंदिव...........पा०सू०५.४.१२०

३२ तत्पुरुषस्यांगुले...........पा०सू०५.४.८६

३३ अदि॑तिर्हस्तां॑ स्रुच॑मे॒तां द्वि॒तीयां॑ सप्तऋ॒षयो॑ भूतकृ॒तो यामकृ॑ण्वन्‌-अथर्व०११.१.२४

३४ प्रमाणं लो वक्तव्यः-पा०सू०५.१.३७ पर वार्त्तिक।

३५ पदं पञ्चदश बौधायन शुल्वसूत्र १.९., द्विपदः प्रक्रमः, वही १.१५

Vaidika Vāg-Jyotiḥ
ISSN 2277-4351

Vol.1, No.1 (64-75) Jul-Dec 2012

अथर्ववेद संहिता में नीति-विश्लेषण

शशि तिवारी

पूर्व विभागाध्यक्ष, संस्कृतविभाग, मैत्रेयी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

नीतिशास्त्रनिर्माता मनु ने 'धर्म' को जानने के चार साधन बताये हैं- श्रुति, स्मृति, सदाचार और अन्तरात्मा का निर्णय[१]। तदनुसार भारतीय नीति ज्ञान का चरम प्रमाण वेद हैं और वेदों में विहित नियम ही सर्वोच्च नैतिक मानक हैं। कर्मों के औचित्य और अनौचित्य से सम्बद्ध जो उपदेश वेदों में दिये गये हैं, उन्हीं को विस्तार से स्मृतिकारों ने प्रतिपादित किया है। रामायण, महाभारत आदि इतिहास ग्रन्थों ने महापुरुषों के आचरण द्वारा उन्हें ही परिपुष्ट किया है। किन्हीं विशेष स्थितियों में मनुष्य के कर्त्तव्याकर्त्तव्य के निर्धारण में अन्तरात्मा का निर्णय भी सहायक हो सकता है। महाभारत ने वेद, स्मृति और रूढ़ आचार को नैतिकता का स्रोत बताया है।[२] पुरुषार्थानुशासन में कहा गया कि 'धर्मब्रह्मणी वेदैकवेद्ये'[३] अर्थात् धर्म और ब्रह्म एकमात्र वेद द्वारा ही जानने योग्य हैं। यह सत्य है कि भारतेतर देशों और हिन्दू धर्म से भिन्न अन्य भारतीय बौद्धादि धर्मों के लिये 'वेद' नीति का परम प्रमाण नहीं है, फिर भी निर्विवाद रूप से वेदों में भारतीय नैतिक चिन्तन का महास्रोत उपलब्ध है। वैदिक साहित्य से ही भारतीय ज्ञान एवं संस्कृति की शाश्वत और अविच्छिन धारा आज तक प्रवाहित हो रही है, इसीलिये भारतीय नैतिक विचारों के मूल और चिन्तन स्वरूप का दर्शन वेदों में सम्भव है। कालान्तर में ही मनुष्य द्वारा सामाजिक व्यवहार के अनुरूप नीति विषयक विचारों में विकास और परिवर्तन हुए हैं।

भारतीय नीतिशास्त्र के इतिहास के लेखक का मत है कि 'वेदों में कहीं भी जनसाधारण की समझ में आने वाली और मानव मात्र के लिये धर्म की व्याख्या नहीं मिलती। ऋत और सत्य की महिमा तो जरूर कहीं-कहीं वर्णन की गयी है। पर धर्म क्या है? उसके क्या-क्या नियम हैं और क्यों उनका पालन करना चाहिये? उसके पालन का क्या परिणाम होता है? इस प्रकार का उपदेश वेदों में नहीं मिलता है।[४] निश्चय ही वेद नीतिशास्त्रविषयक ग्रन्थ हैं, क्योंकि न इनमें सिद्धान्त रूप से 'नीति' की व्याख्या की गयी है और न ही यहाँ नैतिक नियमों का वैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण किया गया है, तथापि अपने विशेष विषय के प्रतिपादक वैदिक ग्रन्थ की एकमात्र तत्कालीन आर्यों के नीति सम्बन्धी विचारों और उनके द्वारा निर्धारित नैतिक आदर्शों को जानने का मूल आधार है। एतदर्थ प्रत्येक ग्रन्थ का सूक्ष्म परिशीलन अपेक्षित है। निदर्शनार्थ अथर्ववेद ही वैदिक नीति के विविध पक्षों का प्रकाशक है। यहाँ अथर्ववेद की संहिता के आधार पर अथर्ववैदिक आर्यों के नीतिपरक विचार एवं मान्यताएँ अध्येय हैं।

'नीति' शब्द प्रापणार्थक √नी धातु से व्युत्पन्न है, अतः इसका अर्थ है-प्रापण अर्थात् एक मार्ग से किसी व्यक्ति विशेष को दूसरे मार्ग पर ले जाना या पहुंचाना। यदि कोई व्यक्ति स्वयं ही उचित मार्ग पर वर्तमान हो, तो उसे दूसरे मार्ग पर ले जाने की

क्रिया ही वस्तुतः 'नीति' है। 'नीति' बताती है कि जीवन को लक्ष्य की ओर किन-किन नियमों के पालन से ले जाया जा सकता है। नीति का उद्देश्य 'अभ्युदय' है। तभी शुक्रनीति में नीतिशास्त्र को 'सर्वाभीष्ट' और सम्पूर्ण लोकव्यवहार की स्थिति का आधार कहा गया है।[५] नीति के विशेष रूप से दो भाग हैं-सामान्य नीति और राजनीति। मनुष्यमात्र के लिये उपादेय नीति सामान्यनीति है, तो राज करने वालों के लिये निर्दिष्ट नीति राजनीति है। साधारणतया सामान्य नीति के विवेचन के तीन पक्ष हैं-मानव जीवन के लक्ष्य क्या होने चाहिये। मनुष्य का क्या कर्त्तव्य होना चाहिये? उसका स्वभाव कैसा होना चाहिये?

जीवन का लक्ष्य-

किसी व्यक्ति या समाज की नीति के अध्ययन में सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि उसके जीवन में व्याप्त अथवा निहित लक्ष्य या आदर्श क्या हैं? सामान्य रूप से मानव जीवन के तीन लक्ष्य माने गये हैं-सत्य, शिव और सुन्दर[६]। नैतिकता का चरम लक्ष्य सुख है।[७] सुख इच्छा का तात्कालिक विषय नहीं है, वरन् इच्छा की तृप्ति पर प्राप्त होने वाला परिणाम है।[८] अतः अथर्ववैदिक आर्यों की इच्छाओं को कामनाओं से उनके द्वारा मान्य 'सुख' या जीवन लक्ष्य के स्वरूप का अनुमान किया जा सकता है। प्रायः मनुष्य द्वारा इष्ट ही पुनः पुनः अभिलषित होता है। अथर्ववैदिक आर्यों के प्रधान जीवन ध्येय सुख और शान्ति ही थे। जीवन में सुख और शान्ति के लिए जिन-जिन वस्तुओं या परिस्थितियों की आवश्यकता होती है, उनकी अधिकांश प्रार्थनाएं तद्निमित्त हैं। कितनी ही प्रार्थनाएं सामान्य सुख के लिये हैं यथा हमें सुखी करो?[९] हमें सुख और अभय हो।[१०] अथर्ववेद के शिव,[११] स्वस्ति[१२], भद्र[१३], शम्[१४], श्रेयस्[१५] आदि शब्दों के द्वारा कल्याण और सुख काम्य हैं। अथर्ववेद में प्रार्थना है कि वेद, कुल्हाड़ी, परशु यज्ञवेदि और शस्त्र स्वस्ति या अविनाश के हेतु हैं।[१६] कल्याणमय जीवन के लिये उत्तम मन मुख्य साधन हैं।[१७] कई सूक्तों में विविध देव शान्ति और शम के लिये प्रार्थनीय हैं।[१८] देवों के शान्तिप्रद स्वरूप की स्तुतियाँ की गयी हैं।[१९] यह मंगलकामना सभी मनुष्यों और पशुओं के लिये है।[२०] कितनी ही प्रार्थनाएँ समृद्धि, भग, धन, गो-अश्व, दरिद्रता से मुक्ति, अन्न आदि के निमित्त हैं,[२१] जो जीवन के सुखार्थ भौतिकोपलब्धियों की आवश्यकता की वाचक हैं। यश, तेज, मेधा, सुमति, ज्ञान, निर्भयता, बल, सुरक्षा, ओजस् आदि की कामनाओं[२२] से मानसिक तथा बौद्धिक स्तर के आत्मतुष्टि और आत्मरक्षण रूप जीवनलक्ष्य का निर्धारण होता है, सुखोपभोग के लिये नीरोग, दीर्घ और पूर्ण जीवन अपेक्षित है। अथर्ववेद के अनेक आयुष्याणि सूक्तों में दीर्घ और पूर्ण जीवन की कामना की गयी है। पूर्णायु से शत वर्ष की आयु काम्य रही है।[२३] यही सर्व आयु या दीर्घ आयु है।[२४] अल्पायु के प्रतिषेध के उद्देश्य से ही 'जरामृत्यु' की अभिलाषा की गयी है।[२५] त्वष्टादेव से सहस्र वर्षों की दीर्घायु की याचना से अप्रत्यक्षतया अधिक से अधिक समय तक जीने की इच्छा व्यक्त होती है।[२६] सौ वर्षों तक पुत्रादि सहित आनन्दित हों,[२७] जैसी प्रार्थनाओं से स्पष्ट होता है कि दीर्घायु की कामना से अधिकाधिक आनन्दोपलब्धि और सुखप्राप्ति ही लक्ष्य रूप में निहित रही है। यही तात्पर्य अनेक रोगोपशमन प्रार्थनाओं की पृष्ठभूमि से भी गूढ़ रूप से ग्राह्य है।[२८] जिस प्रकार दीर्घायु की कामना को नीरोगता की प्रार्थनाएं सार्थक बनाती हैं, उसी प्रकार वे प्रार्थनाएं भी, जिनमें इन्द्रियों की शक्ति और मन की शक्ति प्रार्थनीय हैं।[२९] जीवन का लक्ष्य है-मनुष्य के शरीर में प्राण, मन, चक्षु और बल रहे, उसके अंग-प्रत्यंग उसके वश में हों और वह अपने पैरों के बल पर खड़ा हो सके।[३०] जीवन में सम्पन्नता और संपुष्टि के लिये शत्रुओं और द्वेषकारियों का दमन और नाश भी

अपेक्षित है। अथर्ववेद के कई सूक्तों का विषय शत्रुराहित्य है।[३१] जिसे आथर्वण आर्यों की दृष्टि से सुखरूप लक्ष्य का मुख्य साधन माना जा सकता है। जीवन में अधिक से अधिक सफलता की प्राप्ति की कामना उन मन्त्रों में व्यक्त होती है, जिनमें उपासक ने विजित, अक्षत[३२], श्रेष्ठ[३३] और उत्तम[३४] होने की प्रार्थना की है। अतः अथर्ववेद में सामान्य सुख और सुखों की वृद्धि काम्य एवं साधारण जीवनलक्ष्य दिखाई देता है।

अधिकतम संख्या का अधिकतम आनन्द ही नैतिक आदर्श है।[३५] इसीलिये हम देखते हैं कि सांसारिक सुखमय जीवन को विशेष महत्त्व देते हुए भी अथर्ववैदिक आर्यों का प्रधान इष्ट 'स्वर्ग-प्राप्ति' है। देहावसान होने पर स्वर्ग में पहुंचने की कामना की गयी है।[३६] स्वर्गलोक पुण्यों के फलस्वरूप प्राप्त होता है।[३७] मनुष्य पुण्य से स्वर्ग प्राप्त करता है, पाप से नरक को पाता है और पुण्य-पाप दोनों के योग से इस पृथिवी में उत्पन्न होकर दुःख-सुख रूप भोगों को भोगता है।[३८] इसकी प्राप्ति इष्ट और आपूर्त इत्यादि सुकर्मों के फल से होती है।[३९] श्रद्धावान् व्यक्ति ही स्वर्ग को प्राप्त करता है।[४०] लोग तप, यज्ञादि साधन, दुष्कर कर्म, उपासना द्वारा महातप करते हुए पुण्यलोकों को प्राप्त होते हैं।[४१] 'सुकृतस्य लोकः' के अतिरिक्त स्वर्ग स्वः,[४२] स्वर्ग[४३], तृतीय नाक,[४४] परम व्योम,[४५] उत्तम नाक,[४६] अमृत[४७] आदि नामों से भी जाना जाता है। अथर्ववेद में 'श्रेयस्' शब्द द्वारा सम्भवतः इन्हीं स्वर्गिक सुखों की प्राप्ति अभिप्रेत है।[४८] एक मन्त्र में कल्याणकारी पुरुष को स्पष्टतया कहा गया है कि तुम 'भद्र' से अधिक 'श्रेय' प्राप्त करो।[४९] यदि सांसारिक कल्याण 'भद्र' शब्द से वाच्य है, तो उससे पर के अलौकिक कल्याण 'श्रेयस्' हैं। अतः उत्तरोत्तर मङ्गलप्राप्ति अथर्ववैदिक आर्यों का जीवन लक्ष्य रहा है। सूर्यदेव को सम्बोधित मन्त्र उपासकों को जीवन में अभ्युदय का सन्देश देता है।[५०]

अथर्ववैदिक आर्यों ने इहलौकिक अभ्युदय की सर्वाधिक कामनाएं की हैं, क्योंकि यह सभी का इष्ट है। स्वर्ग और अमृतत्व की प्राप्ति की प्रार्थनाएं उनकी पारलौकिक अभ्युदय सम्बन्धी आकांक्षा व्यक्त करती हैं। किन्तु मानव जीवन का चरम लक्ष्य पूर्ण आत्मा की तृप्ति है। अथर्ववैदिक आर्य ब्रह्मप्राप्ति रूप लक्ष्य से सुपरिचित थे। यह सर्वसाधारण का सामान्य लक्ष्य नहीं था। इसीलिये मोक्ष या ब्रह्मप्राप्ति के संकेत अपेक्षाकृत न्यून हैं। वे मानते थे कि ज्ञानी ही परमेष्ठी परमात्मा को प्राप्त करता है।[५१] व्यक्ति व्यापक ब्रह्म को जानकर ब्रह्म में समाहित हो जाता है।[५२] उन्होंने ब्रह्म या ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति की कामनाएँ की; जैसे तप और कर्म द्वारा ब्रह्म को जानने वाले पुरुष जिस स्थान पर जाते हैं, वही स्थान ब्रह्मा मुझे प्राप्त करावें, ब्रह्मा मुझे ब्रह्म दें।[५३] मन्त्रों में ब्रह्म को जान सकने की इच्छा व्यक्त की गयी है।[५४] सच्चा और परम आनन्द वैदिक आर्यों का काम्य परम सुख है-'हम परम द्युलोक में आनन्दित हो।'[५५] अतः वैदिक परम आदर्श आत्मपूर्णतावाद ही है।

लक्ष्यप्राप्ति के सहायक-कर्त्तव्याकर्त्तव्य

जीवन में लक्ष्य की सिद्धि के लिये मनुष्य क्या करे और क्या न करे। इस सम्बन्ध में अथर्ववेद की संहिता से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। अथर्वसूक्तों में शुभ या सुख की प्राप्ति के लिये देवानुग्रह और उपासना को परम आवश्यक माना गया है। देवताओं के पास इच्छित वस्तुएँ देने की शक्ति है। उनके मत में देवपूजा, आराधना, हवन, यज्ञ, तप, अनुष्ठान आदि विविध विधियाँ सुखरूप फल-प्राप्ति के लिये कर्तव्य और आचरण के विधेयात्मक पक्ष के अन्तर्गत आती हैं। देवों से मित्रता करने से सुख मिलता है और उनके प्रतिकूल आचरण से दुःख मिलता है।[५६] इसीलिये देवों के प्रिय बनने की इच्छा रहती है।[५७] प्रार्थना है कि हम सदा देवों की सुमति (शोभन

अनुग्रहबुद्धि)[५८] और कल्याणकारी सौमनस्य से रहें।[५९] देवकृपा की अभिलाषा से ही उनसे कहा गया है कि वे अपने क्रोध, शस्त्र और हिंसात्मक भाव को उपासक से दूर रखें।[६०] जो देवताओं को नहीं मानता या देवनिन्दक (अदेव) है, वह शत्रुवत् नष्ट करने योग्य है।[६१] धारणा है कि देवता स्तुति सुन लें और यजन स्वीकार कर लें तो उपासक अपना संकल्प पूर्ण होने की आशा कर सकता है।[६२] कामना की गयी है कि अदेव व्यक्ति के हव्य को अग्नि कभी भी वहन न करे।[६३] अतः उपासना वही फलवती होती है, जो श्रद्धाभाव से युक्त हो। देवों की कृपा और उपासना सभी को प्रसन्नता का प्रधान हेतु है। अपने इष्ट की पूजा कर प्रजा हृदय में प्रसन्न होती है।[६४] अतएव यही प्रमुख नैतिक कर्त्तव्य है।

अथर्ववेद के अनुसार नैतिक जीवन के लिये स्वकीय परिश्रम और प्रयत्न सर्वोच्च कर्त्तव्य है। पूर्ण विकसित जीवन के लिये पुरुषार्थ अनिवार्य तत्त्व है। अश्रान्त ऋषि या देव कार्यों में सफलता-प्राप्ति के हेतु विघ्नों को दूर करने के लिये मणि को धारण करते थे।[६५] परिश्रमी के लिये सभी अवस्थाएं प्रयत्नसाध्य हैं। वह अपने परिश्रम से सब विघ्न दूर कर देता है, इसलिये उसके लिये कुछ भी अशक्य नहीं है। एक अथर्ववैदिक मन्त्र में कहा गया है-मैं केवल कामना से ही धनवाला नहीं होता हूँ।[६६] स्पष्ट ही यहाँ इच्छा के साथ प्रयत्न की अत्यन्त आवश्यकता का गूढार्थ व्यंग्य है। उन्नति और विजय के सशक्त उपाय के सम्बन्ध में अथर्ववेद द्वारा उद्घोषित नैतिक आदेश है-कर्मठता। अंगिरा ऋषि का कथन इसका पोषक है 'कि मेरे दाहिने हाथ में कर्मकारित्व स्थित है और मेरे बायें हाथ में विजय है।[६७] अतः परिश्रम निश्चित रूप से फलसाधक है।

नैतिकता वैयक्तिक प्रयासों द्वारा ही विकसित की जाती है, इसीलिये अथर्ववैदिक आर्यों ने सामान्य रूप से सत्कर्म में ही प्रवृत्त होने की प्रतिज्ञा और प्रार्थना की है-'जो मंगलमय एवं कल्याणकारी कर्म हैं, उन्हें हम अपनी प्रजा के लिये लायें।'[६८] पूर्व ऋषियों और निर्दिष्ट विधियों और नियमों के पालन की प्रशंसा और उनके उल्लंघन के दुष्परिणामों की चर्चा[६९] से यह तथ्य ग्रहणीय है कि सदाचारी के लिये परम्परा का विशेष महत्त्व स्वीकार्य रहा है। निष्पापता आचरण का निषेधात्मक पक्ष है। दुष्कर्म अच्छे जीवन के प्रतिरोधक हैं, उनका नाश होना चाहिये। अथर्ववेद के अनेक सूक्तों का विषय पापमोचन है।[७०] अतः अप्रत्यक्षतया पाप को उत्पन्न करने वाले दुष्कर्म सर्वथा त्याज्य एवं अकर्त्तव्य माने गये हैं। पाप या दुष्कर्म की निवृत्ति की प्रार्थनाओं का उद्देश्य नैतिक अपकर्ष का परिहार ही रहा है। दूसरे शब्दों में ये नैतिक उत्कर्ष के लिये आवश्यक सत्कर्म प्रवृत्ति की पूरक हैं।

आचरण और चरित्रगुण

नीतिशास्त्र का मुख्य विषय मनुष्य का आचरण है।[७१] आचरण और व्यवहार में क्या सत या शुभ है-इसका अध्ययन नीति के अन्तर्गत किया जाता है।[७२] नैतिक दृष्टि से व्यवहार चरित्र की अभिव्यक्ति है। चरित्र का प्रदर्शन आचरण में होता है। नैतिक दृष्टि से सद्व्यवहार चरित्र की अभिव्यक्ति है। चरित्र का प्रदर्शन आचरण में होता है। सद्गुण और दुर्गुण का सम्बन्ध मनुष्य के चरित्र से होता है। सद्गुण चरित्र का आभूषण हैं तो दुर्गुण उसका ह्रास। ऐच्छिक कर्मों की पुनरावृत्ति के फलस्वरूप ही मनुष्य सच्चरित्र या दुश्चरित्र बनता है। सर्वोच्च हित के विचार से ही नीति के अन्तर्गत चरित्र-गुणों का अनुमान किया जाता है। सद्गुण शुभ-प्राप्ति में सहायक होते हैं, और दुर्गुण बाधक। अथर्ववेद संहिता में यद्यपि चरित्र-गुणों की वर्गीकृत और विस्तृत प्रस्तुति का अभाव है, तथापि किसी भी समाज के सुन्दर अस्तित्व के लिये सर्वमान्य समस्त प्राथमिक चरित्र-गुणों का विवेचन इसमें है।

यहाँ जो चरित्रगुण सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है, वह है-सत्य। सत्य और ऋत पृथिवी के प्रमुख धारक तत्त्व हैं।[७३] सत्य को ही विशेष तात्पर्य में 'ऋत' कहा गया है। संसार को यदि 'ऋत' चलाता है, तो मानव जीवन को सत्य। जो शक्ति संसार को सुचारु रूप से चला रही है, उसका नाम ऋत है। देवता इसके अधिष्ठाता हैं। ऋग्वेद में ऋत का नियामक देव वरुण हैं। किन्तु अथर्ववेद में वरुण का यह चारित्रिक गुण अपेक्षाकृत क्षीण दिखायी देता है। सत्य और ऋत को दो आंखें कहा गया है।[७४] जिसका तात्पर्य है कि सत्य ही मनुष्य का वास्तविक मार्गदर्शक है, इसका आग्रह के साथ पालन करना चाहिये। सूर्यदेव को सम्बोधित मन्त्र के अंश **'ऋतस्य पन्थामन्वेषि विद्वान्'** का यदि 'विद्वान् सत्य के मार्ग के अनुकूल होकर जाता है'[७५] अर्थ किया जाये तो इससे विद्वान् के चरित्र गुण के रूप में सत्य की स्थिति स्पष्ट होती है। अन्यत्र कहा गया है कि 'विज्ञाता मनुष्य के लिये सत्य सदा सुविशेष रहता है। असत्य का सत्य से विरोध है। सत्य-असत्य के मध्य जो सत्य सरल है, उसे ही सोम बचाता है और असत्य को मारता है।[७६] सोम अनृतवादी को मारता है।[७७] वरुण सत्यधर्मा है, वह असत्यभाषण को नहीं सहता है और झूठ बोलने वाले को बाँध लेता है।[७८] झूठ के पाप से छुड़ाने की भी प्रार्थनाएँ हैं।[७९] इस प्रकार अथर्ववेद में सामाजिक और वैयक्तिक अस्तित्व के लिये सत्य को अनिवार्य 'धर्म' स्वीकार किया गया है।

अथर्ववेद में वर्णित दूसरे प्रमुख सद्गुणों में मुक्तहस्तता या अकृपणता को विशेष महत्त्व प्राप्त है। सम्भवत: पुरोहित द्वारा यजमान के अभिकाङ्क्षित दानशीलता से ही इसे बढ़ावा मिला है। यह गुण सामाजिक नैतिकता का आधार है। 'गति:' को मित्ररूप में चाहा गया है।[८०] 'अराति' अर्थात् अदानभाव के नाशन के अभिप्राय से उसकी निन्दा और स्तुति एक सम्पूर्ण सूक्त का विषय है।[८१] जिससे विद्वानों को भरणपोषण और वृत्ति देने के विषय में उपदेश ही ग्राह्य है। उचित पात्र को दक्षिणा न देना पाप माना गया है।[८२] विशेष रूप से गोदान न करने के दुष्फल वर्णित है।[८३] ब्राह्मणों को दान देना ही अपना रक्षण कहा गया है।[८४] दान को पितरों के लिये स्वधा करने और देवताओं के लिये यज्ञ करने के समकक्ष बताया गया है।[८५]

अथर्ववैदिक सामाजिक नीति में अतिथि के प्रति सत्कार-भाव विशेष रूप प्रशंसित है। यह अकृपण भाव और उदारता का ही एक परिष्कृत रूप है। अतिथि का आदर-सत्कार प्रेम से करने का उपदेश है। जो यह उत्तम श्रद्धा के साथ करता है, वह वस्तुत: यज्ञयागादि के द्वारा प्राप्त फलों को ही अपने लिये अवरुद्ध करता है।[८६] गृहस्थ अतिथि सेवा के द्वारा इस पृथिवी लोक को प्राप्त करता है और अन्त में स्वर्ग को जाता है।[८७] जो अतिथि का विधिवत् सत्कार न करते हुए, उसे खिलाने से पूर्व ही खा लेता है, उसे अनेक अभावों की प्राप्ति होती है[८८]। अत: अतिथि के खा लेने के पश्चात् ही गृहस्थ को खाना चाहिये। विद्वान् अतिथि का आतिथ्य करके गृहस्थ सभी पुण्य लोकों को प्राप्त करता है।[८९] अत: अतिथि-सत्कार परम कल्याण का उत्पादक है।

अथर्ववेद में बहुचर्चित गुण 'भाषण में मधुरता' व्यक्तिगत सद्गुणों में परिगणनयोग्य है। वाणी की मधुरता से ही एकता और समभावना बढ़ती है। सविता देव 'अद्रोघवाक्' हैं, इसीलिये वे सुखस्वरूप (सुशेवम्) हैं।[९०] तात्पर्य है कि अहिंसक-वाक्य-युक्त शोभन वाणी का प्रयोग मनुष्य को शुभ की ओर ले जाता है। मेरी जिह्वा के अग्रभाग में मधुर रस रहे,[९१] मैं मधुर वाणी का प्रयोग करूं।[९२] मुझे मधुरभाषी बनाओ,[९३] मेरी वाणी मधुमती हो[९४]-इत्यादि प्रार्थनाएं वाणी की मधुरता की महत्ता की संसूचक हैं।

अथर्ववेद ने सामाजिक नैतिक सद्गुणों में बन्धुता, राष्ट्रीयता, सांमनस्य और मैत्री को

सर्वकल्याण के लिये आवश्यक माना है। इनमें भी सांमनस्य का उपदेश सर्वाधिक है।[९५] समाज के सभी मनुष्यों के विचार, संकल्प, हृदय, मन, चित्त, कर्म और खानपान आदि की समानता सामाजिक कल्याण का आधार है।[९६] पारस्परिक सौहार्द के लिये एक के विचारों और मन के साथ दसरे के विचारों और मन की एकता पर बल दिया गया है।[९७] शोभनमनस्कता गुण स्वस्ति के लिये प्रार्थनीय है।[९८] इससे ही सब जन एकता के सूत्र में बंधते हैं। मित्रभाव काम्य है, जिसके लिये परस्पर चित्त के एकीकरण की कामना की गयी है।[९९] राष्ट्रियभाव जैसे उदात्त गुणों की महनीयता भूमिसूक्त में मातृभूमि की कल्पना से ही संयुक्त है।[१००]

अपेक्षाकृत अल्पवर्णित होते हुए भी अथर्ववेद में कुछ अन्य सद्गुणों का उल्लेख प्राप्त है, जैसे- ईर्ष्या भाव का न होना[१०१] मिथ्याभूत अहंकारादि का न होना,[१०२] द्रोह न करना और देव-अनुशासनों का उल्लंघन न करना इत्यादि।[१०३]

मानवीय आचरण में दुर्गुणों की सदैव निन्दा की गयी है। उपर्युक्त सद्गुणों के विपरीत गुण या भाव तो दुर्गुण हैं ही। अथर्ववेद में अनेक दुर्गुणों के निराकरण और परित्याग के लिये प्रार्थनाएं हैं। द्रोह करना, श्राप देना[१०४], क्रोध करना,[१०५] अशोभनबुद्धि[१०६] आदि दुष्ट मनोभाव हैं। हिंसात्मक व्यवहार का खण्डन किया गया है और निरपराध का भी हनन करने वाली कृत्या से कहा गया है कि वह हमारे पशु और पुरुष न मारे।[१०७] अन्तरिक्षस्थानीय, पृथ्वीस्थानीय या द्युलोकस्थानीय किसी जीव या माता-पिता की हिंसा करना पाप है।[१०८] निरुत्साह, आलस्य, मोह आदि से मुक्ति पाने के उद्देश्य से ही उन्हें शत्रुओं में जाने को कहा गया है।[१०९] चोरी करना निन्दनीय है, विशेष रूप से ब्राह्मण की गौ का अपहरण करना तो महापाप है। जो क्षत्रिय ऐसा करता है, उसे अनेक दुष्फल भोगने पड़ते हैं।[११०] इसी प्रकार प्रतिज्ञा का पूरा न करना,[१११] ऋण वापस न करना,[११२] जुआ खेलना,[११३] पूज्यों का नाम लेना[११४] आदि दुष्कर्म चरित्र को अर्जित करने में बाधक नैतिक दुर्गुणों के आधार हैं।

अथर्ववेद में शुभ संकल्प के लिये 'तपस्' को विशेष महत्त्व दिया गया है। इसमें इच्छा पूरी करने की शक्ति है और इसमें ही देवताओं के समकक्ष हुआ जाता है।[११५] वाणी, मन, शरीर, इन्द्रिय आदि के विविध तप हैं। तप के प्रभाव से जीवन उच्च होता है।[११६] परन्तु मैकेंजी का मत है, 'अथर्ववेद में तपस् के अभ्यास का नैतिक महत्त्व कम ही है।'[११७]

नैतिक अशुभ-पाप

किसी नैतिक नियम का चेतनापूर्वक उल्लंघन करना नैतिक अशुभ कहा जाता है। चरित्रात्मक नैतिक अशुभ दुराचार या दुर्गुण कहलाते हैं तथा व्यावहारिक नैतिक अशुभ पाप और अपराध कहलाते हैं। पाप तथा अपराध दुराचार ही बाह्याभिव्यक्ति हैं। पाप का अर्थ है असत्कर्म करने से प्राप्त चरित्र का नैतिक अपकर्ष।[११८] अथर्ववैदिक नीति के अनुसार नैतिक दुर्गुणों का उल्लेख किया जा चुका है अब उसके ही प्रकट रूप पापादि के विषय में अथर्ववेदीय धारणाएँ विचारणीय हैं। अशुभ कर्म पाप होता है। यह चरित्र की अधोगति का सूचक है। अथर्ववेद के कई सूक्तों का विषय पापमोचन या पापनाशन है। पापनिवृत्ति शुभ प्राप्ति, देवताओं की प्रसन्नता और नीरोगता का कारण मानी गयी है। अथर्ववैदिक दृष्टि से पाप वे भी हैं, जिनमें मनुष्य अनिच्छा से पड़ जाता है। जैसे वंशपरम्परा में प्राप्त रोग, पापदेवता, भगिनी का अभिशाप, गुरु देवता आदि के द्रोह से उत्पन्न संताप (द्रोह पातक) और वरुण का दण्डपाश इत्यादि।[११९] पाप की उत्पत्ति अनजाने में भी हो सकती है, तभी वरुण से अज्ञानजनित पापों से मुक्ति की कामना की गयी है।[१२०] पाप एक-दूसरे में संक्रान्त होने वाला माना

गया है। माता, पिता और अन्य सगे-सम्बन्धियों द्वारा किये गये पापों से मुक्ति की प्रार्थना का यही औचित्य है।[१२१] ब्लूमफील्ड के अनुसार यह माना गया है कि पाप भी एक मनुष्य से दूसरे पर, पिता से पुत्र पर, यहाँ तक कि देवताओं से मनुष्यों पर डाले जा सकते हैं।[१२२] दुःस्वप्न को पाप के समकक्ष कहा गया है।[१२३] इसी प्रकार दुर्भाग्य, द्वेष, शाप, दुरित, दुष्ट कल्पना आदि भी पाप से सम्बद्ध माने गये हैं। पाप मनुष्य के इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि द्वादश स्थानों में स्थित हो जाता है।[१२४] सद्-आचरण से विपरीत कर्म पाप उत्पन्न करते हैं, जैसे-यज्ञवाहक जन जिस यज्ञ को करने का संकल्प करें, किन्तु उसे न कर सकें-यह पाप है।[१२५] देवों को कुपित करने से भी पाप होता है जिसे **'देवहेडनम्'** कहा गया है।[१२६] निषिद्ध आचरण में रत होना पाप है।[१२७] ऋण लेकर न लौटाना आदि दुष्कर्म पाप है। देवता मनुष्यों में पाप को स्थापित कर सकते हैं।[१२८] उनके प्रति किये गये पापों में उन्माद उत्पन्न होता है।[१२९] पाप के कई प्रकार हैं, जैसे-देव सम्बन्धी पाप, पितृजन सम्बन्धी पाप, पूज्यों के नामग्रहण का पाप, निन्दा करने का पाप इत्यादि।[१३०] जो व्यक्ति किसी अन्य के लिये पाप कर्म या अनिष्ट की योजना करता है, उसे ही पाप मिलता है। कहा भी गया है कि कृत्या-कृत्या प्रयोक्ताओं के लिये ही हों, अभिशाप अभिशापदाताओं के लिये ही हों।[१३१] अन्यत्र कामना है कि शाप देने वाले का शाप उस को ही लौट जाए।[१३२] पापबुद्धि दुष्कृत और मलिन पापाचरण का आधार मानी गयी है।[१३३] बुरे व्यक्तियों की संगति भी पाप उत्पन्न करती है। अपामार्ग से उनके परिमार्जन की प्रार्थना है।[१३४]

कितनी ही बार अनेक देवों से निष्पाप करने की प्रार्थनाएँ की गयी हैं।[१३५] मन्त्र-शक्ति से भी पाप-राहित्य सम्भव है।[१३६]

पापाभिमानी देव पापों से मुक्त करने में समर्थ हैं।[१३७] वरुणदेव पापियों को पाशों में बाँध कर दण्ड देते हैं।[१३८] ऋग्वेद में तो वरुण का कोई भी सूक्त ऐसा नहीं है, जिसमें उनसे पापों को क्षमा करने की प्रार्थना न हो।[१३९] अतः देवताओं के पास पापियों को दण्ड या क्षमा करने की शक्ति है। अथर्ववेद के प्रधान देवता इन्द्र सदैव महापापी आचरण वालों को मारते हैं।[१४०] अथर्ववेद के मत में प्रायश्चित्त अमांगलिक स्थितियों में संशोधन या मार्जन में सहायक है। इस संहिता के अनेक 'प्रायश्चित्तानि' सूक्तों का विषय पाप तथा दुष्कर्म के लिये प्रायश्चित्त-विषयक अभिचार ही है। द्रष्टव्य है कि ऋग्वेद में 'प्रायश्चित्ति' या प्रायश्चित्त' शब्दों में से एक का भी प्रयोग नहीं हुआ है, अथर्ववेद में केवल 'प्रायश्चित्ति' शब्द एक बार आया है।[१४१]

अथर्ववेद में मनुष्य में पाप की अवस्थिति सहज और स्वाभाविक मानी गयी है। इसीलिये पाप बहुशः चर्चित एवं अनेक प्रकार से वर्णित हैं। **किन्तु संहिता के अनेक पापमोचन सूक्तों के प्रमाण पर यह कहा जा सकता है कि अथर्ववैदिक नैतिक** दृष्टिकोण के अनुसार शुभ-प्राप्ति हेतु इनका निवारण और परिमार्जन अपेक्षित है।

परिवार के नैतिक आधार

अथर्ववैदिक नीति अधिकांश में वैयक्तिक है और व्यक्ति की अपनी लौकिक, पारलौकिक और आध्यात्मिक उन्नति से सम्बद्ध है। किन्तु अथर्ववेद की संहिता में मैत्री, सर्वकल्याण, परोपकार, राष्ट्र-पुष्टि, दान जैसे सामाजिक सद्गुणों की बलवती संस्थापना में सामाजिक नीति का महत्त्वपूर्ण पक्ष भी उद्घाटित हुआ है। समाज की लघुतम इकाई 'परिवार' व्यक्ति के व्यवहार और आचरण के प्रारम्भिक अवसर प्रदान करता है। अथर्ववैदिक आर्यों द्वारा पारिवारिक पृष्ठभूमि में भी नीति का चिन्तन किया गया है। समस्त परिवार को सुख-प्राप्ति की ओर अग्रसर करने वाले नियमादि

पारिवारिक नीति का विषय है। सुखद पारिवारिक जीवन उनका काम्य है।

गृहों का वर्णन है कि वे सौख्य से भरे हुए हैं। एक सम्पूर्ण सूक्त का विषय रम्य गृह है, जिसमें गृहों से प्रार्थना की गयी है कि 'वे प्रिय और सत्यवाणी से युक्त, शुभ भाग्य से युक्त, अन्न-जल से परिपूर्ण, हंसी-आमोद प्रदान करने वाले और तृषा-क्षुधा की बाधाओं से विहीन हो।'[१४२] वे विविध कल्याण स्वरूपों से युक्त हों।[१४३] वधू के गुणधर्मों के वर्णन में[१४४] इस तथ्य का संकेत मिलता है कि घर में प्रेम और शान्ति का आधार वधू है। परिवार में उसका ही प्रभुत्व होना चाहिये। **'सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु'** द्वारा उसे यही आशीष दिया गया है।[१४५] किन्तु इसके लिये आवश्यक है कि वह पति, श्वसुर, सन्तान आदि घर के सब लोगों के लिये कल्याण करने वाली हो।[१४६] वधू पर पारिवारिक मङ्गल आश्रित है, उसके **'सुमङ्गली:'** विशेषण का यही तात्पर्य ग्राह्य है।[१४७] कामना है कि पत्नी-पति की अनुव्रता हो।[१४८] परदाराभिगमन निन्दनीय है। पति को अन्य स्त्रियों के नाम तक का स्मरण नहीं करना चाहिये।[१४९] बहन-भाई का विवाह-सम्बन्ध अनुचित है। अथर्ववैदिक नीतिज्ञों ने इसे 'पापकर्म' घोषित किया है।[१५०] आज तक सभ्य मानव संस्कृति में यह विचार सर्वमान्य है। सन्तान के लिये माता-पिता अहिंसनीय और पूज्य हैं।[१५१] अतिथि-सत्कार गृहस्थ का पारिवारिक दायित्व है।[१५२]

नैतिक जीवन का महत्त्व

एक अथर्ववैदिक मन्त्र के अनुसार पूर्वज क्रान्तदर्शियों ने मानव-जीवन के सफल यापन के लिये सात मर्यादायें बनायी थीं। उनमें से एक को भी उल्लंघन करने से मनुष्य पापी होकर संसार में स्वजीवन बिताता है।[१५३] यहाँ सप्त मर्यादाओं का अभिप्राय स्पष्ट नहीं है। तथापि इनसे वे चरित्रगुण ही अभिप्रेत प्रतीत होते हैं, जो शुभ-प्राप्ति में सहायक हैं, जैसे-अनृतभाषण का अभाव, हत्या न करना आदि। मर्यादाओं के कथन द्वारा अथर्ववैदिक जीवन में नैतिकता का महत्त्व व्यक्त होता है। अन्यत्र आदेश है कि मनुष्य को जीवन-व्रत का पालन करते हुए जीवन-पथ पर अग्रसर होना चाहिये। इससे ही शरीर के साथ-साथ आत्मा भी उन्नति पथ पर आगे बढ़ती है।[१५४] अत: भौतिक और शारीरिक उन्नति आत्माभ्युदय को पूरक है। बिना उच्च नैतिक जीवन के दार्शनिक बुद्धि का उदय नहीं होता है। ब्लूमफील्ड के शब्दों में, " इसके अधिकतर सूक्त उदार एवं उदात्तकोटि के धार्मिक एवं आध्यात्मिक हैं।[१५५] अथर्ववेद के अनेक दार्शनिक सूक्तों में व्याप्त गहन अर्थों का ग्रहण नैतिक गुणों से हीन व्यक्तियों द्वारा सम्भव नहीं है। प्रत्यक्ष जीवन को कार्यक्षम और सज्जनोचित रूप से व्यतीत करने वाला ही अपरोक्ष जीवन व्यतीत कर सकता है। दार्शनिक सूक्तों में वर्णित मोक्ष, अमृतत्व, परमपद आदि की उपलब्धि सदाचारी और नैतिक जीवन में ही हो सकती है। इससे भी यही अर्थ निकलता है कि अथर्ववेद में परोक्ष रूप नीति की परम आवश्यकता मानी गयी है।

नैतिक देवता

अथर्ववेद में कुल ५९७७ मन्त्र हैं, जिनमें ९२५ मन्त्रों में इन्द्र का वर्णन है। अत: सम्पूर्ण संहिता का छठा भाग इन्द्र की स्तुति में है। इन्द्र का क्रियाकलाप व्यापक है और उनके गुण बहुविध हैं; तथापि इन्द्र नैतिकता के देवता नहीं हैं। ऋग्वेद में वरुण की कल्पना में वैदिक ऋषियों की नैतिक धारणा के दिव्य रूप का परिचय मिलता है। ग्रिसवोल्ड ने तो वरुण को ऋग्वेद के नैतिक देवता की संज्ञा ही दी है और माना है कि सभी ऋग्वेदीय देवताओं की अपेक्षा वरुण में सर्वाधिक नैतिक विशेषतायें हैं।[१५६] तथापि अथर्ववेद में वरुण के

नैतिक स्वरूप को व्यक्त करने वाले प्रसंग बहुत कम हैं।[३७] सामान्यतया वरुण के नैतिक चरित्र का अभाव ही है और इसीलिये स्वीकार किया जा सकता है कि 'अथर्ववेद में दिव्य नैतिकता की प्रवृत्ति नहीं है।'

अथर्ववेद में नैतिक सिद्धान्तों का विवेचन विशेष रूप से नहीं किया गया है, फिर भी इसके द्वारा अथर्ववैदिक नैतिक विचारों का विस्तृत ज्ञान होता है। यहाँ नैतिक विचार अधिकांश में सामान्य कार्यों के लिये प्रयुक्त दिखायी देते हैं। मन्त्रों में नैतिकता और सदाचार के प्रति स्पष्ट आग्रह है। दुराचार, दुष्कर्म और पापों की चर्चा उनके परिशोधन और परिमार्जन के उद्देश्य से है। अथर्ववैदिक नीति सामान्यतया मानव-नीति है। इसमें निर्दिष्ट लक्ष्य जीवन के सामान्य लक्ष्य हैं। अथर्ववेद में परम लक्ष्य के रूप में मोक्ष का वैदिक आदर्श मिलता है, जो आत्मपूर्णता के रूप में परवर्ती काल में नीति का परम ध्येय माना गया है।

पादटिप्पणियाँ-

१ वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्॥ मनु०२.१२

२ सदाचार : स्मृतिर्वेदास्त्रिविधं धर्मलक्षणम्। महा०, शान्तिपर्व, २५९.३

३ ऋ०सा०भा०भूमिका १०.

४ भीखनलाल आत्रेय, भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, १९६४, पृ०६६०

५ सर्वाभीष्टकरं नीतिशास्त्रं स्यात् सर्वसंमतम्।
शुक्रनीति, १.१२.

६ "It is now generally recognised that truth, beauty and goodness are ultimate ends for human begins." John S. mackenzie, *a Manual of Ethics*, Oxford University Press, Delhi. 1973, p.7.

७ जगत प्रकाश आत्रेय एवं ब्रज गोपाल तिवारी, नीतिशास्त्र, आगरा, १९७०, पृ०१२८

८ जगत् प्रकाश आत्रेय एवं ब्रज गोपाल तिवारी, नीतिशास्त्र, आगरा, १९७०, पृ०१२४

९ सुषूदतं मृडतं मृडया नः। अथर्व०१.२६.४

१० स्वस्ति नो अस्त्वभयं नो अस्तु । अथर्व०१९.८.७

११ अथर्व०३.२८.३; ६.२३.६

१२ अथर्व०६.४८; ७.२८

१३ अथर्व०७.८.१; १६.२.४

१४ अथर्व०७.२०.२

१५ अथर्व०१०.६.५

१६ वेदः स्वस्तिर्द्रुघणः स्वस्तिः परशुर्वेदिः परशुर्नः स्वस्ति। अथर्व०७.२८.१

१७ राजन्त्सुमनसं मा कृणु स्वस्तये । अथर्व०६.९९.३

१८ अथर्व०१९.९-११

१९ शं नो वातो वातु शं नस्तपतु सूर्यः। अथर्व०७.६९.१

२० शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे। अथर्व०६.२७.१

२१ अथर्व०३.२४; ६.१२९; १२.१.४०,४५; २०.१४.४; १.३१.२; १०.५७.४५

२२ अथर्व०६.५८; ३.२२; १९.४०.२; १९.७.१; १.१.२; २.१५; १.१.१; १९.१७; १९.४५.६।

२३ दीर्घायुत्वाय शतशारदाय। अथर्व०१.३५.१; आयुष्टे शरदः शतम्। अथर्व०१.१३.४

२४ अथर्व०१९.६९.३; २.१३.२

२५ जरामृत्युं कृणुत दीर्घमायुः। अथर्व०२.१३.२

२६ त्वष्टा सहस्रमायूंषि दीर्घमायुः कृणोतु वाम । अथर्व०६.७८.३

२७ शतं हिमाः सर्ववीरा मदेम। अथर्व०१२.२.२८

२८ अथर्व०१.२; १.२२ इत्यादि

२९ अथर्व०२.१७; १९.६०; ५.१०.८

३० ऐतु प्राण ऐतु मन ऐतु चक्षुरथो बलम्।
शरीरमस्य सं विदां तत् पद्भ्यां प्रति तिष्ठतु॥
५.३०.१३

३१ अथर्व०२.१८-२४ इत्यादि।

३२ अथर्व०१२.१.११

३३ अथर्व०१.९.३

३४ अथर्व०६.१५.२

३५ तिवारी और आत्रेय, नीतिशास्त्र, आगरा १९७०, पृ०१२२

३६ उत्तमं नाकमधि रोहयेमम्। अथर्व०११.१.४

३७ अथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम् । अथर्व०११.१.८

३८ प्रथमेन प्रमारेण त्रेधा विष्वङ् वि गच्छति।
अद एकेन गच्छत्यद एकेन गच्छतीहैकेन नि षेवते॥
अथर्व०११.८.३३

३९ इष्टापूर्तं स्म कृणुताविरस्मै। अथर्व०६.१२३.२

४० एतं लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते। अथर्व०६.१२२.३

४१ तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः। तपो ये चक्रिरे महस्तांश्चिदेवापि गच्छतात्॥ अथर्व०१८.२.१६

४२ अथर्व०१६.९.३

४३ अथर्व०६.१२०.३०

४४ अथर्व०६.१२२.४

४५ अथर्व०७.५.३

४६ अथर्व०६.६३.३

४७ अथर्व०६.१२१.३

४८ श्रेयश्चिकित्सतु। अथर्व०१०.६.५

४९ भद्रादधि श्रेयः प्रेहि। अथर्व०७.८.१

५० उदिहि उदिहि सूर्य वर्चसा माभ्युदिहि। अथर्व०१७.१.६

५१ ब्रह्म श्रोत्रियमाप्नोति ब्रह्मेमं परमेष्ठिनम्।
अथर्व०१०.२.२१

५२ य इत् तद् विदुस्ते अमी समासते। अथर्व०९.१०.१८

५३ यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे॥
अथर्व०१९.४३.८

५४ उतो तदद्य विद्याम यतस्तत् परिषिच्यते॥
अथर्व०१०.८.२९

५५ मदेम तत्र परमे व्योमन्। अथर्व०७.५.३

५६ सखासावस्मभ्यमस्तु रातिः सखेन्द्रो भगः सविता चित्रराधाः। अथर्व०१.२६.२

५७ प्रियो देवानां भूयासम् । अथर्व०१७.१.११

५८ वयं देवानां सुमतौ स्याम। अथर्व०६.४७.२

५९ अपि भद्रे सौमनसे स्याम। अथर्व०६.५५.३

६० मा नो हिंसीरधि नो ब्रूहि परि णो वृङ्ग्धि मा क्रुधः।
अथर्व०११.२.२०

६१ अथर्व०६.६.१

६२ अथर्व०५.८.२

६३ अथर्व०५.८.३

६४ तां चायित्वामृतं वसानां हृद्भिः प्रजाः प्रति नन्दन्ति सर्वाः। अथर्व०९.१.१

६५ अश्रेष्माणो अधारयन् । अथर्व०३.९.२

६६ न कामेन पुनर्मघो भवामि। अथर्व०५.११.२

६७ कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः। अथर्व०७.५०.८

६८ अथ या भद्रा तानि नः प्रजया अरातिं नयामसि।
अथर्व०१.१८.१

६९ अथर्व०११.३; ततश्चैनमन्याभ्यां श्रोत्राभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। बधिरो भविष्यसीत्येनमाह॥
अथर्व०११.३.३३ इत्यादि

७० अथर्व०४.२३-२९ इत्यादि।

७१ 'Ethics is the science of conduct.' Ryland, Ethics, London, 1893, P.5.

७२ 'Ethics May be defined as the study of what is right or good in conduct.' John. S. Mackenzie, A Manul of Ethics, P.1.

७३ सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
अथर्व०१२.१.१

७४ सत्यं चर्तं च चक्षुषी। अथर्व०९.५.२१

७५ अथर्व०१७.१.१६

७६ सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते। तयोर्यत् सत्यं यतरदृजीयस्तदित् सोमोऽवति हन्त्यासत्॥ अथर्व०८.४.१२

७७ हन्ति रक्षो हन्त्यासद् वदन्तम्। अथर्व०८.४.१३

७८ यदुवक्थानृतं जिह्वया वृजिनं बहु।
राज्ञस्त्वा सत्यधर्मणो मुञ्चामि वरुणादहम्॥
अथर्व०१.१०.३

७९ अथर्व०१०.५.४.१; १.१०.३ : यदुवक्थानृतं जिह्वयावृजिनं बहु। राज्ञस्त्वा सत्यधर्मणो मुञ्चामि वरुणादहम्॥

८० सायण-रा दाने, इति कर्तरि क्तिच्, मित्रः सूर्यः। सखासावस्मभ्यमस्तु रातिः। अथर्व०१.२६.२

८१ अथर्व०५.७

८२ अथर्व०२.३५.३

८३ अथर्व०१२.४.२; २१; २३

८४ तस्माद् ब्रह्मभ्यो देयैषा तदाहुः स्वस्य गोपनम्।
अथर्व०१२.४.१०

८५ अथर्व०१२.४.३२

८६ अथर्व०९.६.४

८७ आप्नोतीमं लोकमाप्नोत्यमुम्। अथर्व०९.६.१३

८८ अथर्व०९.६.३

८९ अथर्व०१५.१३.१-२

९० सत्यस्य युवानमद्रोघवाचं सुशेवम्। अथर्व०६.१.२

९१ जिह्वाया अग्रे मधु मे। अथर्व०१.३४.२

९२ वाचा वदामि मधुमत्। अथर्व०१.३४.३

९३ मधु मे मधुला करः। अथर्व०५.१५.११

९४ मधुमतीं वाचमुदेयम्। अथर्व०१६.२.२

९५ अथर्व०६.६४.२,३; ३.३०.६

९६ अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत।
अथर्व०६.९४.२

९७ अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत।
अथर्व०६.९४.२; ३.८.६

९८ सुमनसं मा कृणु स्वस्तये। अथर्व०६.९९.३

९९ अथर्व०६.४२

१०० अथर्व०१२.१

१०१ अथर्व०६.१८; ७.४५

१०२ अथर्व०८.४.१३

१०३ अथर्व०६.५१.३

१०४ अथर्व०५.३०.३

१०५ अथर्व०६.४२.३; ६.४३

१०६ अथर्व०२.६.५

१०७ अनागोहत्या वै भीमा कृत्ये मा नो गामश्वं पुरुषं वधीः।
अथर्व०१०.१.२९

१०८ अथर्व०६.१२०.१

१०९ अथर्व०८.८.९

११० अथर्व०१२.५.७-११

१११ अथर्व०६.११९.१

११२ अथर्व०६.११७; ६.११८; ६.११९

११३ अथर्व०६.११८.१; ६.११९.१

११४ अथर्व०१०.१.११

११५ यदग्ने तपसा तप उपतप्यामहे तपः। प्रियाः श्रुतानि शृण्वन्तो वयमायुष्मन्तः सुमेधसः॥ अथर्व०७.६१.१

११६ घर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत्। अथर्व०११.५.५

११७ John Mackenzie, Hindu Ethics, New Delhi, 1971. p.26

११८ जे०एन०सिन्हा, नीतिशास्त्र, मेरठ, १९६० पृ०५३

११९ क्षेत्रियात् त्वा निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्। अथर्व०२.१०.१

१२० अचित्त्या चेत् तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः। अथर्व०६.५१.३

१२१ यन्मे माता यन्मे पिता भ्रातरो यच्च मे स्वा यदेनश्चकृमा वयम। ततो नो वारयिष्यतेऽयं देवो वनस्पतिः॥ अथर्व०१०.३.८

१२२ एम०ब्लूमफील्ड, अथर्ववेद एवं गोपथ ब्राह्मण, अनु०सूर्यकान्त, वाराणसी, १९६४, पृ०१७२

१२३ अथर्व०१३.१.५८; १६.१.१२१

१२४ द्वादशधा निहितं त्रितस्यापमृष्टं मनुष्यैनसानि। अथर्व०६.११३.३

१२५ अथर्व०६.११४.२

१२६ अथर्व०६.११४.१

१२७ अथर्व०१०.१.१०

१२८ त्रिते देवा अमृजतैतदेनस्त्रित एनन्मनुष्येपु ममृजे। अथर्व०६.११३.१, सायण-ममृजे मृष्टवान् निर्माजनेन स्थापितवान्।

१२९ देवैनसादुन्मदितमुन्मत्तम। अथर्व०६.१११.३

१३० देवैनसात् पित्र्यान्नामग्राहात संदेश्यादिभिनिष्कृतात्। अथर्व०१०.१.१२

१३१ कृत्यां सन्तु कृत्याकृते शपथः शपथीयते। अथर्व०५.१४.५

१३२ शप्तारमेतु शपथो यः सुहार्त् तेन नः सह। अथर्व०२.७.५

१३३ यद दुष्कृतं यच्छमलं यद वा चेरिम पापया। अथर्व०७.६५.२

१३४ अथर्व०७.६५.३

१३५ एनो मा नि गां कतमच्चनाहम। अथर्व०५.३.४

शङ्कः कृशनः पात्वंहसः। अथर्व०४.१०.१

१३६ अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि। अथर्व०२.१०.१

१३७ अव मा पाप्मन्त्सृज। अथर्व०६.२६.१

१३८ मुञ्चामि वरुणस्य पाशात। अथर्व०२.१०.१

१३९ A.A. Macdonell, Vedic Mythology, Strassburg, 1897, p.27

१४० यः शश्वतो मह्येनो दधानानमन्यमानांछर्वा जघान। अथर्व०२०.३४.१०

१४१ अथर्व०१४.१.३०

१४२ येपु सौमनसो बहुः। अथर्व०७.६०.२

सूनृतावन्तः सुभगा इरावन्तो हसामुदाः।
अतृष्या अक्षुध्या स्त गृहा मास्मद बिभीतन॥ अथर्व०७.६०.६

१४३ विश्वा रूपाणि पुष्यत। अथर्व०७.६०.७

१४४ अथर्व०१.१४.२-३

१४५ अथर्व०१४.१.४४

१४६ स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्ये गृहेभ्यः।
स्योनास्यै सर्वस्यै विशे स्योना पुष्टायैषां भव॥ अथर्व०१४.२.२७

१४७ अथर्व०१४.२.२८

१४८ पत्युरनुव्रता भूत्वा। अथर्व०१४.१.४२

१४९ नान्यासां कीर्तयाश्चन। अथर्व०७.३७.१; ७.३८.४

१५० पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्। अथर्व०१८.१.१४

१५१ अथर्व०६.१२०.१

१५२ अथर्व०९.६

१५३ सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामिदेकामभ्यंहुरो गात्। अथर्व०५.१.६

१५४ उतामृतासुर्व्रत एमि कृण्वन्नसुरात्मा तन्वं३स्तत् सुमद्गुः। अथर्व०५.१.७

१५५ ब्लूमफील्ड, अथर्ववेद एवं गोपथ ब्राह्मण, अनु०सूर्यकान्त, पृ०३६

१५६ H.D.Griswold, The Religion of the Rigveda, Motilal Banarsidas, 1971, p.25, 353.

१५७ अथर्व०४.१६.२; ४.२९.१, १९.४४.८

Vaidika Vāg-Jyotiḥ
ISSN 2277-4351

Vol.1, No.1 (76-81) Jul-Dec 2012

वैदिकवाङ्मय में प्रायश्चित्त विधान

वीरेन्द्र कुमार मिश्र

प्रोफेसर-संस्कृतविभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, समरहिल, शिमला (हिमाचल प्रदेश)

वैदिकवाङ्मय में प्रायश्चित्त तथा प्रायश्चित्ति शब्दों का प्रयोग हुआ है। दोनों शब्दों का अर्थ समान है। तैत्तिरीय संहिता[१] में प्रायश्चित्ति शब्द कई बार प्रयुक्त हुआ है। इसका (प्रायश्चित्ति का) अर्थ है कि ऐसा कोई कृत्य करना जिससे किसी अचानक हुई घटना या अनर्थ का निवारण सम्भव हो। अथवा अचानक घटित घटना के दुष्प्रभाव को दूर करने के लिये जो उपाय किया जाता है, उसी का नाम प्रायश्चित्त है। तैत्तिरीय संहिता[२] में कहा गया है कि यह प्रायश्चित्ति सबकी भेषज स्वरूप है। कौषीतकि[३] ब्राह्मण में उल्लेख है कि यज्ञ में त्रुटि हो जाने से उसका प्रभाव ब्रह्मा पर होता है। तब ब्रह्मा तीन वेदों से उसका परिमार्जन करता है। यजुर्वेद[४] में प्रायश्चित्ति शब्द का उल्लेख एक मन्त्र में आया है। अथर्ववेद में प्रायश्चित्ति शब्द का उल्लेख करते हुए कहा है कि वही निश्चय से उस मङ्गल और सुखकर वस्त्र का लेता है जो प्रायश्चित्ति का अध्ययन करता है, जिससे पत्नी नष्ट नहीं होती है।[५]

यह शब्द ऐतरेय ब्राह्मण[६], कौषीतकि ब्राह्मण[७], शतपथब्राह्मण[८], आश्वलायन[९] श्रौतसूत्र, शांखायन[१०] श्रौतसूत्र, वैखानस[११] श्रौतसूत्र, पारस्कर[१२] गृह्यसूत्र में प्राप्त होता है।

आश्वलायन श्रौतसूत्र ३.१० की नारायण टीका में उल्लेख है-'विहितस्याकरणेऽन्यथा करणे च प्रायश्चित्तिः कर्त्तव्या। प्रायो विनाशः चित्तिः सन्धानम्। विनष्टसंधानं प्रायश्चित्तिरित्युक्तं भवति।''[१३]

प्रायश्चित्त शब्द की व्युत्पत्ति कतिपय विद्वानों ने प्रायः (अर्थात् तप) तथा चित्त (अर्थात् संकल्प या दृढ़ विश्वास) से की है। इसका सम्बन्ध तप करने के संकल्प से है, इससे पाप का परिमार्जन होगा। यथा-प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते। तपो निश्चय संयोगात् प्रायश्चित्तमिति स्मृतम्।[१४]

महामहोपाध्याय पी०वी०काणे ने हेमाद्रि को उद्धृत करते हुए लिखा है कि-''हेमाद्रि ने भी एक अज्ञात भाष्यकार की व्याख्या की ओर संकेत किया है; 'प्रायः' का अर्थ 'विनाश' और चित्त का अर्थ है 'सन्धान' (एक साथ जोड़ना) अतः प्रायश्चित्त का अर्थ हुआ जो नष्ट हो गया है उसकी 'पूर्ति'। अतः यह पापक्षय के लिये नैमित्तिक कार्य हुआ-''भाष्यकारस्तु प्रायो विनाशः चित्तं सन्धानं विनष्टस्य सन्धानमिति विभागयोगेन प्रायश्चित्तशब्दः पापक्षयार्थे नैमित्तिके कर्मविशेषे वर्तते। हेमादि प्रायश्चित्त, पृ०९८९।''[१५]

आचार्य सायण ने प्रायश्चित्त शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है कि प्रायः शब्द 'प्र' तथा 'अयः' से निष्पन्न है। इसका अर्थ है जो विधान है उसको सम्पादित न करने की घटना एवं चित्त का अर्थ है 'ज्ञान'। इस तरह किसी घटना की जानकारी के पश्चात् धार्मिक कृत्यों का पालन करना प्रायश्चित्त

कहलाता है। यथा-'अयम् अय: प्राप्ति:। प्रकर्षेण प्राय: विहितधर्माकरणस्य प्राप्तिरित्यर्थ:। तत्प्रकारविषयं चित्तं चित्तिर्ज्ञानम्। तत्पूर्वकानुष्ठानानि प्रायश्चित्तानि।''[१६]

यज्ञादि सम्पादन करते समय जो विधान है उसके सम्पादन में यदि कोई त्रुटि हो जाती है तो प्रायश्चित्त करने का विधान किया गया है। अग्निहोत्र करते समय यदि निम्नलिखित त्रुटियाँ हो जायें तो उनके लिये विहित प्रायश्चित्त कर लेने पर उनका परिमार्जन हो जाता है। यथा-

दुग्ध-दोहन तथा पात्र-भग्न होने पर विहित प्रायश्चित्त-अग्निहोत्र के निमित्त दुग्ध दोहन करने पर यदि दुग्ध पात्र में न गिरे अपितु इधर-उधर गिर जाये तो पात्र को जल में प्रक्षालित करना चाहिये उसके बाद पुन: दोहन करना चाहिये। अग्निहोत्रतपनी के भग्न हो जाने पर दूसरी अग्निहोत्र तपनी में दुग्ध दोहन करके और पकाकर एवं ऊपर उठाकर आहुति देने से प्रायश्चित्त हो जाता है।[१७]

कीटयुक्त पदार्थ से आहुति प्रदान करने पर प्रायश्चित्त-कीटयुक्त पदार्थ से आहुति प्रदान करने पर यजमान प्रजा एवं पशुविहीन हो जाता है। इसके प्रायश्चित्त हेतु प्राजापत्य ऋचा से वल्मीकि मृत्तिका लाकर के यज्ञ की स्थापना कर आहुति प्रदान कर फिर दुग्ध-दोहन कर आहुति प्रदान करने का विधान है।[१८]

वर्षा से दूषित हवि से आहुति प्रदान करने पर प्रायश्चित्त-वर्षा से दूषित हवि से आहुति प्रदान करने पर यजमान अपरूप अर्थात् निन्दित कुष्ठ और अर्श ये दोनों रोग प्राप्त करता है। इसके प्रायश्चित्त-निमित्त मैत्री ऋचा से समिधा का आधान कर पुन: अग्निहोत्र तपनी में दुग्ध-दोहन कर आहुति प्रदान करने का विधान है।[१९]

आहुति-प्रदान का समय व्यतीत होने पर प्रायश्चित्त-यदि सायंकाल अग्निहोत्र की आहुति करने का समय व्यतीत हो गया और आहुति प्रदान नहीं की गयी है तो **'दोषावस्तो: स्वाहा''**[२०] इस मन्त्र से आहुति प्रदान करना चाहिये और प्रात:कालीन आहुति का समय बीत जाने पर अर्थात् सूर्योदय बिना आहुति के हो गया है तब **'दिवो वस्तो: स्वाहा'**[२१] मन्त्र से आहुति प्रदान करनी चाहिये। प्रात:कालीन अग्निहोत्र सम्पन्न किये बिना दूसरी आहुति का अनुगमन होता है तब अरणि मन्थन करके पुन: अग्नि को उत्पन्न करके आहुति प्रदान करने से प्रायश्चित्त हो जाता है।[२२]

पूर्व की अग्नि में आहुति दिये बिना पश्चिमाग्नि में आहुति देने पर प्रायश्चित्त-शीघ्रतादि के कारण पूर्व की अग्नि में आहुति प्रदान नहीं की गयी और पश्चिमाग्नि में आहुति दे दी गयी है तब ऐसी दशा में पुन: अग्नि-मन्थन करके आहुति देने से प्रायश्चित्त होता है।[२३] किन्तु इसका विधान तैत्तिरीय संहिता में उपलब्ध होता है।

पूर्व प्रदत्त आहुति में उत्तराहुति का पात होने पर प्रायश्चित्त-पूर्व प्रदत्त आहुति में उत्तराहुति का पात होने पर यजमान द्विपादों अर्थात् पुत्रादि तथा पशुओं से रहित हो जाता है। इसी समस्या के निराकरण हेतु **'वानस्पती'** मन्त्रों से समिधाधान कर आहुति प्रदान कर फिर दूसरे पात्र में दुग्ध-दोहन कर आहुति प्रदान करना ही प्रायश्चित्त है।[२४]

आहिताग्नि के नष्ट हो जाने पर प्रायश्चित्त-नष्ट होती हुई आहिताग्नि को यजमान जब तक शम्या से उस आहिताग्नि को रोकता है तब तक वह गिर कर नष्ट हो जाती है, तब **'इदं त एकं पर...जनित्रे** मन्त्र से उसका सम्भरण करने से प्रायश्चित्त होता है।[२५]

अग्निहोत्र के प्रायश्चित्त-विधान के पश्चात् दर्शपौर्णमास यज्ञ में भी प्रायश्चित्तविषयक विधान विहित है। दर्शपूर्णमास यज्ञ सम्पादन में त्रुटियों के होने पर दोष उत्पन्न होता है। इस दोष के परिमार्जन हेतु प्रायश्चित्त करने का विधान है।

आहवनीयाग्नि के नष्ट हो जाने पर प्रायश्चित्त-यज्ञ की आहवनीयाग्नि के विनाश के

परिहारार्थ प्रायश्चित्त का विधान है। विनाश रूप परिहार के लिये उस अग्नि के पूर्व की ओर मुख करके आहवनीयाग्नि को लाने का विधान है। लाने से पहले उस अग्नि के निकट ''**भूरिति**'' मानसिक जप का विधान है। इससे यज्ञ संतति विच्छिन्न होने का परिहार होता है, यजमान ऐश्वर्य सम्पन्न होता है।[२६]

यज्ञानुष्ठान के दिन पत्नी के अनालम्भुका (रजस्वला) होने पर प्रायश्चित्त-यज्ञ के अनुष्ठान के दिन पत्नी के अनालम्भुका (रजस्वला) हो जाने से यज्ञ का आधाभाग नष्ट होता है। यज्ञ में जो कार्य पत्नी के द्वारा करणीय होता है वह कार्य सम्पन्न न हो पाने से धन की हानि होती है, अतः इस धनहानि के निवारणार्थ पत्नी को यज्ञ के बाहर ही रोककर यज्ञ का सम्पूर्ण कार्य सम्पन्न किया जाता है। इसके प्रायश्चित्त के लिये इष्टि के पश्चात् रजस्वला की तीन रात्रियाँ बीत जाने पर ''**द्यौरहं पृथिवी त्वम्**'' मन्त्रोच्चारण के साथ भोगार्थ पुकारने का विधान है।[२७]

अन्वाधान करके इष्टि किये बिना यजमान के चले जाने पर प्रायश्चित्त-अन्वाधान करने के पश्चात् उसमें आहुति प्रदान किये बिना यदि यजमान चला जाता है तो उसे कामनानुकूल धनादि की प्राप्ति नहीं होती है। प्रारम्भ में अग्नि-प्रवेश के समय यजमान के कार्यों से सभी पदार्थ प्रसन्न होते हैं तथा इष्टि सम्पन्न न करने पर अर्थात् अपमान हो जाने से वह दूर हो जाती है। इसलिये काम-प्रीति यजमान का त्याग करती है। इससे यजमान तेज, वीर्यादि से क्षीण हो जाता है। इसके पश्चात् आहित अग्नियों में '**तुभ्यं ता अङ्गिरसतम्**' मन्त्र से दोषमुक्ति के निमित्त आहुति प्रदान करता है। इस प्रकार आहुति प्रदान करके यजमान पुनः तेज और वीर्यसम्पन्न हो जाता है।[२८]

हवि के निमित्त दूर किये हुए बछड़ों के स्तनपान करने पर प्रायश्चित्त-प्रदान की जाने वाली हवि के निमित्त दूर किये गये बछड़े यदि गायों का स्तनपान करते हैं तो वह हविरूप दुग्ध औषधि और पशुओं में प्रविष्ट हो जाता है, इससे दोष उत्पन्न होता है। इस दोष की मुक्ति हेतु 'वायु देवता' के निमित्त 'यवागू' का निर्वाप विहित है। ''**वायवः स्थोपायवः**'' मन्त्रानुसार बछड़े वायु देवता के आश्रित होते हैं। वायु दुग्धदाता है।[२९]

एतत्पश्चात् द्वितीय दिवस अनुष्ठित की जाने राली सान्नाया-सिद्धि हेतु बछड़ों का अलग किया जाता है। यहाँ प्रायश्चित्त हेतु यवागू का निर्वाप विहित है।[३०]

सायंकालीन दुग्ध-हवि के नष्ट हो जाने पर प्रायश्चित्त-दर्शपूर्णमासयज्ञकर्त्ता यजमान की सायंकालीन दुग्ध हवि के नष्ट होने पर वह दोषी होता है। दोष परिहारार्थ प्रायश्चित्त करने का विधान है। यज्ञ में कुछ देवता पूर्व दिवस सायंकाल तथा कुछ देवता द्वितीय दिवस सायंकाल आते हैं। इससे सायंकालीन देवता अपने कार्य से वञ्चित हो जाते हैं। इससे यजमान दोष का अधिकारी हो जाता है। इसके परिहार के लिये इन्द्र देवता के लिये व्रीहि का निर्वाप तथा इसी दिन पुरोडाश पकाकर अग्नि के निकट निवास करने का विधान है।

तत्पश्चात् प्रातःकालीन दुग्ध पकाकर द्वितीय दिवस ''**निरूप्त ऐन्द्र पुरोडाश**'' किया जाता है और दुग्ध प्रदान किया जाता है। द्वितीय दिन में हविरूप दुग्ध हेतु बछड़ों को दूर किया जाना विहित है। यहाँ पुरोडाश-निर्वाप ही प्रायश्चित्त रूप में कहा गया है।[३१]

प्रातः एवं सायंकाल की हवि के नष्ट होने पर प्रायश्चित्त-प्रातः और सायंकालीन हवि के नष्ट हो जाने पर यजमान दोष का अधिकारी हो जाता है। दोनों समय की हवि नष्ट होने पर यजमान दोष का अधिकारी हो जाता है। दोनों समय की हवि नष्ट होने यजमान के यहाँ दोनों समयों में आने वाले देवता अपने-अपने भाग से रहित हो जाते हैं। इससे दोष उत्पन्न होता है। इसके परिहार के लिये यजमान इन्द्र देवता के निमित्त पञ्च शराब परिमित-

हवि हेतु ओदन-निर्वाप करे यह विहित है। किन्तु ओदन-निर्वाप से पूर्व अग्नि देवता निमित्त अष्टाकपाल पुरोडाश का यजन विहित है, इससे अग्निमुख[३२] देवता हर्षित होते हैं। अग्नि के साथ अन्य देवता इन्द्रादि प्रदत्त हविर्द्रव्य से आनन्दित होते हैं। तदनन्तर द्वितीय हविरूप दुग्ध के लिये गो-दोहनकाल में बछड़ों को दूर रखने का विधान प्रायश्चित्त निमित्त विहित है।[३३]

दर्शपूर्णमास यज्ञ में विहित प्रायश्चित्त के वर्णन के पश्चात् ज्योतिष्टोम यज्ञार्थविहित कतिपय अनुष्ठेय प्रायश्चित्त अधोलिखित हैं-

वस[३४] तीवरी जलों के विषाक्त होने पर प्रायश्चित्त-वसतीवरी नामक जलों के विषयुक्त होने पर इन जलों को उपयोगार्थ ग्रहण करने पर दोष होता है। इस दोष के परिहारार्थ "**पृथिवि विभूवरि**" आदि मन्त्रों से आहुति प्रदान करने का विधान है। इसी से दोष का प्रायश्चित्त हो जाता है।[३५]

सोम के गिरने पर प्रायश्चित्त-आहुति प्रदान करते समय सोम के गिरने पर दोष लगता है। इस दोष से मुक्ति-प्राप्ति निमित्त "**स ईं वृषाजनयत्तासु**" आदि मन्त्रों से आहुतियाँ प्रदान की जाती हैं।[३६] यही प्रायश्चित्त विहित है। तैत्तिरीयसंहिता में इसके प्रायश्चित्त का उल्लेख नहीं है।

सोमपान के बिना चले जाने पर प्रायश्चित्त-यज्ञ में यदि देवता सोमपान किये बिना चले जाते हैं तो इससे यजमान पाप का अधिकारी हो जाता है, इसके परिहार के लिये "**यज्ञस्य हि स्थ.....अप्यते देवान्**" मन्त्रों से आहुतियाँ प्रदान करने का विधान है।[३७] इसी से प्रायश्चित्त होता है।

भक्ष्यपदार्थ के नष्ट होने पर प्रायश्चित्त-यज्ञ करते समय भक्ष्य पद के नष्ट हो जाने पर यजमान दोषी हो जाता है। इस दोष परिमार्जन के लिये "सप्तर्त्विज: सप्त...हितमवमेहन्ति पेरव:" मन्त्रों से आहुतियाँ प्रदान की जाती हैं।[३८] ऐसा प्रायश्चित्तार्थ विधान है।

द्रोणकलश के टूटने पर प्रायश्चित्त:-सोमरस निकालकर पात्रों को भरते समय यदि द्रोणकलश टूट जाये तो यजमान दोष का भागी होता है। इस दोष को दूर करने के लिये "**असवे स्वाहा...यद्गोष्वश्वेष्वोषधीष्वप्सु**" मन्त्र से आहुतियाँ प्रदान की जाती हैं। इसी से उक्त दोष का प्रायश्चित्त होता है। तैत्तिरीयसंहिता में इसके प्रायश्चित्त का विधान नहीं है।

ध्रुवा टूटने पर प्रायश्चित्त-यज्ञसम्पन्न करते समय ध्रुवा टूट जाने पर उत्पन्न दोष के शमनार्थ "**असवे स्वाहा...ध्रुवो राजा विशामसि**" मन्त्रों के द्वारा यजमान आहुतियाँ प्रदान करता है।[३९]

ऋतुग्रह ग्रहण के समय त्रुटि होने पर प्रायश्चित्त-सोमाभिषवन के पश्चात् ऋतुग्रहों के पूर्ण करते समय त्रुटि हो जाने पर दोषोत्पत्ति के परिमार्जन हेतु "**मधुश्च माधवश्च**" मन्त्रों से आहुति देने पर यजमान के पाप की निवृत्ति होती है।[४०]

दीक्षित के अवकिरण करने पर प्रायश्चित्त-दीक्षित यजमान के अवकिरण करने पर उत्पन्न दोष के प्रायश्चित्त हेतु "**तपोष्वग्ने अन्तरां...**" मन्त्रों से आहुतियाँ प्रदान की जाती हैं।[४१]

चमस-भक्षण से पूर्व स्तोत्र न करने पर प्रायश्चित्त-चमसभक्षण से पूर्व स्तोत्र पाठ न करने पर दोष होता है। इसके शमन के लिये प्रायश्चित्त हेतु "हिरण्यगर्भ" आदि मन्त्रों से आहुतियाँ प्रदान करने का उल्लेख है।[४२]

चमस तथा ग्रावा के टूटने पर प्रायश्चित्त-सोम का रस निकालते समय चमस तथा ग्रावा के टूटने पर यजमान पाप का अधिकारी होता है। इसके लिये चमस में सोम ग्रहण होता है तथा आहुतियाँ प्रदान की जाती है। ग्रावा के टूटने से यजमान पशुओं से हीन हो जाता है। इसके लिये "ब्रह्म साम" से स्तुति विहित है। इसी से प्रायश्चित्त होता है।[४३]

सोम के भस्म होने पर प्रायश्चित्त-सोमाभिषवन के समय सोम के भस्म होने पर

पापोत्पत्ति होती है। इस पाप की निवृत्त्यर्थ उद्गाता स्तोत्र-पाठ करता है तथा होता शस्त्र-पाठ करता है। इसके लिये पञ्चवरादक्षिणा देकर तथा अवभृथ स्नान करके पुनः दीक्षा ग्रहण करनी पड़ती है, तभी पाप से परिमार्जन होता है।[४४]

इस प्रकार यज्ञ करते समय जो त्रुटियाँ हो जाती हैं, उनके लिये प्रायश्चित्त करने से दोषों का परिहार सम्भव हो जाता है। प्रायश्चित्त न करने पर यजमान के अभीप्सित की सिद्धि नहीं होती है। धर्मसूत्रों में जिन प्रायश्चित्तों का विधान किया गया है, उनका वर्णन यहाँ नहीं किया गया है।

पाद-टिप्पणियां-

१ (क) असावादित्यो न व्यरोचत तस्मै देवाः प्रायश्चित्तिमैच्छन्। तै०सं०२.१.२.४; २.१.४.१
(ख) यदि भिद्यते तैरेव कपालैः संसृजेत्सैव ततः प्रायश्चित्तिः। तै०सं०५.१.९.३

२ एष वै प्रजापतिं सर्वं करोति योऽवमेधेन यजते सर्व भवति सर्वस्य वा एषा प्रायश्चित्तिः सर्वस्य भेषजम्। तै०सं०५.३.१२.१

३ यद्वै यज्ञस्य स्खलितं वोल्बण वा भवति ब्रह्मण एव तत्प्राहुस्तस्य त्रय्या विद्ययाभिषज्यति। कौषीतकि ब्राह्मण ६.१२

४ तप॑से॒ स्वाहा॑ तप्य॑ते॒ स्वाहा॑ तप्य॑मानाय॒ स्वाहा॑ त॒प्ताय॒ स्वाहा॑ घ॒र्माय॒ स्वाहा॑। निष्कृ॑त्यै॒ स्वाहा॑ प्राय॑श्चित्त्यै॒ स्वाहा॑ भे॒ष॒जाय॒ स्वाहा॑॥ यजु०३९.१२

५ स इत् तत् स्यो॒नं ह॑रति ब्र॒ह्मा वास॑ः सुम॒ङ्गल॑म्। प्राय॑श्चित्तिं॒ यो अ॒ध्येति॒ येन॑ जा॒या न रिष्य॑ति। अथर्व०१४.१.३०

६ ऐ०ब्रा०५.२७

७ कौ०ब्रा०५.९.६.१२

८ शत०ब्रा०४.५.७.१; ७.१.४.९; ९.५.३.८; १२.५.१.६

९ विध्यपराधे प्रायश्चित्तिः। आश्व०श्रौ०सू०३.१०

१० विध्यपराधे प्रायश्चित्तम् अर्थलोपे प्रतिनिधिः। शां०श्रौ०सू०३.१९.१

११ विध्यपराधे प्रायश्चित्तं दोषनिघातार्थं विधीयतेऽनाज्ञाते विशेषे ध्यानं नारायणस्य तज्जपेज्याहोमाश्च हननार्थमिति। वै०श्रौ०२०.१

१२ पार०गृह्य०१.१०

१३ आश्व०श्रौ०३.१० (नारायण टीका)

१४ अंगिरा, प्रायश्चित्त विवेक पृष्ठ-२, गौतमधर्मसूत्र ३.१३ पर हरदत्त की व्याख्या पृष्ठ १९९

१५ धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ०१०४४

१६ सामविधान ब्राह्मण १.५.१ (सायणभाष्य)

१७ मै०सं०१.८.२.३; काठक सं०६.३; कपिष्ठल कठ संहिता ४.२

१८ काठक संहिता ३५.१८-१९; कपिष्ठल कठ संहिता ४८.१६-१७; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.७.१.२

१९ काठक संहिता ३५.१८-१९; कपिष्ठल कठ संहिता ४८.१६-१७; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.७.१.२

२० मैत्रायणी सं०१.८.७; काठकसंहिता ६.८; कपिष्ठल कठ संहिता ४.७

२१ मैत्रायणी सं०१.८.७; काठकसंहिता ६.८; कपिष्ठल कठ संहिता ४.७

२२ मैत्रायणी संहिता १.८.७.८.९; काठकसंहिता ६.६; कपिष्ठल कठ-संहिता ४.५, ४७.१५

२३ काठक संहिता ६.६; मैत्रायणी १.८.७.८.९; कपिष्ठल कठसंहिता ४.५

२४ काठकसंहिता ३५.१९; तैत्तिरीयब्राह्मण ३.७.२; कपिष्ठल-कठसंहिता ४.५, ४८.१७

२५ काठकसंहिता ३५.१७; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.७.१; कपिष्ठल कठसंहिता ४८.१५

२६ काठकसंहिता ३५.१७; कपिष्ठल कठसंहिता ४८.१५; तैत्तिरीयब्राह्मण ३.७.१

२७ काठकसंहिता ३५.१९; कपिष्ठल कठसंहिता ४८.१७; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.७.२
२८ काठकसंहिता ३५.१७; कपिष्ठल कठसंहिता ४८.१५; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.७.१
२९ तैत्तिरीयसंहिता १.१.१; मैत्रायणीसंहिता १.१.१; ४.१.१; काठकसंहिता १.१; ३०.१०; कपिष्ठल कठसंहिता-१.१; ४६.८
३० काठकसंहिता-३५.१७; कपिष्ठल कठसंहिता-४८.१५; तैत्तिरीयब्राह्मण ३.७.१
३१ काठकसंहिता ३५.१८; कपिष्ठल कठसंहिता ४८.१६; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.७.१.२; ऐतरेय ब्राह्मण ७.४
३२ अग्निमुखा वै देवा:-ऐतरेय ब्राह्मण ७.४
३३ काठकसंहिता ३५.१८; कपिष्ठल कठ संहिता-४८.१६; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.७.१
३४ सोमाभिषव करने के लिये जिस जल की आवश्यकता होती है उनका नाम वसतीवरी है।
३५ काठकसंहिता-३५.३; कपिष्ठल कठसंहिता ४८.४
३६ काठक संहिता ३५.३-४; कपिष्ठल कठसंहिता-४८.४-५,९।
३७ काठक संहिता ३५.५; कपिष्ठल कठ संहिता ४८.६
३८ मैत्रायणी संहिता ३.१२.११; काठकसंहिता ३५.५-६; कपिष्ठल कठ संहिता ४८.६-७, तैत्ति०ब्राह्मण ३०.१०.७
३९ मैत्रायणीसंहिता ३.१२.११; काठकसंहिता ३५.१०.८.७; कपिष्ठल कठसंहिता ४८.९-१२
४० काठक संहिता ३५.८.७; कपिष्ठल कठ सं०४८.९
४१ काठक संहिता ३५.९; कपिष्ठल कठ संहिता ४८.१०
४२ काठक संहिता ३५.१३-१४; कपिष्ठल कठसंहिता ४८.३।
४३ काठक संहिता ३५.१३-१४; कपिष्ठल कठ संहिता ४८.१३
४४ काठक संहिता ३५.१६; कपिष्ठल कठ संहिता ४८.१४

Vaidika Vāg-Jyotiḥ
ISSN 2277-4351

Vol.1, No.1 (82-86) Jul-Dec 2012

निर्वचन-पद्धति का आदि स्रोत : वेद

मनुदेव बन्धु
प्रोफेसर वेद विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

विश्व साहित्य में वेदों से प्राचीन कोई वाङ्मय नहीं है। वेदों के विश्वसाहित्य में गौरव का कारण उनके उच्चस्तरीय ज्ञान-विज्ञान की पराकाष्ठा है। उनमें वर्णित ज्ञानस्तर के समक्ष आज सभ्य और विकसित कहे जाने वाले इस युग का उन्नत से उन्नत साहित्य के समक्ष बिन्दु का भी स्थान बड़ी कठिनता से रखता है।

मैक्समूलर ने कहा था-'' संसार के समस्त पुस्तकालयों में ऋग्वेद सबसे प्राचीनतम पुस्तक है।'' Rigveda is the oldest book in the world library. महर्षि दयानन्द सरस्वती जी की उद्घोषणा भी विचारणीय है-''वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।'' वेद ईश्वर की कृति हैं, ऐसा वेदों में लिखा है। इतने प्राचीन और गम्भीरतम साहित्य का कालान्तर में क्रमशः अस्पष्ट होते जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। जब मानव शनैः शनैः वेदार्थ को कम समझने लगा, तब हमारे ऋषियों और मनीषियों ने वेदार्थ स्पष्ट करने और वेदाध्ययन-अध्यापन के संरक्षणार्थ षडङ्गों का निर्माण किया। जिनमें निर्वचन शास्त्र (निरुक्त) का अतिमहत्त्वपूर्ण स्थान है। मनीषियों ने ''**निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते**' कहकर निरुक्त को श्रोत्र से उपमित किया है। यह नितान्त सत्य है कि हम बिना निरुक्त ज्ञान के वेद को नहीं समझ सकते। आचार्य शिपिविष्ट से लेकर आचार्य यास्क तक निर्वचन शास्त्र का विकास तथा प्रचार होता रहा है। आचार्य यास्क के पश्चात् निरुक्त से सम्बन्धित किसी मौलिक ग्रन्थ का प्रणयन नहीं हो सका। केवलमात्र यास्क प्रणीत निरुक्त पर विभिन्न आचार्यों ने अपनी-अपनी टीकाएं लिखी हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि इतने महत्त्वपूर्ण निर्वचनशास्त्र का आदि स्रोत क्या है? क्या यह शब्द-निर्वचन की शैली ऋषियों की अपनी मेधा की उपलब्धि है, जो उन्होंने कहीं अन्य स्थान से इस शैली को ग्रहण किया है। वेदों को अपौरुषेय स्वीकृत करते हुए वैदिक चिन्तन-सन्तति ने विश्व की समस्त विद्याओं का आदि स्रोत स्वीकार किया है। इस दृष्टि से वेदों का अवलोकन और विलोडन किया जाय, तो वस्तुतः वेदों में गणित, ज्योतिष, रसायन, जीवविज्ञान, भौतिकशास्त्र तथा निर्वचन आदि का मूल उपलब्ध होता है। तात्पर्य यह है कि निरुक्त की निर्वचन पद्धति ऋषियों की अपनी मेधा की उपज नहीं कही जा सकती। क्योंकि इस पद्धति का मूल वेदों में स्पष्टतया उपलब्ध होता है। परन्तु वेदों में संक्षिप्त संकेतों को प्राप्त कर उसके आधार पर एक विशाल और विकसित शास्त्र का निर्माण साधारण मेधा के वश की बात नहीं थी, इसके

लिये भी ऋषित्व ही अपेक्षित था। हमारे ऋषियों और आचार्यों ने वेदों में तर्कयुक्त सरल शब्द निर्वचन-पद्धति को देखकर एक विशिष्ट शब्दार्थशैली को प्रस्थापित किया। जिनका संकलन निरुक्त नाम से प्रसिद्ध हुआ। सम्प्रति यास्कमुनि का ही निरुक्त उपलब्ध होता है। यास्क के विषय में काल की दृष्टि से विद्वानों में मतैक्य नहीं है। परन्तु यह तो निश्चित है कि यास्क महाभारत के पूर्व ही सम्प्रतिष्ठित होते हैं। इन आचार्यों में स्वाध्यायकर्त्ता और विद्वानों के लिये वरदान सिद्ध हुआ है।

यहाँ स्थालीपुलाकन्याय से वेदों के कुछ अतिस्पष्ट उदाहरण देना चाहते हैं, जिससे यह प्रमाणित होता है कि निर्वचन पद्धति का आदि स्रोत वेद है। उदाहरणार्थ-ऋग्वेद १.३४.१० में हवि शब्द का निर्वचन करते हुए लिखा, ''हूयते हवि:''। उसी प्रकार ऋग्वेद १.९.९ में 'ऋग्मियम्' की निरुक्ति में लिखा है-''**गीर्भिर्गृणन्त ऋग्मियम्**'' अर्थात् वाणी से जिसकी स्तुति या अर्चना की जाये वह ऋग्मियम् अर्चनीय परमेश्वर है। यास्क ने ऋग्मियम् की निरुक्ति वेद के अनुसार ही की है-ऋग्मियम् ऋग्मन्तम् इति वा अर्चनीयमिति वा अर्थात् ऋचावान् या पूजनीय अर्थ हुआ।

अथर्ववेद ३.१३ में नदी और जल के अपने पर्यायवाची शब्दों का निर्वचन अत्यन्त ही मनोरम किया है। नदी शब्द की निरुक्ति कितनी स्वाभाविक की गयी है-

यदुदः संप्रयतीरहावनंदता हते।
तस्मादा नद्यो३ नाम स्थ ता वो नामानि सिन्धवः॥

अर्थात् (सिन्धवः) हे बहने वाली नदियो! (सम्प्रयन्ती) मिलकर आगे बढ़ती हुई तुमने (अहो हते) मेघ के ताड़ने पर (अदः यत्) वह जो (अनदत्) नाद किया (तस्मात् —आ) इसलिये ही (नद्यः) नाद करने वाली (नाम स्थ) तुम हो। आचार्य यास्क ने भी नदी शब्द की ही निरुक्ति की है-नद्यः कस्मात्? 'नदना इमे भवन्ति शब्दवत्यः' अर्थात् बहती हुई नदी से आवाज या नाद होता है। अतः उसे नहीं कहते हैं।

जल के पर्यायवाची ''आपः'' शब्द का निर्वचन अत्यन्त ही रमणीय ढंग से किया गया है-''आप्नोदिन्द्रो वो यतीस्तस्मादापो अनुष्ठान'' अर्थात् इन्द्र ने तुमको चलते हुए ''आप्नोत्'' प्राप्त किया ''तस्मादापः'' इसलिये तुम्हारा नाम आप है।

वेद के ''वार'' शब्द की निरुक्ति भी कितनी हृदयगम्य है-

''आप कामं स्यन्दमाना अवीवरद् वा हि कम्। इन्द्रो वः शक्तिभिर्देवीस्तस्माद्वार्नाम वो हितम्॥''

इन्द्र अर्थात् राजा ने तुमको व्यर्थ बहते हुए अपनी शक्ति से ''अवीवरत्'' वरण किया है। ''तस्माद् वार्नाम'' इसलिये तुम्हें वार नाम से पुकारा जाता है।

''उदकम्'' शब्द की निरुक्ति में तो वेद भगवान् ने चमत्कार ही उत्पन्न कर दिया है-

''उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते॥''

अर्थात् ''उदानिषुः'' ऊपर की ओर से श्वास लिया अर्थात् उछाला। ''तस्मादुदकमुच्यते'' इससे उदक कहा जाता है।

अग्निः-ले जाने और गति करने के कारण अग्नि को अग्नि कहा जाता है। यथा-

'अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम्॥ यजु०४०.१६॥

प्रणीतो अग्निरग्निना। यजु०१९.१७

अग्निर्नयन्नववास्त्वम्। ऋग्०१.३६.१८

अग्निः कस्मात्? अग्रणीर्भवति। अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते। अङ्गं नयति सन्नममानः। अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविः। न क्नोपयति न स्नेहयति। त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिः। इतात्। अक्ताद् दग्धाद्वा। नीतात्। स खल्वेतेरकारमादत्ते गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा नीः परः। तस्यैषा भवति।

निरु०७.१४

अक्षरम्-क्षरण और विनाश रहित होने के कारण अक्षर कहा जाता है। यथा-

सहस्राक्षरा भुवनस्य पङ्क्तिस्तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति। अथर्व०१३.१.४२

ततः क्षरत्यक्षरं तद् विश्वमुप जीवति।

ऋग्०१.१६४.४२

अक्षरं न क्षरति, न क्षीयते, अक्षरं भवति।

निरु०१३.१२

अक्षरं न क्षरं विद्यादश्नोतेर्वा सरोऽक्षरन्।

वर्णं वाऽऽहुः पूर्वसूत्रे किमर्थमुपदिश्यते॥

वर्णोच्चारण शिक्षा-स्वामी दयानन्द सरस्वती

अतिथिः-आतिथ्य (सेवा) करने के कारण अतिथि को अतिथि कहा जाता है अथवा जिसकी आने की तिथि निश्चित न हो। यथा-अत् सातत्यगमने-आतिथेरातिथ्यम्। यजु०५.१

समिधाऽग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्।

आस्मिन् हव्या जुहोतन। यजु०३.१

आतिथिरभ्यतितो गृहान्भवति। अभ्येति तिथिषु परकुलानि इति वा। परगृहाणीति वा। निरु०४.५

अन्नम्-जिसे हम खाते हैं और जो हमें खाता है, उसे अन्न कहते हैं। यथा-अद् भक्षणे-अन्नमन्नमदन्तमद्मि। सामवेद, पूर्वार्चिक ६.१.६, अन्नमश्नामि। अथर्व०७.१०१.१

अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते इति-तैत्तिरीयोपनिषद् २.२.१

अन्नं प्रयच्छन्त्यन्नाद एवं भवति।

तै०सं०२.३.२.६

अन्नमत्ति। मैत्रायणी उपनिषद् ५.११

अन्नमद्यते। मैत्रायणी उपनिषद् ३.१२

अमृतम्-मरणधर्मरहित होने के कारण अमृत को अमृत कहा जाता है। यथा-एमेनमवृधन्नमृता अमर्त्यं वैश्वानरं क्षैत्रजित्याय देवाः। यजुर्वेद ३३.६०

अमृतं वै प्रणवः, अमृतेनैव तन्मृत्युं तरति। गोपथ ब्राह्मण-२.३.११

अमृते अमरणधर्माणौ। निरुक्त २.२०

अर्कः-पूजनीय और सारतत्त्व होने के कारण अर्क को अर्क कहा जाता है। यथा-ऋच् स्तुतौ-इन्द्रमिद्गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः।

ऋग्वेद १.७.१

अर्चन्त्यर्कमर्किणः। ऋग्वेद १.१०.१

अर्चनीयं देवम्। अर्को देवो भवति, यदेनमर्चन्ति। निरुक्त ५.५

अव्ययम्-व्यय न होने के कारण अव्यय को अव्यय कहा जाता है। यथा-

अत्यक्रमीदर्जुनं वारमव्ययमत्कं न निक्तं परि सोमो अव्यत। ऋग्वेद ९.६९.४

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।

वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्॥

गोपथ ब्राह्मण १.१.२६

आयुः-निरन्तर गति-बृद्धि होने के कारण आयु को आयु कहा जाता है। यथा-

आयुमायवे देवा अकृण्वन्।

ऋग्वेद १.३१.११

आयुश्च वायुश्यनः। निरुक्त ९.३

इण् गतौ धातु, आ–यु मिश्रणामिश्रणयोः, अय गतौ।

आहुतिः-हवनकुण्ड में श्रद्धापूर्वक घी-सामग्री डालने के कारण आहुति को आहुति कहा जाता है। यथा-

प्रयाजेभिरनुयाजान् वषट्कारेभिराहुतीः। यजु०१९.१९

आहुतयो हूयन्ते। जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण ८.८.१.५

आहुतयो वै नामैता यदाहुतये एताभिर्वै देवान् यजमानो ह्वयति तदाहुतीनामाहुतित्वम्। ऐ०ब्राह्मण १.२

अग्नावाहुतयो हूयन्ते। निरुक्त ५.७

हुदानादानयोः ह्वेञ् आह्वाने

धातुः-सम्पूर्ण भुवन को और सम्पूर्ण शरीर को धारण करने के कारण धातु को धातु कहा जाता है। यथा-डुधाञ् धारणपोषणयोः- **य उ त्रिधातु पृथिवीमुत द्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा।** ऋग्वेद १.१५४.४

त्रिधातुभिररुषीभिर्वयो दधे रोचमानो वयो दधे। सामवेद १५९२

धर्त्ता-धारण-पोषण करने के कारण धर्त्ता को धर्त्ता कहा जाता है। यथा-धृञ् धारणे-धर्त्ता च विधर्ता च विधारयः। यजुर्वेद १७.८२

त्रितो धर्ता दाधार त्रीणि। अथर्व०५.१.१

धर्ता ध्रियस्व धरुणे पृथिव्याः। अथर्व०१२.३.३५

धर्ता ह त्वा धरुणो धारयाता। अथर्व०१८.३.२९

कर्मन्-कार्य करने के कारण कर्म को कर्म कहा जाता है। यथा-डुकृञ् करणे-

इन्द्रस्य कर्म सुकृता पुरूणि। ऋग्वेद ३.३०.१३

यस्मान्न ऋते किं चन कर्म क्रियते। यजु०३४.३

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः। यजुर्वेद ४०.२

न किष्ट कर्मन नशद्यश्चकार सदावृधम्। सामवेद ११५५

प्रथमा यानि कर्माणि चक्रिरे। अथर्ववेद ४.७.७

कर्म कस्मात् क्रियते इति सतः। निरुक्त ३.१

तन्तु- तनु विस्तारे। तानने अथवा विस्तार करने के कारण तन्तु को तन्तु कहा जाता है। यथा-

तन्तुं तनुष्व पूर्व्यं सुतसोमाय दाशुषे। ऋग्०१.१४२.१

नव्यंनव्यं तन्तुमा तन्वते। ऋग्०१.१५९.४

तन्तुं तन्वन् रजसो भानुमन्विहि। ऋग्०१०.५३.६

तन्तुं तन्वानस्त्रिवृतं यथा विदे। ऋग्०९.८६.३२

तन्तून् वि तत्निरे कवय ओतवा उ। ऋग्०१.१६४.५

त्राता- त्रैङ् रक्षणे। त्राण और रक्षा करने के कारण त्राता को त्राता कहा जाता है। यथा-

देवस्त्राता त्रायतामप्रयुच्छन्। ऋग्वेद १.१०६.७

पातं नो रुद्रा पायुभिरुत त्रायेथां सुत्रात्रा। ऋग्वेद ५.७०.३ तथा सामवेद ९८७

प्राणः-अन् प्राणने। प्राणन क्रिया करने और जीवनदान करने के कारण प्राण कहा जाता है। यथा-नमस्ते प्राण प्राणते। अथर्ववेद ११.४.८

प्राणो ह सर्वस्येश्वरो यच्च प्राणति यच्च न। अथर्ववेद ११.४.१०

यच्च प्राणति प्राणेन। अथर्ववेद ११.७.२३

योगः- युजिर् योगे, युज् समाधौ। जोड़ने के कारण अथवा समाधि प्राप्त करने के कारण योग को योग कहा जाता है। यथा-

योगाय ब्रह्मयोगैर्वो युनज्मि। अथर्ववेद १०.५.१

योगाय क्षत्रयोगैर्वो युनज्मि। अथर्ववेद १०.५.२

योगायेन्द्रयोगैर्वो युनज्मि। अथर्ववेद १०.५.३

योगाय सोमयोगैर्वो युनज्मि। अथर्ववेद १०.५.४

योगायाप्सुयोगैर्वो युनज्मि। अथर्ववेद १०.५.५

तौ युञ्जीत प्रथमौ योग आगते।

सामवेद १८६९

मर्त्यः:-मृङ् प्राणत्यागे। मरने के कारण अथवा प्राणत्याग करने के कारण मर्त्य को मर्त्य कहा जाता है। यथा-

यो ममार प्रथमो मर्त्यानाम्। अथर्ववेद १८.३.१३

वरः:-वृञ् वरणे। वरणे करने अथवा चयन करने के कारण वर को वर कहा जाता है। यथा-

गव्यं यव्यं यन्तो दीर्घहेषुंश वरमरुण्यो वरन्त। ऋग्वेद १.१४०.१३

भद्रं वै वरं वृणते। ऋग्वेद १०.१६४.२

वरं वृणीष्वेति। गोपथ ब्राह्मण १.२.१७

वरो वरयितव्यो भवति। निरुक्त १.७

रतिः:-रमु उपरमे। रमण करने के कारण रति को रति कहा जाता है। यथा-

इह रतिरिह रमध्वम्। यजुर्वेद ८.५१

रुचिः:- रुच् प्रीतौ। रुचिकर और अच्छा लगने के कारण रुचि को रुचि कहा जाता है। यथा-

रुचिरसि रोचोऽसि। स यथा त्वं रुच्या रोचोऽस्येवाहं पशुभिश्च ब्रह्मवर्चसेन च रुचिषीय।

अथर्ववेद १७.१.२१

इस प्रकार वेद के अनेक उदाहरण निर्वचन (Etimology) पद्धति के पक्ष में दिये जा सकते हैं। ऋग्वेद संहिता में लगभग चार सौ से भी अधिक एक ही धातु से निष्पन्न नाम और आख्यातों के इस प्रकार के प्रयोग मिलते हैं। वेद के उपर्युक्त उदाहरणों से यह सुस्पष्ट सिद्ध होता है कि निर्वचन पद्धति के विकास की प्रेरणा हमारे ऋषि-मनीषियों को वेदों से ही मिली है। उन्होंने वेद की शब्द निर्वचन शैली को ग्रहण कर "निरुक्त" जैसे वेदार्थ ज्ञापक और वेदार्थदीपक ग्रन्थ का प्रणयन किया। अतः निर्वचन पद्धति का आदि स्रोत वेद ही है। शब्दों का निर्वचन करने से शब्द का वास्तविक अर्थ सुस्पष्ट हो जाता है। यह निर्वचन पद्धति वेदार्थ-प्रक्रिया में परम सहायक है। ऋषि दयानन्द ने और आचार्य सायण ने इस निर्वचन पद्धति का प्रचुरमात्रा में आश्रय लिया है।

Vaidika Vāg-Jyotiḥ
ISSN 2277-4351

Vol.1, No.1 (87-91) Jul-Dec 2012

वैदिक मन्त्रों में संकेतित प्राणी-विज्ञान

प्रशस्य मित्र शास्त्री

(वैदिक प्रवक्ता) बी-२९, आनन्द नगर, जेल रोड, रायबरेली (उ०प्र०)

यह तो स्पष्ट है कि वैदिक संहिताएं न केवल संस्कृत साहित्य में अपितु सम्पूर्ण भाषा साहित्य में उपलब्ध आदिम ग्रन्थ हैं। वैसे भी संसार के विद्वानों में संस्कृत को प्राचीनतम भाषा मानने के साथ ही 'ऋग्वेद' को सबसे प्राचीन ग्रन्थ होना स्वीकार भी किया है।

वैदिक संहिताओं में ज्ञान-विज्ञान का विभिन्न रूप बीज रूप में उपलब्ध होता है। भले ही विज्ञान का आधुनिक विकसित स्वरूप उसमें दृष्टिगत न होता हो परन्तु समस्त प्रकार के ज्ञान एवं विज्ञान का उद्भव वेद से ही हुआ है तथा समस्त प्रकार के एवंविध ज्ञान-विज्ञान का बीज या मूल वेद में स्पष्ट रूप से प्राप्त होता है यह हमें मानने में किसी भी प्रकार की विप्रतिपत्ति नहीं है। इसी कारण मनु महाराज ने कहा है-

सर्वज्ञानमयो हि सः (मनु०२.७)

महाभारत के रचयिता कृष्णद्वैपायन ने भी लिखा है कि सृष्टि के आरम्भ में मानवों को विभिन्न प्रकार का ज्ञान वेद से ही उपलब्ध हुआ है-

यानीहागमशास्त्राणि याश्च काश्चित् प्रवृत्तयः।
तानि वेद पुरस्कृत्य प्रवृत्तानि यथा क्रमम्॥

यही पूर्वोक्त भाव मनुस्मृति के निम्न श्लोक में भी विद्यमान है-

बिभर्ति सर्वभूतानि वेद शास्त्रं सनातनम्।
भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति॥
(मनु०१२.१००)

समस्त शास्त्रों की उत्पत्ति वेद से ही होती है तथा विभिन्न प्रकार के ज्ञान-विज्ञान के आदिम स्रोत भारतीय परम्परा में 'वेद' को ही स्वीकार किया जाता है, इसका संकेत हमें **याज्ञवल्क्यस्मृति** के निम्न श्लोक से भी प्राप्त होता है-

न वेदशास्त्रादन्यत्तु किञ्चच्छास्त्रं हि विद्यते।
निःसृतं सर्वशास्त्रं तु वेदशास्त्रात् सनातनम्॥
(बृहद्योगि-याज्ञवल्क्य-स्मृति १२.१)

१.सृष्टि के प्रारम्भ में जीवन का आरम्भ-

ऋग्वेद के प्रसिद्ध पुरुषसूक्त के निम्न मन्त्रों से स्पष्ट होता है कि जब ब्रह्मा ने सृष्टि के समस्त भौतिक पदार्थों का निर्माण सम्पन्न किया तब उसके उपभोक्ता के रूप में उसने न केवल पशु-पक्षियों का ही निर्माण किया अपितु मानव के रूप में उसने सर्वाधिक बुद्धिमान् प्राणी का भी निर्माण किया तथा उसके लिये ज्ञान के भण्डार के रूप में ऋग्वेदादि चारों वेदों की रचना के साथ ही समस्त प्रकार की ज्ञानराशि को ऋषियों के माध्यम से मानवमात्र के लिये प्रदान की। सृष्टि रूपी यज्ञ में स्वयं वह परम पुरुष ही 'होता' था, 'यजमान' था तथा ऋतुएं कवि के रूप में सृष्टि-निर्माण में सहायक थीं-

यत् पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत। वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः॥

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।

छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः।

गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज्जाता अजावयः॥

ऋग्०१०.९०.६, ९-१०॥

इन मन्त्रों से स्पष्ट है कि मानवीय सृष्टि के निर्माण के साथ ही ब्रह्म ने वेदादि के माध्यम से नाना प्रकार का ज्ञान-विज्ञान मानव जाति को प्रदान किया। वैदिक ज्ञान के माध्यम से नाना प्रकार के जीवजन्तुओं के स्वभाव, उनके उपयोग एवं उससे प्राप्त होने वाले लाभों का संकेत भी वेदमन्त्रों के माध्यम से ऋषियों के पवित्र हृदय में उद्भासित किया।

२. यज्ञों में पशुओं की प्रदर्शनी-

वैदिक कर्मकाण्डीय ग्रन्थों में 'पशुयाग' की चर्चा प्रायः सुनने में आती है। वास्तव में यह पशुयाग प्राचीन जन्तुशास्त्र के विकास का भौतिक रूप है। यजुर्वेद के २४वें अध्याय के समस्त मन्त्रों का विनियोग पशुयाग में किया गया है। वहाँ विभिन्न देवताओं के लिये विभिन्न पशुओं के आलम्भन का विधान परिलक्षित होता है। जैसे-

अश्वस्तूपरो गोमृगस्ते प्राजापत्याः कृष्णग्रीव आग्नेयो रराटे पुरस्तात्सारस्वती मेष्यधस्ताद्धन्वोराश्विनावधोरामौ बाह्वोः सौमापौष्णः श्यामो नाभ्याᳪ सौर्ययामौ श्वेतश्च कृष्णश्च पार्श्वयोस्त्वाष्ट्रौ लोमशसक्थौ सक्थ्योर्वायव्यः श्वेतः पुच्छ इन्द्राय स्वपस्याय वेहद्वैष्णवो वामनः॥ आदि

(यजु०२४.१)

अर्थात् प्रजापति देवता के लिये अश्व का, तुपर (शृंग रहित बकरा) का तथा गोमृग का आलम्भन करें। यहाँ इस मन्त्र का अर्थ करते हुए प्रसिद्ध भाष्यकार स्वामी दयानन्द सरस्वती ने लिखा है कि-

अत देवतापदेन तद्गुणयोगात् पशवो वेदितव्याः। अर्थात् यज्ञ प्रकरणे यत्पशोः या या देवता वर्त्तते तत्त पशुभ्यस्तत्त गुणा ग्रहीतव्या इत्येव भावः वर्तते॥

(यजुर्वेद भाष्य २४.१)

अर्थात् यज्ञ में जिन पशुओं का आलम्भन जिन-जिन देवताओं के लिये किया जाता है, उन-उन पशुओं का क्या-क्या गुण है, इसी बात का संकेत उन उन पशुओं के आलम्भन अर्थात् स्पर्श करके करना चाहिये। यहाँ 'आलम्भन' शब्द का अर्थ 'स्पर्श' है मारना नहीं।

वास्तव में प्राचीन काल में पशुमात्रों में यूपों (खूंटों) में विभिन्न प्रकार के जो पशुओं को बाँधा जाता था, वह एक प्रकार की पशुओं की प्रदर्शनी होती थी, जिसके माध्यम से सृष्टि की आरम्भिक दशा में ऋषियों एवं याज्ञिकों ने सामान्य जनता को नाना प्रकार के पशुओं के प्रदर्शन के माध्यम से उन पशुओं के स्वभाव तथा उनके उपयोग आदि की जानकारी प्रदान की थी। उस काल में जिस पशु का स्पर्श किया जाता था वही 'आलम्भन' शब्द से वाच्य होता था। यज्ञों में पशुओं की कभी भी हिंसा नहीं की जाती थी। वास्तव में वैदिक काल में पशु सदा अवध्य रहे तथा उनका पालन करके उनसे लाभ ही प्राप्त किया जाता था। इस सम्बन्ध में स्वयं मूल वेद संहिताओं एवं मन्त्रों के अंशों को ध्यान पूर्वक देखना चाहिये-

इषे त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्वमघ्न्या इन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा मा व स्तेन ईशत माघशᳪसो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून्याहि॥

मयुं पशुं मेधमग्ने जुषस्व तेन चिन्वानस्तन्वो नि षीद। मयुं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु॥

इमं मा हिंꣳसीरेकशफं पशुं कनिक्रदं वाजिनं वाजिनेषु। गौरमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो नि षीद। गौरं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु॥

इमꣳ साहस्रꣳ शतधारमुत्सं व्यच्यमानꣳ सरिरस्य मध्ये। घृतं दुहानामदितिं जनायाग्ने मा हिꣳसीः परमे व्योमन्। गवयमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो नि षीद। गवयं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु॥

इममूर्णायुं वरुणस्य नाभिं त्वचं पशूनां द्विपदां चतुष्पदाम्। त्वष्टुः प्रजानां प्रथमं जनित्रमग्ने मा हिꣳसीः परमे व्योमन्। उष्ट्रमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो नि षीद।

उष्ट्रं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु॥

घृतेनाक्तौ पशूँस्त्रायेथाꣳ रेवति यजमाने प्रियं धा आ विश। उरोरन्तरिक्षात्सजूर्देवेन वातेनास्य हविषस्त्मना यज समस्य तन्वा भव। वर्षो वर्षीयसि यज्ञे यज्ञपतिः धाः स्वाहा देवेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा॥

नमो हिरण्यबाहवे सेनान्ये दिशां च पतये नमो नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यः पशूनां पतये नमो शष्पिञ्जराय त्विषीमते पथीनां पतये नमो नमो हरिकेशायोपवीतिने पुष्टानां पतये नमः॥

(यजु०१.१; यजु०१३.४७; यजु०१३.४८; यजु०१३.४९; यजु०१३.५०,यजु०६.११, यजु०१६.१७)

इन पूर्वोक्त मन्त्रांशों से स्पष्ट है कि पशुओं को अवध्य माना गया है तथा उनकी हिंसा का स्पष्ट निषेध करते हुए हिंसा के विपरीत उनके प्राण या रक्षा करने का संकेत किया गया है।

३. प्राचीन जन्तुशास्त्र का संकेत-

प्राचीन जन्तुशास्त्र की उत्पत्ति वेदों से ही मानी जानी चाहिये। मैं निम्न कुछ वेद वाक्यों को विद्वानों के सम्मुख प्रस्तुत करता हूँ, जिससे मन्त्रों में विद्यमान यह सन्दर्भ उनके समक्ष प्रामाणित हो जायेगा। यजुर्वेद के २४वें अध्याय का निम्न मन्त्र द्रष्टव्य है-

वसन्ताय कपिञ्जलानालभते ग्रीष्माय कलविङ्कान्वर्षाभ्यस्तित्तिरीञ्छरदे वर्तिका हेमन्ताय ककराञ्छिशिराय विककरान्॥ यजु०२४.२०

यहाँ इन पक्षियों का उल्लेख उन-उन ऋतुओं के साथ किया गया है। कपिञ्जल पक्षी (पपीहा या टि टि हरी) वसन्त के आगमन का सूचक होता है जब कि कलविंक (इसका आधुनिक नाम नहीं ज्ञात) ग्रीष्म ऋतु के आगमन का परिचायक है। इसी प्रकार कृष्ण वर्ण की तित्तिरि (तीतर) जब शब्द करती है तो वर्षाकाल की सम्भावना का हमें पता चलता है।

यजुर्वेद के एक मन्त्र में किसी 'शिशुमार' नामक पक्षी का उल्लेख है, जो संकेतित करता है कि समुद्र में गमन करने के लिये 'पनडुब्बी' का निर्माण करे। यह 'शिशुमार' पक्षी समुद्र में डुबकी लगाकर मछलियों को पकड़ने में सिद्धहस्त है-

'समुद्राय शिशुमारान् ।' (यजु०२४.२१)

मण्डूकों की ध्वनि राशि वर्षा का संकेत करती है-

"पर्जन्याय मण्डूकान्" (यजु० २४.२१)

४. दिक् एवं काल-ज्ञान के लिये पक्षियों का महत्त्व-

'पारावत' अर्थात् कपोत या कबूतर रात्रि में देखने में समर्थ नहीं होता। इसका उपयोग दिन में ही है। इसी प्रकार रात्रि के काल ज्ञान के लिये कोई 'सीचापू' नामक पक्षी का संकेत वेदमन्त्र में मिलता है-

अह्ने पारावतानालभते रात्र्यै सीचापूः

(यजु० २४.२५)

अहोरात्र की सन्धि के ज्ञान के लिये कोई 'जतू' नामक किसी पक्षी की चर्चा है, जबकि 'दात्यौह' का सम्बन्ध 'मास' एवं 'संवत्सर' के लिये 'सुपर्ण' का उल्लेख है। वास्तव में इन पक्षियों का काल से क्या सम्बन्ध है यह भी अभी अन्वेषणीय है।

भूमि के भीतर की स्थिति की जानकारी के लिये इन्हीं पशुयागों में 'मूषक' आदि जन्तुओं के आगमन का विधान है, जैसे-

भूम्या आखूनालभतेऽन्तरिक्षाय पाङ्क्त्रान्दिवे कशान्दिग्भ्यो नकुलान्बभ्रुकानवान्तरदिशाभ्यः॥

यजु० २४.२६

यह तो स्पष्ट है कि पृथिवी के अन्दर विद्यमान हलचल की जानकारी बिल में छिपे प्राणियों से ही होती है। यही कारण है कि जब भूकम्प आने वाला होता है तब चूहा, नेवला आदि भूगर्भस्थित प्राणी निकलकर भागना प्रारम्भ कर देते हैं। इस प्रकार वेदमन्त्रों से यह संकेतित होता है कि इन बिलस्थ प्राणियों के व्यवहार का सूक्ष्म निरीक्षण करके भूकम्पादि से हमें सावधान रहना चाहिये।

५. पशु-पक्षियों की ध्वनि से ज्ञान-

इन पशु-पक्षियों की ध्वनि से हमें क्या शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये इसके संकेत भी हमें वेदों के मूलमन्त्रों से प्राप्त होते हैं। यथा-

सोमाय कुलुङ्ग आरण्योऽजो नकुलः शका ते पौष्णाः क्रोष्टा मायोरिन्द्रस्य गौरमृगः पिद्वो न्यङ्कुः कक्कटस्तेऽनुमत्यै प्रतिश्रुत्कायै चक्रवाकः॥

यजु० २४.३२

अर्थात् उत्तर-प्रत्युत्तर के लिये चक्रवाक पक्षी का अनुसरण लाभनीय है। जैसे चक्रवाक पक्षी अपनी ध्वनि से चक्रवाकी को अपनी उपस्थिति का संकेत देता है तथा चक्रवाकी भी अपना प्रत्युत्तर देती है। इसी प्रकार-

सौरी बलाका शार्गः सृजयः शयाण्डकस्ते मैत्राः सरस्वत्यै शारिः पुरुषवाक् श्वाविद्भौमी शार्दूलो वृकः पृदाकुस्ते मन्यवे सरस्वते शुकः पुरुषवाक्॥ यजु० २४.३३

वेद के इस मन्त्रांश से स्पष्ट तथा ध्वनित होता है कि सारिका (मैना) तथा शुक (तोता) पुरुष के समान वाणी का उच्चारण करते हैं।

जब वसन्त ऋतु का आगमन होता है तथा आम्र मञ्जरियों में बौर लगने प्रारम्भ होते हैं, तो वह महीना वसन्त का प्रारम्भ होने का संकेत देता है। इस समय कोकिल की कूक सुनायी पड़ती है। इस काल में मनुष्यों में काम-भावना का प्राबल्य परिलक्षित होने लगता है। यह काल कामोद्दीपक होता है। इसी का संकेत वेद में निम्न प्रकार से किया है-

श्वित्र आदित्यानामुष्ट्रो घृणीवान्वार्ध्रीनसस्ते मत्या अरण्याय सृमरो रुरू रौद्रः क्वयिः कुटरुर्दात्यौहस्ते वाजिनां कामाय पिकः॥

यजु० २४.३९

इसी प्रकार व्याघ्र, भेड़िया, सिंहादि हिंसक पशु उग्र स्वभाव के होते हैं तथा शीघ्र ही मन्यु अर्थात् क्रोधित हो जाते हैं। अजगर भी इसी स्वभाव का होता है। अतः इनसे सावधान रहना

चाहिये तथा इनके स्वभाव का अध्ययन करके तदनुसार इनके साथ आचरण करना चाहिये इसका संकेत वेद में निम्न वाक्य में परिलक्षित होता है-

खड्गो वैश्वदेवः श्वा कृष्णः कर्णो गर्दभस्तरक्षुस्ते रक्षसामिन्द्राय सूकरः सिंहो मारुतः कृकलासः पिप्पका शकुनिस्ते शकुनिस्ते शरव्यायै विश्वेषां देवानां पृषतः॥ यजु०२४.३३

६. पशु एवं पशुपालकों का उपयोग-

वेदों में न केवल ऋषियों ने हमें सर्गारम्भ में विभिन्न प्रकार के पशुओं के स्वभाव की ही जानकारी दी अपितु इनके उपयोग का भी संकेत किया तथा इनके किस स्वभाव से किसका उपयोग हमें प्राप्त करना चाहिये, इसका संकेत करते हुए मनुष्य पशुपालक बनकर उससे लाभ प्राप्त करें, यह भी संकेतित किया है। जैसे-

अर्मेभ्यो हस्तिपम् । यजु०३०.११

अर्थात् गम्भीर एवं आराम देह गति या मात्रा के लिये 'हस्तिप' या महावत (हाथी पालने वाले) के पास जाये।

'जवायाश्वपम् । यजु०३०.११

तीव्र गति से कही जाना हो तो अश्वापालक या घोड़ा पालने वाले से सम्पर्क करें।

इसी प्रकार 'पुष्टि' अर्थात् पुष्टि कारक पदार्थों की प्राप्ति करनी हो तो गोपाल या 'ग्वाले' के पास जाकर घृत-दुग्धादि के लिये उससे सम्पर्क करें-

पुष्ट्यै गोपालम्-यजु०३०.११

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेद में प्राचीन ज़न्तुशास्त्र का बीज समाहित है। पक्षियों के स्वभाव का अध्ययन करके ही कोयल को 'परभृत' नाम से कहा गया है क्योंकि यह अपने अण्डों का पालन दूसरे पक्षियों अर्थात् कौए से कराती है, स्वयं अपने अण्डों का पालन नहीं करती।

यह तो प्रतीक मात्र है जिन मन्त्रों का हमने उल्लेख किया है। अभी इस पर और अनुसन्धान की आवश्यकता है। अनेक पशु-पक्षियों के नाम को देखकर उनके सही स्वरूप की जानकारी हमें आजकल नहीं होती है। फिर भी हम वेद के बारे में ठीक ही कह सकते हैं कि-

सर्वज्ञानमयो हि सः-वह सभी ज्ञान का भण्डार है।

Vaidika Vāg-Jyotiḥ
ISSN 2277-4351
Vol.1, No.1 (92-99) Jul-Dec 2012

वैदिक वाङ्मय में समानाधिकार के सूत्र : दयानन्द के मन्तव्यों के सन्दर्भ में

मनोहर लाल आर्य
अध्यक्ष, संस्कृतविभाग, डी०ए०वी०कॉलेज, कांगड़ा-१७६१२१ (हि०प्र०)

आदिकाल से ही अधिकार प्राप्ति हेतु संघर्ष होते रहे हैं। अधिकार से मनुष्य को एक पृथक् पहचान, अस्तित्व, स्वामित्व और कार्यक्षमता प्राप्त होती है। समाज और राष्ट्र का निर्माण भी अधिकारों के समुचित विभाजन, वितरण, संरक्षण और परीक्षण हेतु ही होता है। अधिकार प्राप्ति से व्यक्ति सबल, प्रभावशाली, स्वतन्त्र और क्रियाशील बनता है जबकि अधिकार-हीनता से मनुष्य कमजोर, उपेक्षित, निस्तेज, पराधीन और निष्क्रिय हो जाता है।

'अधिकार शब्द का अर्थ-

व्याकरण प्रक्रिया के अनुसार 'अधि' पूर्वक 'कृ'[१] धातु से 'घञ्'[२] प्रत्यय करने पर **अधिकार** शब्द सिद्ध होता है। ''अधि'' एक अव्यय पद है, जिसके मुख्यतया तीन अर्थ हैं[३]-१. उपरिभाव, २. ऐश्वर्य, और ३. क्रियायोग। इसके आधार पर 'अधिकार' शब्द के कार्यभार, प्रभुसत्ता, ऊर्ध्वगमन, प्रभुत्व, सत्ता, हक, दावा और प्रक्रिया[४] आदि अनेक अर्थ सम्भव हैं।

परिप्रेक्ष्य-

'अधिकार' शब्द का प्रयोग प्रायः दो परिप्रेक्ष्यों में उपलब्ध होता है। जैसे-

१. प्राकृतिक परिप्रेक्ष्य में अधिकार का प्रयोग-

जैसे-भारतीय संस्कृति में कर्मफल सिद्धान्त के सन्दर्भ में जीव अपने-कर्मानुसार ईश्वरप्रदत्त योनि, शरीर, परिवार, वातावरण और साधनाादि प्राप्त करता है, जिसे परिवर्तित करना अथवा उसमें हस्तक्षेप करना प्राणिमात्र के वश में नहीं है। जो प्राणी जिस योनि विशेष में उत्पन्न हुआ है उसे उसी परिधि में तदनुरूप कार्य करने का अधिकार होता है, जो प्राकृतिक अथवा ईश्वरप्रदत्त कहलाता है।

२. सामाजिक परिप्रेक्ष्य में अधिकार का प्रयोग-

समाज अथवा राष्ट्र द्वारा स्वनिर्मित संविधान, अथवा परम्परा से बनाये नियमों के मापदण्डों के अनुसार व्यक्ति अथवा व्यक्तिसमुदाय को जो अधिकार दिये जाते हैं, वें सामाजिक परिप्रेक्ष्य के अन्तर्गत आते हैं। समाजिक अधिकारों में अनेक असमानताएं एवं विषमताएं दृष्टिगोचर होती हैं जिन्हें निम्नलिखित रूपों में वर्णित किया जा सकता है-

क. पदगत अधिकार-

समाज में कोई राजा, मन्त्री, प्रशासनिक अधिकारी, डॉक्टर, इन्जिनीयर, अध्यापक, लिपिक, कृषक व श्रमिक आदि बनता है तो उक्त पद के अधिकार उसे समाज द्वारा मिलते हैं। इन सभी में अधिकारों की समानता नहीं मिलती है।

ख. जातिगत अधिकार-

समाज में जन्म अथवा वंशक्रमानुसार विभिन्न जातियों का प्रचलन है। इन तथाकथित जातियों में

पैदा होने वाले लोगों के अधिकार भी समाज द्वारा निर्मित और निर्धारित होते हैं, जिनमें पर्याप्त विषमतायें पायी जाती हैं।

ग. लैङ्गिक अधिकार-

ईश्वरीय व्यवस्था अथवा प्रकृति के नियमों के अन्तर्गत उत्पन्न स्त्री और पुरुषों में लैङ्गिक भेद होने के कारण जो कार्य स्त्रियों के अधिकार क्षेत्र का है, उसे केवल स्त्री ही कर सकती है पुरुष नहीं। लैङ्गिक आधार पर उच्च असमानता प्राकृतिक होने के साथ साथ सामाजिक भी है।

घ. शैक्षणिक अधिकार-

समाज में कोई शिक्षित, कोई सामान्य शिक्षित, कोई अल्पशिक्षित कोई अशिक्षित रह जाता है। इस शैक्षणिक आधार पर भी समाज में अधिकार प्राप्त होते हैं, जिसमें पर्याप्त असमानता पायी जाती है।

ङ. आर्थिक अधिकार-

आर्थिक दृष्टि से कोई अधिक समृद्ध, कोई मध्यवर्गीय, कोई निर्धन और कोई निर्धनता की रेखा से भी नीचे होता है। इनमें आर्थिक आधार पर अधिकारों की असमानता सदा बनी रहती है।

च. रंगभेदगत अधिकार-

वैश्विक स्तर पर दृष्टिपात करने पर अनेकत्र गोरे-काले आदि रंगभेद के आधार पर अधिकारों में असमानताएं पायी जाती हैं। यद्यपि उक्त रंगभेद प्राकृतिक है और उक्त आधार पर अधिकारगत असमानता अनुचित है तथापि समाज में रंगभेद समूल नष्ट नहीं हो पाया है।

छ. धार्मिक आधार-

विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों और मत-मतान्तरों में जन समुदाय बंटा रहता है अतः धर्मादि के आधार पर भी मनुष्यों में अधिकारगत असमानताएं बनी रहती हैं।

ज. सांस्कृतिक आधार-

विश्वस्तर पर समाज सदा से ही विभिन्न संस्कृतियों और सभ्यताओं में विभाजित रहा है। इसी कारण से इनमें सांस्कृतिक मान्यताओं, रीति-रिवाजों आदि के आधार पर भी अनेक असमानताएं विद्यमान रहती हैं।

झ. राजनैतिक / दलगत आधार-

राजनीति का प्रवाह अत्यन्त सशक्त होता है, जिसमें दलीय भावना की दृढ़ता होती है। इन विविध दलगत भावनाओं के आधार पर भी समाज में अधिकारों की असमानता बनी रहती है। इत्यादि।

इस प्रकार प्राकृतिक और सामाजिक उक्त दोनों परिप्रेक्ष्यों में अधिकारों की समानता विवादास्पद प्रतीत होती है। ऐसी अवस्था में समानाधिकारों की चर्चा और भी महत्त्वपूर्ण एवं मौलिक हो जाती है।

महर्षि दयानन्द का मन्तव्य-

यदि हम प्राकृतिक अधिकारों के परिप्रेक्ष्य में विचार करें तो प्रश्न पैदा होता है कि मनुष्य जिस रूप में पैदा हुआ है क्या उसे उसी रूप में प्राप्त सीमित अधिकारों की परिधि में ही जीवन यापन करना होगा अथवा वह उसके अतिरिक्त भी कुछ कर सकता है? इस सन्दर्भ में महर्षि दयानन्द सरस्वती का मन्तव्य है कि ''जीव कर्म करने में स्वतन्त्र और उनका फल भोगने में परतन्त्र है।''[५]

इससे सिद्ध होता है कि जब मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है तो उसे किसी भी अधिकार से वंचित नहीं किया जाना चाहिये। जब मनुष्य को कर्मफल भोगने से परतन्त्रता है तो इससे वह अपनी कर्म स्वतन्त्रता और उसके अधिकार का दुरुपयोग भी नहीं कर सकेगा क्योंकि वह सदा सत्फल प्राप्ति की चेष्टा करता हुआ सुकर्म का ही चयन करेगा। अतः सद् और असद् कर्मों में प्रवृत्ति और निवृत्ति का विवेक मनुष्य की दिशा एवं जीवनशैली का निर्धारक बनता है।

वैदिक प्रमाण (समानाधिकार विषयक-सूत्र)

वैदिक वाङ्मय में प्राणिमात्र के समानाधिकार विषयक अनेक प्रमाण दिए जा सकते हैं जिनमें कुछ उल्लेखनीय इस प्रकार हैं, जैसे-

क. वसुधैव कुटुम्बकम्[६] **की भावना-**

अथर्ववेद में **माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः**[७] कहा गया है अर्थात् समस्त भूमि हमारी माता के समान है और मैं (हम सब) इसके पुत्र हैं।

यजुर्वेद में ''शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः''[८] अर्थात् हम सब उस अमृतमय एक ईश्वर के पुत्र (सन्तान) हैं। जब सारे संसार को एक परिवार मानना तथा सभी एक ही ईश्वर की सन्तान हैं, ऐसा माना जाता है तब अधिकारों की असमानता का तो प्रश्न ही पैदा नहीं हो सकता। माता-पिता के लिये सभी पुत्र-पुत्रियां का एक समान होती हैं और यदि वे अपनी सम्पत्ति का विभाजन करना चाहें तो सभी को समान अधिकार प्रदान करते हैं।

ख. सौहार्दभावना-

वैदिक ग्रन्थों में अनेकों ऐसे सन्दर्भ उपलब्ध हैं जिनमें मनुष्यों को परस्पर सौहार्द भावना से व्यवहार करने के निर्देश व उपदेश हैं। जैसे-

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥[९]

इसमें ईश्वराज्ञा है कि तुम परस्पर ऐसा प्रेमपूर्वक व्यवहार करो जैसे एक गाय अपने नवजात शिशु (बछड़े) से करती है। अथर्ववेद[१०] में ही अन्यत्र ऐसा भी उपदेश व निर्देश है कि भाई-भाई से द्वेष न करे, बहिन बहिन से द्वेष न करे, सभी मनुष्य सुव्रती और मर्यादित रहकर परस्पर मधुर व भद्र भाषा का व्यवहार करें। इसके अतिरिक्त-

- **सायं प्रातः सौमनस्य वो अस्तु,**[११] अर्थात् सायं प्रातः आप सब लोगों में सौमनस्य-सौहार्द भावना रहे।
- **समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः**[१२], तुम्हारे निश्चय, हृदय सब एक हों।
- **मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्-**[१३] अर्थात् मैं समस्त प्राणियों को मित्रभाव से देखूं व व्यवहार करूँ।
- **भूयासं मधुसंदृशः**[१४] अर्थात् हम मधु के समान मधुर बनें। हमारा व्यवहार मधुरता से परिपूर्ण हो।
- **प्रियो देवानां भूयासम्**[१५] अर्थात् हम देव, प्रजा, पशु आदि समस्त प्राणियों में प्रिय बनें।

इत्यादि अनेक ऐसे उद्धरण हैं जिनमें पारस्परिक सौहार्द की भावना का उल्लेख है। जब वेदादि ग्रन्थों में पारस्परिक सौहार्द भावना पर बल दिया गया है; ईर्ष्या, द्वेष, घृणा आदि का त्याग करके सबके साथ सद्भावना व्यवहार का उपदेश दिया गया है तब वेदादि ग्रन्थ अधिकारों में असमानता को मान्यता कैसे प्रदान कर सकते हैं? इससे सिद्ध होता है कि वेदादि ग्रन्थों में सभी को समान अधिकार दिये गये हैं।

ग. ईश्वर द्वारा समान विभाजन-

संसार में जितने भी पदार्थ ईश्वर द्वारा बनाये गये हैं, उन सब का मनुष्यादि द्वारा समानरूपेण उपभोग करने का निर्देश वेदादि ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। लौकिक व्यवहार में भी यह सिद्ध होता है कि जो सम्पत्ति का स्वामी होता है वही अपनी सम्पत्ति के विभाजन का अधिकार भी रखता है। सृष्टि व सृष्टिगत समस्त सम्पदाओं का स्वामी ईश्वर है।[१६] द्विपाद् चतुष्पाद् आदि समस्त प्राणियों और पदार्थों का वही स्वामी है[१७] अतः उसे अपनी सम्पत्ति के बंटवारे का भी अधिकार है। जब समस्त प्रजाओं का स्वामी[१८] अपनी मनुष्यादि प्रजाओं में सम्पत्तियों का विभाजन समानरूपेण करता है तब

मनुष्यों द्वारा समानाधिकारों की अवहेलना क्यों की जाती है ? इन्हें ऐसा करने का कोई अधिकार नहीं है। इस सन्दर्भ में वैदिक प्रमाण द्रष्टव्य हैं-

विभक्तारंꣳ हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः। सवितारं नृचक्षसम्।। [१९]

अर्थात् नाना प्रकार के सुखदायक धनों का जिसने समुचित विभाग/विभाजन किया है उस सब के उत्पादक और ज्ञानदाता परमेश्वर की लोग उपासना/पूजा करें।

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि। [२०]

इस मन्त्र में तो स्पष्ट संकेत है कि समस्त अन्न, जल आदि के स्रोतों और पदार्थों के उपयोग / उपभोग का अधिकार परमेश्वर द्वारा समस्त प्राणियों को समानरूपेण दिया गया है।

जब ईश्वर द्वारा अन्न जल आदि के उपभोग का अधिकार सबको दिया गया है तब मनुष्य द्वारा उसमें असमानता पैदा करना कदापि युक्तिसंगत नहीं हो सकता है।

घ. समान दृष्टिकोण-

ईश्वर की दृष्टि में कोई छोटा बड़ा आदि का भेद नहीं है तथा उसने मनुष्यों को भी इस सम्बन्ध में 'मुझे ब्राह्मणों में' क्षत्रियों में, वैश्यों में और शूद्रों में प्रिय कीजिये'[२१] इस प्रकार के उपदेश तथा मैं देवों प्रजाओं और पशुओं में भी प्रिय बनूँ इत्यादि निर्देश इस बात के द्योतक हैं कि हमें अपना दृष्टिकोण समान बनाना चाहिये। जब व्यक्ति का दृष्टिकोण विद्वेषविहीन, स्वार्थरहित, सर्वजनहिताय, सर्वजनसुखाय होगा तब वह स्वतः ही समस्त भेदभावों से ऊपर उठकर चिन्तन करेगा और तब समानाधिकारों की समस्याओं का जन्म ही न होगा।

इसके अतिरिक्त

समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ। सं मातरिश्वा सं धाता समु देष्ट्री दधातु नौ।। [२२]

इत्यादि मन्त्रों में सबके हृदयों में एकता आदि के सन्देश भी इस पक्ष की पुष्टि करते हैं कि हमारे अधिकार समान हैं।

स्त्री-विषयक प्रमाण-

समानाधिकारों के सन्दर्भ में स्त्रीविषयक विवाद चिरकाल से प्रचलित है। समाज में स्त्री की स्थिति सदैव निम्न आंकी जाती है परन्तु जहाँ तक वैदिक ग्रन्थों का प्रश्न है इसमें अनेकों ऐसे प्रमाण उपलब्ध हैं जिनके माध्यम से यह सिद्ध किया जा सकता है कि स्त्रियों को समाज में समानाधिकार प्राप्त हैं। जैसे-

१. अथर्ववेद में **ब्रह्मचर्येण कन्या३ युवानं विन्दते पतिम्** [२३] का उल्लेख है अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम में पूर्णविद्याप्राप्त करके कन्या युवा पति का वरण करे।

इस सन्दर्भ में महर्षि दयानन्द का वक्तव्य द्रष्टव्य है-

"जो स्त्रियों को पढ़ने-पढ़ाने का निषेध करते हों तो वह तुम्हारी मूर्खता, स्वार्थता और निर्बुद्धि का प्रभाव है।[२४]

२. श्रौतसूत्रों में अनेक उल्लेख मिलते हैं-

इमं मन्त्रं पत्नी पठेत्[२५] जब पत्नी मन्त्र पढ़ती है और उसे मन्त्र पढ़ने का निर्देश दिया जाता है तब उसको पढ़ने के अधिकार से वंचित करने का प्रश्न ही नहीं उठता है।

महर्षि दयानन्द इस सन्दर्भ में कहते हैं-

"जो (स्त्री) वेदादि शास्त्र को न पढ़ी होवे तो वह यज्ञ में स्वर सहित मन्त्रों का उच्चारण और संस्कृत भाषण कैसे कर सके।"[२६] तथा

भारत में गार्गी आदि विदुषी स्त्रियों का उल्लेख केकयी आदि का धनुर्विद्या में निपुण होने का वर्णन भी महर्षि दयानन्द ने किया है। इसके अतिरिक्त वे यह भी लिखते हैं-

"स्त्रियों को व्याकरण, धर्म, वैद्यक, गणित व शिल्पविद्या तो अवश्य सीखनी चाहिये।[२७] ब्राह्मणादि ग्रन्थों में भी पवित्रता स्त्रियों की कल्याणी संज्ञा,[२८] उनका पुरुष की दक्षिणाङ्गी होने का उल्लेख[२९], उन्हें उत्तर आयतन कहना[३०], समृद्धिकारिणी होना[३१], पुरुषों की अनुगामिनी होना[३२] तथा उन्हें पृथिवी[३३] और अग्नि[३४] के तुल्य वर्णित करना आदि प्रमाण यह सिद्ध करते हैं कि वैदिक दृष्टिकोण में स्त्रियों को पुरुषों के समान ही धर्मानुष्ठान पठन-पाठन[३५] आदि के अधिकार हैं।

निघण्टु में तो 'नारी' यज्ञ का नाम पठित है। भले ही कई धर्माचार्यों ने 'स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्'[३६] आदि कहकर उसके अध्ययनाध्यापन के अधिकार छीने हों तथा अनुसरण करके उक्त आलाप का समर्थन किया हो परन्तु इनकी ये मान्यताएं सारहीन व अप्रामाणिक होने के कारण ग्राह्य नहीं हो सकती हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा इनका कड़ा विरोध किया गया है। और

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।।
तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च।।[३७]

इत्यादि मनुस्मृति के प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया है कि असमानाधिकार का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता। नारी तो सदा समाज में देववत् पूजनीय, माननीय, रक्षणीय व सत्करणीय है इन्हें अधिकारों से वंचित करना न केवल अनैतिकता होगी अपितु पाप भी है।

स्त्रियों पर गृहस्थ का दायित्व पुरुष से भी कहीं अधिक है, अतः इन्हें सदा प्रसन्न रहते हुए घरेलू कार्यों को अति पवित्रता और कुशलतापूर्वक करना चाहिये ऐसा निर्देश भी है।[३८]

च. शूद्रविषयक प्रमाण-

समानाधिकार के सन्दर्भ में शूद्र शब्द अत्यधिक विवादस्पद है। 'शूद्र'[३९] विषयक विस्तृत विवरण यद्यपि यहाँ प्रसंगापेक्षी नहीं है तथापि यह कहना प्रासंगिक होगा कि प्राचीनकाल में गुणकर्मादि के आधार पर चार वर्णों की व्यवस्था की गयी थी परन्तु कालान्तर में इस वर्णव्यवस्था का आधार जन्म अथवा आनुवांशिक माना जाने लगा तभी शूद्र को उपेक्षित, निकृष्ट, अस्पृश्य और हीन वर्ण मानकर उसे अनेकविध मानवाधिकारों से वंचित कर दिया गया जो एक षड्यन्त्र और समाज को विघटित करने का अनुचित प्रयास था। जहाँ तक वैदिकग्रन्थों के परिप्रेक्ष्य का सम्बन्ध है इसमें अनेक ऐसे प्रमाण उपलब्ध होते हैं जिनसे सिद्ध होता है कि जिसे वर्णव्यवस्था के अन्तर्गत 'शूद्र' कहा गया है वह कोई नीच अथवा हेय नहीं था।

मनुस्मृति के आधार पर सेवादि करने वाले शूद्र कहलाते हैं।[४०] जहाँ तक वैदिक ग्रन्थों का प्रश्न है इनमें अनेक ऐसे प्रमाण उपलब्ध हैं जिनसे शूद्रविषयक हीनता की मान्यता निरस्त होती है यथा-

तपो वै शूद्रः—अर्थात् तपस्वी, परिश्रमी व्यक्ति शूद्र कहलाता है। उत्थाता शूद्रः दक्षः कर्मकर्त्ता[४१] प्रगतिशील और दक्ष कार्यकुशल शूद्र अन्य वर्णों के समान यज्ञादि कर्म करने का अधिकारी है। इसके अतिरिक्त सत्कर्म करने से शूद्र भी ब्राह्मण तुल्य है।[४२] ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नाम वर्णव्यवस्था के आधार पर हैं परन्तु वेदरीति से मनुष्य जाति के आर्य्य और दस्यु ये दो नाम ही हैं।[४३]

जहाँ तक तथाकथित निम्न वर्णों अथवा जाति आदि के लोगों को पढ़ने आदि के अधिकार दिये जाने का प्रश्न है इस सन्दर्भ में यजुर्वेद का निम्नलिखित प्रमाण ही पर्याप्त होगा-यथा-

यथे॒मां वाचं॑ कल्या॒णीमा॒वदा॑नि॒ जने॑भ्यः।
ब्र॒ह्म॒रा॒ज॒न्या॒भ्या॒ᳪ᳭ शू॒द्राय॒ चार्या॑य च॒ स्वाय॒ चार॑णाय च।।[४४]

इस मन्त्र का व्याख्यान करते हुए महर्षि दयानन्द सरस्वती लिखते हैं-" परमेश्वर कहता है-जैसे मैं सब मनुष्यों के लिये इस कल्याणी-कल्याण अर्थात् संसार और मुक्ति के सुख देनेहारी ऋग्वेदादि चारों वेदों की वाणी का (आ वदानि) उपदेश करता हूँ, वैसे तुम भी किया करो। वहाँ कोई ऐसा प्रश्न करे कि 'जन' शब्द से द्विजों का ग्रहण करना चाहिये क्योंकि स्मृत्यादि ग्रन्थों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को ही वेदों के पढ़ने का अधिकार लिखा है, स्त्री और शूद्रादि वर्णों को नहीं।

(उत्तर) **(ब्रह्मराजन्याभ्यां)** इत्यादि देखो परमेश्वर स्वयं कहता है कि हमने ब्राह्मण , क्षत्रिय, (अर्याय)-वैश्य (शूद्राय)–शूद्र और स्वाय-अपने भृत्य वा स्त्रियादि (अरणाय)–और अतिशूद्र के लिये भी वेदों का प्रकाश किया है।[४५]

इसके अतिरिक्त महर्षि दयानन्द सरस्वती ने यह भी कहा है कि -**नास्तिको वेदनिन्दकः** वेदों का निन्दक और न मानने वाला व्यक्ति नास्तिक कहाता है। क्या परमेश्वर शूद्रों का भला करना नहीं चाहता? क्या ईश्वर पक्षपाती है कि वेदों के पढ़ने, सुनने का शूद्रों के लिये निषेध और द्विजों के सुनाने का न होता तो इनके शरीर में वाक् और श्रोत्र इन्द्रिय क्यों रचता? जैसे परमात्मा ने पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य और अन्नादि पदार्थ सबके लिये बनाए हैं वैसे ही वेद भी सबके लिये प्रकाशित किये हैं।[४६]

उपसंहार-

पूर्वोक्त समस्त विवेचन का निष्कर्ष यही है कि परमेश्वर इस समस्त जड़-चेतन व प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष जगत् का एकमात्र स्वामी है।[४७] उसी की नियमव्यवस्था समस्त ब्रह्माण्ड में लागू है। वही संसार का पिता-माता आदि है और इसकी दृष्टि में समस्त प्राणी समान हैं। उसने समस्त पदार्थ मनुष्यों और अन्य प्राणियों के उपभोग हेतु बनाये हैं तथा उसने सबको समान अधिकार प्रदान किये हैं।[४८]

यदि किसी समाज अथवा राष्ट्र में मनुष्यों में वैचारिक, सैद्धान्तिक आदि भेद पाये जाते हैं तो वे ईश्वरीय विधान के प्रतिकूल हैं, मनुष्यों ने स्वार्थवश इस प्रकार के नियम बना लिये हैं, उनका ईश्वरीय नियमव्यवस्था के साथ सम्बन्ध जोड़ना उचित नहीं है।

अतः पूर्वोक्त वैदिक प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि प्रत्येक मनुष्य और प्राणी ईश्वर की सन्तान है।[४९] समस्त संसार एक कुटुम्ब के समान है।[५०] सृष्टि की वस्तुओं का उपयोग और उपभोग करने का सबका समान अधिकार है। प्रत्येक को समान रूप से हर क्षेत्र में उन्नति, प्रगति, सुख व समृद्धि प्राप्त करने का समान अधिकार है। यही वैदिक वाङ्मय में प्रतिपादित है और महर्षि दयानन्द सरस्वती का मन्तव्य भी उक्त सिद्धान्तों पर आधारित वेदानुकूल है।[५१]

पाद-टिप्पणियां-

१ कृञ् करणे। धा०पा०८.१०

२ अष्टा० ३.३.१८-१९

३ अधि उपरिभावैश्वर्यक्रियायोगेषु। द्र०वेदाङ्गप्रकाशे अव्ययार्थे दयानन्दकृत व्याख्या॥ तथा अधि इत्युपरिभावमैश्वर्यं वा। निरु०१.३

४ प्रक्रिया त्वधिकारः स्यादित्यमरः। तथा 'प्रक्रिया तूत्पादने स्यादधिकारप्रकारयोः' इति हैमः॥

५ प्र०सत्यार्थप्रकाश सप्तम समुल्लास।

६ अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्। उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥
हितोपदेश १.७०

७ अथर्व०१२.१.१२

८ यजु०११.१५

१ अथर्व०३.३०.१

१० मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥
अथर्व०३.३०.३

११ अथर्व०६.६४.१

१२ अथर्व०६.६४.३

१३ यजु०३६.१८

१४ अथर्व०१.३४.३

१५ अथर्व०१७.१.२

१६ हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ यजु०१३.४

१७ यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव। य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ यजु०२३.३

१८ प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव। यत् कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ ऋग्०१०.१२१.१०

१९ यजु०३०.४

२० अथर्व०३.३०.६

२१ प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये॥
अथर्व०१९.६२.१

२२ ऋग्०१०.८५.४७

२३ अथर्व०११.५.१८

२४ द्र०सत्यार्थप्रकाश तृतीय समुल्लास

२५ द्र०स०प्र०तृतीय समुल्लास

२६ द्र०स०प्र०तृतीय समु०

२७ कल्याण्यः स्त्रियः पतिव्रताः। जै०ब्रा०२.२६६

२८ तस्माद् दक्षिणं भागं पुंसः स्त्र्यधिशेते।
शां०आ०२-४

२९ उत्तर आयतना हि स्त्री। शत०ब्रा०८.४.४.११

३० स हि स्त्रियं पश्येत् समृद्धं कर्मेति विद्यात्।
शां०आ०९.८

३१ तस्मात् स्त्रियः पुंसोऽनुवर्त्मानो भावुकाः।
शत०ब्रा०१३.२.२.४

३२ स्त्रीयं पृथिवी। जै०ब्रा०१.३३

३३ यदेतत् स्त्रियां लोहितं भवति अग्नेस्तद्रूपम्।
ऐत०आर०२.३.७

३४ द्र०स०प्र०तृ०समुल्लास

३५ द्र०स०प्र०तृ०समुल्लास

३६ स्त्री शूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा। भा०पुरा०१.४.२५ सा०भा० में उद्धृत।

३७ द्र०स०प्र०चतुर्थ समु०।

३८ सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया॥
द्र०स०प्र०चतुर्थ समुल्लास

३९ शुच शोके (भ्वा०) धातु से 'शुचेर्दश्च उण०२.१८ औणादिक रक् प्रत्ययः, धातु को उकारादेश, दीर्घ, दकारान्तादेश आदि करने पर 'शूद्रः' शब्द निष्पन्न होता है।

४० एकमेव हि शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥
द्र०स०प्र०चतुर्थ समु०।

४१ जै०ब्रा०२.२६६

४२ यथा वै शूद्रं श्रद्धा विन्दति ब्राह्मणं वाव स तर्हीच्छति सोऽस्मै (ब्राह्मणाय) ददाति।
जै०ब्रा०१.१६६॥

४३ द्र०म०दयानन्दकृत ऋग्०भा०भू०, वर्णाश्रम विषय।

४४ यजु०२६.२

४५ द्र०स०प्र०तृतीय समुल्लास

४६ द्र०स०प्र०तृतीय समुल्लास

४७ ईशावास्यमिदं सर्वं....। यजु०४०.१ तथा यः प्राणतो......यजु०२३.३

४८ ऋग्०४.२६.२ पर दयानन्दकृत भाष्य द्रष्टव्य है।

४९ शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः। यजु०११.१५ दयानन्द भाष्य-द्रष्टव्य है।

५० वसुधैव कुटुम्बकम्। हितोपदेश १.७०

५१ यद्विदे तद्दयानन्दे दयानन्दो हि वैदिकः। दयानन्दीयमन्तव्यं न वेदादतिरिच्यते॥
दयानन्दीयमन्तव्ये दृष्टं नावैदिकं किमु। दयानन्दस्य वेदेन सम्बन्धो गहनो मतः॥
दयानन्दीयमन्तव्यं सुष्टु विज्ञाय मानवः। लघूपायेन चाप्नोति वेदसारमनन्तकम्॥ इति लेखकमतम्।

Vaidika Vāg-Jyotiḥ
ISSN 2277-4351

Vol.1, No.1 (100-105) Jul-Dec 2012

वेदों में प्रकृति संरक्षण की प्रासंगिकता

किशनाराम बिश्नोई
प्रभारी, गुरु जम्भेश्वर धार्मिक अध्ययन संस्थान, गुरु जम्भेश्वर विश्वविद्यालय, हिसार (हरियाणा)

पर्यावरण शब्द की निष्पत्ति परि +आवरण इन दो शब्दों के संयोग से होती है, जिसका अर्थ है चारों ओर का आवरण। जिसमें प्रकृतिजन्य समस्त तत्त्व आकाश, जल, अग्नि, वायु, ऋतुएं, पर्वत, नदियाँ, वृक्ष, वनस्पति, जीव-जन्तु तथा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड समाहित हो जाते हैं। मानव और पर्यावरण अन्योऽन्याश्रित हैं। प्राणियों का प्रकृति के साथ अध्ययन ही पारिस्थितिकी है। वैदिक ऋषियों ने पर्यावरण एवं पारिस्थितिकी विज्ञान के सूक्ष्म रहस्यों को समझा अतएव वैदिक संस्कृति, साहित्य और चिन्तन में पर्यावरण धर्म, अध्यात्म, नैतिकता एवं जीवन-पद्धति के रूप में विकसित हो सका।

वैदिक वाङ्मय में प्रकृति के भौतिक पर्यावरण, पारिस्थितिकी और प्रदूषण से सम्बन्धित चिन्तन ही नहीं है, अपितु जीवन-पद्धति के रूप में सांस्कृतिक, सामाजिक तथा वाणी पर्यावरण की अभिव्यक्ति पाते हैं। प्रकृति की मातृवत् अवधारणा वैश्विक-दृष्टि की परिचायक ब्रह्माण्ड की संकल्पना प्रकृति में अन्तर्निहित देवत्व का वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक चिन्तन वैदिक संस्कृति से ही प्रस्फुटित हुआ है।

वैदिक साहित्य में पर्यावरण के पञ्चभूत तत्त्वों की व्यापक विवेचना हुई है। पञ्चतत्त्वों की व्याख्या मानव में प्राण रहने की स्थिति है तथा ये तत्त्व (जल, वायु, अग्नि, पृथिवी, आकाश) प्रकृति के वे तत्त्व हैं, जिनसे सृष्टि का निर्माण हुआ है। बल्कि देवों में इन्द्र, वरुण, सोम, वायु, आदित्य, बृहस्पति, मरुत्, उषा, सविता, पर्जन्य, अश्विनौ इत्यादि पर्यावरणीय देवता हैं।[१] गायों को रुद्रों की माता, वसुओं की पुत्री, आदित्यों की भगिनी कह कर पुकारा गया है। वस्तुतः प्रकृति संरक्षण वैदिक पर्यावरण का ही विषय नहीं है, बल्कि जीवजगत् को देखने की दृष्टि, मानव समाज को परखने की समग्र दृष्टि और जीवन-पद्धति है। यही नहीं बल्कि वेदों में[२] विभिन्न पशु-पक्षियों, उनके गुणविशेष, ऋतु आधारित लाभ तथा महत्त्व दर्शाये हैं।

ऋग्वेद का नदीसूक्त[३] जल की महिमा को अभिव्यक्त करता है। ऋग्वैदिक मन्त्रद्रष्टा प्रेयमेध के पुत्र सिन्धुक्षित् ने इस सूक्त के पञ्चम और षष्ठम मन्त्रों में सिन्धु की पूर्वी तथा पश्चिमी सह-नदियों के नाम लिये हैं।[४] अथर्ववेद में भी पर्यावरणीय घटक जल का उल्लेख मिलता है। ऋषि कहते हैं- जल ही जीवन है, जल का नाम ही अमृत है तथा जल ही औषधि है।[५] अतः इसमें मातृभूमि को शुद्ध जल से प्रवाहित करने की स्तुति की गयी है।[६]

वैदिक पर्यावरण विज्ञान की विशिष्टता, समस्त प्राकृतिक शक्तियों के देवत्व में विश्वास की अभिव्यक्ति है। वेदों में ऐसे पर्याप्त सूक्त मिलते हैं, जो विविध प्राकृतिक तत्त्वों वनस्पति, यहाँ तक कि छोटे-छोटे जीव-जन्तुओं को भी समर्पित हैं।

प्राकृतिक तत्त्वों में देवत्व की प्रतिष्ठा जनमानस में उनके प्रति देववत् सम्मान के संस्कार जगाने हेतु है। सम्मान का सम्बन्ध मन से है, शरीर से नहीं। प्राणी जो मन से ध्यान करता है, वही वाणी से अभिव्यक्त करता है। जो वाणी से अभिव्यक्त करता है उसी को ही व्यवहार में लाता है। उसी का फल भोगता है। वर्तमान युग में पर्यावरण प्रदूषण के लिये उनके कारण जिम्मेदार हैं। प्राकृतिक संसाधनों का अति मात्र में विदोहन, वृक्षों तथा जीवों की अनेक प्रजातियों का समाप्त होना, कल-कारखानों का बढ़ता प्रभाव, फैक्ट्रियों और वाहनों से निकलता धुँआ, वातानुकूलन एवं प्रशीतन में प्रयोग होने वाली गैसें, परमाणु परीक्षण, वायु तथा जल-प्रदूषण के लिये जिम्मेदार है। वैदिक ऋषियों ने उन्हीं वृक्षों और वनस्पतियों, नदियों एवं पर्वतों में परम सत्ता के साक्षात्कार का अनुभव किया था। इसकी पराकाष्ठा हमें पुरुषसूक्त के उन मन्त्रों में उपलब्ध होती है, जिसमें पुरुष के विभिन्न अंगों से विभिन्न देवताओं की उत्पत्ति दर्शायी गयी है। सहस्रशीर्षा पुरुष के मन से चन्द्रमा, आँखों से सूर्य, मुख से अग्नि, प्राणों से वायु, नाभि से अन्तरिक्ष, सिर से द्युलोक, पाँव से भूमि और कानों से दिशाओं की तथा अन्य लोकों की उत्पत्ति दर्शायी गयी है।[७] यजुर्वेद के मन्त्रों में ऐसा ही वर्णन अक्षरशः उपलब्ध होता है।[८] अथर्ववेद में भी ऐसा वर्णन प्राप्त होता है।[९] उनके अनुसार वायु को परब्रह्म का प्राण और अपान माना गया है।[१०] वैदिक देवताओं को समर्पित सभी सूक्त समान रूप से पर्यावरणीय शिक्षा से प्रेरित हैं। इनके अनुसार मानव जीवन से सम्बन्धित सभी प्राकृतिक शक्तियों को देवत्व से युक्त स्वीकार किया है।

वेदों में पर्यावरण संरक्षण और संवर्द्धन का महत्त्व इस बात में निहित है कि प्रत्येक मानव प्रतिक्षण प्रकृति की रक्षा सचेत होकर करे ताकि प्रकृति उसके जीवन की सौ वर्ष तक रक्षा करे। यजुर्वेद में कहा गया कि हम सौ वर्ष तक देखें, सौ वर्ष तक जीवन जीएं, सौ वर्ष तक सुनें, सौ वर्ष तक बोलें, सौ वर्ष तक अपने स्वः पर आधीन रहें तथा सौ से अधिक वर्षों तक सुखी रहें।[११] पर्यावरण सुरक्षा से सम्बन्धित जो आचार-संहिता वेदों में दी गयी है, ऐसी आचार-संहिता विश्व के किसी भी धर्मग्रन्थ में नहीं है। पर्यावरण संरक्षण का महत्त्व और उसकी सुरक्षा, पर्यावरण संरक्षण के सभी पहलुओं पर विचार किया है, बल्कि उनकी सुरक्षा के अनेक सूत्र दिये हैं, जिसके सान्निध्य में आज हम सुखमय जीवनयापन कर सकते हैं।

वैदिक साहित्य में पर्यावरण संरक्षण पर प्रकाश डालते हुए भूमि प्रदूषण, जल प्रदूषण, वायु प्रदूषण और अन्य प्रदूषणों के विविध पहलुओं पर विभिन्न वैदिक ऋचाओं में बतलाया गया है कि श्वास और निःश्वास रूप में दो प्रकार की वायु चलती है, एक बाहर से अन्दर की ओर तथा दूसरी अन्दर से बाहर की ओर। यह प्रथम वायु तुम्हें बल प्रदान कराए और दूसरी वायु शारीरिक दोषों को अपने साथ बाहर ले जाती है। 'शरीरान्तःसंचारी वायुः प्राणः' इससे जाहिर होता है कि वायु प्राण शक्ति का आधार है, जीवनशक्ति की दाता है। इसके बिना जीवन असम्भव है।

आ वा॑त वाहि भे॒ष॒जं वि वा॑त वाहि॒ यद् रपः॑।

त्वं हि वि॒श्वभेषज दे॒वानां॑ दू॒त ईय॑से॥[१२]

जीवन के सम्यक् संचालन हेतु वायु-प्रदूषण के प्रशमन की नितान्त आवश्यकता है। अथर्ववेदीय ऋचा में पर्वत, जल, वायु, वर्षा और अग्नि को पर्यावरण शुद्धि करने वाले तत्त्वों के रूप में प्रतिपादित किया गया है।

द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः।
दक्षं ते अन्य आ वातु परान्यो वातु यद्रपः॥ [१३]

वायु के दो महत्त्वपूर्ण गुण हैं। प्राणवायु के द्वारा मनुष्य में जीवनशक्ति का संचार करना और अपान वायु के द्वारा सभी दोषों को शरीर से बाहर करना। इसीलिये वायु को विश्वभेषज कहा गया है क्योंकि यह सभी रोगों और दोषों को नष्ट करता है। वायु में अमृत तत्त्व है, जीवन तत्त्व है, जिसको यहाँ ऑक्सीजन कहा गया है, इसलिये हमें ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिये, जिससे वायु में अमृततत्त्व अर्थात् ऑक्सीजन की हानि हो।

यददो वात ते गृहे३ऽमृतस्य निधिर्हितः।
ततो नो देहि जीवसे॥ [१४]

ऋग्वेद में इस मन्त्र के माध्यम से यह जाहिर होता है कि हे वायु! तुम्हारे पास अमृत का खजाना है, तुम ही जीवनशक्ति के दाता हो। तुम संसार के जनक, भाई, मित्र और सभी रोगों की औषधि हो। ऋग्वेद के एक और मन्त्र में स्वास्थ्य लाभ प्रदान करने तथा दीर्घायु होने की कामना से वायु की अभ्यर्थना की गयी है।

वात आ वातु भेषजं शंभु मयोभु नो हृदे।
प्र ण आयूँषि तारिषत्॥ [१५]

वेदों में यह बताया गया है कि वायु-प्रदूषण से बचने के लिये वनों में वनस्पतियों का अधिकाधिक संवर्धन करें।

वनस्पतिं वन आस्थापयध्वम्। [१६]

वृक्ष सुरक्षा के लिये वायु सुरक्षा अति आवश्यक सूत्र है। अतः यजुर्वेद में कहा गया है-

वनानां पतये नमः, वृक्षाणां पतये नमः, ओषधीनां पतये नमः। [१७]

अर्थात् वनों के पति को नमस्ते, वृक्षों के पति को नमस्ते, औषधियों के पति को नमस्ते। यहाँ वृक्षों और औषधियों के प्रति आदर सत्कार की भावना का समर्थन किया गया है।

वनाय वनपमन्यतोरण्याय दावपम्॥ [१८]

अर्थात् हे राजन्! ईश्वरीय सृष्टि में जहाँ वन हैं, उस भू-भाग की हानि करने के लिये वन को जलाने वालों को दूर कीजिये अर्थात् दण्डित कर उस स्थान से दूर रखने का प्रयास कीजिये।

पृथिवि देवयजन्योषध्यास्ते मूलं मा हिंसिषं..॥ [१९]

पृथिवी, जो विद्वान् लोगों के श्रेष्ठ कार्य करने की जगह है और उस पर जो औषधियाँ तथा वनस्पतियाँ हैं, उनकी वृद्धि करें तथा उनके मूल को कभी नष्ट न करूँ।

तनूनपादसुरो विश्ववेदा देवो देवेषु देवः।
पथो अनक्तु मध्वा घृतेन॥ [२०]

इस मन्त्र से ज्ञात होता है कि वैदिक ऋषियों को वैज्ञानिक ज्ञान था कि हवा में कई प्रकार की गैसों का मिश्रण है, जिनके अलग-अलग गुण एवं अवगुण तथा महत्त्व है अर्थात् उत्तम गुण वाले पदार्थों, उत्तम गुण वाला प्रकाशरहित तथा सबको प्राप्त होने वाला (तनूनपात्) जो वायु को शरीर में नहीं गिराता वह कामना करने योग्य मधुर जल के साथ आदि मार्ग को प्रकट करे। तुम उसको जानो।

यज्ञ एक ऐसा मोक्षदायक, परोपकारमय और पर्यावरण शोधक, वायुशोधक तथा दैनिक अनिवार्य कर्त्तव्य है, जिसे शास्त्रों में सर्वश्रेष्ठ कर्म कहा गया है, जो वायु तत्त्व को यज्ञों की हवियों से शुद्ध करने का निर्देश देता है। शुद्ध वायु ही जीवन का आधार है।

मध्वा यज्ञं नक्षसे प्रीणानो नराशंसो अग्ने।
सुकृद्देवः सविता विश्ववारः॥ [२१]

जो मनुष्य यज्ञ (हवन) में सुगन्धादि पदार्थों के होम से वायु, जल को शुद्ध कर सबको सुखी करते हैं, वे स्वयं सब सुखों को प्राप्त करे।

हविष्मतीरिमा आपो हविष्माँ२ आ विवासति।
हविष्मान् देवो अध्वरो हविष्माँ२ अस्तु सूर्यः॥[२२]

यज्ञ की हवियों के द्वारा हम जल, आकाश और सूर्य की शुद्धता प्रदान करें।

यो हि सर्वाणि भूतानि भुनक्ति॥[२३]

यज्ञ सभी जड़-चेतन प्राणियों का पालन-पोषण तथा संरक्षण करता है। यज्ञ जीव-जगत् का आधार है। यज्ञ ही विष्णु का स्वरूप है। यज्ञ सभी प्राणियों में समाविष्ट है। यज्ञ की आहुति जहाँ एक ओर शान्तिदायक बादलों को उत्पन्न करती है, वहाँ वातावरण में भी माधुर्य का संचार करती है। ऋग्वेद में सिन्धु, औषधि वनस्पति, पृथिवी, द्यौ आदि सभी के मधुयुक्त होने की बात कही गयी है। पर्यावरण की यह समरसता यज्ञ द्वारा ही सम्भव है। ऋग्वेद में द्यावापृथिवी को घृत से घिरा हुआ और घृत को धारण करने वाला ही बतलाया है। यज्ञ में जो आहुति दी जाती है वह घृत सूक्ष्म होकर द्यावापृथिवी में सर्वत्र व्याप्त हो जाता है। यज्ञ एक प्रकार का विज्ञान है। इसकी सभी क्रियायें वैज्ञानिक परीक्षणों पर खरी उतरती हैं। परन्तु ध्यान देने योग्य बात यह है कि हवनकुण्ड का नाप, यज्ञ का विधि-विधान, समय और दिशाएं बदलती ऋतुएं, प्रयोगविधि सभी उचित रीति और नीति से होना आवश्यक है। इसके लिये गोघृत होना आवश्यक है। गोघृत के अभाव में यज्ञ सम्भव नहीं है। गोघृत तथा गोदुग्ध में सूक्ष्मरूप से ऊर्जा छिपी होती है। गाय सूर्य से ऊर्जा लेकर इसे अपने दूध में घोल देती है। जब गोघृत को चावलों के साथ मिश्रित करके होम किया जाता है तो इससे एसिटिलीन नामक तत्त्व उत्पन्न होता है जो कि प्रदूषित वायु को शुद्ध कर देता है। यज्ञ में आहुति डालने से वायुमण्डल में पर्यावरण शुद्धि होती है। उसी से सभी जीवों को परमसुख होता है।

वर्तमानकाल में यज्ञ में न्यूनता आने के कारण पृथिवी का वायुमण्डल बिगड़ रहा है, जिससे अनेक प्रकार की बीमारियाँ उत्पन्न हो रही हैं। हवन से वायु शुद्ध होती है, जिससे सुवृष्टि होती है। उससे शरीर निरोग और मानव की प्रज्ञा विकसित होती है। स्वामी दयानन्द ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक **सत्यार्थप्रकाश** में बताया है कि अग्निहोत्र से वायुवृष्टि, जल की शुद्धि होकर वृष्टि द्वारा संसार को सुख प्राप्त होता है अर्थात् शुद्ध वायु का श्वास, स्पर्श, बल, पराक्रम, बढ़कर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति होती है।

वेदों में पर्यावरण के घटक तत्त्वों पृथिवी, जल तथा वायु आदि की शुद्धि पर पर्याप्त बल दिया गया है। समस्त जीव वायुमण्डल से प्राण, वायु-पृथिवीमण्डल से भोजन तथा जलमण्डल से जल को ग्रहण करते हैं। इन्हीं के ऊपर हमारा जीवन निर्भर है। आज ये तीनों ही मण्डल दूषित हो गये हैं। परिणामस्वरूप पर्यावरण समस्या उत्पन्न होने से जीवन जीना कठिन हो गया है। वेदों में इन तीनों ही मण्डलों की सुरक्षा पर पर्याप्त बल दिया गया है। वेद विज्ञान के ऋषि भूमि को माता मानकर चलते हैं।

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।[२४]

पृथिवी जड़ पदार्थ होने पर भी ऐसा नहीं है कि हम इसका दोहन करते जायें तथा बदले में इसकी सुरक्षा का प्रयत्न न करें। यदि हमें पृथ्वी नामक महाभूत को दोषमुक्त रखना है तो माता के समान इसकी रक्षा करनी होगी। इसलिये वैदिक ऋषि भूमि की सुरक्षा करने की प्रार्थना बार-बार करते हैं।

पृथिवी में अपनी एक स्वाभाविक गन्ध होती है, परन्तु पर्यावरण प्रदूषण के कारण वह गन्ध समाप्त हो गयी है। खेती में डाले गये रासायनिक

खादों ने भी पृथिवी के स्वरूप को बदल दिया है। यही हाल जल, नदियों तथा समुद्र का है। नदियों में फेंके गये शवों, कूड़े तथा दूषित जल के मिश्रण से नदियों का वह स्वरूप नहीं रह गया, जिसके लिये वेद में **मधु क्षरन्ति सिन्धवः** कहा गया था। अथर्ववेद में स्पष्ट कहा गया है कि शुद्ध जल ही हमारे शरीर के लिये चलता रहे, अशुद्ध नहीं।

शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु।[२५]

ऋग्वेद में जलाशयों के किनारे पर खड़े वृक्षों को काटने का भी निषेध किया गया है।

यदर्णसं मोषथा वृक्षं कपनेव वेधसः।[२६]

पृथिवी तथा जलतत्त्व की भाँति आज अन्तरिक्ष भी पूर्णतः दूषित है। परमाणु शस्त्रों के परीक्षण से अन्तरिक्ष भी पूर्णतः प्रदूषित हो गया है। वैदिक ऋषियों को इस बात का अहसास था कि भूमि, द्यौ, अन्तरिक्ष, जल, वनस्पति आदि प्रदूषित हो जायेंगे तो जीवन दूभर हो जायेगा। इसीलिये वेद में इन सभी की शान्ति की बात कही गयी है। इन तत्त्वों को प्रदूषण मुक्त रखना ही उनकी शान्ति है। इसलिये इन्हें प्रदूषण-रहित रखने का एक ही साधन है, वैदिक रीति से यज्ञ करना और करवाना। वैदिक ऋषियों की मूल मान्यताओं के आधार पर ही प्रदूषण मुक्त समाज की स्थापना की जा सकती है।

मानव की स्वार्थवश प्रकृति से ही पर्यावरण की समस्या उत्पन्न हुई है। आज मानव ने अपने निहित स्वार्थ के लिये भूमि, जल, वन, पर्वत, आकाश आदि प्राकृतिक साधनों का अत्यधिक मात्रा में विदोहन किया है। इतना ही नहीं, अपितु अपने आपको सर्वश्रेष्ठ तथा विवेकशील प्राणी घोषित करते हुए वह न केवल प्रकृति अपितु पशु-पक्षियों को भी अपने उपयोग की वस्तु समझता है। मानव की ऐसी धारणा अवैदिक और अमानवीय है। प्राचीनकाल में ऋषियों ने प्रकृति अर्थात् प्राकृतिक पदार्थों के साथ सामंजस्य बनाया हुआ था। इसलिये हमारे प्राचीन धार्मिक-ग्रन्थों में प्रकृति का मानवीकरण किया गया है। जड़-पदार्थों के साथ भी चेतन प्राणी के समान आदर और सम्मान स्थापित किया है। जड़ और चेतन को एक समान माना है। हमारे ऋषि प्रकृति के साथ सामञ्जस्य बनाकर चलते थे। प्रकृति और पुरुष के प्रति सामञ्जस्य था। एक-दूसरे के सहायक थे। आज मानव भोगवादी प्रवृत्ति के कारण प्रकृति का कसाई बन गया है। जिसके कारण प्रकृति समय-समय पर अपना बदलता रूप दिखाती है।

अथर्ववेद के भूमि सूक्त में वन की महत्ता का सुन्दर चित्रण किया गया है। अथर्ववेद में पृथिवीसूक्त में हरे-भरे वनों एवं पर्वतों से आच्छादित पृथ्वी की कामना की गयी है।

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु॥[२७]

यहीं पर यह भी कहा गया है कि भूमि पर वृक्ष तथा वनस्पतियाँ स्थायी रूप से खड़ी रहें।

यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा॥[२८]

रात्रि में वृक्ष मनुष्य की तरह सोते हैं, अतः इन्हें काटना नहीं चाहिये। जनसाधारण में प्रचरित यह धारणा प्रकृति के मानवीकरण का ही परिणाम है। अथर्ववेद में **वनस्पते जीवानां लोकमुन्नय** कहकर वनस्पति से लोकजीवन को उन्नत बनाने को प्रार्थना की गयी है।

वस्तुतः आज का युग वैज्ञानिक परीक्षणों पर आधारित होता जा रहा है। भौतिकता की अन्धी दौड़ में मानव प्रकृति-रक्षा की बात बिल्कुल भूल गया है। जड़ और चेतन एकात्मकता की भावना जो वेदयुगीन समय में स्थापित थी, उसको मानव

समाज ने विस्मृत कर दिया है। वैदिक युग में पर्यावरण तथा प्रकृति रक्षा के विभिन्न मूलमन्त्र, सूत्र और प्रमुख घटकों, उनके स्रोत, उनका धार्मिक महत्त्व, प्राकृतिक संरचना, पारिस्थितिकी तन्त्र में उनके महत्त्व, उनके शुद्ध स्वरूप को विकृत करने वाले कारक, उनकी रोकथाम तथा पृथिवी और प्राकृतिक साधनों के पारस्परिक सन्तुलन पर ही प्राणी मात्र के अस्तित्व की निर्भरता का वैज्ञानिक दृष्टिकोण पूर्णतया विकसित हो चुका है। भारतीय संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में पर्यावरण के प्रति चेतना, जागरूकता एवं संवेदनशीलता वैदिक युग से ही प्राप्त होने लगी। वर्तमान भौतिकवादी, यान्त्रिक, कृत्रिमतापूर्ण सभ्यता के दौर में वैदिक पर्यावरणीय, आध्यात्मिक, सन्तुलित, समग्र दृष्टि अत्यन्त उपयोगी साबित हो सकती है।

पाद-टिप्पणियां-

१ ऋग्०१.३९.११
२ अथर्व०२.३१.३; ५.१३.५-८; ५.१४.१; ६.५०.२, यजुर्वेद २४.२०; २४.२२-२५; २४.२९
३ ऋग्०१०.७५
४ नदी सूक्त १०.७५.५-६
५ अथर्व०१.४.३; १.६.४; १.४.४; ३.७.५; १.६.१
६ अथर्व०१२.१.३०
७ ऋग्०१०.९०.१३-१४
८ अथर्व०
९ अथर्व०१०.७.१२
१० अथर्व०१०.७.३४
११ यजु०३६.२४
१२ अथर्व०४.१३.३
१३ ऋग्०१०.१३७.२
१४ ऋग्०१०.१८६.३
१५ ऋग्०१०.१८६.१
१६ ऋग्०१०.१०१.११
१७ यजु०१६.१८-१९
१८ यजु०३०.१९
१९ यजु०१.२५
२० यजु०२७.१२
२१ यजु०२७.१३
२२ यजु०६.२३
२३ शत०ब्राह्म०९.४.१.११
२४ अथर्व०१२.१.१२
२५ अथर्व०१२.१.३०
२६ ऋग्०५.५४.६
२७ अथर्व०१२.१.११
२८ अथर्व०१२.१.२७

Vaidika Vāg-Jyotiḥ
ISSN 2277-4351
Vol.1, No.1 (106-109) Jul-Dec 2012

पादप विविधता संकट : मनुस्मृत्युक्त वैदिक समाधान

नन्दिता सिंघवी
अध्यक्ष, संस्कृतविभाग, रा०डूंगर महाविद्यालय, बीकानेर (राज०)

पृथ्वी की वर्तमान पर्यावरणीय समस्याओं में पादप चिकित्सा के विलुप्त होने का संकट सर्वाधिक गम्भीर समस्या है। पृथ्वी पर जल अथवा थल पर स्थित असंख्य प्रकार के पादपों की उपस्थिति, उनकी विषमता व पारिस्थितिकी जटिलता को पादप विविधता कहते हैं। पादप विविधता का सर्वाधिक महत्त्व पारिस्थितिकी सन्तुलन को बनाये रखना है। उत्पादक, उपभोक्ता एवं उपघटक के रूप में सम्मिलित पादप व प्राणी पारिस्थितिक तन्त्र के संचालन के आधार होते हैं। इनमें से किसी भी जाति के पादप या प्राणी की संख्या घटने पर पारिस्थितिक तन्त्र में असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। मानव की विभिन्न गतिविधियों ने न केवल पादपों का स्वरूप ही बदला है, वरन् पादपों एवं जन्तुओं के प्राकृतिक आवासों को भी उजाड़ दिया है।

प्राकृतिक वनस्पति पर बढ़ते हुए मानवीय अतिक्रमण (Enchroachment) के कारण प्रतिवर्ष वनों के काफी बड़े क्षेत्र वृक्षविहीन होते जा रहे हैं। इसके अतिरिक्त प्रदूषण समस्या व विदेशी पादपों के कारण भी कई पादप जातियाँ विलुप्त हो चुकी हैं तथा अनेक जातियों पर विलुप्त होने का संकट मंडरा रहा है। विश्व के प्रमुख वनस्पतिज्ञों ने चेतावनी दी है कि लगभग १५००० पादप जातियाँ अति दुर्लभ हैं, जो लुप्त होने के कगार पर खड़ी हैं। यदि पादपों के विलुप्त होने की वर्तमान प्रक्रिया पर हमने अंकुश नहीं लगाया, तब वह दिन दूर नहीं जब मानव का स्वयं का अस्तित्व भी संकट में पड़ जायेगा।

जैव सम्पदा विश्व की सांझा सम्पदा है तथा इसे बचाना विश्व समुदाय का उत्तरादायित्व है। मनुस्मृति में पादपों की विविधता एवं उपादेयता के प्रतिपादन के साथ उनके संरक्षण के प्रति विशेष चेतना दृष्टिगत होती है।

मनुस्मृति में निम्न पादपों के नामोल्लेख व उपयोग प्राप्त होते हैं-

	सन्दर्भ
१. ईख	९.३९
२. उड़द (माष)	३.२६७, ९.३९
३. कपास	८.३२६, ११.१६८, १२.६४
४. कवक (कुकुरमुत्ता)	५.५, ६.१४, ११.१५५
५. कालशाक	३.२७२
६. कुशा	२.१५७, ४.२५०, १०.८८, ११.१४८ ११.२१२
७. गौर सर्षप-(सफेद सरसों)	५.१२०
८. छत्राक (कुम्हण)	५.१९
९. ढाक (किंशुक)	८.२४६
१०. ताड़ (ताल)	८.२४६

११. तिल	३.२६७, १०.३९, १०.९०-९१, १०.९४
१२. तृण (तिनका घास)	११.१६६
१३. दर्भ	३.२५५
१४. प्याज (पलाण्डु)	५.५
१५. पत्रशाकम्	१२.६५
१६. पीपल (अश्वत्थ)	८.२४६
१७. बंत (वैदल)	८.३२७
१८. भूतृण (शरवाण)	६.१४
१९. महुआ	११.९४
२०. मालती पौधों के झाड़ (कुब्जकगुल्म)	८.२४७
२१. मुंग	९.३९
२२. जौ (यव)	९.३९, ११.१९६
२३. रीठा (अरिष्टक)	५.१२०
२४. लहसुन	५.५, ९.३९
२५. लाख	१०.९२
२६. लिसौड़ा	५.६, ६.१४
२७. वट (न्यग्रोध)	८.२४६
२८. चावल (व्रीहि)	३.२६७, ९.३९
२९. बांस (वेणु)	८.३२७
३०. शमी वल्ली (संम की बेल)	८.२४७
३१. शलगम (गृञ्जन)	५.५
३२. श्रीफल (बिल्व)	५.१२०
३३. सन	१०.८७
३४. सफ़ेद सहिजन (शिग्रुक)	६.१४
३५. सरकण्डे (गुञ्ज के झाड़)	८.२४७
३६. साठी धान (शालि)	९.३९
३७. साल	८.२४६
३८. सेमल (शाल्मली)	८.२४६

उपर्युक्त पादपों के अतिरिक्त मनुस्मृति में पादप विविधता को संकेतित करने वाले निम्न संकेत प्राप्त होते हैं-

१. विविधमकृतान्नम् (१२.६५) विविध प्रकार के कच्चे अन्न।

२. क्षीरिणश्चैव पादपान् (८.२४६) दूध वाले अन्य वृक्ष।

३. फलदानां तु वृक्षाणाम् (११.१४२) फल देने वाले वृक्ष।

४. गुल्मान् (८.२४७)-झाड़ वाले पौधे।

५. गुल्मवल्लीलतानाम् (११.१४२)-झाड़ पौधों के साथ चढ़ने वाली और भूमि पर फैलने वाली लताएं।

६. मुन्यन्नैर्विविधैः (६.५)- नाना प्रकार के सांमा आदि अन्न।

७. पुष्पितानां च वीरुधाम् (११.१४२) फूल वाली लताएं।

८. लोहितान्वृक्षनिर्यासान् (५.६)-लाल वृक्षों का गोंद।

९. वेणूश्च विविधान् (८.२४७)-विविध प्रकार के बांसवृक्ष

१०. हरिते धान्ये (८.३३०)-हरे धान्य।

इनके अतिरिक्त मनुस्मृति (९.२६५) में आये वन, उपवन और अरण्य पदों से ज्ञात होता है कि उस युग में पादप विविधता के प्रति चेतना विद्यमान थी।

कठोपनिषद् (२.२.७) के अनुसार जीव एक है और कर्मों के अनुसार विभिन्न देहों से उसका जन्म होता है। जो नर शरीर से चोरी, परस्त्रीगमन, सज्जनों को मारना इत्यादि दुष्ट कर्म करता है, उसको वृक्ष आदि स्थावर का जन्म मिलता है (मनु०१२.९)। अन्य शब्दों में जो अत्यन्त तमोगुणी हैं, वे स्थावर वृक्षादि का जन्म पाते हैं (वही, १२.४२)।

मनुस्मृति (१.५६) के अनुसार परमात्मा अणुमात्रिक होकर स्थावर जीवों के बीज के रूप में

अपने सूक्ष्म अवयवों से संयुक्त होकर प्रवेश करता है, तब शरीर को धारण करता है। इस तथ्य के आधार पर कह सकते हैं कि पादपों में परमेश्वरांश होने से वे संरक्षण के योग्य हैं।

यह सब कुछ स्थावर और चर जगत् जीव के खाने के लिये अन्न रूप में और सब कुछ जीव के भोजन के लिये बनाया गया है-

प्राणस्यान्नमिदं सर्वं प्रजापतिरकल्पयत्।
स्थावरं जङ्गमं चैव सर्वं प्राणस्य भोजनम्॥

(वही, ५.२८)

घास, फल-फूल इत्यादि स्थावर वस्तुएं चर प्राणियों का अन्न अर्थात् भक्ष्य है-

चराणामन्नमचरा-वही, ५.२९

सृष्टि के विकास के लिये भी पादप विविधता आवश्यक है, अतः पादप-संरक्षण हेतु मनु ने विभिन्न दिशा-निर्देश दिये हैं, जो पादप विविधता के विकास में महत्त्वपूर्ण व प्रासंगिक हैं। वन्य पादप विविधता के संरक्षणार्थ मनु द्वारा वानप्रस्थी और संन्यासी को यह निर्देश दिया गया है कि वे भूमि और जल में उत्पन्न शाकों को, पवित्र वृक्षों से उत्पन्न होने वाले फूल, कन्दमूल और फलों को और फलों से प्राप्त होने वाले रसों या तेलों को खायें (वही, ६.१३) तथा अपने आप निश्चित समय पर पके हुए और स्वयं टूटकर गिरे हुए केवल फल, मूल और फलों से ही सदा जीवन निर्वाह करें (वही ६.२१)

यज्ञार्थ पादपों की हिंसा को मनु ने उचित माना है। ओषधियाँ, पशु, वृक्ष, साँप, कछुए आदि तथा पक्षी यज्ञ के लिये मृत्यु को प्राप्त होकर फिर उत्तम योनि को प्राप्त करते हैं (वही ५.४०)। याज्ञवल्क्य स्मृति (३.२७६) में कहा गया है कि यज्ञ के उद्देश्य के बिना वृक्ष, गुल्म, लता, वीरुध आदि के काटने पर तथा ग्राम्य एवं अरण्य औषधियों के काटने पर मनुष्य को प्रायश्चित्त करना चाहिये।

मनुस्मृति (८.२८५) के अनुसार-सब वनस्पतियों का जैसा-जैसा अधिक या कम उपयोग है, उनको नष्ट करने पर शास्त्रों में वैसी-वैसी दण्ड व्यवस्था है। यथा-

(क) कृषि के साथ और जंगल में स्वयं उत्पन्न होने वाली ओषधियों को व्यर्थ नष्ट करने पर एक दिन केवल दूध ही पीते हुए रहकर गौ की सेवा करें (वही, ११.१४)।

(ख) फल देने वाले आम, सेब आदि वृक्षों के झाड़ या वृक्षों के साथ चढ़ने वाली लताएं और भूमि पर फैलने वाली लताएं और फूलने वाले वृक्ष, इनके काटने पर एक सौ बार गायत्री मन्त्र का जप करें (वही, ११.१४२)।

अन्यत्र स्मृतियों में भी पादप हिंसा करने पर कठोर आर्थिक दण्ड-व्यवस्था दृष्टिगत होती है। याज्ञवल्क्य स्मृति (२.२२७-२२९) ने मनुष्य के जीविका निर्वाह के साथ आम आदि वृक्ष की कोंपलों से युक्त डालों को, तने को अथवा सम्पूर्ण वृक्ष को काटने पर क्रमशः २०, ४० व ८० पण दण्ड का विधान किया है व धार्मिक स्थानों, श्मशानों आदि के वृक्ष और पीपल, पलाश के वृक्ष काटने पर उपर्युक्त दण्ड से दुगुना दण्ड तथा विभिन्न प्रकार के गुल्म, गुच्छ, क्षुप, लता, प्रतान, ओषधि व वीरुध को काटने पर अपेक्षाकृत आधे दण्ड की व्यवस्था की है।

ओषधियों को नष्ट करना व ईंधन के लिये हरे वृक्षों को काटना मनु ने उपपातकों में परिगणित किया है (मनु०११.६३)।

इस प्रकार पादपों को नष्ट करना वेदविरुद्ध है। मनु का स्पष्ट निर्देश है कि घर में, गुरु के यहाँ अथवा अरण्य में निवास करते हुए आत्मा की

पवित्रता को चाहने वाला द्विज आपत्ति काल में भी वेदविरुद्ध हिंसा न करें (वही ५.४४)।

जीविका में असमर्थ होने पर ब्राह्मण जहाँ कहीं से काटने के बाद खेत में बची रह जाने वाली बालें और काटने के बाद खेत में पड़े रह जाने वाले दानें इन्हें बीनकर भी जीविका चला ले, क्योंकि दान लेने से 'शिल' बीनकर जीविका चलाना अच्छा है और उससे तो 'उञ्छ' से जीविका करना भी अच्छा है (वही, १०.११२)।

मानव का लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति है, अतः परमात्मा के उपासक मनुष्य को सब चराचर पदार्थों में परमात्मा को और परमात्मा में सब पदार्थों को समान भाव से देखना चाहिये-

सर्वभूतेषु चात्मनं सर्वभूतानि चात्मनि।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति॥
वही १२.९१॥

यह समत्व भाव ही पादप विविधता का संरक्षण कर सकता है। इस प्रकार मनुस्मृत्युक्त पादप विविधता संकट का समाधान महत्त्वपूर्ण व प्रासंगिक है।

Vaidika Vāg-Jyotiḥ
ISSN 2277-4351

Vol.1, No.1 (110-117) Jul-Dec 2012

प्राण-विवेचन
(अमृतनादोपनषिद् के सन्दर्भ में)

राम हरीश मौर्य
शोधच्छात्र, वेदविभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

योगियों ने श्वास के अवलोकन द्वारा यह देखा तथा अनुभव किया था कि श्वास के द्वारा समूचे शरीर में ऊर्जा की तरंगों का प्रवाह होता है। उन्होंने यह भी देखा कि श्वास द्वारा पूरे शरीर में किस प्रकार प्राण ऊर्जा प्रवाहित होती है। प्रत्येक अंग के कार्य और आवश्यकता के अनुसार प्राण ऊर्जा रूपान्तरित होकर उसे ऊर्जा की आपूर्ति करती है। इसी आधार पर प्राण ऊर्जा का अलग-अलग नामों से विभाजन किया गया है। प्रत्येक वायु शरीर के किन्हीं खास भागों में स्थित होता है। उसके प्रवाह की एक खास दिशा और खास ढंग होता है। प्राण को प्रायः श्वास के रूप में माना जाता है फिर भी यह मानव शरीर के अनेक आविर्भावों में से एक है। यदि श्वसन क्रिया बन्द हो जाती है तो जीवन समाप्त हो जाता है। प्राचीन भारतीय ऋषियों ने यह जान लिया था कि जब शरीर से प्राण वायु निकल जाता है तब उसे मरण कहते हैं।[१] आर्ष साहित्य में प्राण को ब्रह्म कहा जाता है। प्राण शरीर के कण-कण में पिरोया हुआ है, शरीर के कर्मेन्द्रियादि तो सो भी जाते हैं, किन्तु यह प्राण शक्ति कभी भी न तो सोती है, न विश्राम ही करती है। रात-दिन अनवरत रूप में कार्य करती ही रहती है, चलती ही रहती है। -**'चरैवेति चरैवेति'** इसका यही मूलमन्त्र है। जब तक प्राण शक्ति चलती रहती है तभी तक प्राणियों की आयु रहती है। जब यह इस शरीर में काम करना बन्द कर देती है, तब आयु समाप्त हो जाती है।

योग साहित्य (आर्ष साहित्य) में प्राण की सबसे व्यापक परिभाषा है। प्राण एक ऊर्जा है जो जन्म देती है, सुरक्षा करती है, और नष्ट करती है। प्राण क्या है? उनके क्या कार्य है? उनका वर्ण क्या है? इसका विस्तृत वर्णन प्रस्तुत शोधपत्र में किया गया है। विविधताओं के तल में जीवन और प्राण के रूप में सत्य का सतत नैरन्तर्य है, जो सम्पूर्ण सृष्टि के मानकों को एक सूत्र में सजोता (पिरोता) है। इस अन्तर्निहित जीवन सत्ता को वेद और उपनिषद् प्राण कहते हैं। यही 'प्राण' सम्पूर्ण सृष्टि का मूल संरचक तत्त्व है। महर्षि पिप्पलाद प्राण के उत्पत्ति का उपदेश इस प्रकार देते हैं-

आत्मन एष प्राणो जायते। यथैषा पुरुषे छायैतस्मिन्नेतदाततं मनोकृतेनायात्यस्मिञ्शरीरे॥[२]

इस प्राण की उत्पत्ति आत्मा में होती है। जिस प्रकार छाया देह से उत्पन्न होती अथवा छाया देहधारी के आश्रित है। इसी प्रकार प्राण आत्मा से उत्पन्न होकर, उसी के आश्रित रहता है। यह प्राण मन के संकल्प के अनुसार शरीर में प्रविष्ट होता है। अथर्ववेद (११.४.१-२६) प्राण की व्यापक व्याख्या प्रस्तुत करता है-

प्राणः प्रजा अनु वस्ते पिता पुत्रमिव प्रियम्।
प्राणो ह सर्वस्येश्वरो यच्च प्राणति यच्च न।।[३]

प्राण पिता है और उसके लिये सारे प्राणी प्रिय पुत्र की तरह हैं। प्राण सम्पूर्ण सृष्टि का ईश्वर है। जो श्वास लेता है और जो श्वास नहीं लेता है-जड़-चेतन जगत् दोनों में प्राण विद्यमान है। प्राण की यह विलक्षणता उसकी सर्वव्यापकता को प्रकट करती है।

अपानति प्राणति पुरुषो गर्भे अन्तरा।
यदा त्वं प्राण जिन्वस्यथ स जायते पुनः।।[४]

बच्चा गर्भ में श्वास-प्रवास लेता है। हे प्राण! जब तुम प्रेरणा करते हो, वह जीव पुनः उत्पन्न होता है। इसी प्रकार प्रश्नोपनिषद् में-

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्।
मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि न इति।।[५]

तीनों लोकों में जो कुछ भी अस्तित्व में है, सब प्राण के नियन्त्रण में है। जैसे माता अपने बच्चों की रक्षा करती है, वैसे ही हे प्राण, हमारी रक्षा करो। हमें श्री-सम्पत्ति तथा प्रज्ञा दो। तैत्तिरीयोपनिषद् की ब्रह्मानन्दवल्ली में-

प्राणं देवा अनुप्राणन्ति। मनुष्याः पशवश्च ये।
प्राणो हि भूतानामायुः। तस्मात्सर्वायुषमुच्यते।।[६]

देवता, मनुष्य और पशु आदि सब प्राण के आश्रय से चेष्टा करते हैं, क्योंकि प्राण ही समस्त प्राणियों की आयु है, अतः यह सभी प्राणियों का जीवन है। इस प्रकार जिसे हम सम्पूर्ण सृष्टि का मूल संरचक तत्त्व कहते हैं, वह प्राण स्वयं को प्राणमय कोश में पाँच प्रमुख रूपों में प्रकट करता है-

प्राणोऽपानस्तथा व्यानः समानोदान एव च।[७]

प्राण के ये पाँचों क्रियात्मक रूप संरचना की दृष्टि से एक-दूसरे से भिन्न नहीं है, पर शरीर के अलग भागों में अलग ढंग से कार्य करते हैं।

यथा सम्राडेवाधि कृतान्विनियुङ्क्ते। एतान् **ग्रामानेतान ग्रामानधितिष्ठस्वेत्येवमेवैष** प्राण **इतरान्प्राणान्पृथगेव संनिधत्ते।।**[८]

जिस प्रकार कोई राजा अपने अधिकारियों को नियुक्त करता है और अलग-अलग कहता है-तुम मेरे लिये इन ग्रामों का शासन करो और तुम इन ग्रामों का कार्यभार संभालो-उसी प्रकार यह प्राण अन्य, प्राण, अपान आदि सब प्राणों को अलग-अलग क्षेत्रों में नियुक्त करता है। अमृतनादोपनिषद् में पाँच प्राणों में स्थान एवं वर्ण इस प्रकार बताये गये हैं-

प्राण आद्यो हृदि स्थाने अपानस्तु पुनर्गुदे।
समानो नाभि देशे तु उदानः कण्ठमाश्रितः।।
व्यानाः सर्वेषु चाङ्गेषु व्याप्य तिष्ठति सर्वदा।।[९]

१. प्राणः-प्र+अन् धातु+अच् प्रत्यय से प्राण शब्द बनता है। जिसका अर्थ-'सांस, श्वास; जीवन की सांस, जीवनशक्ति, जीवन, जीवनदायी वायु, जीवन का मूल तत्त्व, जीवन के पाँच प्राणों में से पहला (जिसका स्थान फेफड़े हैं); वायु, अन्दर खींचा हुआ सांस; ऊर्जा, बल, सामर्थ्य, शक्ति; जीव या आत्मा; **परमात्मा**[१०]-है। यह मुख्य वायु है। इसका स्थान हृदय क्षेत्र है। इसका कार्यक्षेत्र नासिका मार्ग, कण्ठ, स्वरतन्त्र, वाक् इन्द्रिय, अन्ननालिका, श्वसन-तन्त्र, फेफड़ों एवं हृदय को क्रियाशीलता तथा शक्ति प्रदान करता है। अमृतनादोपनिषद् में प्राण वायु का रंग इस प्रकार बताया गया है-

रक्त वर्णो मणिप्रख्यः प्राणवायु प्रकीर्तितः।[११] (प्राणवायु का वर्ण लाल रंग की मणि के समान है।)

अपान- (अप+अन्+अच् , अपानयति मूत्रादिकम्-अप+आ+नी+ड वा) श्वास बाहर निकलना, श्वास लेने की क्रिया, शरीर में रहने वाले

पाँच पवनों में से एक जो नीचे की ओर जाता है तथा गुदा के मार्ग से बाहर निकलता है।'[१२] प्राणवायु कण्ठ और छाती के बीच कार्य करती है। हमारे श्वसन तन्त्र को नियन्त्रित और नियमित करती है तथा प्राण शक्ति को आत्मसात् करती है। जब श्वास पटल की मांसपेशी संकुचित होती है, तो फेफड़ों में निर्वात निर्मित होता है तथा वे हवा और प्राणशक्ति को सोखते हैं, इसलिये इस क्रिया को श्वास कहते हैं। श्वासक्रिया की विरोधी क्रिया को अपान कहते हैं। जो प्रश्वास कहलाती है। जो प्रश्वास कहलाती है। ''अप नयति रोगादिकमिति अपानः'' अर्थात् जो रोग आदि को दूर करता है। इस प्रकार अपान यह सार्थक नाम है। यदि अपान वायु ठीक से नहीं निकलेगी तो वह उल्टी-डकार, उदर, मस्तिष्क आदि अंगों में टक्कर मारेगी, फलतः नाना रोग जन्म लेते हैं। आयुर्वेद का यह सिद्धान्त है कि सब रोग मन्दाग्नि से पैदा होते हैं।

रोगाः सर्वेऽपि मन्देऽग्नौ सुतरामुदराणि च।[१३]

अपान वायु का निवास गुदास्थान में है। अपान वायु नाभि से नीचे मूलाधार पर्यन्त गतिशील रहती है। मल, मूत्र, आर्तव, शुक्र, अधोवायु, गर्भ का निःसारण अपान वायु के द्वारा होता है।

अपानो वर्तते नित्यं गुदमध्योरुजानुषु।
उदरे सकले कट्यां नाभौ जङ्घे च सुव्रत।।[१४]
अपानाख्यस्य वायोस्तु विण्मूत्रादिविसर्जनम्।[१५]
गुदमेढ्रोरुजानूदरवृषणकटिजङ्घानाभि-
गुदाग्न्यगारेष्वपानः संचरति।
विण्मूत्रादिविसर्जनमपानवायुकर्म।।[१६]

प्राण तथा अपान के विषय में कहा भी गया है कि-

प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं प्रधावति।।
वामदक्षिणमार्गेण चञ्चलत्वान्न दृश्यते।
आक्षिप्तो भुजदण्डेन यथोच्चलति कन्दुकः।।
प्राणापानसमाक्षिप्तस्तद्वज्जीवो न विश्रमेत्।
अपानात्कर्षति प्राणोऽपानः प्राणाच्च कर्षति।।
खगरज्जुवदित्येतद्यो जानाति सं योगवित्।[१७]

प्राण और अपान के वशीभूत होकर जीव ऊपर-नीचे गमन करता रहता है। प्राण कभी दायें और कभी बायें मार्ग से गमन करता है, परन्तु चञ्चल प्रकृति का होने से देखने में नहीं आता। हाथों से फेंकी गयी गेंद जैसे इधर-उधर दौड़ती है, उसी प्रकार प्राण और अपान द्वारा भली प्रकार फेंकने से जीव को कभी आराम नहीं मिल पाता। अपान तथा प्राण एक-दूसरे को खींचने की प्रक्रिया उसी प्रकार की है; जैसे रस्सी से आबद्ध पक्षी अपनी ओर खींच लिया जाता है। इस तत्त्व के ज्ञाता को ही योगी कहा जाता है। अमृतनादोपनिषद् में अपान वायु को गुदा के बीचो-बीच इन्द्रगोप-वीर वहूटी नामक गहरे लाल रंग का बताया गया है-

अपानस्तस्य मध्ये तु इन्द्रगोप समप्रभः।[१८]

पाँच प्राण, स्थान, वर्ण एवं कार्य-दर्शन तालिका

क्रम सं०	प्राण का नाम	वर्ण रंग	शरीर में स्थान	प्राण का कार्य
१.	प्राण	लाल	हृदय के समीपस्थ भाग	प्राण नासिका-मार्ग, कण्ठ, स्वरतन्त्र, वाक्, इन्द्रिय, अन्न-नालिका, श्वसनतन्त्र, फेफड़ों तथा हृदय को क्रियाशीलता तथा शक्ति प्रदान करना।
२.	अपान	इन्द्र गोप (गहरा लाल)	गुदा	मल, मूत्र, आर्तव, शुक्र, अधोवायु, गर्भ का निःसारण अपान वायु द्वारा ही होता है।
३.	समान	गो-दुग्ध के समान शुभ्र	नाभि प्रदेश	यकृत्, आँत, प्लीहा एवं अग्न्याशय सहित सम्पूर्ण पाचनतन्त्र की आन्तरिक कार्य प्रणाली को नियन्त्रित करता है।

४.	उदान	धूसर	कण्ठ प्रदेश	कण्ठ के ऊपर शरीर के समस्त अंगों नेत्र नासिका एवं सम्पूर्ण मुखमण्डल को ऊर्जा और आभा प्रदान करता है।
५.	व्यान	अग्नि शिखा की भाँति	समस्त शरीर में	व्यान वायु शरीर की समस्त गतिविधियां को नियमित तथा नियन्त्रित करती है।

समानः-सम्-अन्-अण् प्रत्यय से समान बनता है। यह समान पाँच प्राणों में से तीसरे क्रम पर आता है। 'इसका स्थान नाभि का गर्त है। तथा पाचन शक्ति के लिये परमावश्यक है।'[१९] मुक्ति की कुंजी समान वायु के पास होती है। समान वायु प्राण तथा अपना में समतुल्यता स्थापित करने वाली होती है। इसे मध्य श्वास भी कहते हैं। यह हृदय तथा नाभि के बीच में स्थित होती है। यह प्राण को सोखती है, आत्मसात् करती है। भौतिक शरीर विज्ञान की दृष्टि से देखें तो यकृत्, क्लोम ग्रन्थि, उदर, पाचन नलिका में शक्ति उत्पन्न करती है, जिससे वे अपने कार्य अच्छी तरह कर सकें। श्वासोच्छ्वास के क्रम में श्वास और प्रश्वास के बीच में जो अन्तराल होता है, उसे समान वायु कहते हैं। समान का निवास नाभि प्रदेश में है। पेट में पहुंचे हुए अन्न का सार अंश को अलग करके रस, रुधिर आदि सात धातुओं के रूप में परिपाक करना तथा अग्राह्य अंश को मल-मूत्रादि के रूप में पृथक् करना इसी का कार्य है। अर्थात् यकृत्, आँत, प्लीहा एवं अग्नाशय सहित सम्पूर्ण पाचन--तन्त्र की आन्तरिक कार्य प्रणाली को नियन्त्रित करता है। कहा भी गया है-

समाननाभि देशे तु.................।[२०]
समानः सर्वदेहेषु व्याप्य तिष्ठत्यसंशयः।[२१]
समानः सर्वसामीप्यं करोति मुनिपुङ्गव।[२२]
पादहस्तयोरपि सर्वगात्रेषु सर्वव्यापी समानः।
शरीरपोषणादिकं समानकर्म।[२३]
समानः सर्वगात्रेषु सर्वव्यापी व्यवस्थितः।[२४]
पोषणादिशरीरस्य समानः कुरुते सदा।[२५]

इस प्रकार समान नाभि प्रदेश में रहकर प्राण एवं अपान के बीच का संतुलन रखता है। यह समान ही है, जो आहूत अन्न की समान रूप से वितरित करता है; क्योंकि इससे सप्त अग्नियाँ उत्पन्न होती है। पाचन-क्रिया समान के नियन्त्रण में है, जिससे शरीर का पालन-पोषण सर्वदा सम्पन्न होता है। समान वायु का रंग इस प्रकार बताया गया है-

समानस्तु द्वयोर्मध्ये गोक्षीरधवलप्रभः।[२६]

नाभि प्रदेश में प्राण तथा अपान के मध्य के समान नाम वायु स्थिर है। यह गो-दुग्ध या स्फटिक मणि की भाँति शुभ्र कान्तियुक्त है।

उदान-उद्-अन्-घञ् प्रत्यय से उदान शब्द निर्मित होता है 'ऊपर को साँस लेना, साँस लेना, श्वास, प्राणों में चौथा प्राण उदान है, जो कण्ठ से आविर्भूत होकर सिर से प्रविष्ट होता है।[२७] उदान को ऊर्ध्व श्वास भी कहते है। यह कण्ठ और चेहरे में स्थित होती है। यह खाद्य पदार्थों को निगलने में सक्षम बनाती है। चेहरे के भावों तथा वाणी को नियन्त्रित और संचालित करती है। इसके द्वारा हर मांसपेशी में शक्ति भी बनी रहती है। पिच्युटरी तथा पिनियल ग्रन्थि सहित पूरे मस्तिष्क को यह 'उदान' प्राण क्रियाशीलता प्रदान करता है। मनोबल एवं स्मरण शक्ति को विकसित करता है।

.....उदानः कण्ठमाश्रितः॥[२८]
उदान ऊर्ध्वगमनं करोत्येव न संशयः।[२९]
सर्वसन्धिस्थ उदानः।
देहस्योन्नयनादिकमुदानकर्म।[३०]
उदानः सर्वसन्धिस्थः पादयोर्हस्तयोरपि॥[३१]

उन्नयनादुदान आशिरोवृत्तिः।[३२]

उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च॥[३३]

उदान ऊपर की तरह होने वाली समस्त शारीरिक क्रियाओं के लिये जिम्मेदार है। जैसे क्रमांकुचन रोधी क्रियाएं डकार और वमन आदि अर्थात् शरीर का उन्नयन उदान का कार्य है। रसादि का नासिकाग्र से ऊपर की ओर ले जाने के कारण शिर तक रहने वाला उदान है। उदान वायु को जीतने से जल, कीचड़ और कांटे इत्यादि में न फंसना और ऊर्ध्वगमन सिद्ध होता है।

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति।
पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्॥[३४]
तेजो ह वा उदानस्तस्मादुपशान्ततेजाः।
पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि संपद्यमानैः॥
यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः।
सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति॥[३५]

जो ऊपर की ओर बहता है, वह उदान है। यह पुण्य के द्वारा पुण्यलोक में ले जाता है और पाप के द्वारा पाप लोक में और जहाँ पाप और पुण्य दोनों हैं, वहाँ यह मनुष्यलोक में ले जाता है। साधक के अभ्यास उसके भीतर उदान वायु प्रबल वेग से सक्रिय हो उठता है और साधक को ऊर्ध्व दिशा ले जाता है। यह उदान वायु की विशेष क्रिया है। वैसे तो सामान्य रूप से उदान वायु सभी में क्रियाशील रहता है और शारीर के मृत्यु के समय जीवात्मा को जीवन काल में किये शुभाशुभ कर्मों के अनुसार स्वर्ग या नरक ले जाता है॥ जब स्वर्ग और नरक के लिये उत्तरदायी पुण्य और पाप का 'असन्तुलन' समाप्त हो जाता है या पुण्य और पाप दोनों का ही सह अस्तित्व होता है। तब उसे यह मर्त्यलोक या मनुष्यलोक प्राप्त होता है।

उदान को प्रकाशमय कहा गया है, इस तेज के शान्त होने पर सब इन्द्रियाँ मन में विश्राम लेती है और मनुष्य अन्य जन्म में चला जाता है और जन्म के समय पुनः वापस लौट आता है। मनुष्य का मन कैसा भी क्यों न हो, वह उसी मन से मृत्यु के समय श्वास रूपी प्राण में शरण खोजता है और यह प्राण और उदान वायु उसे उसकी आत्मा के साथ उसके संकल्पित लोक में ले जाता है। अमृतनादोपनिषद् में उदान का रंग बताया गया है-

आपाण्डुर उदानश्च........।[३६]

उदान का रंग धूसर अर्थात् मटमैला है।

व्यान-'व्यानिति सर्वशरीरं व्याप्नोति, वि+आ+ अन्+अच् प्रत्यय से 'व्यान' शब्द निर्मित होता है। व्यान वायु समस्त शरीर में व्याप्त रहता है।'[३७] 'व्यानः सर्वेषु चाङ्गेषु व्याप्य तिष्ठति सर्वदा।[३८] व्यान समस्त अङ्ग प्रत्यङ्गों में व्यापक होकर सदैव प्रतिष्ठित रहता है। यह जीवनी प्राण-शक्ति पूरे शरीर में व्याप्त है। व्यान वायु शरीर की समस्त गतिविधियों को नियमित तथा नियन्त्रित करता है। सभी अंगों, मांसपेशियाँ, तन्तुओं, सन्धियों एवं नाड़ियों को क्रियाशीलता, ऊर्जा एवं शक्ति प्रदान करता है।

व्यानः श्रोताक्षिमध्ये च ककुद्भ्यां गुल्फयोरपि। प्राणस्थाने गले चैव वर्तते मुनिपुङ्गव॥[३९] **व्यानो विवादकृत्प्रोक्तो मुने वेदान्तवेदिभिः।**[४०] **श्रोताक्षिकटिगुल्फघ्राणगलस्फिग्देशेषु व्यानः संचरति। हानोपादानचेष्टादि व्यानकर्म।**[४१]

व्यान वायु दोनों कानों, दोनों चक्षुओं, दोनों कन्धें, दोनों टखनों प्राण के स्थानों और कण्ठ में भी व्याप्त रहता है। वेदान्त तत्त्व के विशेषज्ञ विद्वज्जनों का मानना है कि व्यान वायु ही ध्वनि व्यञ्जक है। त्याग करना एवं स्वीकार आदि चेष्टाएं व्यान का कार्य कहलाती है। प्रश्नोपनिषद् में-

अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति॥[४२]

हृदय में एक सौ एक नाड़ियाँ हैं और उनमें प्रत्येक नाड़ी की सौ-सौ शाखायें हैं और प्रत्येक नाड़ियों की बहत्तर-बहत्तर हजार प्रतिशाखायें हैं। इन सब नाड़ी शाखाओं में व्यान वायु संचरित होता है। व्यान वायु स्पर्श इन्द्रिय का नियामक है और नाड़ियों में आवेगों के प्रवाह को नियन्त्रित करता है। अमृतनादोपनिषद् में व्यान वायु का रंग बताया गया है-

..........व्यानो ह्यर्चि समप्रभः॥[४३]

व्यान का रंग अग्निशिखा की भाँति तेजस्वी है। व्यान वायु प्राण तथा अपान का नियमन करती है। छान्दोग्योपनिषद् में भी कहा गया है-

अथ खलु व्यानमेवोद्गीथमुपासीत यद्वै प्राणिति स प्राणो यदपानिति सोऽपानोऽथ यः प्राणापनयोः सन्धिः स व्यानो यो व्यानः सा वाक् तस्माद्प्राणन्ननपानन्वाचमभिव्याहरति।[४४]

व्यान नामक शरीरस्थ प्राण के रूप में उद्गीथ की उपासना करनी चाहिये। मनुष्य श्वास के द्वारा भीतर की वायु बाहर निकालता है, वह प्राण है और बाहर की वायु जो अन्दर खींचता है, वह अपान है। जो प्राण और अपान की सन्धि है वह व्यान है। व्यान ही वाणी है। इसीलिये मनुष्य जब बोलता है, तब वह प्राण तथा अपान की क्रिया नहीं करता।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि प्राणवायु वक्षीय क्षेत्र में गतिशील रहता है और श्वास क्रिया पर नियन्त्रित रहता है। यह सशक्त वायुमण्डलीय ऊर्जा को सोख लेता है। अपान निचले उदर क्षेत्र में (गुदा क्षेत्र) में गतिशील रहता है और मूत्र, वीर्य, मल के निष्कासन को नियन्त्रित करता है। समान उदर ज्वाला को प्रज्वलित करता है, पाचनक्रिया में सहायता करता है, और उदर में अवयव को सुव्यवस्थित रूप से कार्य करने के लिये सुरक्षित रखता है। यह कुल मिलाकर मानव शरीर को सांकेतित करता है। उदान गले (ग्रासनी और स्वरयन्त्र) द्वारा कार्य करता हुआ स्वरतन्त्री और वायु तथा भोजन के अन्तर्ग्रहण को नियन्त्रित करता है। व्यान समस्त शरीर में व्याप्त रहता है और भोजन तथा श्वास से प्राप्त ऊर्जा को धमनियों शिराओं तथा नाड़ियों द्वारा सम्पूर्ण शरीर में बांटता है।

इस प्रकार सूक्ष्म जीवन वायु के उक्त पाँच प्रकारों में प्राण एक सर्वप्रमुख है जो सबका बोधक हो जाता है। व्यापक रूप में प्राण शब्द ज्ञानेन्द्रिय या चेतना को प्रकट करता है। कभी-कभी यह शब्द केवल श्वास का साधारण अर्थ बोध कराता है। जिस आन्तरिक सूक्ष्म शक्ति द्वारा जीवात्मा का दृश्य जगत् में देह से सम्बन्ध होता है; उसे प्राण शक्ति कहते हैं। यह प्राण शक्ति ही स्थूल प्राण, अपान, समान, उदान तथा व्यान की संचालिका है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति और स्थिति के मूल में उस प्राण शक्ति का ही साम्राज्य है। प्राण को साक्षात् ब्रह्म रूप में स्वीकार किया गया है-

प्राणो अमृतं तद् हि अग्ने रूपम्।[४५]
प्राणो हि प्रजापतिः।[४६]
प्राण उ वै प्रजापतिः।[४७]
प्राणो वाग्निः।[४८]
पुरुषो वाव यज्ञः।[४९]
प्राणो वै हरिः।[५०]
पुरुषो वै सुशर्मा सुप्रतिष्ठानः।[५१]
प्राणो वा अर्कः।[५२]
प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा।[५३]
प्राणो ब्रह्म।[५४]
प्राणो हि भूतानामायुः।[५५]
प्राणो वै ब्रह्म।[५६]
प्राणो वै यशो वीर्यम्।[५७]

आदित्यो ह वै प्राणः।[५८]

यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वा प्रज्ञा स प्राणः।[५९]

प्राण ही संसार की समष्टि है। वह संसार को नियन्त्रित कर रही है। उस महाशक्ति का ही व्यष्टि रूप व्यक्तिगत प्राण है। यह प्राण और ब्रह्म दोनों एक ही तत्त्व हैं। प्राण और आत्मा के समान माना जाता है। प्राण ब्रह्माण्ड के सभी जीवों में जीवन की श्वास हैं। वे इसी के द्वारा उत्पन्न होते हैं तथा इसी के सहारे जीवित रहते हैं और जब वे मरते हैं तो उनकी वैयक्तिक श्वास ब्रह्माण्डीय श्वास में मिल जाती है। प्राण जीवन चक्र की धुरी है। इसमें प्रत्येक वस्तु स्थापित है। प्राण इस भौतिक जगत् में वैसे ही है, जैसे एक ही वैद्युत् ऊर्जा, प्रकाश, ताप और चुम्बकीय कार्यों की कारण है, वैसे ही एक ही प्राण शरीर में अलग-अलग प्रभावों एवं कार्यों का कारण है। उक्त पाँच प्राण एक ही प्राण की पाँच शाखायें हैं। जैसे प्रकाश और उष्मा का प्रत्यक्ष आधार विद्युत् है, वैसे ही अन्नमय कोश नाम से जाने जाना वाला हमारे स्थूल शरीर के सारे ही शारीरिक और मनोवैज्ञानिक कार्यों का आधार प्राण है। इसमें जीवनदायक सूर्य, बादल, वायु, पृथिवी और सभी प्रकार के पदार्थ व्याप्त हैं। यह सत् और असत् हैं। यही सभी जीवन का स्रोत हैं। यह सांख्य दर्शन का पुरुष है। इसलिये योगी प्राण की शरण लेता है।

पाद-टिप्पणियाँ :-

१ हठयोग प्रदीपिका-२.३
२ प्रश्नोपनिषद्-३.३
३ अथर्ववेद ११.४.१०
४ अथर्ववेद ११.४.१४
५ प्रश्नोपनिषद् २.१३
६ तैत्तिरीयोपनिषद् २.३.१
७ जाबालदर्शनोपनिषद् ४.२३
८ प्रश्नोपनिषद् ३.४
९ अमृतनादोपनिषद् ३५-३६
१० संस्कृत-हिन्दीकोश, वामनशिवराम आप्टे, पृष्ठ ६८७
११ अमृतनादोपनिषद् ३७
१२ संस्कृत-हिन्दीकोश, वामनशिवराम आप्टे, पृष्ठ ६२
१३ अष्टांगहृदय निदानस्थान-१२
१४ जाबालदर्शनोपनिषद् ४.२७
१५ जाबालदर्शनोपनिषद् ४.३१
१६ शाण्डिल्योपनिषद् १.४.१३
१७ ध्यानबिन्दूपनिषद् ५८-६१
१८ अमृतनादोपनिषद् ३७
१९ संस्कृत हिन्दीकोश, वामनशिवराम आप्टे, पृ०१०७६
२० अमृतनादोपनिषद् ३५
२१ जाबालदर्शनोपनिषद् ४.२९
२२ जाबालदर्शनोपनिषद् ४.३१
२३ शाण्डिल्योपनिषद् १.४.१३
२४ त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् १.२.८१
२५ त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् १.२.८५
२६ अमृतनादोपनिषद् ३८
२७ संस्कृत हिन्दीकोश, वामनशिवराम आप्टे, पृ०१९४
२८ अमृतनादोपनिषद् ३५
२९ जाबालोदर्शनोपनिषद् ४.३२
३० शाण्डिल्योपनिषद् १.४.१३
३१ त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् १.२.८१
३२ योगदर्शन ३.३९ व्यास भाष्य
३३ योगदर्शन ३.३९
३४ प्रश्नोपनिषद् ३.७
३५ प्रश्नोपनिषद् ३.९-१०
३६ अमृतनादोपनिषद् ३८
३७ संस्कृत हिन्दीकोश, वामनशिवराम आप्टे, पृ०९९०
३८ अमृतनादोपनिषद् ३६

३९ जाबालदर्शनोपनिषद् ४.२८
४० जाबालदर्शनोपनिषद् ४.३२
४१ शाण्डिल्योपनिषद् १.४.१३
४२ प्रश्नोपनिषद् ३.६
४३ अमृतादोपनिषद् ३८
४४ छान्दोग्योपनिषद् १.३.३
४५ शतपथ ब्राह्मण १०.२.६.१८
४६ शतपथ ब्राह्मण ४.५.५:१३
४७ शतपथ ब्राह्मण ८.४.१.४
४८ शतपथ ब्राह्मण २.२.२.१५
४९ शतपथ ब्राह्मण १.२.१.१
५० कौषीतकि उपनिषद् १.७.९
५१ शतपथ ब्राह्मण ४.४.१.१४
५२ शतपथ ब्राह्मण ९.१.२.३२
५३ शांखायन ब्राह्मण ५.२
५४ कौषीतकि उपनिषद् २.१
५५ तैत्तिरीयोपनिषद् २.३.१
५६ जैमिनीयोपनिषद् ३.३८.३
५७ बृहदारण्यकोपनिषद् १.२.६
५८ प्रश्नोपनिषद् १.५
५९ कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् ३.३

Vaidika Vāg-Jyotiḥ
ISSN 2277-4351
Vol.1, No.1 (118-122) Jul-Dec 2012

योगदर्शन एवं वेदों में स्वास्थ्य-संरक्षण की अवधारणा

नरेश कुमार
असिस्टेण्ट प्रोफेसर, वेदविभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
atrinaresh@gmail.com

संसार का प्रत्येक व्यक्ति सुखी जीवन जीने की इच्छा रखता है। इस इच्छा की पूर्ति में स्वस्थ शरीर एक महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है। अस्वस्थ व्यक्ति धन-सम्पदा एवं भौतिक साधन से युक्त होने पर भी जीवन का पूर्णत: आनन्द नहीं ले सकता। सांसारिक सुविधाओं के उपभोग के लिये स्वस्थ शरीर का होना अत्यन्तावश्यक है। वेद में यद्यपि स्वास्थ्य पद का प्रयोग नहीं किया गया है परन्तु वेद में अनेक मन्त्र प्राप्त होते हैं जहाँ पर स्वस्थ शरीर की कामना की गयी है। वेद का ऋषि सौ वर्ष से भी अधिक अदीन बनकर जीने की कामना करता है। वह अपने कानों को, आंखों को, मन को, हृदय को बुद्धि को तथा प्रत्येक इन्द्रियों को स्वस्थ देखना चाहता है। **मनस्त आ प्यायतां वाक्त आ प्यायतां प्राणस्त आ प्यायतां चक्षुस्त आ प्यायतां श्रोत्रं त आ प्यायताम्।** (यजु०६.१५) इत्यादि कह कर वेद पुरुष को पूर्ण स्वस्थ देखना चाहता है। यदि स्वस्थ है तब मनुष्य शारीरिक, आत्मिक एवं सामाजिक उन्नति कर सकता है।

वेद मनुष्य की आयु का निर्देश करता हुआ कहा है कि स्वस्थ मनुष्य वही है जो कम से कम सौ वर्ष का जीवन जीता है। प्रसिद्ध अथर्ववेदीय मन्त्र-

वैश्वदेवीं वर्चस आ रभध्वं शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः। अतिक्रामन्तो दुरिता पदानि शतं हिमाः सर्ववीरा मदेम॥[१]

वेद मन्त्र कहता है कि सभी मनुष्य सौ वर्षों तक सानन्द रहते हुए जीवन व्यतीत करें। दीर्घजीवन को कैसे प्राप्त किया जा सकता है इसके सन्दर्भ में इसी मन्त्र में कहा गया है कि बुराईयों, बुरे चाल-चलन, गन्दगी आदि को हटा दें तो यह सम्भव हो सकता है। यदि हम सभी प्रकार की बुराईयों का परित्याग कर देंगे तभी हम दूसरों में विद्यमान बुराईयों को दूर करके उन्हें भी सुदीर्घ जीवन जीने का उपदेश दे सकते हैं।

अन्यत्र वेद में स्वस्थ जीवन की कामना करते हुए कहा गया है कि मेरी वाणी सभी ज्ञानेन्द्रियाँ सशक्त हों, मेरे केश असमय सफेद न हों, दाँत विकारयुक्त न हों, मेरी भुजायें,

जंघायें एवं पैर आदि बल से युक्त हों। मेरे शरीर के सभी अंग निर्दोष, त्रुटिरहित एवं सबल हों।[२]

वेद में अनेक स्थलों पर शरीर के विभिन्न अंगों को स्वस्थ रखने के विषय में निर्देश दिया गया है। यथा-यजुर्वेद के ३६वें अध्याय के २४वें मन्त्र में शरीर के विभिन्न अंगों की सुकुशलता के विषय में प्रार्थना की गयी है। वहाँ उल्लेख मिलता है कि हे परमेश्वर! आपकी कृपा से हम सौ वर्षों तक देखें अर्थात् सौ वर्षो तक हमारी नेत्र-इन्द्रिय स्वस्थ रहे, सौ वर्षो तक वेदादि शास्त्रों और मंगलकारी वचनों को सुनें अर्थात् सौ वर्षों तक हमारी श्रोत्रेन्द्रिय स्वस्थ रहे, सौ वर्षो तक कल्याणकारी वचनों को बोलें अर्थात् सौ वर्षों तक हमें बोलने की शक्ति प्रदान करें। सौ वर्षों तक अदीन अर्थात् स्वस्थ, समृद्ध और सम्मानित रहें। साथ ही साथ यह भी प्रार्थना की गयी है कि हम सौ वर्षों के बाद भी सुकुशलतापूर्वक देखें, सुनें, बोलें तथा पूर्णतः स्वस्थ रहें। हमें किसी भी प्रकार का कष्ट न हो।[३]

यजुर्वेद में सुदीर्घ एवं स्वस्थ जीवन की प्रार्थना की गयी है।[४] वेद कहता है कि इक्कीस तत्त्व जो सम्पूर्ण प्राणियों और अवस्थाओं को धारण करते हैं, तथा सब ओर व्याप्त हैं। जो शरीर में विभिन्न प्रकार के बलों को धारण कराते हैं। हे प्रभु! सभी प्रकार के बलों को हमारे शरीर में धारण कराइये।[५] शरीर में जब किसी प्रकार का रोग न हो तभी शरीर बल से युक्त बन सकता है। यहाँ स्वस्थ एवं बलिष्ठ शरीर की कामना की गयी है।

स्वस्थ जीवन की कामना करते हुए अन्यत्र कहा गया है कि मनुष्य ओषधियों के सेवन से आयु को प्राप्त करे तथा आयु को प्राप्त करके ऊँचा उठे, वह सारे पापों से पृथक् हो जाये। क्षयादि रोगों से पृथक् हो जाये ताकि वह लम्बी आयु प्राप्त कर सके।[६] वेद कहता है कि यह संसार एक पथरीली नदी है। बुरे चाल-चलन और रोगादि उसके पत्थर हैं, जिन से टकरा कर मनुष्य की जीवन-नौका इस नदी से सुखपूर्वक पार नहीं हो सकती। जो मनुष्य परिश्रमशील है वे ही प्रयत्नपूर्वक नदी को पार करते हैं। उन्हें रोगरहित जीवन प्राप्त होता है और उत्तम अन्न, बल तथा ज्ञान प्राप्त होता है।[७]

योगदर्शन से स्वस्थवृत्त का सम्बन्ध-

आज संसार का प्रत्येक प्राणी भौतिकता के द्वारा जकड़ा हुआ है। जितना वह इनसे मुक्ति पाना चाहता है, उतना ही वह उनके वशीभूत होता जाता है। भौतिकता एक ऐसी वस्तु है, जो एक व्याधि का उपचार खोजने के साथ ही नई व्याधि को जन्म दे देती है। विभिन्न व्याधियों से त्रस्त मानव उनके निर्वारणार्थ योगाभ्यास की ओर आकृष्ट है। व्याधि से अभिप्राय रोग से है तथा रोग से रहित होना अरोग है। तन-मन से स्वस्थ रहना, किसी प्रकार का शैथिल्य न होना या विकार का न होना ही आरोग्यता है। परन्तु देखने में आया है कि पिछले कुछ वर्षों में योग अपने मात्र भारतीय स्वरूप से हटकर अन्तराष्ट्रियता की ओर, व्यक्तिगत साधना मात्र से हटकर समाजपरक उपयोगिता की ओर तथा अध्यात्मिकता से हटकर वैज्ञानिकता ही ओर

अग्रसर होता रहा है। आज का बहुचर्चित योग अपने प्राचीन औषनिषदिक स्वरूप से भिन्न है। वह अपने वास्तविक स्वरूप से हटकर भौतिकता की ओर इतना बढ़ गया है कि उसका वास्तविक स्वरूप धूमिल हो गया है। वर्तमानकालिक योगविषयविशेषज्ञ निजस्वार्थ-पूत्यर्थ इसे (योग को) भौतिक विद्या के रूप में विकसित करते जा रहे हैं। आज हम योग का जो स्वरूप देख रहे हैं, वह तो योग का मात्र एक पक्ष है। योग की मूल धारा आध्यात्मिक है। यह तत्त्वज्ञान एवं तत्त्वानुभूति का विज्ञान है। चरकसंहिता में भी लिखा गया है कि शरीर के नीरोग रहने पर ही पुरुषार्थ-सिद्धि होती है।[८]

योगशास्त्र भी व्याधि निवारण का एक महत्त्वपूर्ण एवं सिद्ध साधन है, क्योंकि व्याधि का मूल कारण मानसिक आधि है। संसार के जितने भी अनर्थ हैं, उन के मूल में अव्यवस्थित चित्त ही कारण माना गया है। इसलिये चित्त के व्यापार को रोकने के लिये पातञ्जलयोगसूत्र में सर्वप्रथम **योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**[९] कहा गया है। क्योंकि मानसिक व्यग्रता का प्रभाव बाहरी शरीर पर पड़ता है, जिससे शरीर दुर्बल होकर अनेक व्याधियों से ग्रस्त हो जाता है। अतः जिनका मानसिक व्यापार मर्यादित होता है वे कभी शोक-मोह तथा शारीरिक रोग से अभिभूत नहीं होते। यही कारण है कि योगी सदा अरोगी तथा दीर्घजीवी होता है। योग के बल से ही वह क्षुधा-पिपासा से रहित होकर गुफा निवासी बन जाता है। यदि साधारण मनुष्य भी मन को संयमित करके आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि योगाङ्गों का अभ्यास करना प्रारम्भ कर दे तो वह भी थोड़े ही दिनों अपने-आपको तन-मन से स्वस्थ अनुभव करने लगेगा। भूख-प्यास की निवृत्ति के लिये शरीर के कण्ठकूप में संयम करने का निर्देश पातञ्जलयोगसूत्र में इस प्रकार है-**कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः**[१०] भूख प्यास को रोकना एक कठिन कार्य है परन्तु इस यौगिक क्रिया से द्वारा उनको भी वश में किया जा सकता है।

यौगिक क्रिया से प्राणी स्वास्थ्य एवं दीर्घजीवन प्राप्त कर सकता है। योगाभ्यास के लिये सबसे पहले आहार-विहार, सोना-जागना आदि नित्यकर्मों का नियमन आवश्यक है। इसके नियन्त्रित रहने से योग सुलभ होकर दुःख को नष्ट कर देता है। जैसा कि योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण जी ने कहा है कि दुःखों का नाश करने वाला योग तो यथायोग्य आहार-विहार करने वाले का, कर्मों में यथायोग्य चेष्टा करने वाले का और जागनेवाले का ही सिद्ध होता है।[११] योगीसाधक जीवनधारणार्थ भोजनग्रहण करता है, न कि भोजनार्थ जीवन जीता है। योगशास्त्र की दृष्टि में अरोगी वह व्यक्ति है जो हितभुक्, मितभुक् तथा पथ्यभुक् है। वस्तुतः भोजन पर नियन्त्रण रखने वाला व्यक्ति कभी भी रोगी नहीं होता। अपथ्य एवं अनियमित भोजन पाचनक्रिया को प्रभावित करता है, जिससे शरीर में विभिन्न प्रकार के विकार उत्पन्न होते हैं। कहा भी गया है कि जैसा अन्न वैसा मन अर्थात् खानपान के विषय में निरन्तर सावधानी बर्तनी चाहिये। परिमित

तथा नियमित आहार से आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान आदि योग सुलभ हो जाते हैं। इनकी सुलभता ही आरोग्य या तन्दुरुस्ती का कारण है। पूरक-कुम्भक-रेचक रूप प्राणायाम से तन-मन के रोगों का निवारण होता है। जैसा कि शाण्डिल्य योगशास्त्र में कहा गया है।[१२]

इसी प्रकार सूर्य की उपासना करने से भी मनुष्य को स्वास्थ्य लाभ प्राप्त होता है, क्योंकि सूर्य प्रजाओं का प्राण है तथा चराचर जगत् की आत्मा भी है, जिसके लिये श्रुति का उद्घोष है-

सहस्त्ररश्मिः शतधाः वर्तमानः।
प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः।।[१३]

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः। **आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षꣳ सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा।।**[१४]

अर्थात् भगवान् सूर्य चराचर विश्व की आत्मा है। आकाश, पृथिवी तथा अन्तरिक्ष लोकों को अपने प्रकाश से व्याप्त किये हुए हैं। इस प्रत्यक्ष सूर्य में धारणा और ध्यान करने से मनुष्य आरोग्य प्राप्त करता है।

पुरुष की शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक तथा सामाजिक दृष्टि से सुखवाह अवस्था ही स्वास्थ्य है। अनेक स्वास्थ्यकर भावों में योग का विशेष महत्त्व है। योग की विविध हठयौगिक क्रियायें शरीरार्थ तो स्वास्थ्यकर हैं ही, इनका मानस स्वास्थ्य पर भी प्रभाव पड़ता है। यम-नियमादि का पालन व्यक्तिगत स्वास्थ्य के अतिरिक्त सामाजिक स्वास्थ्य के लिये हितकर है और हितायुवर्द्धक है। दूसरी ओर प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि का अभ्यास मानव तथा आध्यात्मिक स्वास्थ्य के लिये हितकर है। विगत कुछ वर्षों में किये गये अनुसन्धानों से यह भी स्पष्ट हो चुका है कि योग अभ्यास से मानसिक तनाव कम होता है तथा मनुष्य में मनोदैहिक सामञ्जस्य की वृद्धि होती है। मन तथा शरीर का सन्तुलन बना रहता है, कार्यक्षमता बढ़ जाती है तथा मन की शान्ति से बुद्धि का विकास होता जाता है। विभिन्न प्रकार के आसनों तथा प्राणायाम, वन्ध, मुद्रा तथा षट्कर्म के अभ्यास से शरीर शुद्ध होकर अधिक जीवनीय शक्ति युक्त हो जाता है और उसमें रोगों के प्रभाव की आशंका कम हो जाती है।

ऐसा अनुमान है कि विभिन्न आसनों तथा प्राणायाम की विशिष्ट अवस्थाओं में शरीर के उन-उन अंगांग विशेषों में रक्तसंचार की प्रक्रिया तीव्र हो जाती है, जिससे उन-उन अंगों का पुनर्वासन होता है। उदाहरणार्थ सर्वांगासन की अवस्था में थायराइड अन्तःस्त्रावी ग्रन्थि में अधिकाधिक रक्त प्रवाह होने लगता है, परिणामस्वरूप थाइराइड ग्रन्थि की कार्यक्षमता का विकास होता है।

यद्यपि आजकल विभिन्न प्रकार के रोगों की चिकित्सा हेतु भी योगाभ्यास कराये जाते हैं, जहाँ उन-उन रोगों के अनुसार चिकित्सीय दृष्टि से यथायोग्य योगाभ्यास दिये जाते हैं, पर स्वस्थवृत्त के सन्दर्भ में योगाभ्यासी का सामान्य स्वास्थ्य कैसा हो, इसका विवेचन भी आवश्यक है। सामान्यतः योगाभ्यासी के शरीर का तापक्रम सामान्य होना चाहिये। उसका रक्तचाप भी सामान्य होना चाहिये, यदि रक्तचाप अधिक है तो बिना चिकित्सक के

परामर्श के योगाभ्यास नहीं करना चाहिये। आज हम देखते हैं कि किसी भी आयुवर्ग के बालक-बालिका, पुरुष वा स्त्री को किसी भी स्थान पर, कभी भी किसी भी अवस्था में बिना वय का विचार किये योगाभ्यास करने का निर्देश दिया जाता है जो उचित नहीं है, देश, काल, वय इत्यादि को ध्यान में रखकर ही योगाभ्यास करना चाहिये।[१५]

अतः स्पष्ट है कि स्वास्थ्य की दृष्टि से वेद एवं योगदर्शन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। यदि मनुष्य नियमित रूप से वेदों में निर्दिष्ट सिद्धान्तों का पालन करता है तथा योगाभ्यास करता है तो वह विभिन्न प्रकार के रोगों से मुक्त होकर, सुखमय जीवन का आनन्द प्राप्त करता है।

पाद-टिप्पणियां-

१ अथर्व०१२.२.२८॥

२ (क) वाङ्म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः। अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम्॥ अथर्व०१९.६०.१॥

(ख) ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः पादयोः प्रतिष्ठा। अरिष्टानि मे सर्वात्मानिभृष्टः॥

अथर्व०१९.६०.२

३ तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्॥४॥ (यजु०३६.२४)

४ देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानाꣳ रातिरभि नो निवर्तताम्। देवानाꣳ सख्यमुपसेदिमा वयं देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे॥

यजु०२५.१५॥

५ ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः। वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे॥

अथर्व०१.१.१॥

६ उदायुषा समायुषोदोषधीनां रसेन। व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा॥

अथर्व०३.३१.१०॥

७ पुनस्त्वादित्या रुद्रा वसवः पुनर्ब्रह्मा वसुनीतिरग्ने। पुनस्त्वा ब्रह्मणस्पतिराधाद्दीर्घायुत्वाय शतशारदाय॥ अथर्व०१२.२.६॥

८ धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्- च०सू०१.२५॥

९ यो०द०१.२॥

१० यो०द०३.२०॥

११ युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥
गीता ६.१७॥

१२ बाह्यत् प्राणं समाकृष्य पूरयित्वोदरस्थितम्।
नाभिमध्ये च नासाग्रे पादाङ्गुष्ठे च यत्नतः॥
धारयेन्मनसा प्राणं सन्ध्याकालेषु वा सदा।
सर्वरोगविनिर्मुक्तो भवेद् योगी गतक्लमः॥
शा०योग०८७-८८॥

१३ प्रश्न०उप०१.८॥

१४ यजु०७.४२॥

१५ योग एवं स्वास्थ्य-पं०दिवाकरभट्ट, पृ०४२०

Vaidika Vāg-Jyotiḥ
ISSN 2277-4351

Vol.1, No.1 (123-126) Jul-Dec 2012

ऋग्वेद के विशेष सन्दर्भ में योग का स्वरूप

जीवन वेदालंकार
गुरुकुल कागड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

आत्मसाक्षात्कार के लिये योग-साधना के महत्त्व को यद्यपि सभी भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय, चाहे वे वैदिक सम्प्रदाय हों अथवा अवैदिक स्वीकार करते हैं, तथापि अपरोक्षानुभूति के सोपान के रूप में योग की सुगठित एवं शास्त्रारूप में स्थापना महर्षि पतंजलि द्वारा की गयी। गीता में यद्यपि योग शब्द बहुविध प्रयुक्त हुआ है तथापि लक्ष्य रूप में सभी अर्थ समान भाव ही धरण करते हैं, चाहे वह दुःख संयोग का वियोग हो अथवा कर्म की कुशलता के अर्थ में हो। इन सभी का अर्थ एवं लक्ष्य दुःख की आत्यन्तिक निवृति एवं आनन्द तथा समत्व की प्राप्ति ही है। योग उस स्थिति की तरफ संकेत करता है जहाँ पर योगी महती दुःख से भी विचलित नहीं होता एवं योग की स्थिति में आत्यन्तिक सुख का अनुभव करता है। गीता में समत्व भाव तथा चित्त निरोध के रूप में योग के जो अर्थ प्राप्त होते हैं। वह महर्षि पतञ्जलि के **योगश्चित्तवृतिनिरोध:**[1] के समान हैं।

अष्टांग योग के प्रथम दो अंग योग की नैतिक पृष्ठभूमि को तैयार करने के लिये, इसके पश्चात् के तीन अंग शारीरिक नियन्त्रण के अभ्यास हेतु तथा अन्तिम तीन अंग मानसिक एवं आध्यात्मिक लक्ष्यों की तरफ अग्रसर होने के लिए निर्धारित हैं। प्रारम्भिक नैतिक अभ्यास के दो अंग यम एवं नियम हैं। 'यम' की अवधरणा में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह आते हैं जो मुख्यत: निषेधात्मक हैं। इसी प्रकार 'नियम' भावात्मक सद्गुणों का अभ्यास है। इसके अन्तर्गत शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वरप्रणिधान आते हैं। इन दस व्रतों की प्रकृति वैराग्यात्मक है। इसके पश्चात् क्रियात्मक योगाभ्यास का प्रारम्भ होता है, उपनिषद् एवं वैदिक साहित्य में यह महत्त्वपूर्ण रूप में उल्लिखित है, महाभारत में इसका उल्लेख यह प्रकट करता है कि इसका ज्ञान जनसाधरण को भी प्राप्त था। परन्तु इसको साध्य के रूप में स्वीकारने के परिप्रेक्ष्य में कुछ महत्त्वपूर्ण अन्तर प्राप्त है। कुछ लोग इसका अभ्यास मोक्षप्राप्ति के साधन के रूप में करते थे तो कुछ सिद्धियों अर्थात् पारलौकिक शक्तियों को प्राप्त करने के लिए, परन्तु महर्षि पतंजलि ने इसे तर्कपरक स्वरूप प्रदान किया एवं

सिद्धियों को आत्मलाभ के मार्ग में विघ्न मानकर उपेक्षणीय स्वीकार किया।

योगशास्त्र के इस सुसंगत एवं तर्कपरक स्वरूप में आने से पूर्व भी योग की अवधारणा विद्यमान थी। स्पष्टत: भारतीय दर्शन एवं शास्त्रों का उद्गम स्थल वेदों को निर्विवाद रूप से स्वीकारकिया जाता है, भारतीय मनीषा का कोई ग्रन्थ वेदों के पक्ष अथवा विपक्ष से ही नि:सृत होता है।

अत: यह प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है कि क्या योगशास्त्र के विचार वेदों में विद्यमान हैं अथवा नहीं? यदि वे वेदों में प्राप्त हैं तो उनका स्वरूप क्या था? एवं वे सुसंगठित योगशास्त्र में किस प्रकार भिन्न अथवा सुमेलित हैं।

ऋग्वेद में अष्टांगयोग के तत्वों का अन्वेषण करने पर आठों अंगों के सन्दर्भ में यत्र-तत्र विचार प्राप्त होते हैं। यथा यम अर्थात् उपरमण के साधनों को महर्षि पतञ्जलि ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रहाचर्य एवं अपरिग्रह पाँच भागों में बांटा है। उपरमण का अर्थ निवृति होता है[२]-अर्थात् जो साधन हिंसादि कार्यो में निवृति प्रदान करते हैं उन्हें यम कहा जाता है। इसमें प्रथम अहिंसा है जो हिंसा के निषेधात्मक स्वरूप को प्रस्तुत करती है। दूसरों का पीड़न हिंसा है उसके विपरीत सद्वृतियों का अहिंसा है। हिंसा के मूल में द्वेष की भावना विद्यमान रहती है एवं द्वेष की उत्पति काम, क्रोध, लोभ एवं मोह के कारण होती है। ऋग्वेद में प्रार्थना की गयी है कि मनुष्यमात्र द्वेषभाव से मुक्त हो।[३] ऋग्वेद में अन्य जगह पर द्वेष निवृति के साथ ही कल्याण की कामना की गयी है। हिंसक[४] एवं द्वेषभाव से युक्त व्यक्ति आध्यात्मिक उन्नति की ओर अग्रसर नहीं हो सकता। अत: ऋग्वेद में यह कहा गया है कि आनन्द की अपेक्षा करने वाले व्यक्ति हिंसा न करे। क्योंकि हिंसा की भावना से युक्त व्यक्ति ज्ञान एवं शक्ति प्राप्त नहीं कर सकता।[५] इस विषय में महर्षि पतंजलि ने भी लोभ आदि को हिंसा की उत्पत्ति करने वाला स्वीकार किया है एवं हिंसा को दु:ख, अज्ञानादि फल प्रदान करने वाला स्वीकार किया है एवं हिंसा[६] को दु:ख, अज्ञानादि फल प्रदान करने वाला स्वीकार किया है।

यम का द्वितीय भाग सत्य है। सामान्यत: सत्य शब्द का अर्थ जिस प्रकार का ज्ञान विद्यमान हो उसी प्रकार उसका भाषण करना किया जाता है। योग व्यास भाष्य में भाष्यकार ने अर्थानुकूल वाणी एवं व्यवहार होना ही सत्य है, कहा है।[७] ऋग्वेद में भी जैसा ज्ञान आत्मा में विद्यमान हो वैसा ही वाणी से कहना सत्य है, कहा गया है। यदि[८] सत्यासत्य के सम्बन्ध में मतभेद हो तो निर्णय परिणाम आधृत होना चाहिए क्योंकि सोम सत्य की रक्षा करता है और असत्य को नष्ट कर देता है।[९]

अस्तेय अर्थात् चोरी न करना यम का तृतीय भाग है ऋग्वेद में चौर कर्म करने वालों को सद्कर्मियों से दूर रखने की बात कही गयी है। ऋग्वेद में[१०] यह भी कहा गया है कि चोर व्यक्ति हम पर शासन न करे। ब्रह्मचर्य शब्द √बृह धातु से निष्पन्न है[११] एवं चर्य शब्द गति

अर्थ प्रदान करता है। अतः ब्रहाचर्य का अर्थ बृहत् अथवा चतुर्थांश में ब्रहाचर्य को धरण करने वाले ही आनन्द भोग एवं पालन को उचित्त रीति से प्राप्त होते हैं।[१२] ब्रह्मचर्य व्रतधरी सभी दिव्य शक्तियों का पुञ्ज हो जाता हैं। महर्षि पतञ्जलि के अनुसार भी **ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः** ही है। अपरिग्रह का अर्थ आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संचय न करने की प्रवृति से है। इस सन्दर्भ में विषयों से दूर रहने की प्रार्थना ऋग्वेद में प्राप्त होती है।[१३] इसके अतिरिक्त साधकों को आदेश है कि इन्द्रियों को विषयों में जाने से रोकें।[१४]

जहाँ यम सम्बन्धी विचारधारा निषेध पर आधारित है, वहीं नियम विघ्न स्वरूप मनुष्य को साधना के पथ पर अग्रसर होने के लिए तैयार करते हैं।

स्वरूप मनुष्य को साधना के पथ पर अग्रसर होने के लिए तैयार करते हैं। इनके भी पाँच भाग हैं-शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान। शौच शब्द शुद्धता एवं पवित्रता का अर्थ प्रकट करता है। ऋग्वेद के अनुसार हम परम शक्तिं की स्तुति शुद्धता पूर्वक करें।[१५] इसी प्रकार अपने श्रमपूर्वक उचित्त रीति से प्राप्त फल से तुष्ट रहना ही सन्तोष है, ऋग्वेद में भी यही कथन है।[१६] इसके पश्चात् तप ऋग्वेद के अनुसार सृष्टि का मूल है। तप से तात्पर्य शरीर एवं मन के उचित एवं निरन्तर श्रम से है।[१७] ऋग्वेद के मन्त्रों में उल्लेख है कि हे तपस्वी, अग्नि के समान तू अपने शत्रुओं को नष्ट कर दे।[१८] इस क्रम में स्वाध्याय का अर्थ सामान्यतः आत्मनिरीक्षण एवं वेदादि के अध्ययन से लिया जाता है। इस सन्दर्भ में ऋग्वेद का कथन है कि ज्ञान हृदय की गुहा में ही उत्पन्न होता है।[१९] सबसे अन्त में ईश्वर की आत्यन्तिक भक्ति हो इस मार्ग पर साधक को अग्रसर रख सकती है। परमात्मा हमारे समस्त विघ्नों को दूर करके मल्लाह की तरह नौका से पार कराता है अतः ईश्वर की भक्ति आवश्यक है-

जातवेदसे सुनवाम सोममरातीयतो नि दहाति वेदः। स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः।। [२०]

मन की अस्थिरता में शरीर की अस्थिरता भी एक कारक है। इसी अस्थिरता के निरोध के लिये आसन की संकल्पना की गयी है। महर्षि पतञ्जलि ने भी **स्थिरसुखमासनम्** कहकर इसका लक्षण किया है।[२१] ऋग्वेद में कतिपय ऐसी स्थितियों का उल्लेख है जो साधना में सहायक हो सके। श्वास तत्त्व अथवा प्राण द्वारा यज्ञ कुण्ड में प्राणों को डालते हैं।[२२] इसके पश्चात् इन्द्रियों को बाह्य विषयों से हटाना ही प्रत्याहार है। बाह्य विषयों से हटाने के लिए मन का निग्रह अत्यन्त ही आवश्यक है। ऋग्वेद में इस विषय पर प्रार्थना की गयी है कि हे देव हम कानों से भद्र भावों को सुनें एवं आखों से मगंल भावों को देखें।[२३] चित्त की परमात्मा के साथ संयुक्ति अथवा धारण करना ही धारण शब्द का अभिप्राय है। ऋग्वेद में कहा गया है कि योगी मनुष्य उस पर पुरुष में मन एवं बुद्धियों को युक्त करते हैं।[२४] इसी प्रकार योगदर्शन के अनुसार धार किये गये

स्थान पर वृतियों के प्रवाह का एकरस हो जाना ही ध्यान है। जिस प्रकार नई आदि के जल समुद्र में समा जाते हैं, उसी प्रकार ऐश्वर्य एवं आनन्द के इच्छुक साधक अपनी इन्द्रियों को समेट कर परमात्मा में निमग्न हो जाते हैं।[२५] ध्यान की पराकाष्ठा समाधि है जिस प्रकार अग्नि में लोहा भी अग्नि रूप हो जाता है उसी प्रकार साधनावस्था में साधक एवं परमात्मा एक ही हो जाते हैं। ऋग्वेद में इसी का वर्णन जब मैं तू हो जाये और तू मैं हो जाऊँ से किया गया है-

यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम्। स्युष्टे सत्या इहाशिषः।।[२६]

इस प्रकार योग एक प्रामाणिक उपासना पद्धति है जिसके असम्बद्ध परन्तु मूल तत्त्व वेदों में प्राप्त होते हैं। यजुर्वेद में योग के द्वारा प्राप्त लाभों के विषय में कई मन्त्र प्राप्त होते हैं यथा मनुष्यो! जैसे योग के अंगों के अनुष्ठान से परिपूर्ण, मैं पृथ्वी के बीच आकाश में उड़ जाऊँ उसी प्रकार तुम भी आचरण करो।[२७] योग जिज्ञासु पुरुष को चाहिए कि वह यम नियम आदि योग के अंगों से चित्त की वृतियों को रोके एवं अविद्यादि दोषों का निवारण करके संयंम से सिद्धियों को प्राप्त करे।[२८] जब मनुष्य अपनी आत्मा के साथ स्पष्ट है कि योग जैसी संगठित एवं शास्त्रीय पद्धति यद्यपि कालान्तर में आयी परन्तु इसके अंगों विशेषतः नैतिक अंगों के बारे में जानकारी पहले ही वेदों में विद्यमान थी। ऋग्वेद में, जिस प्रकार इसके पृथक्-पृथक् अंगों एवं इससे प्राप्त लाभों का उल्लेख है,

यह सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि योग वैदिक उत्पति है। परन्तु एक सुसंगठित शास्त्र के रूप में इसे प्रस्तुत करने का श्रेय महर्षि पतंजलि को ही है।

पादटिप्पणियां-

१. योगदर्शन- २. यम उपरमे ; भ्वादिः अप् प्रत्ययः। अष्टाध्यायी ३/३/६३
३. ऋग्वेद ४/१/४; ४. ऋग्वेद १०६३/१२
५. ऋग्वेद ८/३२/९; ६. पा०सू०२/३४
७. यो०व्या०भा०२/३०; ८. ऋग्वेद १/१०४/१२
९. ऋग्वेद १/१०४/१२; १०. ऋग्वेद ६/५१/१३
११. ऋग्वेद २/४२/०३; १२. ऋग्वेद १/८३/४
१३. ऋग्वेद ८/२५/२३; १४. ऋग्वेद ८/२८/१
१५. ऋग्वेद ८/९५/७; १६. ऋग्वेद १०/३४/१३
१७. ऋग्वेद १०/१९०; १८. ऋग्वेद ३/१८/२
१९. ऋग्वेद १०/७१/१; २०. ऋग्वेद १/९९/१
२१. ऋग्वेद २/४३/३; २२. ऋग्वेद ९/९१/१
२३. ऋग्वेद १/०९/८; २४. ऋग्वेद ८/९२/२२
२५. ऋग्वेद ८/४४/२३; २६. ऋग्वेद ८/४४/२३
२७. यजुर्वेद, १८/६४; २८. यजुर्वेद, ७/४
२९. यजुर्वेद,१८/६७।

Vaidika Vāg-Jyotiḥ
ISSN 2277-4351
Vol.1, No.1 (127-137) Jul-Dec 2012

अष्टांगयोग की वैदिक आधारभूमि

डॉ. देवीसिंह
संस्कृत व्याख्याता, गोस्वामी गणेशदत्त सनातन धर्म, महाविद्यालय, सै. 32, चण्डीगढ़

'योग' शब्द 'युज् समाधौ' आत्मनेपदी दिवादिगणीय धातु में 'घञ्' प्रत्यय लगाने से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है 'चित्त की वृत्तियों का निरोध' ।[1] अन्य शब्दों में योग की परिभाषा इस प्रकार है – मन के समस्त अनावश्यक विचारों जैसे – चिन्ता, क्रोध, तनाव, खिन्नता, चञ्चलता, घृणा, अभिमान इत्यादि को रोककर मन को अभीष्ट ध्येय आत्मा तथा प्राकृतिक पदार्थों में नियुक्त कर उनके यथार्थ स्वरूप को जानने तथा मन की सात्विक वृत्ति का भी निरोध कर ईश्वर का साक्षात्कार करना 'योग' है ।[2] योग एक ऐसी महत्त्वपूर्ण भारतीय विद्या है, जिसका मूलस्रोत वेदों में दृष्टिगोचर होता है। वेदों में विभिन्न स्थलों पर योग विद्या–रूप मन्त्रों का उल्लेख मिलता है। वेद धर्म का मूल हैं –**'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'** ।[3] धर्म वही कहलाता है, जिससे मोक्ष की सिद्धि होती है– **'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'**[4] । धर्म ही योग के माध्यम से आत्म–दर्शन का साधन है – **'अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्'**[5] । ऋग्वेद में उल्लेख मिलता है कि योग के बिना विद्वान् का कोई भी यज्ञकर्म सिद्ध नहीं होता, वह योग चित्तवृत्तियों का निरोध है तथा कर्त्तव्य कर्ममात्र में व्याप्त है[6] अर्थात् कर्म, उपासना तथा ज्ञान भेद से यज्ञ तीन प्रकार का है। जो योग के बिना निष्पन्न नहीं हो सकता । अज्ञानी की तो बात ही क्या, ज्ञानी भी योग की सहायता के बिना उसे सिद्ध करने में असमर्थ है, क्योंकि चित्तवृत्ति–निरोधरूपी योग या एकाग्रता से समस्त कर्त्तव्य व्याप्त है। अर्थात् सब कर्मों की निष्पत्ति का एकमात्र उपाय चित्तसमाधि या योग ही है। समस्त भौतिक और आध्यात्मिक विद्याओं का

प्राणी मात्र के हितार्थ ईश्वर ने ही वेदों में उपदेश किया है। इस प्रकार योगदर्शन आदि समस्त आर्ष शास्त्रों में प्रतिपादित जो योगविद्या है उसे भी वेद के माध्यम से प्रदान करने वाला ईश्वर ही है । महर्षि पतञ्जलि ने ईश्वर के स्वरूप को बताते हुए कहा है –**'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'**[7], **क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः'**[8], **'तस्य वाचकः प्रणवः'**[9], **तज्जपस्तदर्थभावनम्'**[10], **'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्'**[11] अर्थात् समस्त कर्मों को ईश्वर को समर्पित करना, अविद्यादि पञ्चक्लेश, शुभाशुभमिश्रित त्रिविध कर्म, कर्मों के फल सुख दुःख, इन सबके सम्बन्ध से रहित जीवों से भिन्न स्वभाव वाला चेतनविशेष ईश्वर है। उस ईश्वर का बोधक 'ओ३म्' है। उसी के गुण–कर्म–स्वभाव का चिन्तन करना चाहिये। ईश्वर में अतिशय सर्वज्ञता का बीज है अर्थात् न तो किसी जीव में ईश्वर के ज्ञान के समान ज्ञान है और न ही उससे अधिक है। योगसूत्रकार ने ईश्वरसम्बन्धी जो मत प्रस्तुत किए हैं इन सबका मूल हमें वेदों में दृष्टिगोचर होता है –**युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः। अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याऽभरत्।।**[12]

अर्थात् योग को करने वाले मनुष्य तत्त्व अर्थात् ब्रह्मज्ञान के लिये जब अपने मन को पहे परमेश्वर में लगाते हैं तब ईश्वर उनकी बुद्धि को अपनी कृपा से अपने में युक्त कर लेता है । फिर वे परमेश्वर के प्रकाश को निश्चय करके यथावत् धारण करते हैं। पृथिवी पर योगी का यही प्रसिद्ध लक्षण है । योग के विषय यजुर्वेद में ही एक अन्य स्थल पर भी प्रमाण मिलतें हैं –

योगे-योगे तवस्तरं वाजे-वाजे हवामहे।
सखाय इन्द्रमूतये।।[13]

अर्थात् बार–बार योगाभ्यास करते हुए और बार–बार मानसिक और शारीरिक शक्तिवर्धन करते समय हम सभी परस्पर मित्रभाव से युक्त होकर अपनी रक्षा के लिये अनन्त बलवान्, ऐश्वर्यशाली ईश्वर का ध्यान करते हैं और उसी से सब प्रकार की सहायता मांगते हैं। योगसूत्रकार ने तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान को क्रियायोग कहा है[14], जिससे पञ्चक्लेशों का विनाश होता है तथा योगी 'सत्वपुरुषान्यताख्याति' से युक्त हो जाता है । योगदर्शन के साधनपाद में कहा गया है कि योग के साधनों या अंगों का अभ्यास करते ही योगी कैवल्य के मार्ग को प्रशस्त कर

सकता है।[15] वे योगाङ्ग हैं– **'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यान समाधयोऽष्टावंगानि'**[16] अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार धारणा, ध्यान और समाधि ये आठ अंग योग के कहे गए हैं । इन्हीं यमनियमों का पालन करना नैतिकता है, क्योंकि इनका पालन करने से व्यक्ति और समाज दोनों का निर्माण होता है । इनका पालन न करने से व्यक्ति और समाज दोनों का चरित्र अशुद्ध हो जाता है। इसलिये व्यवहार को शुद्ध करने के लिये तथा ईश्वरप्राप्ति के लिये इनका श्रद्धापूर्वक आचरण करना चाहिये । प्राचीनकाल से ही यमनियम योग का अंग रहे हैं । इस विषय में कुछ वैदिक प्रमाण भी मिलते हैं – **उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसि ध्रु॒वो॒ऽसि ध्रु॒वक्षि॑तिर्ध्रु॒वाणां॑...'**[17] उपयामगृहीतः – यमानां समूहो यामम्, उपगतं च तद्यामं चोपयामम्, उपयामेन गृहीतः उपयामगृहीतः परमेश्वरः असि । अर्थात् हे परमेश्वर! आप यम और नियमों से ग्रहण करने योग्य हो । मनुस्मृति में कहा गया है –

यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधैः । यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ।।[18]

अर्थात् यमों का सेवन नित्य करें, केवल नियमों का नहीं, क्योंकि यमों को न करता हुआ और केवल नियमों का सेवन करता हुआ भी अपने कर्त्तव्य से पतित हो जाता है। इसलिये यम सेवन पूर्वक नियम सेवन नित्य करना चाहिये । न्यायदर्शनकार कहते हैं कि अपवर्ग की सिद्धि के लिये यमनियमों के द्वारा आत्म संस्कार अर्थात् अधर्म को दूर करना और धर्म का आचरण करना चाहिये और योगशास्त्र से अध्यात्मविधि जाननी चाहिये ।[19]

(1) यम– 'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः'[20] अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये यम कहे गए हैं अर्थात् योगप्राप्ति के ये पाँच आवश्यक कर्त्तव्य हैं।

(क) अहिंसा – सभी प्राणियों के साथ वैरभाव त्याग कर प्रीतिपूर्वक आचरण करना अहिंसा है । अहिंसा का पालन करने से व्यक्ति अपने सूक्ष्म दोषों को जानने में तथा उनको दूर करने में समर्थ हो जाता है । वेद में भी उपदेश किया है –

दृते दृँह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे । मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ।।[21]

अर्थात् हे अविद्यारूपी अन्धकार के निवारक परमेश्वर ! जिससे सब प्राणी

मित्र की दृष्टि से मुझको सम्यक् देखें तथा मैं भी मित्रभाव की दृष्टि से सभी प्राणियों को सम्यक् देखूँ । इस प्रकार हम सभी परस्पर मित्रता की दृष्टि से देखें । इस विषय में हमको दृढ़ कीजिए । इस प्रकार अहिंसा का आचरण परिपक्व हो जाने पर योगी का सभी प्राणियों के प्रति वैरभाव छूट जाता है । उसके उपदेश को समझने वाले और उसका आचरण करने वाले का भी अपने आचरण के अनुसार अन्य प्राणियों के प्रति वैरभाव छूट जाता है।[22]

(ख) सत्य – **'सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे । यथा दृष्टं यथानुमिति यथाश्रुतं तथा वाङ्मनश्चेति ।'**[23] अर्थात् जो पदार्थ जैसा हो उसके सम्बन्ध में वैसी ही वाणी और वैसा ही मन में होना 'सत्य' है। जैसा देखा, जैसा अनुमान किया, जैसा सुना वैसा ही वाणी तथा मन का होना 'सत्य' कहलाता है । ऋग्वेद में कहा गया है – **'ऋतवाकेन सत्येन श्रद्धया तपसा इन्द्रायेन्द्रो परिस्रव'**[24] अर्थात् यथार्थ बोलना, सत्यभाषण, श्रद्धा तपादि से बुद्धि को पवित्र कर ईश्वर को प्राप्त किया जा सकता है । यजुर्वेद में कहा गया है –

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम् । इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ।।[25]

अर्थात् हे सत्यभाषणादि व्रतों के पालक ! सत्यधर्म के उपदेशक ईश्वर ! धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त करने की इच्छा वाला मैं इस सत्यव्रत का, मिथ्याभाषण, मिथ्याचरण, मिथ्या बात को मानने से अलग होकर, पालन करूँगा । मेरे इस व्रत का अनुष्ठान आपकी कृपा से सिद्ध हो। इस प्रकार मन, वाणी और शरीर से सत्य आचरण के परिपक्व हो जाने पर योगी का कर्म उत्तम फल वाला हो जाता है और उसके आचरण का प्रभाव अन्य प्राणियों पर भी यथायोग्य पड़ता है ।[26] **'सत्येन सत्यं यज्ञेन यज्ञः'**[27] अर्थात् सत्य से सत्य मिलता है और यज्ञ से यज्ञ । **'सत्येनोत्तभिता भूमिः'**[28] अर्थात् सत्य से भूमि और आधार दृढ़ होता है । **'ऋतं सत्यम्, ऋतं सत्यम्'**[29] अर्थात् ऋत सत्य है और सत्य ऋत है ।

(ग) अस्तेय – **'स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणा परतः स्वीकरणम्, तत्प्रतिषेधः पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति'**[30] अर्थात् अवैधरूपेण दूसरों के पदार्थों को लेना 'स्तेय' है और उसका प्रतिषेध अर्थात् उसको छोड़ना, अभिलाषा न करना 'अस्तेय' है । दूसरे शब्दों में मन, वाणी और शरीर से चोरी का परित्याग करके

उत्तम कार्यों में तन, मन, धन से सहायता करना, 'अस्तेय' है। केवल चोरी को छोड़ना ही 'अस्तेय' नहीं है । इस विषय का प्रतिपादन ईशोपनिषद् में भी किया गया है –

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् । तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।।[31]

अर्थात् हे मनुष्य ! इस सम्पूर्ण चराचर जगत् में सर्वशक्तिमान् परमात्मा का ही वास है अर्थात् यह जगत् उस परमेश्वर से व्याप्त है। उसके पदार्थों का त्यागपूर्वक अनुभव कर और किसी के भी धन की अभिलाषा मत कर । इस प्रकार जब योगी मन, वाणी और शरीर से चोरी का परित्याग कर देता है तब सब उत्तम पदार्थों की प्राप्ति होती है।[32] चोरी एक दुष्कर्म है और वेदों में दुष्कर्मों से बचने के लिये प्रार्थना की गई है – 'परिमाग्ने दुश्चरितम् बाधस्व'[33] अर्थात् हे ईश्वर ! मुझे दुष्कर्म से बचाओ ।

(घ) ब्रह्मचर्य – 'ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः'[34] अर्थात् गुप्तेन्द्रिय उपस्थ का संयम 'ब्रह्मचर्य' कहलाता है । इसके साथ–साथ वेदों को पढ़ना, ईश्वरोपासना करना और वीर्य की रक्षा करना, ब्रह्मचर्य है । अथर्ववेद में कहा गया है –

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत। इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत्।।[35]

अर्थात् देव या ज्ञानीजन ब्रह्मचर्य के तपोबल से मौत को मार डालते हैं । परमेश्वर व आत्मा भी अपने ब्रह्मचर्य के द्वारा ही देवों के लिये सुख व तेज को लाता है । अबः जब योगी मन, वचन और शरीर से ब्रह्मचर्य का पालन दृढ़ बना लेता है तब बौद्धिक और शारीरिक बल की प्राप्ति होती है। उससे वह अपनी रक्षा तथा अन्यों की रक्षा करने में, विद्याप्राप्ति तथा विद्यादान में समर्थ हो जाता है ।[36] ब्रह्मचारी गुरु ही सच्चा अध्यापक होकर योग्य विद्वान् ब्रह्मचारी बना सकता है । इस विषय में वैदिक विधान भी है– **'आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते'**[37]

(ङ)अपरिग्रह– 'विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसँहिंसादोषदर्शनाद–स्वीकरणमपरिग्रहः'[38] अर्थात् विषयों में उपार्जन, रक्षण, क्षय, सँ, हिंसा, दोष देखकर विषयभोग की दृष्टि से उनका संग्रह न करना, 'अपरिग्रह' है । इसको इस प्रकार कह सकते हैं कि हानिकारक, अनावश्यक वस्तु और अभिमानादि अनावश्यक अशुभविचारों को त्याग देना, 'अपरिग्रह' कहलाता है। दूसरे शब्दों में जो–जो वस्तु और विचार ईश्वर प्राप्ति में बाधक है उन सबका

परित्याग और जो जो वस्तु, विचार ईश्वर–प्राप्ति में साधन हैं उनका ग्रहण करना 'अपरिग्रह' है । अथर्ववेद में कहा है – **'शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर'**[39] अर्थात् सौ हाथों से कमाओ और हजार हाथों से दान करो । **'मा गृधः कस्य स्विद्धनम्'**[40] अर्थात् किसी के धन का लालच मत करो ।

(2)नियम – **'शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः'**[41] अर्थात् पवित्रता, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्राणिधान ये पाँच नियम हैं । पवित्रता दो प्रकार की है – बाहरी और भीतरी । जल–मिट्टी से शरीर की स्वार्थ–त्याग से व्यवहार और आचरण की, सात्त्विक पदार्थों से आहार की, यह बाह्य पवित्रता कही गई है । अहंकार, मोह राग, द्वेष, ईर्ष्या, भय, काम–क्रोधादि के त्याग से आन्तरिक पवित्रता कही गई है ।[42] यजुर्वेद का मन्त्र द्रष्टव्य है – **'पुनन्तु विश्वभूतानि'**[43] अर्थात् सभी प्राणी मुझे पवित्र करें । इस प्रकार बाह्य तथा आन्तरिक शुद्धि होने पर योगी अपने शरीर से अनासक्त हो जाता है तथा अन्य शरीरों से भी सम्पर्क नहीं रखता।[44] **'सन्तोष'–'संतोषः संनिहितसाधनादधिकस्यानुपादित्सा'**[45] अर्थात् सम्पूर्ण पुरुषार्थ के पश्चात् जो उपलब्धि हो, उसी में सन्तुष्ट रहना, उससे अधिक की इच्छा न करना, 'सन्तोष' है । कठोपनिषद् में कहा है कि परमेश्वर ने नेत्रादि को बाह्यमुख बनाया है । इसलिये बाह्यविषयों को ग्रहण करती है, आन्तरिक विषयों को नहीं। जो धर्मवान् योगी पुरुष इन्द्रियों पर संयम करके आत्मतत्त्व को जान लेता है, वह मोक्ष को प्राप्त करता है ।[46] 'तप' के विषय में योगभाष्यकार कहते हैं – **'तपो द्वन्द्वसहनम्'**[47] अर्थात् धर्माचरण करते हुए लाभ–हानि, सुख–दुःख, मान–अपमान, सर्दी–गर्मी, भूख–प्यास आदि को शान्तचित्त से सहन करना, 'तप' है । वेद में यह उपदेश दिया गया है कि तपस्वी व्यक्ति ही ईश्वर–साक्षात्कार कर सकता है –

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः । अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत्समाशत। तपोष्पवित्रं विततं दिवस्पदे..............।।[48]

अर्थात् हे प्रभु ! आपने समस्त संसार को व्याप्त कर रखा है। तपश्चर्या से रहित जो अपरिपक्व आत्मा अन्तःकरण युक्त है, वह तेरे स्वरूप को प्राप्त नहीं होता और जो तप से शुद्ध है, वही तप का आचरण करते हुए उस तेरे शुद्ध स्वरूप को प्राप्त होता है। **'स्वाध्याय'** –

'स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः' [49] अर्थात् वेदादि मोक्ष शास्त्रों के पठन–पाठन, गायत्री आदि मन्त्रों के जप से योगी को धार्मिक महापुरुषों के साथ सम्बन्ध हो जाता है । तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया है – **'ऋतं च स्वाध्याय प्रवचने च । सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च । तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। शमश्च स्वाध्याय –प्रवचने च'**[50] अर्थात् सदाचार का पालन, सत्यभाषण, तपश्चर्या, इन्द्रियों का दमन, मन का निग्रह, इन सबके साथ शास्त्र (वेद) का पढ़ना–पढ़ना करना चाहिये । **'ईश्वरप्रणिधान' 'ईश्वरप्रणिधानं तस्मिन् परमगुरौ सर्वकर्मापर्णम्'** [51] अर्थात् सब कर्मों को उस परमपिता परमेश्वर में अर्पित करना 'ईश्वरप्रणिधान कहलाता है । मुण्डकोपनिषद् में इस विषय में कुछ बिन्दु प्राप्त होते हैं –

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चातृ ब्रह्म दक्षिणश्चोत्तरेण । अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ।।[52]

अर्थात् अमृतस्वरूप परमात्मा ही आगे–पीछे, दांय–बांय, ऊपर–नीचे, बाहर–भीतर सर्वत्र फैले हुए हैं । इस विश्व के रूप में वह परमात्मा ही स्पष्टतः दिखाई देता है ।

(3)आसन – 'स्थिरसुखमासनम्' [53] अर्थात् ध्यान के लिये जिस अवस्था में शरीर स्थिर और सुखयुक्त हो, वह 'आसन' कहलाता है । शारीरिक समस्त चेष्टाओं को रोक देने से और अनन्त परमात्मा में ध्यान लगाने से आसन की सिद्धि होती है ।[54] श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा गया है कि शुद्ध भूमि में, जिसके ऊपर क्रमशः कुशा, मृगछाया, और वस्त्र बिछे हैं, जो न ऊँचा और न नीचा हो, ऐसे आसन पर बैठकर चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में रखते हुए मन को एकाग्र करके अन्तःकरण की शुद्धि के लिये योग का अभ्यास करना चाहिये ।[55] इस प्रकार आसन की सिद्धि हो जाने से शीताष्ण, भूख–प्यास आदि द्वन्द्व नहीं सताते और ध्यान लगाने में सुविधा होती है ।[56]

(4)प्राणायाम – 'तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः' [57] अर्थात् आसन की सिद्धि हो जाने पर श्वास और प्रश्वास की गति का यथाशक्ति रोक देना प्राणायाम कहलाता है। बाह्यवृत्ति, 'आभ्यन्तरवृत्ति और स्तम्भकवृत्ति प्राणायाम देश, काल और संख्या के द्वारा जाना हुआ लम्बा और हल्का होता है ।[58] उस प्राणायाम के अनुष्ठान से विवेकज्ञान का आवरण अर्थात् अज्ञान क्षीण हो जाता है[59] तथा मस्तिष्कादि विभिन्न स्थानों में मन को

लगाने की योग्यता हो जाती है ।[60] मनुस्मृतिकार के अनुसार –

दह्यन्ते ध्यायमानानां धातूनां च यथा मलाः । तथेन्द्रयाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ।।[61]

अर्थात् जैसे अग्नि में तपाने से स्वर्णादि धातुओं के मल नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार प्राणायाम करने से मन आदि इन्द्रियों के दोष क्षीण होकर निर्मल हो जाते हैं । प्राणायामसम्बन्धी बिन्दु गीता में भी दृष्टिगोचर होते हैं –

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथाऽपरे। प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ।। अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति। सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषा ।।[62]

अर्थात् योगीजन अपान वायु में प्राणवायु का हवन करते हैं, कुछ योगीजन प्राणवायु में अपानवायु का हवन करते हैं तथा अन्य कितने ही नियमित आहार करने वाले प्राणायाम परायण पुरुष प्राण और अपान की गति को रोककर प्राणों को प्राणों में हवन करते हैं।

(5)प्रत्याहार – 'स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः' [63] अर्थात् इन्द्रियों का अपने विषय के साथ सम्बन्ध न होने पर चित्त के अनुसार होना 'प्रत्याहार' कहलाता है। प्रत्याहार की सिद्धि से इन्द्रियाँ पूर्णतया वश में हो जाती है।[64] इसका मनुस्मृति में भी मिलता है – **'प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान्'** [65] अर्थात् प्रत्याहार के संसर्ग से हुए दोष और ध्यान से अविद्या, पक्षपात आदि अनीश्वरता के दोष नष्ट हो जाते हैं। प्रत्याहार धारणा का सहायक अंग हैं तथा धारणा का अभ्यास करने के लिये इसको आत्मसात् करना आवश्यक है ।

(6)धारणा, ध्यान और समाधि – चित्त को देश विशेष में स्थित करना 'धारणा' कहलाता है ।[66] जिस स्थान में धारणा की हुई होती है उस स्थान में ज्ञेयविषयक ज्ञान का एक् समान होना 'ध्यान' कहलाता है ।[67] वह ध्यान ही केवल ध्येय के स्वरूप को प्रकाशित करने वाला, अपने ध्यानात्मक स्वरूप से शून्य बना हुआ सा अर्थात् ज्ञानस्वरूप से गौण हुआ 'समाधि' कहलाता है ।[68] इस प्रकार धारणा ध्यान और समाधि ये तीनों जब एक साथ मिलकर कार्य करते हैं तो उसे संयम कहा जाता है।[69] यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार ये पांच सम्प्रज्ञात समाधि के बाह्य अँ है और ये तीनों सम्प्रज्ञात समाधि के आन्तरिक अंग है ।[70] यद्यपि ये तीनों (धारणा, ध्यान,

समाधि) सम्प्रज्ञात समाधि के अन्तरंग साधन है, तथापि असप्रज्ञात समाधि के बहिरंग ही हैं ।[71] इस प्रकार योग की स्थूल भूमियों में वश्यता प्राप्त होने पर योग की सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम भूमियों में संयम का प्रयोग करना चाहिये ।[72] गीता में भी वर्णन मिलता है कि अत्यन्त वश में किया हुआ चित्त जिस काल में परमात्मा में अच्छी प्रकार से स्थित हो जाता है, उस काल में सम्पूर्ण भोगों से छूटा हुआ पुरुष योग युक्त हो जाता है। परमात्मा के ध्यान से शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार करता हुआ सच्चिदानन्द घन परमेश्वर में ही सन्तुष्ट रहता है । इसलिये दुःख रूप संसार के संयोग से रहित यह योग धर्म और उत्साहयुक्त चित्त से निश्चयपूर्वक करना चाहिये ।[73] ऋग्वेद में कहा गया है –**स घा नो योग आभुवत् स राये स पुरं ध्याम् । गमद् वाजेभिरा स नः ।।**[74]

अर्थात् वही परमात्मा हमारी समाधि के निमित्त अभिमुख हो, वही विवेकख्याति रूपी धन, ऋतम्भरा प्रज्ञा उत्पादनिमित्त अनुकूल हो। भाव यह है कि उसकी दया से समाधि, विवेकख्याति और ऋतम्भरा प्रज्ञा का हमें लाभ हो और वही परमात्मा अणिमादि सिद्धियों सहित हमारी ओर आगमन करें ।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि जो योग आज हमारे समक्ष विद्यमान है, उसका बीजवपन वेदों में ही हुआ है, क्योंकि जितनी भी विद्याएँ जगत् में विद्यमान हैं, चाहे वह भौतिक विज्ञान हो या चाहे आत्मा–परमात्मा सम्बन्धी अध्यात्मज्ञान हो, इन सबका आदिमूल ज्ञान–विज्ञान से परिपूर्ण परमेश्वर है और उसी परमेश्वर से वेदों की उत्पत्ति होने के कारण वेद 'अपौरुषेय' हैं –

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ।। यजु॰ 31.7 ।।

'योग' शब्द का अर्थ 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध जिस साधन से हो जाता है वह 'योग' है । दूसरे अर्थों में 'योग' का अर्थ 'मिलना' या 'जुड़ना' है अर्थात् आत्मा का परमात्मा से मिलने का 'योग' एकमात्र उत्तम साधन है । आत्मसम्बन्धी विषयकज्ञान हमारे वेदों, ब्राह्मणग्रन्थों, आरण्यकों और उपनिषदों में प्रचूरमात्रा में प्राप्त होता है । 'योगःसमाधि' अर्थात् समाधि को योग कहा गया है लेकिन समाधि तक पहुँचने के लिये योग के अन्य अंगों का अभ्यास भी जीवन में आवश्यक है । वे हैं – यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। क्रमशः पूर्व के सप्तों अंगों का अभ्यास करते हुए योगी आठवें अंग समाधि' पर पहुंचता है, जिसमें परिपक्वता आ जाने पर कैवल्य

को प्राप्त हो जाता है । यजु॰ में आता है – **'योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहे'** अर्थात् बार–बार योगाभ्यास करने से मानसिक और शारीरिक शक्तिवर्धन करते समय हम सभी परस्पर मित्रभाव से युक्त होकर ईश्वर का ध्यान करें। **'उपयामगृहीतोऽसि ध्रवोऽसि ध्रुवक्षितिर्ध्रुवाणां.......'** इत्यादि मन्त्रों में भी अष्टांग योग के विषय में ही बतलाया गया है, जिनमें कहा गया है कि हे परमेश्वर ! आप यम और नियम से ग्रहण करने योग्य हैं । अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांचों यमों और शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान इन पांचों नियमों का जीवन में कर्त्तव्यपूर्वक पालन वैदिक आधार ही है । अतः संक्षेपेण यह कहा जा सकता है कि अष्टांगयोग, योगविद्या का मूल स्रोत वेद ही है ।

पाद-टिप्पणियां-

1. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः, योगसूत्र 1.2
2. योगदर्शनम्, स्वामी सत्यपति परिव्राजक (व्याख्याकार), पृ॰ 10
3. मनुस्मृति, 2.6
4. वैशेषिक, 1.1.2
5. याज्ञवल्क्यस्मृति, 1.2
6. यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन । स धीनां योगमिन्वति ।। ऋ॰, 1.18.7
7. यो॰ सू॰, 1.23
8. वही, 1.24
9. वही, 1.27
10. वही, 1.28
11. यो॰ सू॰, 1.25
12. यजु॰, 11.1
13. वही, 11.14
14. यो॰ सू॰, 2.1
15. योगांगानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः, यो॰ सू॰, 2.28
16. वही, 2.29
17. यजु॰, 7.25
18. मनु॰, 4.204
19. तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः । न्या॰ द॰, 4.2.46
20. यो॰ सू॰, 2.30
21. यजु॰, 36.18
22. अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः, यो॰ सू॰, 2.35
23. योगभाष्य, 2.30
24. ऋ॰, 9.113.2
25. यजु॰, 1.5
26. यो॰ सू॰, 2.36
27. यजु॰, 13.42
28. यजु॰, 20.12
29. ऋ॰, 10.84.1
30. योगभाष्य, 2.30
31. ईशोपनिषद्, मन्त्रसंख्या 1
32. अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्, यो॰ सू॰, 2.37
33. यजु॰, 9.4
34. यो॰ भा॰, 2.30
35. अथर्व॰, 11.5.19
36. ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः, यो॰ सू॰, 2.38

37. अथर्व॰
38. यो॰ भा॰, 2.30
39. अथर्व॰, 3.24.5
40. यजु॰, 40.1
41. यो॰ सू॰, 2.32
42. तत्र शौचं मृज्जलादिजनितं मेध्याभ्यवहरणादि च बाह्यम् । आभ्यन्तरं चित्तमलानामाक्षालनम् । वही
43. यजु॰, 19.39
44. शौचात्स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्गः । यो॰ सू॰, 2.40
45. यो॰ भा॰, 2.32
46. कठो॰, 2.1.1
47. यो॰ भा॰, 2.32
48. ऋ॰, 9.83.1, 2
49. यो॰ सू॰, 2.44
50. तैत्ति॰, 1.9
51. यो॰ भा॰, 2.32
52. मुण्डक॰, 2.11
53. यो॰ सू॰, 2.46
54. प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्, वही, 2.47
55. गीता, 6.11, 12
56. ततो द्वन्द्वानभिघातः, यो॰ सू॰, 2.48
57. वही, 2.49
58. वही, 2.50
59. वही, 2.52
60. वही, 2.53
61. मनु॰, 6.71
62. गीता, 4.29, 30
63. यो॰ सू॰, 2.54
64. ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्, वही, 2.55
65. मनु॰, 6.72
66. देशबन्धश्चित्तस्य धारणा, यो॰ सू॰, 3.1
67. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्, वही, 3.2
68. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः वही, 3.3
69. त्रयमेकत्र संयमः, वही, 3.4
70. त्रयमन्तरंगपूर्वेभ्यः, वही, 3.7
71. तदपि बहिरंगनिर्बीजस्य, यो॰ सू॰, 3.8
72. तस्य भूमिषु विनियोगः, वही, 3.6
73. गीता, 6.18–23
74. ऋ॰, 1.5.3 (अथर्व॰, 20.69.1)

Vaidika Vāg-Jyotiḥ
ISSN 2277-4351
Vol.1, No.1 (138-139) Jul-Dec 2012

तीन वेदों की छन्दःसंख्या तथा अक्षरसंख्या

विश्वनाथ विद्यालंकार (स्व०)

पूर्व वेदोपाध्याय, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

शतपथ ब्राह्मण काण्ड 10, अध्याय 4, ब्राह्मण 2 की कण्डिकाओं 23-25 में ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद के मन्त्रों की छन्दः संख्याओं तथा अक्षरों की संख्याओं का वर्णन हुआ है। यथा-

स ऋचो व्यौहत्। द्वादश बृहतीसहस्राण्येतावत्यो हर्चो याः प्रजापतिसृष्टाः। तास्त्रिंशत्तमे व्यूहे पंक्तष्वतिष्ठन्त। ता यत् त्रिंशत्तमे व्यूहेऽतिष्ठन्त तस्मात् त्रिंशन्मासस्य रात्रयोऽथ यत् पंक्तिषु तस्मात् पांक्तः प्रजापतिः। ताऽअष्टाशतं शतानि पंक्तयोऽभवन्॥२३॥

अथेतरौ वेदौ व्यौहत्। द्वादशैव बृहतीसहस्राण्यष्टौ यजुषां, चत्वारि साम्नाम्। एतावद्धैतयोर्वेदयोर्यत्प्रजापतिसृष्टम्। तौ त्रिंशत्तमे व्यूहे पंक्तिष्वतिष्ठेताम्। तौ यत् त्रिंशत्तमे व्यूहेऽतिष्ठेतां तस्मात् त्रिंशन्मासस्य रात्रयोऽथ यत् पंक्तिषु तस्मात् पांक्तः प्रजापतिः॥ ता अष्टाशतमेव शतानि पंक्तयोऽभवन्॥२४॥

ते सर्वे त्रयो वेदाः। दश च सहस्राण्यष्टौ च शतान्यशीतीनामभवन्॥२५॥

अर्थात् उस (प्रजापति) ने 12000 बृहती-छन्दों में ऋग्वेद को विभाजित किया। इतनी ही ऋचाएं थीं, जो कि प्रजापति द्वारा रची गयी थीं। इन बृहती छन्दों को पंक्तिछन्दों में परिवर्तित किया। चूंकि पंक्ति छन्दों में विभाजित किया इसलिये प्रजापति पांक्त अर्थात् 'पाँच[1] वाला' हुआ। बृहती छन्द में 36 अक्षर होते हैं। अतः 12000 बृहती छन्दों की अक्षर संख्या-12000 X 36 =432000 अक्षर। पंक्तिछन्द के 5 पाद होते हैं, और प्रत्येक पाद 8 अक्षरों का। अतः पंक्तिछन्द में 5 X 8 =40 अक्षर। अतः बृहती छन्दों की 432000 अक्षर संख्या के पंक्तिछन्द 432000/40=10800 पंक्तिछन्द। अतः पंक्तिछन्दों की अक्षर संख्या 10800 X 40 =432000 अक्षर। पंक्तिछन्दों में ऋग्वेद को विभाजित करने के कारण प्रजापति 'पांक्त' अर्थात् 'पंक्तिछन्दोंवाला या, पाँच अंगोंवाला' हुआ। इस प्रकार बृहतीछन्दों या पंक्तिछन्दों में ऋग्वेद की अक्षर संख्या-432000 अक्षर। 'अष्टाशतं शतानि पंक्तयः=अष्टाशतानि तथा शतंशतानि=800+100X 100=800+10000 =10800 पंक्तिछन्द॥२३॥

अब प्रजापति ने शेष दो वेदों को भी 12000 ही बृहती छन्दों में विभाजित किया। यजुर्वेद के मन्त्रों को 8000 बृहती छन्दों में तथा सामवेद के मन्त्रों को 4000 बृहती छन्दों में। इन दोनों वेदों में प्रजापति ने इतने ही मन्त्र रचे। पंक्तिछन्दों के हिसाब से 'अष्टाशतं शतानि' अर्थात् 10800 पंक्तिछन्दोंवाले ये दो वेद हुए। 10800 पंक्तिछन्दों के अक्षर=10800 X 40 =432000 । अर्थात् ऋग्वेद और शेष दो वेदों

अर्थात् यजुर्वेद और सामवेद की छन्द:संख्या तथा अक्षरसंख्या बराबर-बराबर है॥ २४॥

वे सब अर्थात् तीनों वेद 10800 X 40 =432000 अक्षरोंवाले हुए॥ २५॥

ऋग्वेद के मन्त्र=10552 (बालखिल्य के 80 मन्त्रों को मिलाकर)। अत: बिना बालखिल्य के मन्त्र =10472। यजुर्वेद की मन्त्र संख्या=लगभग 1975; सामवेद की मन्त्र संख्या=लगभग 1875। लगभग इसलिये लिखा है कि इन दो वेदों में स्थान स्थान पर प्रतीकमन्त्र भी दिये हैं। उन्हें मन्त्रसंख्या में सम्मिलित करना चाहिये या नहीं, इस पर मैं कुछ निर्णय नहीं कर पाया। क्या प्रतीक मन्त्र भी इन वेदों के मौलिक अंग हैं, या किसी समय याज्ञिकों ने इन प्रतीक मन्त्रों को यजुर्वेद और सामवेद का अंग बना दिया है,-यह प्रश्न विचारणीय है। यदि किसी काल में कर्म विशेष के लिये याज्ञिकों ने प्रतीकमन्त्रों को मूलभूत मन्त्रों का अंग बना दिया है तो परमेश्वरीयकृति यजुर्वेद और सामवेद में, इस मानुषकृति को भी मूलवेदों के अंगरूप में छापना, कहाँ तक युक्ति सम्मत है,-यह प्रश्न भी विचारणीय है।

शतपथब्राह्मण के उपर्युक्त लेख के अनुसार, ऋग्वेद तथा 'यजुर्वेद-और-सामवेद' के बृहती-तथा पंक्तिछन्दों और अक्षरों की गणना बराबर-बराबर कही है, जबकि इन के मन्त्रों की संख्याओं में पर्याप्त अन्तर है। यजुर्वेद के मन्त्रों के कलेवर ऋग्वेद के मन्त्रों के कलेवरों से बड़े हैं। सम्भवत: इस कारण संख्या वैषम्य का समाधान हो सके,-इस पर वैदिक विद्वानों को अनुसन्धान करना चाहिये।[2] **शतपथ के उपर्युक्त उद्धरणों में 'वेद' शब्द का प्रयोग केवल मन्त्रभाग के लिये प्रयुक्त हुआ है, शतपथीय व्याख्या भाग को शतपथ में 'ब्राह्मणम्' कहा है, इस प्रकार जो लोग यह मानते हैं कि 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' यह शतपथ के लेखानुसार माननीय नहीं।**

शतपथ के उपर्युक्त लेख में, वेद का रचयिता या स्रष्टा, प्रजापति कहा है। प्रजापति परमेश्वर ही है। जैसे कि यजुर्वेद के निम्नलिखित मन्त्रों द्वारा और स्पष्ट हो जाता है। यथा-

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापति:। अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धाꣳ सत्ये प्रजापति:। यजु० १९/७७

---

१ पंचपादपंक्तिछन्दों का स्वामी, या पाँच-संख्यावाला, पाँच संख्यासम्पन्न।

२ साथ ही यह भी सम्भव हो सकता है कि तथाकथित शुक्लयजुर्वेद की काण्व शाखा को भी यजुर्वेद के ८००० बृहतीछन्दों में शामिल कर दिया हो-इस पर भी अनुसन्धान की आवश्यकता है।

Vaidika Vāg-Jyotiḥ
ISSN 2277-4351

Vol.1, No.1 (140-143) Jul-Dec 2012

अश्वमेध की वेदी और उसके प्रतीकार्थ

रमेश कुमारी सिंह चौहान
रीडर, संस्कृतविभाग, सी०एस०एन०कॉलेज, हरदोई (उ०प्र०)

वेदी इक्कीस पुरुषमाप की होती थी। उड़ते हुए गरुड़ पक्षी के आकार की होती थी; पूर्वाभिमुख होती थी। नित्योदक स्थान पर बनायी जाती थी। वेद अश्व को वृहद्वय कहता है। प्रजापति, सूर्य, अग्नि, यजमान अश्वरूप कहे गये हैं। धर्मविशेषों से ये पक्षीरूप भी हैं। अश्वमेध सम्पन्न कर मृत्यु के अनन्तर यजमान पक्षीरूप होकर स्वर्ग को गमन करता है, अमरत्व को प्राप्त करता है, ऐसी मान्यता है (ले०)।

'अग्निचयन' या 'वेदी की संरचना' ब्राह्मणग्रन्थों का एक पूर्ण और मौलिक विषय है। ब्राह्मणग्रन्थ यज्ञशास्त्र के समस्त दर्शन को वेदीसंचयन के अन्तर्गत ही अनुस्यूत करते हुए प्रतीत होते हैं। शतपथब्राह्मण का तो लगभग एक तिहाई भाग ही वेदी सम्बन्धी उल्लेखों पर व्यय हुआ है। अत: 'ब्राह्मणों में वेदी'-यह शोध का स्वतन्त्र विषय है। प्रस्तुत शोधलेख वेदी सामान्य के सैद्धान्तिक, आध्यात्मिक, दार्शनिक प्रतिपादनों से सम्बद्ध न होकर अश्वमेध की वेदीविशेष से सम्बन्धित है।

वेदी के लिये उपयुक्त स्थान-

वेदी के लिये स्थान चयन करने के सन्दर्भ में कात्यायन का कहना है कि अश्वमेध की वेदी ऐसे स्थान पर होनी चाहिये जहाँ सामने की ओर एक जल स्थान हो और जिसमें वर्ष भर जल रहता हो।[१] यद्यपि शतपथ ब्राह्मण का आश्वमेधिक काण्ड ऐसा कोई भी संकेत नहीं देता जिससे कात्यायन का 'नित्योदक' स्थान पर ही अश्वमेध की वेदी बनाये जाने का सिद्धान्त पुष्ट होता हो; किन्तु ब्राह्मणग्रन्थों से परवर्ती साहित्य रामायण और महाभारत में दशरथ, राम और युधिष्ठिर के अश्वमेधों में वेदी के निमित्त जो स्थान चुने गये थे, वे निश्चित ही उनके नित्योदक होने को पुष्ट करते हैं। राजा दशरथ के यज्ञ की वेदी सरयू के उत्तरी तट पर बनायी ही गयी थी[२] राजा राम के यज्ञ की वेदी भी नित्योदक स्थान पर ही थी; क्योंकि रामायण में राम अपने अनुज लक्ष्मण को नैमिषारण्य में गोमती के तट पर अश्वमेध के निमित्त विशाल यज्ञमण्डप बनवाने का आदेश देते हैं।[३] महाभारत में युधिष्ठिर ने भीमसेन को अश्वमेध यज्ञ की सिद्धि के लिये 'यज्ञिय स्थान' खोजने का निर्देश दिया है।[४] इस अश्वमेध की वेदी के लिये जो स्थान चुना गया था, उसे 'शालचय', 'प्रतोलीयुक्त' और 'सुघट्टित' बताया गया है।[५] ये सभी उल्लेख बताते हैं कि युधिष्ठिर के यज्ञ की वेदी भी नित्योदक स्थान के निकट ही बनायी गयी होगी। अत: वेदी के लिये नित्योदक स्थान चुनने सम्बन्धी कात्यायन के मत को स्वीकार न करने का कोई भी आधार नहीं है।

वेदी का माप एवं आकार-

अश्वमेध की वेदी की माप के सन्दर्भ में कात्यायन का मत है कि यह 'आद्य-अग्नि' परिमाण, आद्य-अग्नि के द्विगुणित परिमाण, आद्य-

अग्नि के त्रिगुणित परिमाण या एकविंशतिविध परिमाण की होनी चाहिये।[६] कात्यायनकृत शुल्वसूत्र की पंचम कण्डिका में वर्णित[७] विषय सामग्री के आधार पर उक्त कात्यायनसूत्र के स्पष्टीकरण के सन्दर्भ में संक्षिप्तसार टीका का कहना है कि पुरुषशरीर को माप की इकाई मानकर, ऐसी साढ़े सात इकाईयों से जो क्षेत्रफल बनता है वह 'आद्य-अग्नि' प्रकार की वेदी या अश्वमेध की प्रथम प्रकार की वेदी होगी। उक्त माप के दुगुने (पन्द्रह पुरुषशरीर माप) और तिगुने (साढ़े बाइस पुरुषशरीर माप) मापों, जिसे वे वेदी का क्षेत्रफल भी कहते हैं, की वेदी अश्वमेध की क्रमश: दूसरे और तीसरे प्रकार की वेदी होगी।[८] इस स्पष्टीकरण की छाया में अश्वमेध की चतुर्थ प्रकार की वेदी वह होगी जिसका परिणाम इक्कीस पुरुष माप होगा। संक्षिप्तसार के इस स्पष्टीकरण से अश्वमेध की वेदी के विकल्पों से सम्बन्धित मापों की संख्या और माप की इकाई तो पर्याप्त स्पष्ट हो जाती है किन्तु संक्षिप्तसार का इन विभिन्न मापों को ही वेदी का क्षेत्रफल कहना समझ में नहीं आता।

अश्वमेध की वेदी के परिमाप के सम्बन्ध में इगलिङ्ग की टिप्पणी है कि वेदी की चारों भुजाएं इक्कीस पुरुष माप की होती थीं।[९] किन्तु उनके उक्त विचार को सही नहीं माना जा सकता है। हमारे सामने बड़ी संख्या में ऐसे प्रमाण हैं जो बताते हैं कि वेदी चतुर्भुजाकार न होकर पर फैला कर पूर्वाभिमुख उड़ते हुए विशाल गरुड़ पक्षी के आकार की होती थी।[१०] युधिष्ठिर के अश्वमेध की वेदी का उल्लेख करते हुए महाभारत में कहा गया है : 'स रुक्मपक्षो निचितस्त्रिकोणो गरुडाकृति[११]। दशरथ के अश्वमेध की वेदी का उल्लेख करते हुए कहा गया है : 'गरुडो रुक्मपक्षो वै त्रिकोणोऽष्टादशात्मक:[१२]। इन दोनों वाक्यों में उक्त वेदी को मात्र गरुड़ाकृति न बताकर स्पष्ट शब्दों में 'त्रिकोण' भी बताया गया है। अत: इक्कीस पुरुषमापों को चतुर्भुजाकार वेदी की एक भुजा का माप कहना उचित नहीं लगता। साढ़े सात, पन्द्रह, बाईस और इक्कीस पुरुषमाप अश्वमेध की विभिन्न वेदियों की पूर्ण परिधि का उल्लेख रहे हो सकते हैं क्योंकि कात्यायन ने अपने सूत्र में उक्त मापों को न तो वेदी का क्षेत्रफल ही कहा है, जैसा कि संक्षिप्तसारकार का मत है, और न वेदी की एक भुजा का माप ही, जैसा कि इगलिङ्ग मानते हैं।

कात्यायन के उपर्युक्त सूत्र में अश्वमेध की वेदी के चार प्रकारों का संयुक्त अभिधान है। कात्यायन स्वयम् इन चार प्रकारों में से किसी भी एक को प्रधान नहीं बताते हैं। आचार्य कर्क का यहाँ कहना है कि वेदी सम्बन्धी ये विकल्प शाखान्तर के आधार पर हैं।[१३] कर्क के उक्त भाष्य से भी यह स्पष्ट नहीं होता है कि इन चारों में से कौन से प्रकार की वेदी श्रेष्ठ है। दूसरी ओर रामायण और महाभारत में जिन अश्वमेध की वेदियों का उल्लेख आया है वे 'अष्टादशात्मक'[१४] या अष्टादशकरात्मक[१५] बतायी गयी है। अत: यह प्रश्न बना ही रहता है कि उक्त मापों में से किस माप से बनी वेदी श्रेष्ठ है? यदि स्वयं शतपथ को इस सन्दर्भ में वरीयता प्रदान की जाये तो उसका निर्णय है : 'एकविंशोऽग्निर्भवति'[१६]

शतपथ में उक्त वाक्य एक स्थान पर न आकर अनेक स्थानों पर आता है, साथ ही शतपथ ने 'एकविंशअग्नि:' के अतिरिक्त 'द्वादश पुरुष परिणाम अग्नि' का विकल्प उपस्थित करके[१७] उसको निरस्त करते हुए कहा है : यथा स्थूरिणा यायात् तादृक् तत्[१८] एकविंश अग्नि के सन्दर्भ में उनका प्रशंसा वाक्य है: यह अश्वमेध का सिर है, यह अश्वमेध काकुद है। जो एकविंश अग्नि के रहस्य को जान लेता है वह राजाओं में सिर स्थानीय हो जाता है, ककुद स्थानीय हो जाता है।[१९]

अतः मानना होगा कि इक्कीस पुरुषमाप की परिधि वाली गरुड़ाकार पूर्वाभिमुख वेदी ही अश्वमेध की श्रेष्ठ वेदी होती थी, इससे भिन्न प्रकार की नहीं।

कालावधि एवं सहायक सामग्रीः-

अश्वमेध की वेदी का निर्माण वर्ष भर चलता था।[२०] इसका निर्माण इष्टिकापशु के आलभन से आरम्भ होता था।[२१] यह अनेक प्रस्तरों से युक्त होती थी। इसके निर्माण के समय अनेक मूल्यवान् धातुओं, रत्नों और स्वर्णनिर्मित अग्निपुरुष को भूमिसात् किया जाता था।[२२] परवर्ती काल में अश्वमेध की वेदी का निर्माण स्वर्णनिर्मित ईंटों से भी होने लगा था।[२३]

वेदी के प्रतीकार्थ-

शतपथब्राह्मण के उल्लेखों एवं रामायण, महाभारत में प्राप्त वर्णनों[२४] से स्पष्ट है कि अश्वमेध की वेदी आकाश में उड़ते हुए पक्षी के सदृश होती थी। वह सम्भवतः उड़ते हुए पक्षी के आकार की इसलिये बनायी जाती थी क्योंकि गायत्री पक्षी होकर ही भूमण्डल पर स्वर्ग से सोम लाया था[२५], प्रजापति पक्षी के आकार का है,[२६] सातों प्राणों में पक्षी होकर ही प्रजापति को प्राप्त किया था[२७], प्रजापति ने पक्षी रूप होकर ही देवों का निर्माण किया था[२८], देवता पक्षी रूप होकर ही अमरत्व को प्राप्त हुए थे।[२९] वेदी को उड़ते हुए पक्षी के आकार की बनाने एक प्रमुख कारण यह भी रहा हो सकता है कि सूर्य अग्नि के तीन रूपों में से एक है[३०] और वेदमन्त्रों में सूर्य को अनेक स्थानों पर पक्षी के रूप में आकाश में विचरण करते हुए चित्रित किया गया है।[३१] अतः उड़ते हुए पक्षी के आकार की वेदी सूर्य रूप अग्नि के 'निरन्तर गति' रूप धर्म का अति सरल भौतिक प्रकाशन है।

वाजसनेयिसंहिता का कहना है 'अश्व आसीद्बृहद् वयः'[३२]। शतपथ में वाक्य आते हैं, 'अश्व प्रजापति का रूप है'[३३] 'अश्व सूर्य का रूप है'[३४] 'अश्व यजमान रूप है'[३५] आदि। ब्राह्मण के अनुसार जब प्रजापति, सूर्य, अग्नि और यजमान अश्व पद का लक्ष्यार्थ, व्यङ्ग्यार्थ या प्रतीकार्थ हो सकते हैं तो संहिता के अनुसार यह मानने में कोई आपत्ति नहीं रह जाती कि ये सभी किसी न किसी धर्म से पक्षीरूप भी अवश्य हैं। प्रजापति और सूर्य के पक्षीरूपों की प्रामाणिकता अब तक हम ऊपर देख ही चुके हैं। 'अग्नि' का पक्षीरूप प्रस्तुत वेदी को कहा जाता है। यजमान को स्वर्ग और अमरत्व की प्राप्ति के लिये मृत्यु के अनन्तर गति करनी पड़ती है।[३६] अतः वह भी 'पक्षीरूप' कहा जा सकता है।

अश्वमेध की वेदी को पूर्वाभिमुख बनाये जाने का विधान है। पूर्वदिशा को स्वर्ग कहा गया है।[३७] अतः कहा जा सकता है कि उड़ते हुए गरुड़ पक्षी के आकार की पूर्वाभिमुख यज्ञवेदी का अश्वमेध के निमित्त विधान करते समय मूल भावना यह रही हो सकती है कि यजमान इसके माध्यम से अश्वमेध सम्पन्न कर स्वयं पक्षीरूप होकर मृत्यु के अनन्तर स्वर्ग को गमन करता है और अमरत्व को प्राप्त करता है।

पाद-टिप्पणियां-

१ 'नित्योदकं देवयजनं पुरस्तात्'।
का०श्रौ०सू०२०.४.१४

२ अथ संवत्सरे पूर्णे तस्मिन् प्राप्ते तुरङ्गमे।
सरय्वाश्चोत्तरे तीरे राज्ञो यज्ञोऽभ्यवर्तत॥
वा०रा०१.१४.१

३ यज्ञवाटश्च सुमहान् गोमत्या नैमिषे वने।
आज्ञाप्यतां महाबाहो तदिह पुण्यमनुत्तमम्॥

४ म०भा०आ०प०८५.९

५ वही ८५.१२

६ आद्योऽग्निर्द्विगुणस्त्रिगुण एकविंशतविधो वा।
का०श्रौ०सू०२०.४.१५

७ द्विगुणत्रिगुणैकविंशतिविधानां क्लृप्तिप्रकारः शुल्वे पंचम्यां कण्डिकायां कात्यायनेनाभिहितः। श०ब्रा०, लक्ष्मी, वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई, पृ०सं०२८७८

८ संऽसार, का०श्रौ०सू०२०.४.१५

९ शत०ब्रा०इगलिङ्ग, भाग ५, पृ०३३४, टि०सं०२

१० (क) शत०ब्रा०६.७.२.७, ८; ७.१.१.१९,२०; ८.६.२.१२; ८.७.२.९, १०; १०.२.३.११, १२; ११.४.१.१६; ६.१.२.३६

(ख) द्रष्टव्य शत०ब्रा०, इगलिङ्ग, भाग ४, भूमिका भाग, पृ०सं०२१

११ म०भा०, आश्व०प० ८८.३२

१२ वा०रा०, बा०कां०१४.२९

१३ शाखान्तराद्विकल्पः। क०भा०,का०श्रौत० सू०२०.४.१५

१४ वा०रा०बा०कां०१४.२९

१५ म०भा०आश्व०प०८८.३२

१६ शत०ब्रा०१३.३.३.७, १०

१७ शत०ब्रा०१३.३.३.८

१८ शत०ब्रा०१३.३.३.९

१९ शत०ब्रा०१३.३.३.१०

२० शत०ब्रा०७.४.१.३४; शत०ब्रा०इगलिङ्ग, भाग-४, भू०भा०, पृ०सं०२३

२१ वही० ६.२.१.६; का०श्रौ०सू०१६.१.५,७

२२ वही ७.४.१.१०,१५; देखें, शत०ब्रा०सै० वु०आं०ई०सी०, भाग-४, पृ०स०१, पा०टि०सं०१

२३ (क) वा०रा०, वा०का० १४.२९; (ख) म०भा०, आश्व०प० ८८.३१

२४ (क) शत०ब्रा०७.१.१.१९-२०; ६.१.२.३६

(ख) वा०रा०, वा०कां० १४.२९

(ग) म०भा०, आ०प०८८.३२

२५ (क) वा०सं०५.१

(ख) शत०ब्रा०३.४.१.१२

२६ वही, ६.१.२.३६

२७ वही, ६.१.२.३६

२८ वही, ६.१.२.३६

२९ वही, ६.१.२.३६

३० पृथ्वीलोक का अग्नि भौतिक अग्नि है, अन्तरिक्ष लोक का अग्नि वायु है और द्युलोक का अग्नि सूर्य है।

३१ वा०सं०२३.९,१०,११,१२

३२ वा०सं०२३.१२

३३ श०ब्रा०१३.३.३.४; १३.१.१.१; १३.१.२.४ आदि

३४ शत०ब्रा०१३.२.८.१५; वा०सं०२२.१७

३५ शत०ब्रा०१३.२.८.१३; वा०सं०२३.१७

३६ शत०ब्रा०१३.२.२.१५,१७

३७ छां०उप०८.६.५; प्रश्नो०५.५; मैत्री०६.२२; भ०गी०८.१०,१२,१३ आदि

Vaidika Vāg-Jyotiḥ
ISSN 2277-4351
Vol.1, No.1 (144-153) Jul-Dec 2012

अश्वमेध परिचय

वेदप्रिय शास्त्री
द्वारा-४ भ २७, विज्ञाननगर, कोटा-३२४००५ (राज०)

यज्ञ प्रकार-वैदिक कर्मकाण्ड में दो प्रकार के प्रमुख यज्ञ कहे गये हैं। १. मानस यज्ञ, २. द्रव्य यज्ञ। द्रव्य यागों को दो प्रकार से विभक्त किया है। १. श्रौत यज्ञ, २. स्मार्त यज्ञ। श्रौत यज्ञों में तीन प्रकार के कृत्य होते हैं। १. इष्टियाँ, २. पशुबन्ध, ३. सोमयाग। अश्वमेध श्रौतयागों में से एक है, इसका सवनीय पशु अश्व है।

अधिकारी-अश्वमेध करने का अधिकारी सार्वभौम शासक वा वह सम्राट् जो अभी सार्वभौम नहीं हुआ, होता है या सभी पदार्थों के इच्छुकों, सभी विजयों के (अपनी इन्द्रियों पर विजय के लिये भी) अभिलाषियों तथा अतुल समृद्धि के कांक्षियों द्वारा भी अश्वमेध किया जा सकता है। दुर्बल और दरिद्र शक्तिहीन जन इसके अधिकारी नहीं हैं। यह एक अत्यन्त शिक्षाप्रद कृत्य था किन्तु वैदिक संस्कृति के कुछ शत्रु वाममार्गियों ने इसके स्वरूप को विकृत करके अत्यन्त बीभत्स बना दिया। यथा घोड़े को मारकर हवन करना तथा मृत घोड़े से रानी का सम्भोग कराना, रानियों के साथ हंसी मजाक करना और इन्हें ब्राह्मणों को दानकर देना आदि। हम यहाँ उसका शुद्ध रूप तथा उसका तात्पर्य या उद्देश्य संक्षिप्त में वर्णन कर रहे हैं।

अश्वमेध यज्ञशाला-श्रौतयज्ञों के सम्पादनार्थ जो यज्ञशाला बनायी जाती है उसमें तीन कुण्ड श्रौत अग्नियों के होते हैं तथा दो स्मार्त के। इस प्रकार कुल पाँच कुण्ड ही होते हैं। इनके नाम आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, आवसथ्य एवं सभ्य हैं तथा क्रमशः इन्हीं नामों की अग्नियाँ जलती हैं। मुख्यतया आहुतियाँ मध्य में स्थित आहवनीय कुण्ड में ही दी जाती हैं, शेष कुण्ड कभी-कभी विशेष कार्य हेतु प्रयुक्त होते हैं। अतः सैकड़ों सहस्रों कुण्डों की कल्पना मूर्खतापूर्ण एवं अवैदिक है। यह द्रव्य का दुरुपयोग व कर्मकाण्ड का दूषण है तथा धर्म भीरू जनता का धन लूटने का एक तरीका है।

श्रौत यज्ञ-जिन यज्ञों का वेदों में साक्षात् वर्णन है, वे श्रौतयज्ञ कहलाते हैं। श्रौतयज्ञ देवकर्म है मानुष नहीं, सृष्टि रचना रूप को अग्नि, वायु, आदित्य, आपः, आकाश, आत्मा, प्राण, आदि अनेक देवों ने जिस प्रकार विविध कर्मों में सम्पादित किया और कर रहे हैं, उन्हें ही श्रौतयाग कहते हैं। इनके द्वारा देव अमृत अर्थात् जीवन या सृष्टि जीवन का उत्पादन व उसकी रक्षा निरन्तर करते रहते हैं और अवधि से पूर्व इसे नष्ट नहीं होते देते। वेदों में मनुष्य को इन्हीं देवकृत्यों का अनुसरण करने का उपदेश दिया गया है, इसी से उसका समय सफल होगा। **''यद् देवा अकुर्वन् तत् करवाणि।''** अर्थात् जो देवों ने किया वही हम करें, यह वैदिक कर्मकाण्ड का मूल मन्त्र है।

मनुष्यों के अनुकरणार्थ ही कर्मकाण्ड विशेषज्ञ ऋषियों ने देवों और उनके कृत्यों का अभिनय लौकिक प्रतीकों के माध्यम से प्रत्यक्ष प्रदर्शन प्रणाली द्वारा कराने का विधान किया है,

यही श्रौत कर्मकाण्ड है। इन श्रौतयागों का अनुसरण करते हुए जब मनुष्यों ने अपने कर्मकाण्ड को रचा तो वह स्मार्त कर्मकाण्ड कहलाया, जिसका स्मृतियों में वर्णन मिलता है। मध्यकाल में कर्मकाण्डी आचार्य इस तथ्य को भूल गये थे।

अश्वमेध-अश्वमेध भी एक देव कृत्य है। उसे देवों ने किस प्रयोजन से किया इत्यादि, निम्नलिखित प्रमाणों से विदित होता है। यथा-प्रजापति की आँख अस्वस्थ होकर बाहर निकल पड़ी अश्व हो गयी, यही अश्व का अश्वत्व है। देवों ने अश्वमेध के द्वारा पुनः यथास्थान आरोपित कर दिया। यह प्रजापति को पूर्ण करना ही था सो वह भी सर्वांग पूर्ण हो जाता है जो अश्वमेध से यज्ञ करता है। यह सर्व की ही प्रायश्चित्ति है, सर्व की चिकित्सा है। (शतपथ १३.२.६.१)।

अब देखना है कि देवों का प्रजापति और अश्वमेध क्या है? इस विषय में शतपथ (१३.१.७.३; १३.३.२.११) में आया है कि ''अश्वमेध में इक्कीस सम्पादित होते हैं-बाहर महीने, पाँच ऋतुएं, तीन लोक और एक आदित्य ये सब मिलकर इक्कीस होते हैं। यही देव क्षत्र अर्थात् देवों का शासन विभाग है। वही सौभाग्य है। वही आधिपत्य है। वही आदित्य का सर्वोच्च स्थान है। वही ऐश्वर्य प्राप्त सम्राट् है। यही एक विंश (इक्कीस) है जो यह तपता है। यही अश्वमेध है। यही प्रजापति है। इसी प्रजापति नामक सम्पूर्ण यज्ञ को संस्कारित करके उसमें इक्कीस अग्निषोमीय पशुओं को नियुक्त करता है।'' इस प्रकार ये ही अश्वमेध के इक्कीस हैं।

अश्वमेध यज्ञ का अर्थ-''क्षत्रमश्व'' अर्थात् क्षत्रिय वर्ग अश्व है। ''क्षत्रं राजन्य''। क्षत्र का अर्थ राजन्य अर्थात् राजा लोग हैं। (शतपथ ब्राह्मण-१३.३.२.१) मेध का अर्थ है **''यज्ञ साधनभूतो सार रसः''** आज्य मेधः, मेधो वा आज्यम्। अर्थात् संगठन का साधनभूत सार भाग रस ही मेध है। जैसे घृत दूध का सार भाग है। अतः अश्वमेध का अर्थ हुआ ''राष्ट्रयज्ञ के साधनभूत क्षत्रियवर्ग का सार भाग राष्ट्र के स्वामी राजा के साथ प्रतिष्ठित शासन विभाग। इसको संस्कारित करके सर्वांग, समृद्ध बनाकर सार्वभौम एकछत्र साम्राज्य की स्थापना करना। इसीलिये क्षत्रिय **''यज्ञ उ वा एषः यदश्वमेधः''** अर्थात् यह जो अश्वमेध है सो क्षत्रिय यज्ञ है। (शतपथ-१३.२.१४.२) **''राजा वा एषः यज्ञानां यदश्वमेधः''** अर्थात् यह जो अश्वमेध है वह यज्ञों का राजा है। तात्पर्य यह है कि अन्य सब संगठनों का नियन्ता, रक्षक व संचालक क्षात्र संगठन या शासन तन्त्र ही है। तथा च **''राष्ट्रं वा अश्वमेधः।'' ''राष्ट्रे एते व्यायच्छन्तियेऽश्वम् रक्षन्ति।''** राष्ट्र ही अश्वमेध है। जो अश्व की रक्षा करते हैं वे राष्ट्र की व्याप्ति को बढ़ाते हैं। उसे सुव्यवस्थित करते हैं। जो बलहीन अश्वमेध करता है वह शत्रुओं द्वारा दूर फैंक दिया जाता है। अतः राष्ट्रपति राष्ट्र की रक्षा करते हुए उसे विस्तृत व सुदृढ़ करते हैं। यही अश्वमेध है। प्राचीन काल के समान आज भी राज्य कार्य में अश्व आदि पशुओं का महत्त्व यथावत् बना हुआ है और यन्त्रों की गतिशील शक्ति अश्व पशु तथा बल, वीर्य, ओज, पराक्रम, अस्त्र, शस्त्र तथा अन्य शासन व्यवस्था व युद्धोपयोगी पदार्थ अश्व के अन्तर्गत आ जाते हैं। अश्वमेध का अश्व इन सबका प्रतीक है। इन सबको संस्कारित करना अश्वमेध का प्रतिपाद्य है। इस प्रकार सूर्य, राष्ट्रपति, क्षात्र संगठन और अश्व पशु ये सभी अश्व हैं और इनका उपयोगी भाग मेध है। यह अश्वमेध यज्ञ राजनीति, अर्थनीति, दण्डनीति, विश्व-स्वशासन नीति आदि की उत्तम शिक्षा देता

है, जो इसमें सम्पादित होने वाली यज्ञ क्रियाओं से भलीभाँति विदित होता है, राजा और राज्य सबका संस्कार इसमें होता है। **''यजमानो वा अश्वमेधः''** राष्ट्र का स्वामी राजा, जो यजमान है, वही अश्वमेध (राष्ट्र का सार) है।

इस प्रकार स्पष्ट हुआ कि देव क्षत्र के कार्यकलापों का अनुसरण कर व्यवहार में मानुषी क्षत्र बल का फल प्राप्त करना अश्वमेध है। जैसाकि ब्राह्मणकार स्वयं ही अश्वमेध के लाभ बताता हुआ कहता है।

एष वै प्रभूर्नाम यज्ञः। यत्रैतेन यज्ञेन यजन्ते। सर्वमेव प्रभूतं भवति। इसी प्रकार विभू, व्यष्टि, विधृति, व्यावृति, ऊर्नस्वान्त, पयस्वान, ब्रह्मवर्चसी, अतिव्याधी, दीर्घ, क्लृप्ति और प्रतिष्ठा ये बारह अश्वमेध के यौगिक नाम हैं। इनसे क्रमशः प्रभूत ऐश्वर्य, विविधता प्राप्ति, व्यवस्थित कार्य विभाजन, सामर्थ्य, स्वस्थान में प्रत्येक की नियुक्ति आदि फल प्राप्त होते हैं। अपि च-प्रजापति ने कामना की कि मैं शुभेच्छाएं पूर्ण करूँ सभी प्राप्तव्य प्राप्त करूँ। उसने इस त्रिरात्र यज्ञ अश्वमेध को देखा उससे यज्ञ किया और सब कामनायें पूर्ण कर सब कुछ प्राप्त किया। जो अश्वमेध से यज्ञ करता है उसकी सब कामनायें पूर्ण होती हैं। सभी प्राप्तव्य प्राप्त हो जाते हैं। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण में भूरिशः इसका प्रयोजन बताते हुए कहा गया है। सब कुछ प्राप्ति के लिये और सर्व सम्पूर्णता व समृद्धि को राष्ट्र में बनाये रखने के लिये अश्वमेध किया जाता है।

प्रजापति की आँख-प्रजापति की आँख अस्वस्थ मृत-सी होकर बाहर निकल कर गिर पड़ी वही अश्व है। सो उसका रहस्य यह है कि राष्ट्र का निरीक्षण विभाग शिथिल और प्रभाव शून्य हो गया। जब राष्ट्र के शासक की दृष्टि में दोष हो जावे। वह ठीक न देख सके या अन्धा ही हो जावे तो उसका परिणाम शत्रुवृद्धि और अराजकता ही होते हैं। इस एक अंग के अभाव में सम्पूर्ण प्रजापति मृत-सा ही हो जाता है। राष्ट्र में पाप की वृद्धि और ज्ञान की अवहेलना होने लगती है, यही ब्रह्महत्या है। इस कारण राष्ट्र का क्षत्रियवर्ग पथभ्रष्ट हो जाता है। यही तो प्रजापति की आँख थे सो अपने स्थान से भ्रष्ट हो गिर पड़े। अब विद्वान् लोगों ने इन्हें पुनः संस्कारित किया, चिकित्सा की, उन्हें ठीक करके पुनः यथास्थान प्रतिष्ठित किया। इस प्रकार विकलांग प्रजापति सर्व हुआ। यही आँख गिरने का रहस्य है।

जिस राष्ट्र को नष्ट करना हो वहाँ विद्वान् बुद्धिजीवी समुदाय की हत्या कर दो राष्ट्र स्वतः नष्ट हो जायेगा और जितने अधिक बुद्धिमान् शत्रु होंगे उतना ही शीघ्र नष्ट होगा। अश्वमेध राष्ट्र को नष्ट होने से बचाता है जैसा कि कहा है-**''पराऽस्य द्विषन् भातृव्यो भवति''** इससे द्वेष करने वाला शत्रु परास्त हो जाता है। जो अन्य प्रजावर्ग में विद्वान् पुरुषों की हत्या करते हैं अश्वमेध से उनकी चिकित्सा होती है। अश्वमेधयाजी सारी दिशाओं को जीत लेता है। अश्वमेध से सम्राट् बनने की महत्त्वकांक्षा भी पूर्ण होती है। इसके अतिरिक्त एक अन्य प्रयोजन से भी किया जा सकता है। इसका वर्णन इस प्रकार हैं-प्रजापति ने पुनः यज्ञ करने की सोची। उसने प्रयत्न किया तप तपा सो वह इतना थक गया कि उसका यशोवीर्य रूप प्राण निकलने लगा, वह मरणासन्न हो गया परन्तु उसका मन, जीवित व सशक्त रहा। सो इस कारण जो वह अश्वत् अर्थात् मरणासन्न था सो अश्व हो गया। उसने अपने को मेध्य बनाकर आत्यन्वी होने का संकल्प किया और हो गया, यही अश्वमेध का अश्वमेधत्व है। तात्पर्य यह है कि पराक्रमी पुरुष यदि यशोबल से हीन भी हो जाये और उसका मनोबल बनाये

रखते हुए शक्ति संचय करता रहे तो पुनः मृतप्राय राष्ट्र में प्राणों का संचार कर सकता है और विश्व सम्राट् बन सकता है। यह अश्वमेध यज्ञ से सम्भव हो सकता है। (शतपथ १०.४.२.३.७)

अश्वमेध विधि व्याख्या-अश्वमेध करने की इच्छा वाला अर्थात् क्षात्र संगठन का नियोजन व राष्ट्रों का एक सूत्र में बाँध कर विश्व सम्राट् बनने की इच्छा जिसे है वह सर्वप्रथम क्या करे यह बताते हैं।

१. **ब्रह्मौदन**-दीक्षा से एक दिन पूर्व ऋत्विक् वरण कर उन्हें घृत मिला भात खिलाता है। इसे ब्रह्मौदन कहते हैं। बचे हुए शेष घृत को अश्व बाँधने की रस्सी से चुपड़ता है। यह रस्सी दर्भ की होती है, इसे रशना कहते हैं। इसका तात्पर्य है कि जब कोई संगठनात्मक प्रवृत्ति अपना प्रभाव खो देती है तो उसे पुनः प्रभावशाली बनाना होता है। यह कार्य वही कर सकते हैं, जिनमें इस प्रकार की योग्यता हो। इन्हें ही ऋत्विक् कहा गया है। यह राजनीति का प्रकरण है अतः यहाँ राज्य शासन व्यवस्था के योग्य विद्वान् ही ऋत्विक् कहे गये हैं। इस प्रकार ज्ञान को रेत या वीर्य कहते हैं। ब्रह्मौदन उसी का प्रतीक है। राजा स्नेह पूर्वक इनका सत्कार कर इस महाकार्य में नियुक्त करें। क्योंकि सफलता दिखाने का सामर्थ्य इसमें ही है। ये विशेषज्ञ हैं। इसका वर्णन इस प्रकार है। "प्रजापति ने यज्ञ किया, उसकी महिमा निकल भागी और यहाँ ऋत्विक् में प्रविष्ट हो गयी। उसने इनकी सहायता से पुनः प्राप्त किया" इत्यादि।

२. **सुवर्ण दान एवं रशनाभ्यञ्जन**-ऋत्विकों को सुवर्ण दान में देता है। सो वह अश्व का वीर्य ही था जो निकल कर सुवर्ण बन गया था, सो इस क्रिया में अश्व में वीर्य का आधान करता है। क्षत्रियगण को पुनः वीर्यवान् बनाने की प्रक्रिया आरम्भ करता है। इसके पश्चात् शेष घृत को रस्सी से चुपड़ने का तात्पर्य है कि पशु को संस्कार एवं प्रशिक्षण देने के लिये बाँधना आवश्यक है। परन्तु बन्धन कष्टदायक होता है एवं परतन्त्र बनाता है। यहाँ राष्ट्र के क्षत्रियगण को बाँधना है उन्हें संस्कारित एवं आस्थावान् समर्पित, पराक्रमी व तेजस्वी बनाना यह बिना अनुशासन एवं प्रतिज्ञा बन्धन के सम्भव नहीं। बन्धन यदि स्नेहपूर्ण हो तो खटकता नहीं, दुःखों की ओर ध्यान न जाकर सहनशीलता व श्रद्धा बढ़ती है। खुरदरी रस्सी चुभती है पर चिकनी नहीं खटकती। हाथ से सहलाने और पुचकारने से, खिलाने-पिलाने से क्रूर पशु भी क्रूरता छोड़ देते हैं। बन्धन और अनुशासन के बिना दोष दूर नहीं हो सकते सो क्षत्रियों का प्रेमपूर्वक अनुशासन में बाँधने का यत्न ही इस रशनाभ्यञ्जन का तात्पर्य है। यह रस्सी १२ या १३ हाथ की होती है सो सम्वत्सर भी १२ या १३ माह का होता है। १३ वाँ अधिक मास संवत्सर का ककुद् है। सम्वत्सर ऋतुओं का ऋषभ है, अश्वमेध यज्ञों का ऋषभ है सो ऋषभ के ककुद्-उच्चांग को संस्कारित करता है। इसका तात्पर्य है कि जितना बड़ा राष्ट्र उतना बड़ा अनुशासन तथा राजा स्वयं भी अनुशासित हो, अपने पद को संस्कारयुक्त करे। रशना ग्रहण राष्ट्र की बागडोर ग्रहण करना है।

३. **वसतीवरी आपः ग्रहण**-मध्याह्न में चारों दिशाओं से लाये गये जलों का ग्रहण करता है और पूरे सत्र में इन्हें साथ रखता है। इसका तात्पर्य है अपने राष्ट्र में चारों ओर बसने वाली श्रेष्ठ प्रजा का जो राजा के प्रति निष्ठावान् एवं श्रद्धालु हो उसका इस महाकार्य में सहयोग लेना इससे वह राष्ट्र में अन्नों को रोकता है। "**प्रजा वै आपः**" आपः प्रजाओं की प्रतीक है। वह अन्नों का उत्पादन करती है। अतः उनका सहयोग बहुत आवश्यक है क्योंकि "**अन्नं साम्राज्यानामधिपतिः**" अन्न साम्राज्यों का स्वामी है इसलिये कहा "**दिक्षुवा अन्नम् आपो अन्नम् अन्नेनैवास्मान् अन्नम् अवरुन्धे।**"

४. **अश्वबन्धन**-अश्व को रस्सी में बाँधने से पूर्व ब्रह्मा के अनुसार मति प्राप्त करता है। ब्रह्मा, उद्गाता, होता और अध्वर्यु ये चार ऋत्विक् हैं। ये निरीक्षण समर्थ, कार्य-संचालन-समर्थ, प्रचार-प्रसार-समर्थ एवं रक्षण-समर्थ विद्वान् और मुख्य व्यक्तित्व हैं। राष्ट्र का सारा कार्यक्रम इनके ही परामर्श से चलता है। ब्रह्मा इनमें प्रमुख होता है। सो इन्हें प्रधानमन्त्री (ब्रह्मा) मानव संसाधन विकासमन्त्री (होता) सूचना प्रसारण संचारमन्त्री (उद्गाता) तथा रक्षा एवं गृहमन्त्री (अध्वर्यु) कहा जा सकता है। सो इसका यही तात्पर्य है कि बिना मन्त्रियों के परामर्श या विद्वानों से पूछे बिना कोई कार्य न करें। स्वयं आज्ञापालक होकर राज्य की प्रजा को तथा अपने राज्यकर्मियों को आज्ञा पालक बनावें।

५. **शुन उपप्लावन**-अश्व को रस्सी से बाँधकर जल छिड़क कर प्रोक्षण करते हैं और पानी में तैरते हैं। पश्चात् एक चार आँख वाला पागल कुत्ता मारकर घोड़े के पेट के नीचे से पानी में बहा देते हैं। वास्तव में यहाँ एक ऐसा पुतला लेना चाहिये जिसका शरीर आदमी और मुंह कुत्ते का हो तथा चार आँखें (दो असली और दो आँखों जैसे निशान) होने चाहिये।

इसका तात्पर्य है प्रजा अपने राजा का इस महाकार्य के लिये अभिषेक करती है और इस प्रकार राजा सभी विद्वज्जनों एवं साधारण जनों का इस हेतु अनुमोदन प्राप्त करता है और यह भाव व्यक्त करता है कि प्रजा में विचरता हुआ मैं श्वानवृत्ति दुष्ट पुरुषों को जो जाति द्रोही, व्यभिचारी, खुशामदी, दोहरे चरित्र के, वान्ताशी (उल्टी करके खाने वाले) टुकड़े पर ईमान बेचने वाले, वचन से मुकरने वाले लोगों को जनहित के लिये समाप्त कर दूंगा ज़ल में बहाने का तात्पर्य प्रजा में विचरने वाले दुष्ट को प्रजा में विचरने वाले वरुण अर्थात् गुप्तचर व पुलिस संस्था द्वारा चुन-चुन कर नष्ट करता है। इसके लिये कहा गया है कि ''अश्वमेध करना दुष्टों से वैर मोल लेना है।'' अश्ववज्र है सो इस वज्र (दण्ड साधन एवं न्याय-व्यवस्था) से दुष्टों का दमन कराना होता है।

अब अश्व को जल से बाहर निकाल कर जब तक शरीर से जल की बूंदे टपकती रहती हैं तब तक आहुतियाँ दी जाती हैं। इस प्रकार सहस्राहुति तक दी जाती हैं।

६. **सावित्री इष्टि**-तत्पश्चात् सविता देवता वाले मन्त्रों से तीन सावित्री इष्टियाँ की जाती हैं। ये तीन इष्टियाँ प्रतिदिन वर्षभर की जाती हैं। इन इष्टियों का प्रयोजन यह है कि राष्ट्राध्यक्ष राजा जिस कारण से कोई कृत्य करता है, वह तभी पूर्ण हो सकता है जब सारी प्रजा वही चाहे जो उनका राजा चाहता है। विजयाभिलाषी राजा की प्रजा में भी विजय की अभिलाषा व उत्साह ठाकें मारता हो यह आवश्यक है। इसके लिये राजा का सविता विभाग कार्य करे। सविता, देवों का प्रसविता, जन्मदाता, प्रेरणादायक है। वह लोक बुद्धि को प्रेरित कर उसमें दिव्यता या देवत्व का संचार कर देता है। वह प्रजा देवत्व से भर जाती है। वह सत्य के प्रति आस्थावान् एवं समर्पित हो जाती है। वह सत्य और न्याय के लिये प्राणोत्सर्ग करने को समुद्यत हो जाती है और इसी से यशस्वी रहती है तथा अपने सम्राट् को भी यशस्वी देखना चाहती है।

सम्राट् भी अपनी प्रजा की भावनाओं का आदर करता हुआ प्रतिदिन सविता परमात्मा से प्रेरणा प्राप्त कर सत्य और न्याय के प्रति पूर्ण समर्पित आस्थावान् हो। वह प्राणपण से अपनी प्रजा में यह विश्वास बैठा दे कि उनका सम्राट् देव है और वह जो कर रहा है प्रजा के हित व लोककल्याण के लिये कर रहा है। यही सावित्री

इष्टि का रहस्य है। यथा **प्रजापति अश्वमेधमसृजत्**....(शतपथ १३.१.४.१) से स्पष्ट है। अर्थात् प्रजापति ने अश्वमेध रचा वह इससे दूर चला गया। तब दोनों ने उसे खोजने की इच्छा से इष्टियों द्वारा उसका पीछा किया और पुनः उसे प्राप्त किया। सो जो इष्टियों से यजन करते हैं सो उस मेध्य अश्व को यजमान पुनः पाना चाहता है, अतः निरन्तर एक वर्ष तक इस प्रकार प्रजा को प्रेरित, उत्साहित सन्नद्ध करता रहता है।

७. **धृतिहोम**-सावित्री इष्टि के साथ प्रतिदिन धृतिहोम भी होता है। प्रातःकाल इष्टि की जाती है और सायंकाल धृति होम किया जाता है। इसका तात्पर्य है राष्ट्र से बेरोजगारी दूर करना और प्रजा के योगक्षेम की अच्छी व्यवस्था करना, इसके बिना कोई प्रेरणा प्रभावशाली नहीं हो सकती। इष्टि से योग अर्थात् अप्राप्त की प्राप्ति और धृतियों से प्राप्त की रक्षा व सम्यक् उपयोग होता है।

८. **गाथा-गान**-इस कृत्य में दो बीणावादक गायक जिनमें एक ब्राह्मण होता है, दूसरा क्षत्रिय, वीणा बजाकर वर्ष भर प्रतिदिन गाथा गान करते रहते हैं। ये दोनों साथ-साथ नहीं गाते। एक दिन में गाता है दूसरा रात में। ब्राह्मण गायक दिन में और क्षत्रिय गायक रात में गाता है। ब्राह्मण गाता है ''**अयजत**'' अर्थात् यज्ञ करो और क्षत्रिय गाता है ''**अजयत**'' अर्थात् विजय प्राप्त करो। ब्राह्मण का इष्टापूर्त वीर्य है वह इनसे राष्ट्र को समृद्ध करता है। क्षत्रिय का वीर्य युद्ध है सो वह पराक्रम से राष्ट्र को समृद्ध करता है। इसका तात्पर्य ब्राह्मणकार बताता है कि जो अश्वमेध से यज्ञ करता है वह अपगत श्री हो जाता है और जब उसे श्री प्राप्त होती है तब वीणा बजाता है। वीणा वादक वर्षभर जो गाते हैं सो यजमान में श्री को धारण कराते हैं। वह वीणा श्री का रूप है। (शतपथ १३.१.५.२)

भाव यह है जब विजयाभियान चलेगा तो धन का व्यय बढ़ेगा और समृद्धि न्यून होगी, जन हानि और चिन्ता भी राष्ट्र व्यापी होती है। उसके निराकरण के लिये राष्ट्र में एक वातावरण बनाने की आवश्यकता होती है। वातावरण बनाने में गायन, वादन, संगीत, नाटक और गाथा आदि का बहुत बड़ा प्रभाव होता है। यहाँ मीडिया या प्रचार माध्यम का महत्त्व बताकर राष्ट्रहित में उसके उपयोग की चर्चा की गयी है। यहाँ दो प्रकार का वातावरण तैयार करना है एक पुरुषार्थ, कर्म एवं श्रम के प्रति रुचि का आदर का तथा भगवद्भक्ति एवं त्याग का और दूसरा पराक्रम, विजयेच्छा, उत्साह एवं वीरत्व का। अतः ब्राह्मण यज्ञगान अर्थात् कर्म एवं श्रम की प्रशस्ति गाता है, पुरुषार्थ भक्ति का वातावरण बनाता है। परन्तु क्षत्रिय जयगान गाता है और पराक्रम से ब्राह्मण द्वारा उत्पादित पदार्थों की रक्षा करता है। पुरुषार्थहीन भक्ति काम चोरों और हरामखोरों की वृद्धि करती है। केवल विजयगान लूटपाट और अराजकता उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार केवल श्रमगीत एवं भक्तिगीत गाने से कमाता कोई और है और भोगता कोई और है। अतः केवल ब्राह्मण या केवल क्षत्रिय असमय का अलाप कर राष्ट्र की श्रीसमृद्ध नहीं कर सकते। किन्तु दोनों समय से गाकर ही ऐसा कर सकते हैं।

९. **अश्वकर्ण में जप**-तृतीय सावित्री इष्टि में अध्वर्यु और यजमान अश्व के कान में एक मन्त्र जपते हैं। इसमें अश्व की महिमा का वर्णन है। सो इसका भाव है कि राष्ट्र के क्षत्रिय वर्ग को उसके महत्त्व और शक्ति का बोध कराया जावे, उनके साथ अपनत्व उत्पन्न किया जांवे उनका नाम लेकर पुकारना और यह सम्बन्ध बताना कि पृथिवी हम सबकी माता और द्यौ पिता है। अतः हम सब भाई-भाई हैं। यह राष्ट्र हम सबका है इत्यादि ऐसा व्यवहार प्रदर्शन करना जिससे प्रत्येक क्षत्रिय अपने राजा को अपने ही समान और अपना ही समझे।

राजा के शत्रु को अपना ही शत्रु समझे। प्रशंसा, प्रोत्साहन, अपनत्व व आदरभाव राजा और राष्ट्र दोनों को सुदृढ़ करता है यह मनोवैज्ञानिक रहस्य है। इसीलिये इस कृत्य का फल बताया है कि शिष्ट और अनुशासित प्रजा उत्पन्न होती है।

१०. आशापालों की नियुक्ति-अब अश्व को छोड़ने से पूर्व उसकी रक्षा हेतु सौ विवाहित ऐसे राजपुत्रों को नियुक्त करता है जो राजा के समीप सम्मानपूर्वक बराबर बैठने की क्षमता रखते हों। इन्हें आशापाल कहा जाता है। सो इसका तात्पर्य राष्ट्र रक्षा में विश्वासपात्र लोगों को नियुक्त करना ही है।

११. अश्वमुञ्चन- अश्व के कान में मन्त्र जपकर सौ अन्य अश्वों के साथ छोड़ दिया जाता है। वर्षभर यथेष्ट विचरता है, स्वेच्छा से आगे बढ़ता है परन्तु पीछे नहीं लौटने देते। अश्व को पानी में नहीं घुसने देते तथा मादा से नहीं मिलने देते। इसका तात्पर्य है कि विजययात्रा पर निकले सेनापति व सेना के वीर क्षत्रिय युद्धक्षेत्र में अभीष्ट सिद्धि पर्यन्त आगे ही बढ़ते रहते, पीछे नहीं लौटते, पीठ नहीं दिखाते और संयमपूर्वक रहते हैं। जन सम्पर्क और मोहमाया से दूर रहकर ही सफलता सम्भव है, अन्यथा नहीं। ''**राज्यस्य मूलम् इन्द्रियजयः**''-(कौटिल्य) पत्नी, बच्चों इष्ट मित्रों के मोह तथा संयम हीनता से कर्त्तव्यच्युत होकर पराजित होने की पूरी सम्भावना रहती है।

१२-पारिप्लवाख्यान- अश्व छोड़ने के पश्चात् कशिपु नामक आसन विशेष दक्षिण वेदी पर बिछाकर होता बैठता है उसके दाहिने और यजमान दर्भ के आसन पर बैठता है, दक्षिण में ब्रह्मा और उद्गाता बैठते हैं। अब होता पारिप्लव नाम आख्यान सुनाता है। यह दस दिन तक चलता है। इसमें एक ही राजा के दस भिन्न रूप, अधिकार एवं कर्त्तव्यों का बोध कराया गया है तथा दस प्रकार की प्रजा का वर्णन किया गया है।

१३-प्रक्रम होम-अब दीक्षा ग्रहण के समय प्रक्रम होम करता है। चार उद्भ्रमण की तथा तीन वैश्वदेव कुल सात-सात के क्रम से दक्षिणाग्नि में ४९ आहुतियाँ दी जाती हैं इनका सम्बन्ध दीक्षा से है सो वहीं इसका रहस्य कहेंगे।

१४-दीक्षा-दीक्षा का अर्थ है निश्चित अवधि के लिये किसी नैमित्तिक कार्यविशेष के लिये नियुक्त हो जाना और प्रमाद रहित हो उसे समय पर पूरा करने में प्राणप्रण से लगे रहना। अश्वमेध में वर्ष भर में २१ दीक्षाएं होती हैं। इसका तात्पर्य है दिनचर्या नियत कर ठीक-ठीक कार्य विभाजन करना तथा विभागों का पुष्टीकरण समय पर करते रहना। बड़े कार्यों में योजनाहीन, अस्तव्यस्त रहने, दिनचर्या के बिगड़ जाने से स्वास्थ्य खराब होता है। क्षीणता आती है तथा सभी कार्य बिगड़ जाते हैं। अतः दीक्षा से दक्षता प्राप्त करते हैं।

१५-पर्यंग पशु निरूपण-अश्व के वापस लौट आने पर अहीन सोमयाग का आयोजन किया जाता है, इसमें १३ दीक्षा १२ उपसद् और तीन सुत्या होती है। इस समय २१ यूप (खूँटा) गाड़े जाते हैं। उसमें पशुओं को बाँधा जाता है। बीच-बीच में आरण्य पशु-पक्षी भी रखे जाते हैं। पशु पक्षियों को रखने का तात्पर्य यह है कि राष्ट्रोत्पत्ति में पशु-पक्षियों का भी महत्त्व स्वीकार किया जाता है। रात को अन्न होम किया जाता है जो सत्तू, धाना, लाजा और घी से होता है। इसका प्रयोजन देवों और विद्वानों को प्रसन्न करना है। अश्व के सारे शरीर पर रस्सी लपेट देते हैं। फिर उसमें एक क्रम से पशुओं को बाँधते हैं। यही पर्यंग पशु निरूपण है। फिर इक्कीस यूपों में पन्द्रह-पन्द्रह पशु बाँधते हैं और एक में सत्रह पशु बाँधते हैं। आरण्यक पशुओं को अग्नि के चारों ओर घुमाकर छोड़ दिया जाता है। ग्राम्य पशु ही ग्रहण किये जाते हैं।

इस सम्पूर्ण कृत्य के द्वारा राज्य व्यवस्था को सर्वाङ्ग पुष्ट और स्वस्थ बनाकर प्रजा को व्यवस्थित बसाने की शिक्षा दी गयी है। विस्तार भय से हम उसे यहाँ नहीं दे पा रहे हैं। प्रजापति ने कामना की कि दोनों लोकों पर विजय प्राप्त करूँ, पृथिवीलोक पर और देवलोक पर। उसने दो प्रकार के पशुओं को देखा ग्राम्य और आरण्य। सो ग्राम्य पशुओं को पृथिवी के लिये प्राप्त किया और आरण्य पशुओं को देवलोक के लिये। ग्राम्य पशुओं को बाँधने का भाव यह है कि लोग मार्गों में मिलकर चलें तथा ग्राम के समीप ग्राम बसें और लोग मिलकर रहें। परन्तु जो आरण्य हैं वे रीछ, शेर, व्याघ्रादि सब चोर, तस्कर, डाकू, हत्यारों के प्रतीक हैं। इन्हें तो वन में ही रहना ठीक है अत: छोड़ देता है। ये ग्रामवासियों के मध्य न आने पावें। जैसे आरण्य पशु ग्राम्य पशुओं की तरह उपयोगी नहीं हैं वैसे ही वे लोग ग्राम्य जनों के शत्रु हैं। परन्तु यदि इन्हें शासित करके उपयोगी बनाया जा सके तो बना सकते हैं। यह कार्य देवों अर्थात् विद्वानों का है। इन्हें वे ही वश में करने की युक्ति जानते हैं। आरण्य में ही हमारे तपस्वी विद्वान् अनुसन्धान, अध्ययन, अध्यापन व तपश्चर्या करते हैं। अन्यथा राष्ट्र का ब्रह्म बल समाप्त हो जायेगा इत्यादि उत्तम शिक्षा इस प्रकरण में प्राप्त होती है।

१६-अश्व संज्ञपन-आज अश्व अर्थात् क्षात्र संगठन दिग्विजय कर वापस लौटा है। अत: सर्वप्रथम उसका उल्लास पूर्वक स्वागत होगा। वह थका हुआ है, घायल और क्षीण है। पर्याप्त जन धन की हानि उठानी पड़ी है। अत: उसे उपचार और चिकित्सा की आवश्यकता है। पश्चात् परिजनों से स्नेहालाप सम्मिलन भी होता है। तत्पश्चात् राष्ट्र को पुन: व्यवस्थित करने, समृद्ध व सुदृढ़ बनाने, विभागों का वितरण, पारिश्रमिक, पुरस्कारादि प्रदान करना तथा राष्ट्र के उपयोगी भाग को कहाँ-कहाँ लगाना इत्यादि प्रशिक्षण कार्य चलेगा। यह सब कार्य प्रतीकों के द्वारा किया जाता है।

अत: अश्व को जल से प्रोक्षण कर बेंत की चटाई पर वस्त्र बिछाकर सुवर्ण खण्ड पर रख कर लिटा देते हैं। अब उसे चार प्रकार की पत्नियाँ सहलाती हैं तथा पंखा करती हैं। पत्नियाँ सुइयों से उसे खुजलाती हैं। इस प्रकार राष्ट्र को श्री समृद्ध और प्रजा से समर्थ करती हैं।

यहाँ कुछ लोग कहते हैं कि संज्ञपन से घोड़े को जान से मार देते हैं और उसकी मेद से अग्नि में आहुतियाँ देते हैं, यह ठीक नहीं है। ब्राह्मणकार के कथन को न समझकर यह मूर्खता प्रचलित हो गयी है। वह कहता है-''**घ्नन्ति वा एतत् पशुम् यदेनं संज्ञपयन्ति**'' अर्थात् यह जो इस अश्व का संज्ञपन करते हैं सो यह पशु को मारते हैं। यहाँ अश्व को मारने की बात नहीं है किन्तु अश्व में जो पशु अर्थात् अनुपयोगी अंश है उसे मारकर संस्कृत करना है तभी वह राष्ट्र यज्ञ में आहुति के योग्य होगा। अश्व मर जायेगा तो राष्ट्र मर जायेगा। अत: कहते हैं **प्राणाय-स्वाहाऽपानाय स्वाहा, व्यानाय स्वाहा** इत्यादि। यहाँ पर स्पष्ट लिखा है कि वह अश्व में प्राणों का आधान करता है यथा- ''**प्राणानेवास्मिन् एतद्दधाति**'' (शत०१३.२.२.२) **अपि च तथो हास्यैतेन जीव तैव पशु नेष्टम्भवति**'', अर्थात् तथ्य है कि जीवित पशु के द्वारा ही यहाँ कार्य करना अभीष्ट है। यहाँ हरिस्वामी ने मूर्खतापूर्ण व्याख्या की है कि उत्क्रान्त प्राण होने के बाद ही तो प्राणों का आधान सम्भव है। हमारा कहना है कि फिर तो मृत अश्व पुन: जीवित हो जाना चाहिये। **वास्तव में उत्क्रान्त प्राण का अर्थ उखड़े प्राण अर्थात् थका, घायल व बेहोश है।** अत: अश्वमेध यज्ञ में घोड़ा नहीं मारा

जाता। राजा और राष्ट्र तथा प्रशासन व सैन्यबल सबकी राष्ट्र यज्ञ में आहुतियाँ देने के योग्य मेध्य बनाना ही संज्ञपन है।

१७-चार पत्नियाँ-अश्वमेध में चार पत्नियाँ अपनी अनुचरियों के साथ नियुक्त की जाती हैं तथा पाँचवीं एक कुमारी होती है, इनके नाम है- महिषी, परिवृक्ता, वावात तथा पालागली। ये राजा की रानियाँ नहीं हैं, अपितु राष्ट्र की रक्षिका संस्थाओं की प्रतीक हैं। ये क्रमशः भू-संरक्षण एवं प्रबन्ध संस्था, महासभा, कार्यकारिणी तथा गुप्तचर संस्था की प्रतीक हैं। कुमारी शिक्षा विभाग एवं एम्पलायमेण्ट संस्था है। शेष अनुचारियाँ इन्हीं की पूरक व पोषक-उप संस्थाओं की प्रतीक हैं। ये सभी एक स्थान पर बैठकर राजा के साथ व्यवस्था सम्बन्धी बातचीत परामर्शादि करती हैं। इसे न समझकर महीधर, सायण व हरिस्वामी ने मूर्खतापूर्ण प्रलाप किया है।

१८-वपा होम-देवों को प्रसन्न करने अर्थात् विद्वानों की राष्ट्र के लिये सहानुभूति सदाशयता व सहायता पाने हेतु स्वयं का अंशदान करना ही वपा होम कहलाता है, सो आज्य अर्थात् घी से ही करना चाहिये, क्योंकि आज्य ही मेध है और देवों का प्रियधाम है। यहाँ आज्य अश्व की वपा (चर्बी) का प्रतीक है, अतः इसे वपा होम कहा जाता है। अर्थात् राष्ट्र का सार भाग राष्ट्र हित में प्रदान करना। जब राष्ट्र, उत्पादन और संरक्षण हेतु श्रम करना है तब शरीर की वपा (चर्बी) की ही आहुति लगती है। उसे घृतादि खाकर पूरा करते हैं, सो यह वही कृत्य है। विजय के पश्चात् क्षतिपूर्ति करना ही वपा होम है।

१९-ब्रह्मोद्य-इसके पश्चात् ज्ञान चर्चा होती है। राष्ट्र के शिक्षा संस्थाओं के समुन्नत और विकसित बनाने का परामर्श, योजना निर्माण और तत्त्वज्ञान का उपयोग यह सब ब्रह्मोद्य है इससे राष्ट्र ब्रह्मवर्चस्वी होता है। युद्ध के पश्चात् ही यह सब सम्भव हो पाता है। जब उदर भरा हो और वातावरण शान्त हो। वैज्ञानिक अनुसन्धान भी तभी सम्भव हो पाते हैं। अतः इस कृत्य में ऋत्विकों और यजमान के प्रश्नोत्तर होते हैं।

२०-अभिमेथन-यह एक दूषित कृत्य वैदिक धर्म विरोधी लोगों द्वारा बाद में जोड़ दिया गया है। रानियों से अश्लील हंसी मजाक आदि ऋत्विकों द्वारा करने का वर्णन है सो सब धूर्तकृत्य है। इसे शतपथ में परिशिष्ट कहा गया है। अतः यह प्रक्षेप है। यथा **यथाद्रिगो परिशिष्ट भवति**... इत्यादि अतः यह अश्वमेध का भाग नहीं है।

२१. अवभृथ स्नान एवं दक्षिणा-अब यज्ञ समाप्त हो रहा है। अवभृथ स्नान के पश्चात् अनुबन्ध्या इष्टि करके उदवसानीया नामक इष्टि करते हैं। पश्चात् दक्षिणा प्रदान की जाती है। इस समय चारों पत्नियाँ व अनुचरियाँ एक निश्चित क्रम में ऋत्विकों के पास खड़ी की जाती हैं क्योंकि ये उन्हीं से सम्बन्धित संस्थाओं की प्रतीक होती हैं। अतः दक्षिणा के समय ऋत्विकों को धनादि देकर उन रानियों व अनुचरियों को भी उन्हें सौंपते हैं। इसका आशय न समझकर सायण व हरिस्वामी और अन्य कई आचार्यों ने इस प्रकरण का अर्थ किया कि यजमान रानियों और अनुचरियों को दक्षिणा के रूप में ऋत्विजों को दे देता है। यह नासमझी है। देखो उद्वसानीय इष्टि में स्थित चार जाया, पाँचवीं कुमारी और १०४ अनुचारियों को जैसे जिनके साथ नियुक्त किया गया है उसी अवस्था में दक्षिणा स्वरूप द्रव्य प्रदान करता है। यह है इसका वास्तविक अर्थ न कि स्त्रियों को ही दान में दे देता है।

इस प्रकार अश्वमेध कृत्य का संक्षिप्त परिचय कराया गया है। बहुत सी क्रियाएं छूट गयी हैं। मुख्य-मुख्य का ही ग्रहण किया गया है। इस

अश्वमेध में सम्पूर्ण राजनीति, सार्वभौम शासन व्यवस्था आदि का उत्तम शिक्षण प्रतीकों के माध्यम से दिया गया है। अश्वमेध का अर्थ है-पृथ्वी के सभी अच्छे राजाओं का प्रजा के सहयोग से विनियोग कर विश्व साम्राज्य का एक सर्वसम्मत सम्राट् अभिषिक्त करना इत्यादि। वाममार्गी काल में वैदिक यज्ञों का स्वरूप भ्रष्ट कर दिया गया और उसमें हिंसादि का प्रक्षेप कर दिया गया, अश्वमेध में जो घोड़ा मारना, चर्बी व मांस की आहुति देना, रानी का मृत अश्व के साथ सहवास कराना तथा रानी और अनुचरियों को ऋत्विकों को दान का देना लिखा है वह सब धूर्तों का प्रक्षेप ही समझना चाहिये। मध्यकालीन कर्मकाण्डीय कर्मकाण्ड का आशय ही नहीं समझते थे इसमें कोई सन्देह नहीं। अन्यथा यह विदूषण हो ही नहीं पाता। इस युग में मात्र महर्षि दयानन्द सरस्वती ही एक मात्र विद्वान् हुए हैं, जिन्होंने वैदिक कर्म का वास्तविक स्वरूप और रहस्य समझा और उसकी उपयोगिता जानने का मार्ग प्रशस्त किया।

Vaidika Vāg-Jyotiḥ
ISSN 2277-4351
Vol.1, No.1 (154-160) Jul-Dec 2012

यज्ञों में पश्वालम्भनिषेध

अ०सी० विश्वनाथ श्रौती
महाराष्ट्र

*(इस महत्त्वपूर्ण निबन्ध के लेखक अ०सी० विश्वनाथ श्रौती, शृंगेरी पीठाधीश सिद्धिप्राप्त स्वामी श्री अभिनव विद्यातीर्थ तथा महाराष्ट्र के सोलापुर मण्डल में स्थित अक्कलकोट (प्रज्ञापूर) वासी परमसद्गुरु श्री गजानन महाराज के शिष्य और अरिभित्तुर सीताराम यज्व के पुत्र थे। यह लेख उक्त लेखक ने संस्कृत में **पश्वालम्भनिषेधः यज्ञेषु** नाम से १९१५ शक सम्वत् में लिखा था। इसकी महत्ता को देखकर महान् वैयाकरण विद्यावारिधि आचार्य विजयपाल शास्त्री जी ने इसका अनुवाद किया, जिसका प्रकाशन वैदिक संशोधन मण्डल पूना से १९१६ शक सम्वत् में हुआ था-सम्पा०)।*

यज्ञों में पश्वालम्भ के विषय में वेदसम्मत युक्तियुक्त धर्म निर्णय को सुनो। यह सर्वविदित है कि भारतीयों का शाश्वत धन वेद ही है। वेद के अर्थ पर विचार करने वाली मीमांसा दो प्रकार से प्रवर्तित हुई है-पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा। इनमें से पूर्वमीमांसा जो कि यज्ञों से सम्बन्धित है- **''आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्''** (वेद के वचनों का प्रयोजन कर्म (=यज्ञ) है, जो कि वचन कर्मार्थ नहीं वे अनर्थक हैं) ऐसा कहती है अतः उत्कृष्ट है। सृष्टि के आरम्भ से लेकर आज तक उपनयन के पश्चात् अध्ययनादि छह कर्मों में संलग्न याज्ञिक लोग प्रसन्नतापूर्वक यज्ञ कराते रहे हैं। फिर भी समयानुसार कहीं-कहीं मतभेद उत्पन्न हो गया। कुछ धर्म तो युग के अनुरोध से निकाल दिये गये। और कुछ धर्म पूर्वाचार्यों ने ही ये कलियुग में वर्जित हैं, ऐसा मानकर छोड़ दिये जैसा कि ''वशामालभेत'' (वन्ध्या गौ का आलम्भन करें) इस प्रकार वेद विहित यज्ञों में से गौ आदि पशुओं द्वारा साध्य यज्ञों में गौ आदि का आलम्भन करना वर्जित है इत्यादि। यह निषेध तो कलियुग के आरम्भ के समय में ही निश्चित हो गया था। इसके बाद ही कुछ अपने को आस्तिक समझने वाले याज्ञिक उल्लिखित निषेध की अवहेलना करके, बकरों का उपालम्भन करते (मारते) हुए अपने सीधे-साधे आश्रित लोगों को ठगते हैं, 'हम वैदिक कर्म की रक्षा करते हैं' ऐसे आडम्बरयुक्त वचन बोलते हैं और यज्ञों में बकरों की हत्या से अपने आप को कृतकृत्य मानते हुए शिखरस्थ से दिखायी देते हैं।

बहुत समय तक इस भारत देश पर वेद से अनभिज्ञ विदेशी यवनों ईसाइयों ने शासन किया, फिर भी उन शासकों ने वैदिक धर्म के विषय में कोई हस्तक्षेप नहीं किया। जब यह देश फिर से विदेशी शासन से मुक्त होकर स्वतन्त्र हुआ, तब हमारे शासक भारत देश में वर्णविभाग से रहित धर्म का उपदेश देने लगे। यहाँ हम वैदिक लोग सर्प की दाढ़ में फंसे हुए मेंढकों के समान व्यवहार कर रहे हैं। ऐसी दशा में कुछ सनातन धर्म के अनुयायी लोग जो याज्ञिक मार्ग में कलि में वर्जित

प्रकरण वाले "**शामित्रं चैव विप्राणाम्**" (ब्राह्मणों के द्वारा शामित्रयज्ञ में पशु को मारना इस प्रमाण की उपेक्षा करते हुए पश्वालम्भनरूपी पिशाच से अभिभूत है, साक्षर आस्तिक लोगों को उल्टा बोध कराते हुए अपने को शिखरस्थ मानते हुए दिखायी पड़ते हैं। मात्र शास्त्र से सिद्ध याज्ञिक कर्मों के आवाप और उद्वाप को अवकाश ही नहीं है। जहाँ-जहाँ साक्षात् वाक्य है वहाँ-वहाँ दृष्टानुसार विधि होती है, इसमें कोई संशय नहीं है। उस प्रकार के प्रत्यक्ष वाक्य के उपलब्ध न होने पर न्याय अथवा विधि के अनुसार पदार्थों को सम्पादित कर लेना चाहिये। जैसा अभिचार (शत्रुवध) विषयक श्येनसोमयाग में "**रक्तोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरेयुः**" (लाल पगड़ी वाले ऋत्विक् आहुति देवें) इस प्रकार प्रत्यक्ष वाक्य से लाल कपड़े से शिर को लपेटने का विधान किया है, जो अन्य यज्ञों में नहीं होता। उसी श्येनसोमयाग के तृतीय सवन में यज्ञायज्ञीयस्तोत्र के समय सभी सोमयागों की प्रकृति ज्योतिष्टोम के अतिदेश से प्राप्त साधारणतः भी शिर को लहना सब को करना चाहिये। ऐसी स्थिति में प्रातःकाल से लेकर शिर से लाल कपड़ा बाँधने वाले ऋत्विजों को यज्ञायज्ञीय के समय पुनः शिरोवेष्टन करना शक्य नहीं, क्योंकि उन्होंने पहले से ही शिर पर लाल वस्त्र लपेट रखा है। इसलिये विधि के अनुसार यज्ञायज्ञीय कालिक शिरोवेष्टन को बांध करके श्येनसोमयाग में सुत्या के दिन सुबह से लाल पगड़ीवाले ऋत्विज ही प्रातःसवन से तृतीय सवन तक अनुष्ठान करें, फिर से शिरोवेष्टन न करें, ऐसा विधान श्रुति करती है।

इस प्रकार विभिन्न कालों में सम्पन्न होने वाले याज्ञिक कर्मों में सामान्य पश्वालम्भादि को बाधकर कलियुग में "**अश्वालम्भं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम्। देवरेण सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेत्**"॥ (अश्वालम्भ, गवालम्भ, संन्यास, पलपैतृक और देवर से पुत्रोत्पत्ति ये पाँच कर्म कलियुग में छोड़ दे) इस प्रकार स्मृति ने स्पष्ट शब्दों में अग्नीषोमीयादि पश्वालम्भन का निषेध किया। आजकल याज्ञिक मूर्धन्य गवालम्भन शब्द में स्थित गो शब्द से गोजातिमात्र का ग्रहण करते हुए यज्ञकर्म में बकरों आदि का आलम्भन करते हैं। कहीं कहीं तो गौ के अर्थ में बकरों का ही आलम्भन करते हैं। यह ठीक नहीं है, क्योंकि '**कौओं से दही की रक्षा करो**' ऐसा कहने पर काक शब्द केवल कौवे के अर्थ में ही नहीं है, किन्तु दही की हानि करने वाले बिलाव आदि का भी बोधक है। उसी प्रकार यहाँ भी गौ शब्द बकरे आदि का उपलक्षण है। इसलिये कलियुग में गवालम्भन का निषेध होने पर बकरे आदि का निषेध सिद्ध होता है।

इसी प्रकार '**गो ब्राह्मणेभ्यो शुभमस्तु** नित्यम्' (गौ ब्राह्मणों का सदा कल्याण हो) इत्यादि में भी गौ शब्द गौ आदि सातों ग्राम्य पशुओं का और ब्राह्मण शब्द ब्राह्मणादि चारों वर्णों का बोधक है, ऐसा जानना चाहिये। कुछ लोग तो गौ ब्राह्मण शब्दों को गौ मात्र ब्राह्मण मात्र का बोधक मानकर लोकविद्वेष के भय से इस पाठ को ही छोड़ देते हैं। "**अदीक्षिष्टायं ब्राह्मण**" (यह ब्राह्मण दीक्षित हुआ) इत्यादि मन्त्रोच्चारण काल में विद्यमान ब्राह्मण शब्द भी तीन वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) का बोधक है, आपस्तम्ब श्रौतसूत्र में (प्र०१०, खं०११ सूत्र ६) "**ब्राह्मणो वा एष जायते यो दीक्षते**" (जो दीक्षा लेता है, वह ब्राह्मण हो जाता है। इत्यादि से यह सुस्पष्ट हो जाता है और भी "**अनिर्दशायाः गोः पयः**" (अनिर्दशा गौ का दूध) इत्यादि से अभक्ष्य प्रकरण में भृगु प्रोक्त मनुधर्मशास्त्र के पञ्चमाध्याय के अष्टम श्लोक में अनिर्दशा गौ के दूध का निषेध किया है, इसका अर्थ यह है नव प्रसूत गौ के जब तक दश दिन न

बीत जायें तब तक उसका दूध नहीं पीना चाहिये। ग्यारहवें दिन से ही हवि के लिये या पीने के लिये उसका दूध लेना चाहिये यह निष्कर्ष निकला, जैसा कि श्रुति में भी है-तस्माद्वत्सं जातं दशरात्रीर्न दुहन्ति' (तै०ब्रा०अष्ट०२ प्र०१ अ०१) (बछड़ा उत्पन्न होने पर दश दिन तक दोहन नहीं करें) इस श्रुति का आश्रय लेकर ही भार्गवमनुस्मृति के व्याख्याकार मेधातिथि, गोविन्दराज, कुल्लूक भट्ट आदियों ने भी **अनिर्दशायाः गोः पयः**' इस वाक्य में गौ शब्द अजादि का उपलक्षण है, ऐसी व्याख्या किये हैं। इसलिये प्रवर्ग्य में जहाँ अजा का दूध स्वीकार किया जाता है वहां दश दिन पूर्व ब्याई हुई बकरी का ही दूध लेना चाहिये, यह निश्चित होता है। समयवश ही दश दिन के पहले गौ और अजा के दूध का निषेध है। ग्यारहवें दिन दोषकारक नहीं होता। दश दिन से पहले निषेध किये गये दूध के समान जब तक कलियुग काल है, तब तक हवि के लिये निषिद्ध गोमांस के समान अजामांस का निषेध भी प्राप्त है ही। पुनः कृतयुगादि में यह दोष नहीं है, ऐसा ज्ञात होता है। इसको न विचार कर गौ शब्द के वाच्यार्थ को ही लेकर, कलियुग में गौ के ही वध का निषेध है ऐसा कहने वालों में और "**काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्**" इस वाक्य में काक शब्द से केवल कौआ अर्थ ग्रहण करने वालों में क्या भेद है ? अरे, कलियुग में वेद की प्रामाणिकता कहीं पश्वालम्भनमात्र तक ही सीमित है।

यदि लक्षणा के भय से गौ शब्द से अजादि का बोध नहीं स्वीकार करते हो तो ठीक नहीं, क्योंकि वेद के परम तात्पर्यभूत जीवब्रह्मैक्य के बोधक महावाक्य "तत्त्वमसि" में जहत् लक्षणा के द्वारा ही श्रीभगवत्पाद ने जीव और ब्रह्म के अभिन्नत्व को स्थापित किया है। इस स्थिति में "**प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञ रूपा**" (यज्ञरूप उपाय अनित्य है-मुण्डकोपनिषद् १.२७) इस प्रकार मुण्डकोपनिषद् में अनित्यत्व के रूप में प्रसिद्ध यज्ञों के युग के अनुरोध से प्राप्त गोवध निषेध के द्वारा अजवध का भी निषेध लक्षणाविधि से अजवध निषेध के ग्रहण करने में हमारे पूज्यजनों की क्या हानि है ?

और भी "**अग्नीषोमीयं पशुमालभेत**" (अग्नीषोमीय पशु का आलम्भन करें) इसमें पश्वालम्भन का विधान है। अग्नीषोमीय यह तद्धितान्त पशु का विशेषण है। हम यह पूछते हैं कि-क्या यह पश्वालम्भन की विधि पशुमारण मात्र के लिये ही है या अग्नि सोम देवों को दिये जाने वाले मांस के लिये है ? यदि कहते हैं कि मारण मात्र अर्थ में है तो जैसे देवी की उपासना आदि में देवी के सामने पशु का गला काटना ही अपूर्व प्रद है, उसी प्रकार यहाँ भी पशु के संज्ञपन द्वारा मारना ही अपूर्वप्रदाता है, ऐसा स्वीकार करना पड़ेगा। परन्तु ऐसा स्वीकार करते नहीं हैं। क्योंकि पशु को मारने के बाद वपादि का ग्रहण किया जाता है। अतः हवि के लिये मारण स्वीकार करना पड़ता है।

यहाँ कुछ विचार करते हैं। बहुत सी हवियों में मांस की भी एक हवि है। यज्ञ के अंगभूत मांस के सम्पादन के लिये मारने में हिंसा होती है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि "**हननं कुरु**" "**आलभेत**" इस क्रियावाची शब्दों से प्रभुसम्मित श्रुति हिंसा का विधान करती है। वह विधि कलयुग में नहीं होनी चाहिये ऐसा धर्मज्ञों का मानना है। बहुत सी हवियों में से किसी के न मिलने पर उसका प्रतिनिधि ग्रहण करके कर्म को सम्पन्न किया जाता है। जैसा कि तिलादि ग्राम्य औषधि एव वेणु आदि जंगली औषधियों के न मिलने पर "**यवान् मधुमिश्रान् वपेत्**" (शहद से मिले हुए जौ का वपन करें) इस सूत्र से प्रतिनिधि की कल्पना की गयी है। अन्य स्थानों पर तो "**शिष्टाभावे सामान्यात् प्रतिनिधिः**" (शिष्ट अर्थात् विहित के अभाव में सामान्य से प्रतिनिधि लिया जाये) इस प्रकार न्यास सूत्र के अनुरोध से औषधियों के प्रतिनिधि कल्पित किये जाते हैं। और भी सौत्रामणी

में **''ऐन्द्रमृषभम्''** (इन्द्र देवता के लिये ऋषभ) इस में गवालम्भन के निषेध वाक्य के गौ छोड़कर उसके स्थान में अज का आलम्भन करते हैं। यहाँ ऋषभ के स्थान पर अज को प्रतिनिधि बनाने के लिये आपको किसने अधिकार दिया? इस विषय में पश्वालम्भनवादियों का मौन ही शरण है।

कलियुग में **''अजम् अजाम् अविं मेषीं नालभेत''** (कलियुग में अज, अजा, अवि, मेषी का आलम्भन न करें। ऐसे श्रौत अथवा स्मार्त प्रामाणिक निषेधवाक्य को जब तक नहीं प्राप्त कर लेंगे, तब तक अजा आदि का आलम्भन नहीं छोड़ेगे। यदि आप ऐसा कहते हैं तो भी ठीक नहीं है। क्योंकि कलियुग में गवालम्भ न निषेध वाक्य से ही अजा आदि के आलम्भन का ही निषेध सिद्ध है, ऐसा उत्तर दिया जा चुका है। गोवध के निषेध से ही अज अपितु अज आदि का भी निषेध प्राप्त होता ही है। हवि में अधिकार न होने के कारण आलम्भन नहीं करना चाहिये। इसलिये **''शिष्टाभावे सामान्यात् प्रतिनिधि:''** इस प्रमाण के अनुसार गौ के समानाधिकरण अज आदि का भी निषेध प्राप्त होने पर उसके अनन्तर समानाधिकरण में स्थित आज्य ही पशु के रूप में लिया जाता है। जिन औषधियों के खाने के परिणाम में **''मांसाज्ये''** (मांस और आज्य) हो उन मांस और घी का समानाधिकरण है। पशु के सानाय्य धर्म कथन-प्रसंग में भट्टरुकार ने यह विषय अच्छी तरह प्रतिपादित किया है। अत: कलियुग में आज्य ही मांस का प्रतिनिधि है, यह निष्कर्ष निकला।

और भी, पशु का आलम्भन नहीं करना चाहिये इस विषय नें इस श्लोक को सुनिए- **''यावद्वर्णविभागोऽस्ति यावद्वेद प्रवर्तते। संन्यासं चाग्निहोत्रञ्च''** जब तक वर्णविभाग है और जब तक यह वेद प्रवर्तित है तब तक संन्यास और अग्निहोत्र भी है। जो प्रत्यक्षपशुवादी इस स्मृतिवाक्य को प्रमाण मानकर भुजा उठाकर उद्घोषित करते हैं कि वर्णविभाग की स्थिति तक पश्वालम्भ करते रहेंगे, उनके सामने यह प्रश्न रखा जा रहा है। शालिवाहन शक १८२० में सर्वधारी संवत्सर में भारत देश स्वतन्त्र हो गया। तब से लेकर वर्णाश्रम से शून्य शासन चल रहा है। आजकल इस देश में शासकों के सामने हम अपने वर्ण को बताने में समर्थ नहीं हैं। ऐसे समय में भी वर्णविभाग है ऐसा अपने घर में ही निर्णय लेना अपनी कुएं में रहने वाली मेंढक की दशा का स्मरण कराता है। संविधान हमारे धर्मों के विरुद्ध जागरुक है। हमारे बन्धुओं का वेशभाषादि एवं आहार-विहारादि को न देखकर आज भी वर्णविभाग की सम्भावना करना शास्त्र सम्मत नहीं है, क्योंकि वर्णाश्रम की रक्षा में लगे हुए क्षत्रियों के राज्य को छीनकर भारतभूमि क्षत्रिय रहित बना दी गयी। वर्णाश्रम के रक्षक श्रुतियों के अभाव से वर्णाश्रम सर्वथा विनष्ट हो गये। वर्णाश्रमधर्म से रहित आजकल हमारे शासक वर्णाश्रमधर्म का उल्लंघन ही कर रहे हैं यह प्रत्यक्ष ही है। ऐसी संस्था में वर्णादिविभाग की संभावना करना अपने आप को ठगना ही है। वर्णाश्रमविरोधी राज्य में रहनेवालों के द्वारा वर्णाश्रम का परिपालन करना राजद्रोह ही होगा। उससे पाप ही होता है। अत: आज वर्णविभाग को मानने वालों के द्वारा किया जाने वाला अजालम्भ धर्मयुक्त नहीं है, ऐसा निश्चित हुआ।

ऐसी अवस्था में अधिकारियों को रिश्वत से अपने वश में करके पूर्वनियोजित एकान्त स्थान में पश्वालम्भन करने वाले धर्माभास रूपी पिशाच से युक्त यजमान भय एवं लज्जा को छोड़कर वेश्याओं के घर जाने वाले कामपीड़ित वृद्धों की तरह ही हैं, हम ऐसा मानते हैं। वे काम से पीड़ित होते हैं, ये धर्माभास से पीड़ित हैं, केवल इतना ही दोनों में भेद है।

एक और भी बात यह है। कुछ ब्राह्मण अंग्रेजी एवं वैदिक विद्या का अभ्यास करके राजकार्यालयों में नौकरी करते हुए और प्रति महीने वेतन लेते हुए आजीविका चलाते हैं। इस प्रकार प्रतिमाह वेतन लेकर काम करना ब्राह्मणत्व को नष्ट करता है। फिर भी ये अपने को श्रोत्रिय समझने वाले याज्ञिक कर्मों में प्रवेश करके अपने पाण्डित्य को प्रकट करते हुए ऋत्विक् कर्म को करके दक्षिणा इकट्ठी करके सुखपूर्वक जी रहे हैं। यदि ये धार्मिक हैं तो वेश्याओं ने क्या अपराध किया है? वर्णाश्रमविरुद्ध कार्यालयों में वर्णाश्रम विरुद्ध कार्य करने वाले की घर में आकर वैदिक वेश धारण करने मात्र से धार्मिकत्व की सिद्धि नहीं होती। ये लोग तो वर्णाश्रमधर्मविनाशक के रूप में एवं राजद्रोहाचरण के रूप में इस प्रकार दो प्रकार का पाप करते हैं। इसलिये तो लोक में जीना तलवार की धार पर चलने के व्रत के समान है। ऐसा श्रुति कहती है-'**यथासिधारा कर्तेऽवहितामवक्रामेत्**' इत्यादि। गुप्त रूप से पाप करने पर नरक की प्राप्ति होती है और प्रकट रूप से पाप करने पर राजदण्ड होता है, यह असिधारा व्रत का फल है।

इस प्रकार के लोग भी यज्ञों में निर्भय होकर अजालम्भन करते हैं, तो कलियुग ही जीत गया। ऐसे ब्राह्मणों को देखकर ये सभी ब्राह्मण गौ का मांस खाने वाले हैं, इस प्रकार आधुनिक लोग निन्दा करते हुए वेदों की निन्दा करते हैं। अन्त में पश्वालम्भन करनेवालों के द्वारा वेद ही दूषित कराया जाता है। इसलिये अत्यन्त वर्णाश्रमविरुद्ध इस राज्य एवं समय में लोक में विद्विष्ट अजालम्भन नहीं करना चाहिये। ''**लोकविद्विष्टं न कर्त्तव्यम्**'' जनता जिस कर्म से द्वेष करे, उसे नहीं करना चाहिये, इस प्रकार भृगुप्रोक्त मनुधर्मशास्त्र के उद्घोष को सुनो। इससे भी अधिक श्रुति या स्मृति के खोजने की आवश्यकता नहीं है। ''**शिष्टाभावे सामान्यात् प्रतिनिधिः**'' (विधान के अभाव सामान्य के अनुसार प्रतिनिधि की कल्पना करनी चाहिये) इस न्याय का अनुसरण करके समय के अनुरोध से प्रतिनिधि की कल्पना करना ही युक्त है।

क्योंकि बहुत से शास्त्रज्ञ और सनातन धर्म में संलग्न प्रख्यात पण्डित भी धर्मशास्त्र के विरुद्ध प्रतिमाह वेतन लेकर जी रहे हैं। समयानुसार ही वे ऐसा कर रहे हैं। इस प्रकार के लोगों में ही कुछ असाधारणबुद्धिवाले वैदिक शिरोमणि कार्यालय से घर आकर स्नान करके ''अग्निहोत्र'' करते हैं। इसका उनमें अधिकार कैसा है? सुबह से लेकर सायं तक असंचरणीय तथा वर्णसांकर्य बहुल प्रदेश में उदर के लिये नौकरी करके स्नान करने मात्र से ही इन लोगों का अग्निहोत्र के अनुष्ठान में अधिकार कैसे हो गया? जिनकी समयानुसार होने वाली छायामात्र से भी दूर ही रहना चाहिये, उन से दो हाथ मात्र दूर नौ घण्टे बिताने वाले का यज्ञ के अनुष्ठान में कैसे अधिकार हो गया? दैवयोग से एक दिन में काकतालीय न्याय से उनके समीन जाने पर कदाचित् पावमानादि सूक्त पूर्वक स्नान करने पर पवित्रता हो सकती है, परन्तु यहाँ वैसा नहीं होता। क्योंकि बुद्धिपूर्वक प्रतिदिन नियम से कार्यालय में जाकर सायंकाल को वे पवित्रता को कैसे प्राप्त कर सकते हैं? यह सब भुलाकर अपने अनाचार की अवहेलना करके स्वयं को सनातन कर्म के रक्षक मान कर अहङ्कारपूर्वक हृदय पर हाथ रखे वे मुग्ध होते हैं। ऐसे मिथ्या गर्व को देखकर उरस्ताडन महोत्सव की स्मृति हो आती है, अरे! वर्णाश्रम से शून्य देश में अनुष्ठीयमान यज्ञ शास्त्रविरुद्ध एवं राजविरुद्ध होगा। शासन में वर्णाश्रम विधि के अभाव से हम लोगों के द्वारा धारण किया हुआ धर्म गौण होगा। इसलिये वैसे देश में गौण यज्ञादि करना चाहिये। किन्तु

पश्वालम्भनादि शास्त्रविरुद्ध कार्य कलियुग में अनुष्ठेय नहीं होते। ''**शिष्टाभावे**'' इत्यादि में स्वेच्छा से कल्पित अर्थ नहीं किया गया। ऐसा विग्रह करना चाहिये अनुपलब्धि होने से या कालविशेष में निषिद्ध होने से शिष्ट अर्थात् विहित का अभाव ऐसा ही अर्थ ग्राह्य है। अभाव निषिद्ध के पर्याय के रूप में समझना चाहिये।

कलियुग में सभी वैदिक कर्मकाण्ड में मांस निषेध है, देखें-ब्राह्मणों के नित्य भोजन में, पितरों के वार्षिक श्राद्ध में, मधुपर्क में, अष्टका श्राद्ध में और बौधायन के मतानुसार काम्य पशुओं के गृह्यानुष्ठान में इत्यादि श्रुति विहित स्थलों में मांस का निषेध किया गया है। श्रौताभिमानियों को भी इन कर्मों में मांस परित्यज्य ही है, यह निष्कर्ष निकला। कुछ बालबुद्धि लोग कहते हैं ''**अश्वालम्भं गवालम्भम्**'' इत्यादि स्मृति वाक्य है और ''**अग्नीषोमीयं पशुमालभेत**'' इत्यादि श्रुतिवाक्य है। स्मृति की अपेक्षा श्रुति बलवान् होती है। अतः हम अजालम्भ करते हैं। यह ठीक नहीं है। श्रौतकर्म की अपेक्षा गृह्यकर्म ही मुख्य प्रतीत होता है। क्योंकि उपनयनादि गृह्यकर्म हैं। उपनीत (यज्ञोपवीतधारी) का ही वेद में अधिकार है। श्रौतकर्म में पत्नीसहित का ही अधिकार है। श्रौत में कहीं भी विवाह संस्कार दिखायी नहीं देता। अतः **पिता से उत्पन्न होने वाले पुत्र के समान गृह्य में श्रौत की प्राप्ति है। पितारूपी गृह्य में ही मांसनिषेध प्राप्त होने पर, पुत्ररूपी श्रौत में मांस मूलक कर्म कैसा हो सकता है।**

देखो-''**आषोडशाद् ब्राह्मणस्य**'' (सोलह वर्ष तक ब्राह्मण का यज्ञोपवीत होना चाहिये, इत्यादि से यज्ञोपवीत न होने में दोष सुना जाता है। इसके बाद प्रायश्चित्तपूर्वक ही उपनयन करना होता है। इसलिये उपनयन के अभाव में इसको इसी जन्म में ही दोष होता है। वेद और श्रौत के अभाव में तीसरी पीढी में उत्पन्न पुरुष को दुर्ब्राह्मण्य की प्राप्ति होती है। इसलिये शास्त्रों में किसका मुख्यत्व कहां है, यह ध्यान देने योग्य है। इसलिये स्मार्त कर्मों में जो मांस निषेध विहित है, वह स्वयं ही पिता के गुण पुत्र में प्रविष्ट होने के समान श्रौत कर्म में भी कलियुग में प्रविष्ट हो ही गया, ऐसा आपको समझना चाहिये। अतः गृह्य में निषिद्धमांस श्रौत में भी निषिद्ध है ही, ऐसा मानना चाहिये। विशेष विधि के बिना पश्वालम्भका प्रसङ्ग ही कैसे? ''**अग्नीषोमीयं पशुमालभेत**'' अग्नि सोम देवों के लिये पशु का आलम्भन करें, इत्यादि वाक्य विशेष विधि नहीं है।

कुछ अन्य अल्पज्ञ लोग अग्नीषोमीय सवनीयादि कर्मों में पश्वालम्भन होने पर यज्ञ विनष्ट हो गया, ऐसा मानते हुए न केवल मानसिक अपितु वाचिक भी महान् कोलाहल करते हैं, ''यज्ञ नष्ट हो गया इत्यादि अपनी स्त्री के वियोग के समय रोते हुए या भूतादि से ग्रस्त हुए के समान बाहें उठाकर चिल्लाते हैं। अरे! इस प्रकार अग्नीषोमीय कर्म पश्वालम्भन होने पर कहीं भी यज्ञ के नष्ट होने का प्रमाण नहीं मिलता। उनके मत में तो सारा ही यज्ञ अज जाति में प्रविष्ट हो गया है, ऐसा जान पड़ता है। अजमांस के अभाव में यज्ञ ही नहीं है; इस प्रकार (वे लोगों को ठगते हैं। प्रधानभूत सोम का भी प्रतिनिधि लेकर यज्ञ करो)। यह तो इनका अनादि सिद्ध अज्ञान है कि अजालम्भन के प्रतिनिधि का अभाव है। अतः उन्मत्तों के समान ''**अग्नीषोमीयं पशुमालभेत**'' इत्यादि को ही बार-बार दुहराते रहते हैं। अन्य किसी वाक्य को नहीं जानते। ''**सोमाभावे पूतीकानभिषुणुयात्**'' (सोम के अभाव में पुतीक नाम औषधि का अभिषव करें) इस प्रकार का यह वाक्य कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। प्रायश्चित्त प्रकरण में लिखा है। ये लोग ''**अलाभे अभावे**'' इन दोनों शब्दों के भेद ही नहीं पकड़ पाये। हमारा निश्चय है कि अभाव शब्द के

ग्रहण करने पर प्रायश्चित्त प्रकरणस्थ ही यह वाक्य हैं। यदि कहा जाये कि विधिवाक्य का उल्लङ्घन करना ही दोष है, तो अजालम्भन में संलग्न लोग भी बहुत स्थानों पर विधिवाक्यों का उल्लङ्घन करते हैं। वह दिखाता हूँ कृपया शान्त चित्त हो कर देखें। अग्न्याधेय यज्ञ में अश्वपदाभाव अजबन्धनाभाव। पशुयाग में दो घाट वाले चाक का अभाव और वहीं तेजधार वाले चाक के बिना बहुत से चाकओं को जहां जैसा मिला उसी का स्वीकार करना। "एकधास्य त्वचमाच्छयतात्" (इसकी त्वचा एक बार में काटे) ऐसा विहित होने पर भी बहुत बार में त्वचा को काटना। पसलियों को न निकालना हृदय शूल में हृदय लगन न करना, उसको कुम्भी में हो श्रपण करना, एकमात्र पशु में पश्वालम्भन के लिये प्राणों की बाजी लगाने वाले पशुकरणों के इच्छुक लोगों का पशु इडा के खाने से घृणा करना (यह तो साक्षात् शरीर सहित नरक को प्राप्त कराने वाला पाप है) हविः शेष के भक्षण का अभाव। सोमयाग में प्राग्वंश के चार द्वारों का अभाव, दीक्षा के नियमों में संकोच करना, व्रतपान में उपसदों में धारोष्ण दूध के नियम का अभाव, स्तोत्रों में उपपान का अभाव। वास्तव में उपगान शब्द के अर्थ को न जानना। दक्षिणा के प्रतिरूपक व्यवहारिक द्रव्यभाव का देना। इस विषय में किसी भी पुण्यात्मा या पापात्मा ने दक्षिणा के प्रतिनिधि की कल्पना में अनुज्ञा नहीं दी है। हौत्र आदि मन्द्रादि तीन स्थानों में ज्ञान का अभाव, उसी विषय में प्रतिस्थान पर सप्तयमों के अनुभव का अभाव। अग्निचयन में दोनों ओर अश्व के स्थापन का अभाव, पुरीष से प्रस्तारों का न करना, सोने के एक हजार शकलों के प्रोक्षण में स्वेच्छा, सभी से बढ़कर कुल्हाड़ी के रूप में सोम के स्थान पर पूतीक का ग्रहण न करना, इत्यादि दिङ्मात्र से विधि के उल्लङ्घन अजभ्रमग्रस्तों के द्वारा प्रायः किया जाता है। यह कैसे ऐसा पूछने पर सम्प्रदाय ऐसा ही है, यह कह कर धृष्टता प्रदर्शित करते हैं।

अज्ञानवश, शक्ति न होने के कारण तथा अन्य किसी भी प्रकार प्रवृत्त दोषों को सम्प्रदाय शब्द से छिपाते हैं। इस सन्दर्भ में **"येनास्य पितरो याताः"** जिस मार्ग से पितर गये इत्यादि मनुवाक्यों का दुरुपयोग करते हैं। वास्तव में यज्ञ की सिद्धि मन्त्रों में दक्षिणा से ही होती है, न केवल अजालम्भन मात्र से। अजालम्भन तो मन्त्रयुक्त कर्म में ही दोषाभाव का सम्पादन कर सकता है। उपगानादि से शून्य यज्ञ में किया जाने वाला अजालम्भन नरक को प्राप्त कराने वाला ही होगा। अतः इस कलियुग में वर्णाश्रम विरुद्ध राज्य में उन के द्वारा किया जाने वाला अजालम्भन न केवल राजद्रोह रूप है और न केवल लोकविद्विष्ट है, अपितु नरक में पहुंचानेवाला है, ऐसा मैं भुजा उठाकर चिल्लाता हूँ। इसलिये सभी याज्ञिकों को याज्ञिक कर्मों में अज के स्थान पर आज्य ही लेना चाहिये, ऐसा सर्वत्र सुनिश्चित हुआ।

Vaidika Vāg-Jyotiḥ
ISSN 2277-4351

Vol.1, No.1 (161-166) Jul-Dec 2012

यज्ञे पशुवधो वेदविरुद्धः

श्री नरदेवशास्त्रिवेदतीर्थः

कुलपतिचरः, गुरुकुलमहाविद्यालयः, ज्वालापुरम् (हरिद्वारम्)

ये रात्रिमनुतिष्ठन्ति ये च भूतेषु जाग्रति। पशून् ये सर्वान् रक्षन्ति ते नं आत्मसु जाग्रति ते नः पशुषु जाग्रति॥ अथर्व०१९.४८.५

अत्र 'पशून् ये सर्वान् रक्षन्ति' इत्यनेनेश्वर आज्ञापयति, मनुष्यैः सर्व एव पशवो रक्षणीया इति।

यज्ञस्य स्वरूपं किमस्तीत्युच्यते-

द्रव्यं देवता त्यागः॥ का०श्रौ०सू०२३

अस्यार्थः-ब्रीहियवादि द्रव्यम्, या तेनोच्यते सा देवता मन्त्रार्थः, अग्नावाहुतीनां दानं त्यागः। अग्न्यादिव्यव्यावहारिकेभ्यो देवेभ्यः संस्कृतानां ब्रीहियवादीनां द्रव्याणां घृतादीनां वा वेदमन्त्रोच्चारणपूर्वकमग्नावाहुतिदानं यज्ञः।

हविस्तु क्षाराम्लतिक्तगुणादिरहितं किन्तु सुगन्धिपुष्टमिष्टरोगनाशादिगुणसहितं चतुर्विधमेव। अत्र प्रमाणम्-

उपावंसृज त्मन्यां समुञ्जन् देवानां पाथंऽऋतुथा हुवीछंषि। वनस्पतिः शमिता देवोऽअग्निः स्वदन्तु हुव्यं मधुना घृतेन॥

यजु०२९.३५ अथर्व०५.१२.१०

'पाथः' 'हवींषि' 'घृतेन' सर्वाण्येतानि पदानि चतुर्विधानां द्रव्याणामेव हवनं कर्तुमुपदिशन्ति। अतस्तेषामेव ग्रहणं यज्ञे, न प्राणिवधजन्यमांसस्येति। ***'मांसन्त्वशुचिद्रव्यं दुष्टञ्चेति यथा च श्वमांसादीनां स्वत एवाऽशुचित्वमिति'*** वैशेषिकशास्त्रे प्रशस्तपादभाष्यम्।

दुष्टस्य हविषोऽप्स्वहरणम्॥ का०श्रौ०सू०२५.११५

अर्थः-होमद्रव्यं दुष्टञ्चेज्जले प्रेक्षणीयम्, न तद्धोतव्यमित्यर्थः।

उक्तो वा भस्मनि॥ का०श्रौ०२५.११६

वा (अथवा) दुष्टं हविर्भस्मनि प्रक्षेप्तव्यम्, न तस्य होमः कार्य इत्यर्थः।

शिष्टभक्षप्रतिषिद्धं दुष्टम्॥ का०श्रौ०२५.११७

शिष्टैर्मांसाद्यभक्ष्यं वस्तु दुष्टमुच्यते। मांसभक्षणे प्रायश्चित्तमप्यस्ति, यथा-**जग्ध्वा मांसमभक्ष्यं च, सप्तरात्रांयवान्पिबेत्।** मनु०११.१५२

अभक्ष्यं मांस भक्षयित्वा सप्तरात्रान् यवान् पिबेदित्यर्थः। अथ चतुर्विधानां द्रव्याणां विषये प्रमाणानि-

१. **'घृतं तीव्रं जुहोतन'** (यजु०३.२) अग्नौ सर्वदोषनिवारकं घृतं होतव्यमित्यर्थः।

२. **'घृतेन वर्धयामसि'** (यजु०३.३) यज्ञसिद्ध्यर्थं घृतेनाग्निं प्रदीप्तं कुरुतेति।

यज्ञस्य फलम्-**'निकामे-निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु'** इति (यजु०२२.२२)

३. **'आस्मिन् हव्या जुहोतन'** (यजु०३.१) (आ) समन्तात् (अस्मिन्) अग्नौ (हव्या) दातुमत्तुमादातुमर्हाणि वस्तूनि (जुहोतन) प्रक्षिपत।

दुग्धघृतार्थमेव पशवो यज्ञेष्वानीयन्ते स्म न च वधार्थमिति, यथोक्तम्-

''आदिकाले खलु यज्ञेषु पशवः समालभनीया बभूवुर्नारम्भाय प्रक्रियन्ते स्म। अतश्च प्रत्यवरकालं पृषध्रेण दीर्घसत्रेण यजमानेन पशूनामलाभाद् गवामालम्भः प्रावर्तितः। तं दृष्ट्वा प्रव्यथिता भूतगणास्तेषाञ्चापयोगादुपकृतानां गवां गौरवाच्चोपहताग्नीनामुपहतमनसामतीसारः पूर्वमुत्पन्नः पृषध्रयज्ञे।' चरक विमा०१०.३

अत्र गोमांसभक्षणादेवातीसारोत्पत्तिरुक्ता। मांसन्तु पशुवधमन्तरेण नोपलभ्यते, न च पशुवधः स्वर्ग्यः। यथा-

''नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां, मांसमुत्पद्यते क्वचित्। न च प्राणिवधः स्वर्ग्यः, तस्मात् मांसं विवर्जयेत्॥ मनु०५.४८॥

''अथो भैषज्ययज्ञा वा एते यच्चातुर्मास्यानि तस्मादृतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते। ऋतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते। ऋतुसन्धिषुर्वै व्याधिर्जायते।' (गो०ब्रा०१.१९) भैषज्ययज्ञा इत्यनेनाऽशुचिद्रव्याणां मांसादीनां खण्डनं स्पष्टमेव।

तथा 'वैश्वदेवी' (का०४.१३६) चातुर्मास्य-पर्वेषु वैश्वदेवी पयस्या भवति।

अन्यत्र 'न मांसमश्नीयात्, यन्मांसमश्नीयात्, यन्मिथुनमुपेयादिति नत्वैवेषा दीक्षा।' (श०६.२)

अत्र यज्ञे मांसभक्षणस्य निषेध एवेति।

व्रतादौ दुग्धस्यैव सेवनम्। तद्यथा-'क्षीरंव्रतौ भवतः। सपत्नीको यजमानो व्रते दुग्धं पिबेत्, यवागू राजन्यस्यामिक्षा वैश्यस्य।' (का०सू०११३, ११८) व्रते राजन्यः सपत्नीकः क्षत्रियो यवागूं पिबेत्। एवं सपत्नीको वैश्यः आमिक्षा श्रीखण्डं पिबेत्। मांसभक्षको न दीक्षितपदं प्राप्नोति, न व्रती भवति।

पशुवधपक्षपोषकेण सायणाचार्येणापि दुग्धपक्षं मत्वा गवां दोहने क्षीरपाके च मन्त्रद्वयं विनियुक्तम्। यथा-

'गां दोग्धुमध्वर्युरयक्ष्मा वः प्रजय इति मन्त्रेण वत्सं बन्धनान्मुच्येत्, क्षीरं श्रपयितुं मातरिश्वनो घर्म इति मन्त्रेणोखां गार्हपत्ये स्थापयेत्'।

(कृ०य०तै०सं०१.६.९)

आभ्यां मन्त्राभ्यामत्र यज्ञे दुग्धस्यैवोपयोगो भवतीति सायणाचार्यस्याभिप्रायः पशुवधनिषेधे वर्तते।

एवम् 'अन्वारब्धेषु पयो जुहोति द्वे सृती इति' (का०१९.८१) अत्र स्पष्टमेव यज्ञे दुग्धस्योपयोगो न तु मांसस्य। 'शेषं यजमानो भक्षयतीदं हविरिति'

(का०१९.८२)

तथैव याज्ञवल्क्यजनकसंवादेनापि सिद्ध्यति मखे पयादीनामेवोपयोगः। तद्यथा-

'तद्धैतज्जनको वैदेहः याज्ञवल्क्यं प्रपच्छ वेत्थाग्निहोत्रं याज्ञवल्क्या इति। वेद सम्राडिति। किमिति । पय एवेति। यत् पयो न स्यात् केन जुहुया इति। ब्रीहियवाभ्यामिति। यद् व्रीहियवौ न स्याताम्, केन जुहुया इति। या अन्या ओषधय इति। यदन्या ओषधयो न स्युः केन जुहुया इति। वानस्पत्येनेति। यद्ध वानस्पत्यो न स्यात् केन जुहुया इति। स होवाच, नवा इह तर्हि किञ्चनासीदथ तद् हूयतव सत्यं श्रद्धायामिति, वेत्थाग्निहोत्रं याज्ञवल्क्य इति धेनुशतं ददामि'' (श०कां०११)

संवादेऽस्मिन् हिंसाजन्यं मांसं वपादिकञ्च न क्वापि लिखितमस्ति। तेनापि विज्ञायते न तदानीं यागेषु पशुवधप्रचार आसीत्।

आयुर्वेदेऽपि वपामांसादिहोमविधिर्न, किन्तु गवादीनां दुग्धादुत्पन्नस्य घृतस्यैवेति। तद्यथा- 'नाऽशुचिरुत्तमाज्याक्षततिलकुशसर्षपैरग्निं जुहुयात्।' (च०वि०अ०८, अत्राप्याज्यस्यैव होमविधिर्न वपादेरिति।

अजाया दुग्धं सर्वरोगहारकम्। कस्मात्? 'अजा ह सर्वा ओषधीरत्ति सर्वासामेवैनामेतदोषधीनां रसेनाच्छृणत्ति' (श०पृ०३४९)

'मधुसर्पिषा त्रिस्त्रिर्जुहुयात्' (च०वि०अ०८)

'ओषधीनां वा परमो रसो यन्मधु'

(श०११.५)

एवञ्चतुर्विधानां द्रव्याणामेव सर्वत्र होमविधिर्वेदादिसत्यशास्त्रेष्विति। यथा-'अपामार्ग-होमः' (कात्या०१६.२९)। 'अजाक्षीरमेके' (का०१८.१) 'अजाक्षीरेणैके जुह्वति शाखान्तरात्' इति कर्काचार्य्यः। अत्राऽजायाः क्षीरमेव गृहीतं न तन्मांसमिति।

'घृतेन ह वा एष देवाँस्तर्पयति' (श०११.२५) घृतमेवात्र यज्ञसाधनमस्ति। 'अग्नये रसवतेऽजक्षीर निर्वपेत्' (कृ०य०तै०सं०२.४)।

वेदलिङ्गाच्चापि सिद्ध यज्ञे दुग्धघृतादीनामेवोपयोगः। तद्यथा-

'ये दे॒वा दि॑वि॒षदो॒ अन्तरिक्ष॒सद॑श्च॒ ये ये चे॒मे भूम्या॒मधि॑। तेभ्य॒स्त्वं धु॑क्ष्व सर्व॒दा क्षी॒रं स॒र्पिरथो॒ मधु॑॥

(अथर्व०१०.९.१२)।

वेदमन्त्रेऽस्मिन् सर्वदापदेन यज्ञादौ सर्वत्र दुग्धं घृतञ्चोपदिश्यते। तत्प्रचारार्थमेव पशुरक्षाविधायको मन्त्रः **'यज॑मानस्य प॒शून्पा॑हि'** (यजु०१.१)। महीधरभाष्यानुसारिणां तत् सन्तोषार्थं तत्कृतभाष्यमेवात्रोद्ध्रियते-'यजमानस्य पशून् अरण्ये सञ्चरतश्चोरव्याघ्रादिभयात् पाहि रक्षेति' महीधरेणापि पशुवधो न स्वीकृतः। यथा-'यजमानस्य पशूनित्यग्न्यगारस्यान्यतरस्य पुरस्ताच्छाखामुपगूहति।' (का०४.४०) 'पशूनान्तु क्रत्वङ्गभूतानां पालनमिहेष्यते' इति कर्काचार्य्यः।

एवमेव **'ओष॑धे॒ त्राय॑स्व॒ स्वधि॑ते॒ मैनँ॑ हिँसीः'** (यजु०४.१) मन्त्रेणानेन यैर्याज्ञिकैः पशुवधः क्रियते, तैस्स्वभाष्यकारस्य महीधरस्यार्थो विलोकनीयः। यथा-ओषधे कुशतरुणं देवता। हे ओषधे! कुशतरुण! त्वं यजमानं त्रायस्व क्षुराद् रक्ष। स्वधिते क्षुरो देवता। हे स्वधिते क्षुर, एनं यजमानं मा हिंसीः।' महीधरेणाप्यत्र रक्षापरत्वमेव भाष्य कृतं तत्कथं नामाऽयं मन्त्रः साम्प्रतं याज्ञिकैः पशुवधकर्मणि विनियुज्यते? कात्यायेन लिखितमिति चेत् तत्कृतविनियोगार्थविरुद्धन्तदिति।

वेदेऽपि **'ये रात्रि॑मनु॒तिष्ठ॑न्ति॒ ये च॑ भू॒तेषु॒ जाग्र॑ति। प॒शून् ये सर्वा॒न् रक्ष॑न्ति॒ ते न॑ आ॒त्मसु॑ जाग्रति॒ ते नः॑ प॒शुषु॑ जाग्रति'** (अ०१९.४८.५) इत्यादिषु मन्त्रेषु सर्वेषां पशूनां रक्षार्थमेवाज्ञास्ति। तेषां महोपकारं विस्मृत्याऽपराधमन्तरेण ये तान् घ्नन्ति यज्ञे ते कृतघ्नाः स्वार्थसाधकाः।

कात्यायनसूत्रादावपि पशूनां महिमैव गीयते। यथा-'महाँस्त्वेव गौर्महिमेत्यध्वर्य्युः। अध्वर्युर्गां महयति' (शत०३.३.२) 'ध्वरा हिंसा तदभावो यत्र'' (नि०पू०)

अध्वरमिति यज्ञनामसु पठितं निघण्टौ। यज्ञे यजमानस्य प्रतिनिधिरध्वर्युः। अध्वर्युर्गोदुग्धस्य महत्त्वन्तदुपकारं वा वर्णयति। 'महयतीति' मह पूजायाम्, पूजा नाम सत्कारः। अध्वर्य्युर्गां महयति पूजयति सत्करोति, तद् गुणान् वा गायति।

अथ छागदुग्धगुणाः-

दीपनं लघु संग्राहि, श्वासकासास्रपित्तनुत्।
अजानामल्पकायत्वात्, कटुतिक्तनिषेवणात्॥
नात्यम्बुपानाद् व्यायामात्, सर्वव्याधिहरं पयः॥

(सु०सू०अ०४५)

अजादुग्धं दीपनं, लघु, संग्राहि, श्वास-कासास्र-पित्तनुत्। अजानाम् अल्पकायत्वात्, कटुतिक्तनिषेवणात्, नात्यम्बुपानात्, व्यायामाद् भ्रमणात् तासां पयः सर्वव्याधिहरम्भवति। अन्यत्राप्युक्तम्-

अजोक्षा चन्दनं वीणा, आदर्शी मधुसर्पिषी।
विषमौदुम्बरं शङ्खाः स्वर्णनाभोऽथ रोचना॥
गृहे स्थापयितव्यानि, धन्यानि मनुरब्रवीत्।
देव ब्राह्मणपूजार्थं, अतिथीनां च भारत॥

(महा०उद्यो०)

यज्ञादिषु देवानां ब्राह्मणानामतिथीनां वा दुग्धद्वारा सत्कारार्थमजादयः पशवः पुराकल्प आसन्। तथैवेदानीमपि सत्कारार्थं रक्षणीयाः।

दुग्धप्रयोजनाऽभावे भैषज्ययज्ञेष्वजा महौषधी ग्राह्या। यथा-अजास्तनाभकन्दा तु, सक्षीरा क्षुपरूपिणी।

अजा महौषधी ज्ञेया, शङ्खकुन्देन्दुपाण्डुरा॥

(सु०चि०अ०३०)

सायणाचार्यायापि यज्ञे पशुहिंसा न रोचते स्म, इति तल्लेखने सुतरामनुमीयते।

यज्ञमन्त्रार्थमबुध्वा स्वात्मविरुद्धमपि तेन लिखितमिति। यथा-क्रूरं पशुहिंसादि' (कृ०य०तै०पृ०६६९) 'क्रूरादिदोषाणां होमेन समाहितत्वात्' (कृ०य०तै०६.६.१)। पशुहिंसा क्रूरं कर्मेति मत्वापि पुनः क्रूरादिदोषाणां होमेन समाहितत्वादिति यत्तदयुक्तम्। कुतः ? 'इषे त्वोर्ज्जे त्वेति' यजुर्वेदीय-प्रथममन्त्रे श्रेष्ठतमानां कर्मणामाज्ञा। तदिदं क्रूरं पशुहिंसनं निकृष्टतमं वेदबाह्यं कर्म, तस्य होमेन शान्तिः कथमपि न्याय्यं न, हिंसकेन यावन्न तत्फलं भुज्येतेति।

शतपथेऽप्यहिंसेत्यस्य धर्मसाधनस्यैव यज्ञप्रकरणे प्रतिपादनमस्ति। तद्यथा-**'सं वां मनांꣳसि सं व्रता समु चित्तान्याकरम्। अग्ने पुरीष्याधिपा भव त्वं न इषमूर्जं यजमानाय धेहि'** इति शान्तिमेवाभ्यामेतद् वदति यजमानस्य प्रजायै पशूनामहिंसायै (य०१२.५८ तथा श०१३.४.८) अत्र 'पशूनामहिंसायै' इति ब्राह्मणस्य तात्पर्यमहिंसापरत्वमेवेति।

यैरुच्यते-अश्वमेधयज्ञेऽश्वस्य हननं क्रियते स्म, तदपि न सत्यमस्ति। यतस्तस्मिन्नेव शतपथे 'इदं मा हिंसीरेकशफं पशुमित्येकशफो वा एष पशुर्यदश्वस्तं मा हिंसीरिति' (श०पृ०६६८)

सत्यां हिंसायां यजमानस्य तपो विनष्टं भवति। तद्यथा-

''तस्य तेनानुभावेन, मृगहिंसात्मनस्तदा।
तपो महत् समुच्छिन्नं, तस्माद्धिंसा न यज्ञिया॥
अहिंसा सकलो धर्मोऽहिंसा धर्मस्तथाविधः।
सत्यन्तेऽहं प्रवक्ष्यामि, यो धर्मः सत्यवादिनाम्॥''

(महा०शा०अ०२७२)

यज्ञप्रकरणेऽत्र छागपदेन छागदुग्धस्यैव ग्रहणम्। कथम्? छाग्या इदं छागं पयः। 'तस्येदमित्यग्' (पा०४.३१२)। छागदुग्धस्वे प्रमाणम्। यथा-

छागं कषायमधुरं, शीतं ग्राहि पयो लघु।
रक्तपित्तातिसारघ्नं, क्षयकासज्वरापहम्॥

(च०सं०अ०२४)

वपामेदादिशब्दानां मन्त्रोक्तानामयमर्थः:- धारोष्णदुग्धे स्निग्धभागस्यैव वपासञ्ज्ञा। न तु पशुं हत्वा तस्य नाभिस्थानीयस्य वपाया अत्र ग्रहणम्। तस्या हिंसाजन्यत्वात्, वेदविरुद्धत्वाच्चेति।

एवं वपाशब्दार्थो ज्ञेयः। 'रन्ध्रं श्वभ्रं वपो शुषिः' इति त्रिकाण्डी। दुग्धस्थानमूधस्तत्र स्थितं पयो वपा। गवादीनामूधसि स्थित धारोष्णं दुग्धमेव वपासञ्ज्ञकमित्यर्थः। यतो वपाशब्दः शुभ्रार्थे वर्तते, ततो न यज्ञे सवनीयपशोर्वपा ग्राह्या, हिंसाजन्यत्वात्, रोगोत्पादकत्वात्, वेदविरुद्धत्वाच्चेति। दुग्धस्यैवावस्थान्तररूपा वपा। 'प्रेष्यब्रुवोहविषो देवता सम्प्रदाने'। (पा०२.३.६१) अत्रोदाहरणम्- 'अग्नये छागस्य हविषो वपाया मेदसोऽनुब्रूहि' इत्यादावपि 'छागस्य' इत्यनेन छाग्या दुग्धस्यैव ग्रहणम्। दुग्धस्य धारोष्णस्यैव 'वपा' सञ्ज्ञा, उक्तं मनुना-

समुत्पत्तिं च मांसस्य, वधबन्धौ च देहिनाम्।
प्रसमीक्ष्य निवर्तेत, सर्वमांसस्य भक्षणात्॥

मनु०५.४९॥

'सर्वमांसस्य भक्षणात्' इत्यनेन न कस्यापि जीवस्य मांसं भक्षणीयमिति स्पष्टमेव।

निवृत्तामिषमद्यो यो, हिताशी प्रयतः शुचिः।
निजागन्तुकरुन्मादैः सत्ववान् न स युज्यते॥

(च०चि०अ०१४)

अभक्ष्याणां मांसवपादीनां भक्षणेनोन्मादादयो रोगा उत्पद्यन्ते, तथैवाग्नौ मांसवपादिप्रक्षेपणेन तज्जन्यधूम्रादिना जलवाय्वादयो दुष्यन्ति, ततो न यज्ञे तेषामुपादानमिति।

मांसभक्षणस्य तद्धोमस्य च सर्वकालनिषेधविधाय-कावन्यावपि मन्त्रौ। यथा-

य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये क्रविः।
गर्भान् खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि॥

अथर्व०८.६.२३

(ये) (केशवाः) कामिनः, केशाः सन्ति तेषान्ते 'केशाद्वोऽन्यतरस्याम्' (अष्टा०) आमम् अपरिपक्वम् **(मांसम्)** खादन्ति **(च) (पौरुषेयम्)** पुरुषसम्पादितं परिपक्वं मांसं **(गर्भान्)** अण्डानि **(खादन्ति)** भक्षयन्ति **(तान्)** तान् सर्वान् **(इतः)** वर्तमानशरीरात् **(नाशयामसि)**। सार्वकालिकोऽत्र मांसभक्षणनिषेधः।

तदस्य रूपममृतꣳ शचीभिस्तिस्रो दधुर्देवताः सꣳरराणाः। लोमानि शष्पैर्बहुधा न तोक्मभिस्त्वगस्य माꣳसमभवन्न लाजाः॥

(यजु०१९.८१)

भावार्थः-'ये दीर्घसमयावधि जटिला ब्रह्मचारिणो वा पूर्णविद्याजितेन्द्रिया भद्रा जनाः सन्ति त एव यजधातोरर्थं ज्ञातुमर्हन्ति, न बाला अविद्वांसो वा। स होमाख्यो यज्ञो यत्र मांसक्षाराम्लतिक्तगुणादिरहितं किन्तु सुगन्धिपुष्टमिष्टं रोगनाशकादिगुणसहितं हविः स्यात् तदेव होतव्यं च स्यादिति'-आचार्यदयानन्दः।

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥ मनु०

अथ शतपथकारः स्वयमेव मांसशब्दार्थमाह- 'एतद् ह वै परममन्नाद्यं यन्मांसं स परमस्यैवान्नाद्यस्यात्ता भवति'। (श०११.७)

अयमभिप्रायः-यज्ञप्रकरणे मांसशब्देन परमान्नस्य पायसस्यैव ग्रहणम्। न च शतपथकारेण मांसपदेन पशुवधमांसं गृहीतम्। अतो यत्र कुत्रापि तत्र पशुवधलेखोऽस्ति, न स शतपथकारस्य, प्रक्षिप्तत्वात् तस्येति। 'स परमस्यै वान्नाद्यस्यात्ता भवति' इति कथनादपि पशुवधमांसनिषेधः। स यजमानः परममन्नं पायसादिकमेवाऽस्तु नाऽभक्ष्यं दुष्टं मांसादिकम्।

शतपथे मांसखण्डनम्

'पचन्ति वा अन्येषु अग्निषु वृथा मांसमथैतेषां नातोऽन्या मांसाशा विद्यते यस्याचैते भवन्ति।'

(श०११.७)

अस्यार्थः-(वा) अन्येषु (गार्हपत्यादिभिन्नेष्वग्निषु) (मांसम्) (वृथा निष्फलम्) (पचन्ति) अथ (अनन्तरम्) एतेषाम् (गार्हपत्याद्यग्नित्रयाणाम्) अतः (पायसादेः) अन्या (भिन्ना) मांसाशा (पशुवधमांसभक्षणम्) (न विद्यते) (नास्ति) (यस्य) यस्याग्निहोत्रिणः (उ) इति वितर्के (एते) अग्नयः (भवन्ति)।

अर्थात्, पशोर्वपामांसादिकमग्नौ गार्हपत्याद्यग्नित्रयसेविभिराहिताग्निभिर्न कदापि होतव्यं न केनापि भक्षणीयं वा, यतः प्राणिवधप्राप्तं हिंसात्मकं वपादिकं यज्ञे न क्वापि वेदानुकूलमिति।

'यदिमा आप एतानि मांसानि' (श०७.४.२)। अत्र जलं मांसमुच्यते।

'[illegible]' (श०अ०८.३)

कात्यायनश्रौतसूत्रे सौत्रामणिनिरूपणेऽष्टादशसूत्रस्योपरि कर्काचार्य-भाष्यम्-'तोक्मशब्देन यवा विरूढ़ा उच्यन्ते।' अत्र हरितानां यवानां मांससञ्ज्ञास्ति।

आम्रस्यानुफले भवन्ति, युगपन्माँसास्थि-मज्जादयो। लक्ष्यन्ते न पृथक् त्वणुतया, पुष्टास्त एव स्फुटाः॥ (बृहन्निघ०)

आम्रस्य अनुफले युगपन्मांसास्थि-मज्जादयो भवन्ति तु पृथक् अणुतया न लक्ष्यन्ते, पुष्टाः त एव स्फुटीभवन्ति। एवम् तिलचूर्णस्यापि मांससञ्ज्ञा। श्राद्धादौ फलैरहरहः श्राद्धं कुर्यान्न तु मांसेनाऽभक्ष्येणेति। जीवतामेव पितृणां तत्। कुत्रापि मांसशब्देन 'जटामाँसी'ति गृह्यते। एवम् 'मांसरोहिणी' इत्यपि मांसपदेन गृह्यते।

Vaidika Vāg-Jyotiḥ
ISSN 2277-4351
Vol.1, No.1 (167-170) Jul-Dec 2012

वेदे गणितम्

मानसिंहः
६०/३, मुंशी प्रेमचन्द मार्गः, नवीनं नेहरुनगरम्,
रुड़की, जनपदम्-हरिद्वारम् (उत्तराखण्डम्)

वेदेष्वनेकत्र गणितशास्त्रीयसन्दर्भाः प्राप्यन्ते ये वेदकालिकजनानां गणितशास्त्रीयं ज्ञानं प्रकाशयन्ति। प्रथमं तावदङ्कगणितं विचारविषयतामानीयते। अनेकेषु वेदमन्त्रेषु संख्यानामुल्लेखो दृश्यते। अथर्ववेद (५.१५.१-११) एका द्वे तिस्रश्चतस्रः पञ्च षट् सप्ताष्ट नवदशसंख्याः क्रमेणोपदिष्टाः, एवञ्च विंशतिः, त्रिंशः, चत्वारिंशत्, पञ्चाशत्, षष्टिः, सप्ततिरशीतिर्नवतिः शतञ्चेति दशगुणात्मिकाः संख्या अपि निर्दिष्टाः। यजुर्वेदे[1] (वाज०सं०१७.२) संख्यानामित्थं निर्देशः-एका, दश, शतम्, सहस्रम्, अयुतम्, नियुतम्, प्रयुतम्, अर्बुदम्, न्यर्बुदम्, समुद्रः, मध्यम्, अन्तः, परार्धश्चेति; एता ही दशगुणोत्तराः संख्याः- ›

इमा मे॑ अग्न॒ इष्ट॑का धे॒नवः॑ सन्त्वेका॑ च॒ दश॑ च दश॑ च श॒तं च श॒तं च श॒तं च॑ स॒हस्रं॑ च स॒हस्रं॑ चा॒युतं॑ चा॒युतं॑ च नि॒युतं॑ च नि॒युतं॑ च प्र॒युतं॒ चार्बु॑दं च॒ न्यर्बुदं च समुद्रश्च॒ मध्यं॒ चान्त॑श्च परा॒र्धश्चै॒ता मे अग्न॒ इष्ट॑का धे॒नवः॑ सन्त्व॒मुत्रामुष्मिँ॑ल्लो॒के॥

अपरस्मिन् मन्त्रे (२७.३३) दशमपद्धत्या संख्यानामित्थं निर्देशः-एकया-दशभिः (१-१०), द्वाभ्याम्-विंशती (२-२०), तिसृभिः-त्रिंशता (३-३०)-

एक॑या च द॒शभि॑श्च॒ स्वभू॑ते द्वाभ्या॑मि॒ष्टये॑ वि॒ꣳश॒ती च॑। ति॒सृभि॑श्च॒ वह॑से त्रि॒ꣳशता॑ नि॒युद्भि॑र्वायवि॒ह ता वि मु॑ञ्च॥

यजुर्वेदे त्रयस्त्रिंशत्पर्यन्तानामेकत्रिपञ्चादीनां सप्तदशानां विषमसंख्यानामप्युल्लेखो दृश्यते (१४.२८-३१; १८.२४)। यजुर्वेदे (३९.६; ९.३४; १४.२३-२६) अष्टाचत्वारिंशत्पर्यन्ताः प्रथमाद्याः संख्येयसंख्या (Ordinal Numbers) अपि प्रयुक्ताः। एतादृश्यः संख्या ऋग्वेदे (१.१६२.४; १.१४१.२; २.५.२; ५.२७.३; ८.२४.३; ४.२६.३) अथर्ववेदे (१.१२.१; १३.५.१६-१८; १५.१६.११) चापि दृक्पथमायान्ति।

यजुर्वेदेऽधस्तने मन्त्रे (१८.२४) चलनकलन (Calculus) सिद्धान्तानुसारेण संख्यानां विन्यासो दृश्यते-

एका॑ च मे ति॒स्रश्च॑ मे ति॒स्रश्च॑ मे॒ पञ्च॑ च मे॒ पञ्च॑ च मे स॒प्त च॑ मे स॒प्त च॑ मे॒ नव॑ च मे॒ नव॑ च मे॒ एका॑दश च म॒ एका॑दश च मे॒ त्रयो॑दश च मे॒ त्रयो॑दश च मे॒ पञ्च॑दश च मे पञ्च॑दश च मे स॒प्तद॑श च मे स॒प्तद॑श च मे॒ नव॑दश च मे॒ नव॑दश च म॒ एक॑विꣳशतिश्च म॒ एक॑विꣳशतिश्च मे॒ त्रयो॑विꣳशतिश्च मे॒ त्रयो॑विꣳशतिश्च मे॒ पञ्च॑विꣳशतिश्च मे॒ पञ्च॑विꣳशतिश्च मे स॒प्तवि॑ꣳशतिश्च मे स॒प्तवि॑ꣳशतिश्च मे॒ नव॑विꣳशतिश्च मे॒ नव॑विꣳशतिश्च म॒ एक॑त्रिꣳशच्च म॒ एक॑त्रिꣳशच्च मे॒ त्रय॑स्त्रिꣳशच्च मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम्॥

अत्र हि पूर्वसंख्यावर्गस्य परसंख्यावर्गाद् व्यवकलनं कृत्वा सम्प्राप्तानां संख्यानां क्रमेण समुपदेशः-

$0^2 = 0$

$1^2 = 1\text{-}0=1$

$2^2 = 4\text{-}1=3$

$3^2 = 9\text{-}4=5$

$4^2 = 16\text{-}9=7$

$5^2 = 25\text{-}16=9$

$6^2 = 36\text{-}25=11$

$7^2 = 49\text{-}36=13$

$8^2 = 64\text{-}49=15$

$9^2 = 81\text{-}64=17$

$10^2 = 100\text{-}81=19$

$11^2 = 121\text{-}100=21$

$12^2 = 144\text{-}121=23$

$13^2 = 169\text{-}144=25$

$14^2 = 196\text{-}169=27$

$15^2 = 225\text{-}196=29$

$16^2 = 256\text{-}225=31$

$17^2 = 289\text{-}256=33$

ऋग्वेदे (२.१८.५-६) दशपर्यन्तसमसंख्यानां (२,४,८,१०) निर्देशानन्तरं शतपर्यन्तानां दशगुणानां (२०,३०,४०,५०,६०,७०,८०,९०,१००) संख्यानां व्यवस्थितिरवलोक्यते। गणितशास्त्रे दाशमिकी प्रणाली[२] तु भारतवर्षस्यैव विशिष्टमवदानं विद्यते।

वेदेषु संकलित (Addition) [३] व्यवकलित (Subtraction) [४] गुणन (Multiplication)[5], भागहर (Division) भिन्नादीनि परिकर्माण्यपि दृग्गोचरीभवन्ति।

शून्यस्यावधारणापि मूलतो वैदिक्येव। ऋग्वेदे 'शुनम्' इति पदमूनत्रिंशद्वारं प्रयुक्तम्।[६] तत्रेदं सायणेनैकस्मिन् मन्त्रे (३.३०.२२) 'प्रवृद्धम्' इत्यनेन, अपरस्मिन् मन्त्रे (१०.६९.८८) 'सुखम्' इत्यनेन, इतरेषु स्थलेषु च सुखनामत्वेन मत्वा 'सुखम्' इत्यनेन पदेन व्याख्यातम्।[७] शब्दोऽयं श्रयतेः 'नपुंसके भावे क्तः' (अष्टा०३.३.११४) इति क्तप्रत्यये, यजादित्वात् सम्प्रसारणं, 'हलः' (अष्टा०६.४.२) इति दीर्घत्वे, 'ओदितश्च' (अष्टा०८.२.४५) इति निष्ठानत्वे सिद्धः 'निष्ठा च द्व्यजनात् (अष्टा०६.१.१०५) इत्याद्युदात्तः। एतस्मादेव शब्दात् 'उगवादिभ्यो यत्' (गण०५.१.२) इति यत् प्रत्यये, 'शुनः सम्प्रसारणं वा च दीर्घत्वम्' इति दीर्घत्वे 'शून्यम्' इति निष्पद्यते; 'यावादिभ्यः कन्' (गण०५.४.२९) इत्यन्तर्गतश्च 'शून्य रिक्ते' इति रिक्तेऽर्थे व्याख्यातः। इत्थं सुखबोधकः समृद्धिवचनो वा शुनशब्द एव व्यवृद्धिबोधकः शून्यशब्दो जातः, यथा पूर्णत्बोधकः पूर्णशब्दो रिक्ततत्वरूपशून्यार्थे प्रयुज्यते।[८] अधस्तनयोर्मन्त्रयोः शून्यशून्यपदेऽभावार्थे रिक्तार्थे वा प्रयुक्ते-

मा सोमस्य शंभुवः शूने भूम कदा चन वित्तं मे अस्य रोदसी। (ऋग्०१.१०५.३)

शून्यैषी निर्ऋते (अथर्व०१४.२.१९)[९]

शून्यार्थे प्रयुक्तस्तुच्छशब्दोऽप्यृग्वेदे तुच्छ्यरूपे प्रयुक्तो विद्यते-तुच्छ्यान् कामान् करते सिष्विदानः (५.४२.१०); तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् (१०.१२९.३)।

वेदसंहितासु बीजगणितविषयकाः सन्दर्भा नोपलभ्यन्ते। यद्यपि कतिपयानि क[१०] खा[११] दीनि संकेताक्षराणि मन्त्रेषु प्राप्यन्ते परं तेषां गणितदृष्ट्या प्रयोगो न दृश्यते।

सम्प्रति ज्यामितिविषयकाः सन्दर्भा विवेचनवीथीमानीयन्ते। ऋग्वेदे ३६० अंशयुक्तवृत्त[१२] परिधि[१३] प्रउगा[१४] दयः पारिभाषिकपदानि प्रयुक्तानि। यजुर्वेदे सूर्यरश्मिव्याजेन त्रिभुजाकृतिरेव सङ्केतिता।[१५]

एकस्मिन् ऋग्वेदीये मन्त्रे परिधिव्यास-योरनुपातस्त्रितपदेन व्यवहृतः।[१६] 'भिनद् वलस्य परिधीः' अर्थात् १.३ (वस्तुतस्तु २२.७) रूपे भिनत्। त्रितात्मकः परिधिव्यासयोरनुपातः १.३ रूपात्मकस्तु त्रुटिपूर्ण एव शुद्धानुपातेन तु २२.७ रूपे भाव्यम्। अतो बृहस्पतिनायमनुपातः संशोधितः। एतदेव तथ्यं त्रितस्य कूपाद् बहिरागमनेन प्रतिपादितः।[१७] आर्यभटः (४७६ ई०) स्वीयस्यार्यभटीयस्य गणितपादे [१८] ऽस्मादपि सूक्ष्ममानं दत्तवान्। तदनुसारेण ६२, ८३२ परिधियुक्तस्य (Circumference) २०,००० व्यासयुक्तस्य (Diameter) च वृत्तस्यासन्नमानं (निकटतममानं) ३.१४१६ भविष्यति-

परिधि /व्यास–६२, ८३२/२००००= ३.१४१६

एतदेव ' π ' इत्येतस्य मानम्। आर्यभटानु-सारेणैतद् आसन्नमानम्। वस्तुतस्तु ' π ' इत्येकापरिमेया संख्या, यस्या मानं सर्वथा दुष्प्राप्यमेव। २२/७ इत्येतस्मिन् त्रिदशमलवस्थानानन्तरमवशिष्टस्य १/७ इति भिन्नस्य समाधानमन्तहीनमेव वर्तते। आधुनिके गणितशास्त्रेऽप्येषा समाधेया समस्या विद्यते।

विविधाकारवेदिनिर्माणप्रतिपादकेभ्यः शुल्वसूत्रेभ्योऽपि ज्यामितिविषयकं ज्ञानं जायते। यवनीयगणितज्ञस्य पाइथागोरसस्य प्रमेयस्तु तत्प्रागेव कात्यायनबौधायनापस्तम्बादिप्रणीतेषु शुल्वसूत्रग्रन्थेषु प्रतिपादितः। पाइथागोरसानुसारेण समकोण त्रिभुजकर्णोपरिनिर्मितो वर्गस्तदवशिष्टभुजाद्वयोपरिनिर्मितवर्गाभ्यां तुल्यो भवति।[१९] एवमेव समचतुरस्रकर्णरेखाया उपरि निर्मितस्य समचतुरस्रस्य क्षेत्रफलं मूलचतुरस्रक्षेत्रफलस्य द्विगुणं भवतीति निर्दिष्टं कात्यायनबौधायनापस्तम्बैः:-

समचतुरस्राक्ष्णया रज्जुर्द्विकरणी।

(कात्यायन शुल्वसूत्रम्, २.१२)

समचतुरस्रस्याक्ष्णया द्विस्तावतीं भूमिं करोति। (बौधायन-शुल्वसूत्रम्, १.४५)

समचतुरस्रस्याक्ष्णया द्विस्तावतीं भूमिं करोति। (आपस्तम्ब-शुल्वसूत्रम्, १.११)

एवमेव तैरेतदप्युक्तं यद् दीर्घचतुरस्रस्य कर्णरज्जुस्तद्भुजाद्वयस्योपरिनिर्मितचतुरस्रसमानक्षेत्रफलयुक्तं चतुरस्रं करोतीति-

दीर्घचतुरस्रस्याक्ष्णया रज्जुः पार्श्वमानी तिर्यङ्मानी च यत् पृथग्भूते कुरुतस्तदुभयं करोति। (कात्यायन-शुल्वसूत्रम्, २.११; बौधायन-शुल्बसूत्रम्, १.४८; आपस्तम्ब-शुल्बसूत्रम्, १.९)

इत्थमेत आचार्यास्तत्प्रमेयप्रसङ्गे पाइथागोरस-पूर्वगामिनो विद्यन्ते।

उपरितनैर्विवरणैर्वेदेषु वैदिकग्रन्थेषु चाभिव्यक्तं गणितशास्त्रीयज्ञानं सर्वथा महत्त्वपूर्णं प्रशंसार्हञ्चेति तु सुतरां सिद्धम्।

पाद-टिप्पणियां-

१ एवमेव कृष्णयजुर्वेदीयासु काठकतैत्तिरीयमैत्रायणीसंहितास्वपि परार्धपर्यन्ताः संख्या नाम्ना निर्दिष्टाः।

२ दशमपद्धत्यर्थमवलोकनीय ऋग्वेद १०.९४.७-८

३ ऋग्वेदः ३.९.९; १०.५२.६; त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन्। (३००+३०००+३०+९+३३३९)

४ अथर्ववेदः १९.४७.३-५

५ ऋग्वेदः ७.९९.५; शततमाविवेषीः; १०.९०.३६; पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥ १०.९०.४; त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः। (यजु०३१.४)

६ ऋग्०१.११७.१८; ३.३०.२२; ३.३१.२२; ३.३२.१७; ३.३४.११; ३.३५.११; ३.३६.११;

३.३८.१०; ३.३९.९; ३.४३.८; ३.४८.५; ३.४९.५; ३.५०.५; ४.३.११; ४.५७.४; ५.५७.८४; ६.१६.४; १०.८९.१८; १०.१०२.८; १०.१०४.११; १०.१२६.७; १०.१६०.५

७ द्रष्टव्यं माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणम्, ७.२.२.९; यद्वै समृद्धं तच्छुनम्; २.६.३.२; या वै देवानाः श्रीरासीत् साकमेधैरीजानानां तच्छुनम्। 'शुनम्' इति सुखनामापि भवति।

८ द्रष्टव्यो मोनिएर मोनिएर-विलिअम्स-प्रणीतः संस्कृत इंग्लिश-शब्दकोशः (दिल्लीः ओरिएण्टल पब्लिशर्स), पृ०६४२। अस्मिन् प्रसङ्गे बृहदारण्यकोपनिषदोऽयं मन्त्रोऽप्यवलोकनीयः- पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥ परं खग्रासग्रहणमित्यादिषु पदेषु खमिति पूर्णार्थबोधकम्।

९ तुलनीयं छान्दोग्यब्राह्मणम्, १.१.११, अशून्योपस्था।

१० ऋग्वेदः १.१२१.१-९ : कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम। तुलनीयमेतरेयब्राह्मणम्, २.३८ : प्रजापतिर्वै कः।

११ यजुर्वेदः ४०.१७; खं ब्रह्म॑।

१२ ऋग्वेदः १.१६४.४८ (अथर्व०१०.८.४) :

द्वाद॑श प्र॒धय॑श्च॒क्रमेकं॒ त्रीणि॒ नभ्या॑नि॒ क उ॒ तच्चि॑केत। तस्मि॒न् त्सा॒कं त्रि॒श॒ता न श॒ङ्कवो॑ऽर्पि॒ता षष्टिर्न च॑लाच॒लासः॑॥

ऋग्०१.१५५.६ : च॒तुर्भि॑ः सा॒कं नव॑तिं च॒ नाम॑भिश्च॒क्रं न वृत्तं व्यती॑रवीरिपत्।

१३ उपरितनो ग्रन्थः, १०.१३०.३ : प॒रि॒धिः क आ॑सीत्।

१४ स एव, १०.१३०.३ : प्रउ॑गं॒ किम्। शुल्बसूत्रेषु प्रउगशब्दः समद्विबाहुत्रिभुज (Iso-sceles Triangle) वचनः।

१५ यजुर्वेद ३३.७४ : ति॒र॒श्चीनो॒ वित॑तो र॒श्मिरे॑षाम॒धः स्वि॑दा॒सी३दुपरि॑ स्विदासी३त्।

१६ ऋग्०१.५२.५ : भि॒नद् व॒लस्य॑ परि॒धीरि॑व त्रि॒तः। द्रष्टव्योऽथर्ववेदः, ८.९.२ : योनिं॑ कृत्वा त्रि॒भुज॑ं शया॑नः।

१७ ऋग्वेदः १.१०५.१७ : त्रि॒तः कूपेऽव॑हितो दे॒वान् ह॑वत ऊ॒तये॑। तच्छु॑श्राव बृह॒स्पतिः॑ कृ॒ण्वन्नं॑हूर॒णादु॒रु वि॒त्तं मे॑ अ॒स्य रो॑दसी॥

१८ गणितपादः, १० : चतुरधिकं शतमष्टगुणं द्वाषष्टिस्तथा सहस्राणाम्। अयुतद्वयविष्कम्भस्यासन्नो वृत्तपरिणाहः॥ द्रष्टव्यः कपिलदेवद्विवेदिविरचितो 'वेदों में विज्ञान' (विश्वभारती-अनुसन्धान-परिषद्, ज्ञानपुर, भदोही, द्वितीयं संस्करणम्, २००४ ई०) इति ग्रन्थः, पृ०२०३

१९ "That the square on the hypotenuse of a right-angled triangle is equal to the sum of the squares on the other two sides."

Vaidika Vāg-Jyotiḥ
ISSN 2277-4351
Vol.1, No.1 (171-175) Jul-Dec 2012

प्रमुख वैदिक-ऋषिकाः-एकमध्ययनम्

विक्रम कुमारः
प्रोफेसर, संस्कृतविभागः, पंजाब विश्वविद्यालयः, चण्डीगढम्

वेदाः न केवलं भारतीयानामपितु विश्वेषामपि मानवानां ज्ञाननिधय इत्यविवादास्पदमेतत्। वेदानां विषये, वेदार्थविषये, मन्त्ररचनाविषये, छन्दोविषये च विविधा मान्यताः पापाठ्यन्ते। अपि वेदाः नित्या अनित्या वा? कः खलु एषां कालः? नन्विमे अपौरुषेयाः, आहोस्वित् पुरुषकर्तृकाः? वैदिकसूक्तारम्भेषु यानि खलु ऋषिनामानि, देवतानामानि, छन्दोनामानि स्वरनामानि चोपलभ्यन्ते कोऽभिप्रायस्तेषाम्? इति सन्ति तत्र विविधविप्रतिपत्तयः।

इह खलु वैदिकऋषिका अधिकृत्यैव संक्षेपेण किमप्युच्यते। पूर्वं तावदिदं विचारणीयम्-किं तावद् ऋषिः? शतपथब्राह्मणे [१] मनुस्मृतौ [२] च अग्निवायुसूर्यादयस्त्रय ऋषयः परिगणिताः येभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त। दयानन्दानुसारं च अङ्गिरा चापि चतुर्थ ऋषिर्बभूव यस्माद् अथर्वोऽजायत्। अतो यानीतराणि ऋषिनामानि सूक्तारम्भेषु उपलभ्यन्ते कस्तेषामभिप्रायः? स्वामिदयानन्दमते तु नेतरे ऋषयो वेदमन्त्राणां मूलद्रष्टारः, यतः ब्रह्मादयः पूर्वे ऋषयोऽप्यभूवन् यैर्वेदा अधीताः श्रुताश्च। अत इदमेवोचितं यत् पूर्वे अग्न्यादयो वेदमन्त्रान् ददृशुः प्रकटयामासुः सम्प्रादुश्च। पश्चाद् ये धर्मात्मानो योगिनो महर्षयश्च मन्त्रजिज्ञासव आसन् परमात्मकृपया समाधौ मन्त्रार्थप्रकाशस्तेष्वजायत। अतस्ते मन्त्रऋषयः इति प्रसिद्धाः। यथोक्तम् ऋक्सर्वानुक्रमण्याम्-**यस्य वाक्यं स ऋषि** (२.४)। सूक्तगतं यं मन्त्रं यः प्रयुङ्क्ते तस्य स ऋषिरित्यर्थः। निरुक्ते यास्कोऽपि प्राह-'**ऋषिर्दर्शनात्। स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः।** ''**तद्यदेनांस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत्, तदृषीणामृषित्वमिति विज्ञायते** (२.११)।'' ''**एवमुच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति** (७.३)''। बृहद्देवतायामुक्तम् ''**संवादेष्वाह वाक्यं यः स तु तस्मिन् भवेदृषिः।**'' (२.८८) वाचस्पत्येऽप्युक्तम्-**येन यद् ऋषिणा दृष्टं सिद्धिः प्राप्ता च येन वै। मन्त्रेण तस्य तत्प्रोक्तम् ऋषिभावः स उच्यते॥** उपर्युक्तप्रमाणैः ऋषिशब्दस्य भावः स्फुटं परिस्फुटति।

'वैदिकऋषिवत् वैदिक-ऋषिका अपि ज्ञानवत्य प्रतिभाशालिन्यः सूक्ष्मद्रष्ट्यश्च वर्तन्ते। सर्वक्षेत्रेषु सर्वविषयेषु च नरवत् नार्योऽप्यग्रगामिन्योऽनुगन्त्र्यश्च बभूवुरित्यैतिह्येनेद-मनुज्ञायते। वैदिकमन्त्रार्थदर्शनेऽपि विविधानामृषि-काणां योगः श्रमश्च परिलक्ष्यते। वेदाधीते सति नैकानि ऋषिकानामानि उपलभ्यते। तासु अपाला, घोषा, रोमशा, लोपामुद्रा, वागाम्भृणी, श्रद्धा, इन्द्राणी, उर्वशी, वसुकपत्नी, विश्ववारा आत्रेयी, शचीपौलोमी, सर्पराज्ञी, सूर्या इत्याद्या मुख्याः।

वागाम्भृणी-

आसु वागाम्भृणी अभिधाना ऋषिका ऋग्वेदीयदशममण्डलस्य पञ्चविंशत्युत्तरमेक-शततमस्य सूक्तस्य (१०.१२५) द्रष्ट्री वर्तते। अष्टमन्त्रात्मकेऽस्मिन् सूक्ते, सायणाचार्यः शाङ्करवेदान्तमतमेवानुमुमोद। 'मयि हि सर्वं

जगच्छुक्तौ रजतमिवाध्यस्तं संदृश्यते। माया च जगदाकारेण विवर्तते। तादृश्या मायाया आधारत्वेनासङ्गस्यापि ब्रह्मण उक्तस्य सर्वस्योत्पत्तिः'' इत्युक्त्वा सूक्तगतैर्मन्त्रैर्वेदान्त-मतमेव स पुपोष। दार्शनिकैरपि सूक्तमिदं आत्मनः परमात्मनश्चाद्वैतसिद्धये प्रस्तूयते। परं नेदं सूक्तं वेदान्तमतपोषकम् अपितु सर्वव्यापिनः परमात्मनोऽखिलव्यापकत्ववादी महिमावादी चेत्यसंशयः। सूक्तमिदमधिकृत्य कात्यायनप्रणीतायां सर्वानुक्रमण्यामुक्तम्-''वागाम्भृणी तुष्टावात्मा-नम्''। तदनुसारं सायणाचार्यः सूक्तमिदं परिचाययन् प्राह-''अम्भृणस्य महर्षेर्दुहिता वाङ्नाम्नी ब्रह्मविदुषी स्वात्मानमस्तौत्। अतः सर्षिः।'' यद्यपि अस्य सूक्तस्य देवता सच्चिदानन्दरूपः सर्वव्यापकः परमात्मा वर्त्तते तथापि इयं वागाम्भृणी परमेश्वरेण तादात्म्यमनुभवन्ती स्वात्मानमेवाखिलवस्त्व-धिष्ठानत्वेन वर्णयति। अम्भृणशब्दः निघण्टौ महद्वाचीति पठितः (३.३)। अम्भृणशब्दोऽत्र परमात्मार्थकः। तत्सम्बन्धिनी च वाणी वागित्यभिधीयते। अतोऽत्र परमात्मनः जगन्मातृत्वेनात्मस्तुतिर्वर्त्तते इति समीचीनमेतत्। रुद्र-वसु-आदित्य-मित्र-वरुणादयो देवास्तस्या एव पुत्राः। सा एव सर्वप्राणिनः भोजयति। सा एव पुत्रान् शिक्षयन्ती ब्रह्मणः ऋषींश्च करोति। यथोक्तं तत्र-''**अ॒हं रु॒द्रेभि॒र्वसु॑भिश्चरामि**'' (१०.१२५.१), ''**मया॒ सो अन्न॑मत्ति॒ यो वि॒पश्य॑ति**'' (१०.१२५.४) इत्यादिः। इयमाम्भृणी वाक् प्रदीपिका, देवानन्दकारिणी, अन्नजलदात्री, हर्षकारिणी, राज्याधीश्वरी, धनदात्री, ज्ञानवती, प्राणत्यापिनी, उपदेशिका, आकाशजननी च वर्त्तते इति तत्र वर्णितम्। अन्तिमे मन्त्रे तु तया कथ्यते-

अ॒हमे॒व वात॑ इव॒ प्र वा॑म्या॒रभ॑माणा॒ भुव॑नानि॒ विश्वा॑। प॒रो दि॒वा प॒र ए॒ना पृ॑थि॒व्यैताव॑ती महि॒ना सं ब॑भूव॥ ऋग्०१०.१२५.८

इन्द्राणी-

इन्द्राणी खलु इन्द्रस्यपत्नी ''शची'' इति अपरनामधेया वर्त्तते। ऋग्वेदीयदशममण्ड-लान्तर्गतस्य पञ्चचत्वारिंशदधिकमेकशततमस्य सूक्तस्य (१०.१४५) ऋषिका इन्द्राणी, नवपञ्चाशदधिकमेकशततमस्य च (१५९) सूक्तस्य पुलोमपुत्री शची वर्त्तते। उभयोः सूक्तयोरध्ययनेन ज्ञायते यदिन्द्रस्य बहुपत्नीकत्वात् शची तमदुह्यत्। सपत्नीबाधनार्थं चेमे सूक्ते ताभ्यामपठ्येताम्।

कात्यायनः सर्वानुक्रमण्यां प्राह-''पौलोमी शची आत्मानं तुष्टाव। शची पुलोमपुत्री इन्द्रपत्नी च विद्यते। आपस्तम्बगृह्यसूत्रे (९.९) सपत्नीबाधनार्थं सूर्योपस्थाने इदं सूक्तं विनियुक्तम्। निघण्टौ शची कर्मवाचीति पठितम् (२.९)। क्रियाशक्त्यर्थकः खलु शची शब्दः। यथेन्द्रः वीरत्वायः प्रख्यातस्तथैवेन्द्राण्यपि वीराङ्गनेति प्रसिद्धा। सूक्तेनानेन स्त्रीणां वैदिकस्थितिः परिज्ञायते वीरपत्न्याः उद्घोषणाचांनुश्रूयते। यथोक्तम् सूक्ते-'**अ॒हं के॒तुर॒हं मू॒र्धा अ॒हमु॒ग्रा वि॒वाच॑नी**' (१०.१५९.२), ''**मम॑ पु॒त्राः श॑त्रु॒हणोऽथो॑ मे दु॒हि॒ता वि॒राट्**'' (१०.१५९.३) ''**अ॒स॒प॒त्ना स॑पत्न॒घ्नी जय॑न्त्यभि॒भूव॑री**'' (१०.१५९.५) इत्यादिः।

श्रद्धा-

ऋग्वेदीयदशममण्डलस्यैकपञ्चाशत्तमं सूक्तं (१०.५१) श्रद्धा सूक्तमिति निगद्यते। श्रद्धादेवतात्मकस्यास्य सूक्तस्य द्रष्ट्री चापि श्रद्धा ऋषिका वर्त्तते। पञ्चमन्त्रात्मकस्यास्य सूक्तस्य द्रष्ट्री श्रद्धा खलु पुरुषगतोऽभिलाषविशेषः श्रद्धेति सायणाचार्यस्य मतम्। ''श्रद्धां भगस्य मूर्धनि

वचसा 'वेदयामसि' इति मन्त्रांशस्य व्याख्याने स "श्रद्धाम् उक्तलक्षणाया: श्रद्धाया अभिमानिदेवताम्" इत्यर्थ: चकार। मनुष्यस्य सर्वथा उन्नतये श्रद्धा खलु प्रधानकारणम्। गीतायामप्योलिखितम्-"श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।" यो जनो यथा श्रद्धत्ते स तथैव सम्पद्यते। "श्र॒द्धया॑ विन्दते॒ वसु॑" (१०.१५१.४) इति सत्यमेव।

लोपामुद्रा-

ऋग्वेदस्य प्रथममण्डले नवसप्तत्यधिकमेक-शततमे सूक्ते (१.१७९) अगस्त्यलोपामुद्रयो: संवाद: प्राप्यते। अनुक्रमण्यामाद्यौ मन्त्रौ लोपामुद्राकथनम्, तृतीयचतुर्थौ चागस्त्यकथनमिति वर्णितम्। बृहद्देवतायामपि (४.५७-६०) एतद्विषये ऐतिह्यं प्राप्यते। यशस्विनीं भार्यां लोपामुद्रां ऋतुस्नातामवलोक्य अगस्त्य: सहवासाकाङ्क्षया तां प्रावोचत्। प्रथमाभ्यामृग्भ्यां लोपामुद्रा स्वाभिप्रायमकथयत्। रिरंसुरगस्त्यश्चोत्तराभ्यामृग्भ्यां तामतोषयत्।

सूक्तमिदं गृहस्थाश्रमे भोगसंयमयो: समन्वयं प्रतिपादयति। अधिदैवतानुसारं सूर्य: अगस्त्य:, पृथिवी च लोपामुद्रा इत्यनुमीयते। दम्पतीरूपेणेमौ प्रसिद्धौ। पृथिवी खलु गीष्मर्तौ पिपासुत्वाद् रत्यर्थं सूर्यं प्रति विपश्यति स च मेघवर्षणेन तदिष्टं पूरयति।' ताभ्याञ्च वनस्पतिसन्तति: प्रजायते। अस्य सूक्तस्य व्याख्यानं प्रकृतिपरमेश्वरपरकम्, नक्षत्रविद्यापरकम्, अध्यात्मपरकञ्चापि गुरुवर्यै: डॉ० रामनाथ वेदालङ्कार महाभागै: कृतमिति तत्र द्रष्टव्यम् (वेदों की वर्णन शैलियाँ, संवादात्मकशैली)।

उर्वशी-

ऋग्वेदीय दशममण्डलस्य पञ्चनवतितमं सूक्तं (१०.९५) पुरुरवा-उर्वशी संवादात्मकं वर्त्तते। सूक्तस्य द्रष्टा द्रष्ट्री च उभावपि वर्त्तेते। इदं संवादसूक्तं विशेषार्थपरकम्। अत: स्कन्द: प्राह- "एवमाख्यानस्वरूपाणां मन्त्राणां यजमाने नित्येषु च पदार्थेषु योजना कर्त्तव्या। एव शास्त्रे सिद्धान्ता:....औपचारिको मन्त्रेष्वाख्यानस्वरूपाणां मन्त्राणां यजमाने नित्येषु च पदार्थेषु कर्त्तव्यां। एवं शास्त्रे सिद्धान्त:..औपचारिको मन्त्रेष्वाख्यानसमय:। परमार्थेन तु नित्यपक्ष इति सिद्धम्।"

वस्तुत: सूक्तेऽस्मिन् उर्वशी "अन्तरिक्षप्रा" "रजसो विमानी" इत्यादिविशेषणैर्विशिष्यते। येन स्पष्टं भवति यत् उर्वशी शब्दो यौगिक: वर्त्तते। ऐतिह्यानुसारं पुरुरवाभिधानो भूपो बभूव। इडाया: पुत्रत्वादैड इति स प्रसिद्ध:। स उर्वशीं पर्यणयत्। सहस्थितेरनन्तरमुर्वश्यां यत्रतत्राऽन्तर्हितायां पुरुरवा भूयस्तामन्वेषयति। साक्षात्कारे चोभयो: संवाद: प्रवर्त्तते। राजनैतिकदृष्ट्या पुरूरवा क्षत्रियनृपति:, इडा राष्ट्र भूमि: उर्वशी च तत्पत्नी वर्त्तते। अस्मिन्नर्थेऽशेषमपि सूक्तं सङ्गच्छते। सम्पूर्णसूक्ते स्वाभाविकता परिलक्ष्यते। मदनाभिभूतस्य मनुष्यहृदयस्य चित्रणं, नार्या: दूरदृष्टि: बुद्धिमत्वं कर्त्तव्योन्मुखता चात्र देदीप्यते। निरुक्ते "पुरुरवा उर्वशी च मध्यमस्थानीयदेवतासु पठ्येते। केषांचन मते "उर्वशी" विद्युत् "पुरुरवा" च वायुरस्तीति स्कन्देनालिखितम्। मैक्समूलर: सूक्तमिदं वैदिकासु पुरावृत्तकथासु अन्यतमं गणयति। उषस: सूर्यस्य च सम्बन्धप्रख्यापकमिदं सूक्तमिति तस्य मतम्। स्वामिदयानन्देन विभिन्न प्रकरणेषु "उर्वशी" शब्दस्यार्थ: यज्ञक्रियादीप्ति: बहुवशकर्त्री प्रज्ञा, वाणी विद्या चेति कृत:। (यजु०५.२; १५.११, ऋग्०५.४१.१९; ७.३३.११) "पुरुरवा" च यज्ञार्थक: विद्वदर्थकश्चेति स्वामिनो मतम् (यजु०५.२, ऋग्०१.३१.४)।

घोषा-

ऋग्वेदीयदशमण्डलस्य नवत्रिशंच्चत्वारिशंत्तमयो: सूक्तयो: द्रष्ट्री काक्षीवती घोषा नाम

ब्रह्मवादिनी विद्यते। कुष्ठरोगाक्रान्ता इयं ब्रह्मवादिनी पितृगृहे अविवाहितैव न्यवसत्। अश्विनोरनुकम्पया कुष्ठामयो विनष्टः पतिश्चानया अलभ्यत। यथोक्तम्- "घोषायै चित् पितृषदे दुरोणे पतिं जूर्यन्त्या अश्विनावदत्तम्" (ऋग्०१.११७.७) शत्रुभिर्योद्धुं सामर्थ्यायाप्यस्याः प्रार्थना श्रूयते-"**युवं कवीष्ठः पर्यश्विना रथं विशो न कुत्सो जरितुर्नशायथः**" (ऋग्०१०.४०.६)। सूक्तेऽस्मिन् विधवाविवाहानुमोदनमपि परिलक्ष्यते।

सूर्या-

ऋग्वेदस्य दशमण्डलान्तर्गतस्य पञ्चाशीतितमस्य सूक्तस्य द्रष्ट्री सवितृसुता सूर्या वर्त्तते। अस्मिन् सूक्ते विवाहसम्बद्धा चर्या प्राप्यते। सूर्यया सह सोमस्य विवाहः कथमभूत्, विवाहकाले कानि कानि वस्तूनि यौतकरूपेणासन्, विवाहानन्तरभाविनि प्रयाणे तस्यै निर्देशः उपदेशश्चेत्यादिः विस्तरेणात्र प्राप्यते।

पतिगृहगमनकाले यौतकरूपेण कानि वस्तून्यासन्निति ननु द्रष्टव्यमेतत्-

रैभ्यासीदनुदेयी नाराशंसी न्योचनी। सूर्याया भद्रमिद्वासो गाथयैति परिष्कृतम्॥ ६॥

चित्तिरा उपबर्हणं चक्षुरा अभ्यञ्जनम्। द्यौर्भूमिः कोश आसीद् यदयात् सूर्या पतिम्॥ ७॥

यदा नववधूः सूर्या स्वकीयं नवभर्तारं सोममगच्छत्तदा तया सह न किञ्चिद् भौतिकं धनादिरूपं यौतकमासीद्, किन्तुं "रैभी" ऋग्० एव अनुदेयी वधूविनोदनाय अनुदीयमाना सखी आसीत्। नाराशंसी मनुष्याणां स्तुतिकर्त्री ऋग्० न्योचनी वधूशुश्रूषार्थं दीयमाना दासी अभवत्। सूर्यायाः स्वकीयं यद्भद्रं पुष्पं कर्म यशो वा तदेव वासः अभवत्, तच्च गाथया देवतानां कीर्तिगानैः परिष्कृतं सुशोभितमभूत्। चित्तिः जागरुकता चेतना वा, तस्या उपबर्हणम् उपधानमासीत्। चक्षुः ज्ञानचक्षुः दिव्यदृष्टिर्वा अभ्यञ्जनम् शृङ्गारसाधनमासीत्। द्यौर्भूमिश्च कोशः द्रव्याधानपेटिका आसीत्। तथापि मया अस्मिन् विवाहे हिरण्यरजतादिकं किमपि बहुमूल्यं द्रव्यं न प्राप्स्यते इति जानन्नपि सोमरूपो वरो वधूकामोऽभवत्-"**सोमो वधूयुरभवत्**" इति। (ऋग्०१०.८५.९) नापि तेन न वा तत्पित्रादिभिरुक्तं यद् द्रविणाभावे वयं सूर्यां न ग्रहीष्याम इति। इत्थमनेन सूर्यादृष्टसूक्तेनेदमेव सिद्ध्यति **यद्विवाहकाले कन्यया सह तद्गुणैरेव यौतकत्वेन भवितव्यम्, न केनापि बाह्येन द्रव्येण।**

"**गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासः**" (ऋग्०१०.८५.२६), "**अस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि**" (ऋग्०१०.८५.२७), "**अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः। वीरसूर्देवकामा स्योना शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे॥**" (ऋग्०१०.८५.४४) "**सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव। ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु॥**" इत्यादि मन्त्राः सूर्यामाध्यमेन प्रतिभार्यां किमपि विशिष्टमुपदिशन्त इव प्रतीयन्ते।

विश्ववारा-

ऋग्०५.२८ तमस्य सूक्तस्य द्रष्ट्री विश्ववारा वर्त्तते यथा षण्मन्त्रात्मकेनानेन सूक्तेन अग्निः स्तूयते।

अपाला-

अत्रिपुत्री अपाला ऋग्०८.९० सूक्तमपश्यत। सूक्तेऽस्मिन् इन्द्रस्तुतिर्वर्त्तते।

जुहू-

१०.१०९ सूक्तस्य द्रष्ट्री ब्रह्मवादिनी बृहस्पतिपत्नी जुहू विद्यते। अत्र खलु विश्वेदेवानां स्तुतिरालक्ष्यते।

दक्षिणा-

ऋग्०१०.१०७ तमस्य सूक्तस्य ऋषिका प्रजापतिसुता दक्षिणा अभिमता। दक्षिणाया दक्षिणादातृणां वा महत्ताऽत्र प्रतिपाद्यते। ''**ऊरूः पन्था दक्षिणाया अदर्शि** (१०.१०७.१), **उच्चा दिवि दक्षिणावन्तो अस्थुः** (१०.१०७.२) **दक्षिणावान् प्रथमो हूत एति दक्षिणावान् ग्रामणीरग्रमेति। तमेव मन्ये नृपतिं जनानां यः प्रथमो दक्षिणामाविवाय** (१०.१०७.५) इत्यादिमन्त्रैर्दक्षिणामहत्त्वं स्पष्टं जायते। यजमानेन दक्षिणामाध्येन स्वोन्नतिर्विधेया इत्यपि अनेन द्योत्यते।

यमी-

ऋग्०१०.१० तमस्य सूक्तस्य द्रष्टा द्रष्ट्री च यम-यमी विद्यते। सूक्तेऽस्मिन् यमयम्योः संवादमाध्यमेन भ्रातृभगिन्योरेककुलजनितयोर्विवाहो निषिद्धः। द्वयोस्तरुणहृदयवतोः प्रेमालापोऽत्र वरीवर्ति। तथापि निकटकुलोत्पन्नयोर्बालयोर्विवाहस्य प्रतिषेध एव श्रूयते। ऋग्०१०.१५४ सूक्तस्यापि दर्शिका विवस्वतो दुहिता यमी मता।

इत्थं ऋषिवत् ऋषिका अपि बभूवुर्याभिर्मन्त्रार्थो दृष्टः। परं वस्तुतः कोऽभिप्रायः ऋषीणामृषिकाणां चेत्यद्यापि गवेषणयोग्यम्।

पाद-टिप्पणियां-

१ प्रजापतिर्वा इदमग्र आसीत्....स इमानि त्रीणि ज्योतीष्यभितताप। तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात् सामवेदः। शत०ब्रा०११.५.८.१-३

२ अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्॥ मनु०१.२३

Vaidika Vāg-Jyotiḥ
ISSN 2277-4351

Vol.1, No.1 (176-180) Jul-Dec 2012

वैदिकसाहित्ये-अलङ्कारः

कपिलदेव हरेकृष्ण शास्त्री
प्राचार्य श्रीकैलाश गुरुकुल, पो०महुवा, जामनगर (गुजरात)

यद्यपि शब्दार्थयोर्गुण-भावेन रसाङ्गभूत-व्यापारप्रवणतया विलक्षणस्य, लोकोत्तर वर्णना निपुणस्य, कान्ता-सम्मितोपदेश-प्रदस्य च काव्यशास्त्रस्य प्रभुसम्मितशब्दप्रधानेन वेदशास्त्रेण सह न कोऽपि साक्षात् सम्बन्धः। एवमेव शिक्षाकल्पादिभिः षड्भिर्वेदाङ्गैरपि सह काव्यशास्त्रस्य न काऽपि साक्षात् संगतिस्तथापि-

दे॒वस्य॑ पश्य॒ काव्यं॒ न म॑मार॒ न जी॑र्यति

इत्यथर्ववेदस्य[१] वचो विचिन्त्य, तत्कर्तृ कृते च 'क॒विर्म॑नीषी प॑रि॒भूः स्व॑य॒म्भूः' इति यजुर्वेदस्य ४०.८ मन्त्रे समुपलब्धं कविशब्दं विश्लिष्य वेदानामपि अजरामराकाव्यत्वसिद्धौ तत्रापि विदुषां काव्यत्वदर्शनाभिलाषो विलसतितराम्। प्राचां भारतीयविदुषां निर्विचिकित्सितमस्तीदं मतं यद् अशेषाणां सत्यतावच्छिन्नविद्यानां प्रादुर्भाव विकासौ वेदेभ्य एव स्तः। नैतादृशं किमपि ज्ञानं, यन्मूलं वेदेषु न स्यात्। स्वयं वेदशब्द एव ज्ञानार्थकः। अतो वैश्विकं ज्ञानजातं वेदेषु लब्धुं शक्यते।

सर्वप्रथमं वेदस्य ऋक्ष्वेव प्रारम्भिकी साहित्यिकसुषमा विलोक्यते। अस्मत्पूर्वजाः उद्दामिन्याः निरंकुशायाः प्रकृते समुन्मुक्ते मनोहरे प्रांगणे निवसन्ति स्म। अतएव काले काले प्रकृतिः स्वीयकृपा-कोपाभ्यां तान् प्रभावयति स्म। तदानीं प्रकृति प्रभावितास्ते पूर्वजाः प्राकृतिकीं शक्तिं तस्याः कृपाभिवृद्धये कोपशान्तये वा एकाग्र मनसा स्तुवन्ति स्म। हृदयतो विनिर्गताः तेषां ताः स्तुतयो भृशं मार्मिक्यः सौन्दर्यवत्यश्चासन्। अतएव तत्र सर्वत्र स्वाभाविकं काव्यत्वं विदुषां मनोहरणाय कल्पतेतराम्। केचित्तु वेदेषु ध्वनि-गुण-रस-रीत्यलङ्कारा: सर्वे एव काव्यशोभादायकाः सन्तीत्यपि स्वीकुर्वन्ति। अतएव तैः रूपकोत्प्रेक्षाऽतिशयोक्त्यादीनां कतिपय संकेता अपि प्रदर्शिताः। अत्राहं कतिपयानि एतादृशानि उदाहरणानि प्रस्तौमि यत्र अलङ्काराणामव्याज मनोहारिणी सत्ता दरीदृश्यते। तत्रादौ सर्वालंकारमूलभूताम् उपमामेव परिपश्यन्तु-

सूर्यो॑ दे॒वीमु॒षसं॒ रोच॑माना॒ं मर्यो॒ न योषाम॒भ्येति प॒श्चात्।[२]

अत्रायं भावः-सरणशीलः, सूर्यो देदीप्यमानामुषसं तथैवानुधावति यथा रिरंसुः पुरुषः सुन्दरीं युवतिमनुसरति। अत्र कविदृष्टौ सूर्यः उपमेयः, तस्योपमानं पुरुषः, एवमेव उषाः उपमेया, तद् उपमानं योषा। इवार्थको वैदिको 'न' शब्दः उपमावाचकः, अनुसरणं साधारणो धर्मः।

इत्थं पूर्णोपमेयं केषां सचेतसां मनो नाहरति? यथा-**परा॒ हि मे॒ विम॑न्यव॒: पत॑न्ति॒ वस्य॑इष्टये। वयो॒ न व॑स॒तीरुप॑।**[३]

अस्यामृचि ऋषेः शुनःशेपस्य मन्युरहिता बुद्धयो वसुमतेः जीवनाय तथैव परापतन्ति यथा पक्षिणो नीडाय परापतन्ति। अत्रापि उपमेयोपमानभावो हृदयहरः। यतोऽत्र 'बुद्धयः'

इत्युपमेयशब्द, पक्षिणस्तासामुपमानभूता:, इवार्थको 'न' शब्द: उपमावाचक:, परापतनं प्रत्यावर्तनञ्च साधारणो धर्म: इति पूर्णोपमा।

अथ उपमालङ्कारस्यैकम् ऋग्वेदीय उदाहरणमिदमपि विलोकनीयम्-**प्र तद् विष्णु॑: स्तवते वी॒र्ये॑ण मृ॒गो न भी॒म: कु॑च॒रो गि॑रि॒ष्ठा:। यस्यो॒रुषु॑ त्रि॒षु वि॒क्रम॑णेष्वधिक्षि॒यन्ति॒ भुव॑नानि॒ विश्वा॑॥** [४]

मन्त्रेऽस्मिन् श्लेषपुष्टोपमाया: सौन्दर्यं हृदयहरत्वं वा दर्शनीयताया: सीमानमेव स्पृशति, हृत् तन्त्र्याश्च ताराणि झंकृतानि करोति। ऋचोऽयं भावो यद् भीम: आकृत्यैव भयङ्कर:, कुचर: कुत्सितं जीवघातपुरस्सरं चरति य: स कुचर: कुत्सिता आचरणशील:, गिरिष्ठा: पर्वतादिप्रदेशवर्त्तिगह्वरवासी, मृग: सिंह:, **न** इव, भीम: शत्रुभयद:, **कुचर:** कुषु सर्वासु भूमिषु चरति य: स कुचर: सर्वव्यापी, गिरिष्ठा: गिरिमन्त्ररूपायां वाचि तिष्ठति य: स गिरिष्ठा:, अत्र सप्तम्या अलुक्, **विष्णु:** वीर्येण हेतुना सर्वै: स्तूयते। एवमत्र विष्णुरुपमेय:, मृग: उपमानम्, 'न' शब्द:सादृश्यार्थक:, स्तुतिविषयता चोभयो साधरणधर्म:। भीमत्वं कुचरत्वं गिरिष्ठत्वञ्च श्लेष साहाय्येनोभयधर्मीणि वर्त्तन्ते। ऋग्वेदे न केवलमुपमैव लभ्यते, अपितु अन्येऽपि अलंकारास्तत्र तत्र प्राप्यन्ते। अग्रे मालोपमां पश्यन्तु-

अ॒भ्रा॒तेव॑ पुं॒स: ए॑ति प्रती॒ची ग॑र्ता॒रुगि॑व स॒नये॒ धना॑नाम्। जा॒येव॒ पत्य॑ उश॒ती सु॒वासा॑ उ॒षा ह॒स्रेव॒ नि रि॑णीते॒ अप्स॑:॥ [५]

अत्रैकस्या एवोषसश्चत्वारि उपमानानि सन्तीति मन्त्रेऽस्मिन् मालोपमालङ्कार: सुव्यक्त:। निम्नोक्त मन्त्रे उपमा सौन्दर्येण सह विरोधाभासोऽपि विलोकनार्ह:, यथा-

उ॒त त्व॒: पश्य॒न् न द॑दर्श॒ वाच॑मु॒त त्व॑: शृ॒ण्वन् न शृ॑णोत्येनाम्। उ॒तो त्व॑स्मै॒ त॒न्वं॑ वि स॑स्रे जा॒येव॒ पत्य॑ उश॒ती सु॒वासा॑:॥ [६]

अयं भाव: अनेके जना विद्यां पठन्ति, किन्तु तस्या रहस्यं सर्वैर्न ज्ञायते। एवमेव अनेके जना वाचो रहस्यं शृण्वन्ति, किन्तु सर्वेषां बुद्धौ नैव तद्रहस्यं स्फुरति, परन्तु केचनैतादृशो बुद्धिमन्तो भाग्यवन्तो वा भवन्ति येषां समक्षं वाणी स्वगुप्तरहस्यं तथैव प्रकटयति तथा रिरंसावती युवति: पत्यु: समक्षं स्वीयं सर्वस्वं समर्पयति। अत्र वाक् उपमेयस्थानीया, तदुपमानं जाया, इव शब्द उपमावाचक:, आत्मसमर्पणमुभयो: साधारणधर्म:। मन्त्रकृद्भिर्महर्षिभिरत्रोपन्यस्तमुपमानम् अतीव शृङ्गारश्लिष्टं हृद्यमनवद्यञ्च। अस्या ऋच: पूर्वभागे विरोधाभासालङ्कारस्य अपि सुन्दरमुदाहरणद्वयं वरीवृत्यते-'पश्यन्नपि न पश्यति', शृण्वन्नपि न शृणोति च। अहो कीदृशो मनोहरोऽत्र विरोधो वरीवर्त्ति। एवञ्च परमरहस्यभूता सा वाक्, यां दृष्ट्वाऽपि न द्रष्टुं ज्ञातुं पारयति कश्चित्। एवमेव श्रुत्वाप्येनां न श्रोतुं प्रभवति कोऽपीति तत्परिहारोऽप्यत्याह्लादकर:।

अथाधोलिखिते मन्त्रे अतिशयोक्त्यनुप्रास-विभावना-विशेषोक्तीनां मनोहारिणी सत्ता समुपस्थाप्यते-

द्वा सु॑प॒र्णा स॒युजा॒ सखा॑या समा॒नं वृ॒क्षं परि॑ षस्वजाते। तयो॑र॒न्य: पिप्प॑लं स्वा॒द्वत्त्यन॑श्नन्न॒न्यो अ॒भि चा॑कशीति॥ [७]

अस्य भावोऽस्ति यच्छोभनपक्षवन्तौ सहनिवासिनौ सखायौ द्वौ पक्षिणावेकमेव वृक्षमधिस्थितौ स्त:। तयोरन्यतरस्तु वृक्षस्थितं फलं भुंक्ते, परमपर:फलम् अभुञ्जान एव स्वीयं तेज: प्रकटयतीति।

अत्र केचन मन्त्रे दर्शनशास्त्रस्य ईश्वर-जीव-प्रकृतिसंज्ञकानां त्रयाणां मूलभूतानां माध्यमेन प्रतिपादनं रूपकालंकारस्य समाश्रयेण कुर्वन्ति। यथाहि-ईश्वरः प्रकृति माध्यमेन सृष्टिम् उत्पादयति, जीवश्च तस्यां सृष्टौ स्वकीयकर्मानुसारेण सुखदं दुःखदं वा फलं भुङ्क्ते, किन्तु ईश्वरः प्रकृतिजं फलमभुञ्जान एव सर्वं शास्ति, सर्वञ्च द्योतयतीति।

किन्तु मन्त्रकृता महर्षिणा मन्त्रेऽस्मिन् ईश्वर-जीव-प्रकृतीनां वर्णनं, तेषां नामानि अपरिगृह्य पक्षिद्वय वृक्षनामभिर्विहितास्ति। अतो मद्विचारेण नैतद्विचारसहम्। अत्र रूपकातिशयोक्तेरेव स्फुटं प्रतिभासमानत्वात्। यत्र हि उपमेयः शब्दोपात्तस्तत्र रूपकम्, यत्र चोपमेयः शब्दोपात्त न स्यात्, केवलमुपमानमेव शब्दोपात्तं भवेत्तत्र त्वतिशयोक्तिर्भवतीति श्रीमता अप्पयदीक्षितेन एतादृशी एवातिशयोक्ति "रूपकातिशयोक्ति" संज्ञया व्याख्याता। न केवलमेतावदेव, मन्त्रेऽस्मिन् सुपर्णा, सयुजा, समानं, परिषस्वजाते इत्यादिशब्देषु सकारस्य अनुप्रासेन सुवर्णे सौरभ संयोगोऽपि सञ्जात एव। एवमेव मन्त्रस्थिते 'अनश्नन्नन्यः' इति स्थले नकारस्य पौनः पुण्येन प्रयोगोऽपि सचेतसां चेतःसु अनुप्रासस्य मधुरिमाणं परिवर्धयति। अत्रैव च 'अनश्नन् अन्य अभिचाकशीति' अर्थात् फलमभुञ्जानः सौन्दर्यं वितनोति इति शब्दपुञ्जे विभावनालङ्कारस्यापि स्थितिर्द्रढीयसी दरीदृश्यते। यतो हि यत्र हेतुं विनाऽपि कार्यं भवेत्तत्र विभावना भवतीत्यत्र सौन्दर्यप्रकाशनस्यकार्यस्य समुत्पत्तिः सौन्दर्य हेतुभूत फलभक्षणं विनैव वर्णिता, अतो विभावना दुर्निवारा अस्त्यत्र। इत्थमेव विशेषोक्तिरपि मन्त्रेऽस्मिन् मनो मोहयति। यतः सत्यपि कारणे कार्योत्पत्तेरभावे विशेषोक्त्यलङ्कारो मन्यते। अत्र च 'अनश्नन्' इति पदेन ईश्वर कर्तृक फलाभक्षणरूप कारणे सत्यपि 'अभिचाकशीति' इति सौन्दर्यबोधक क्रिया पदेन सौन्दर्याभावरूपकार्योत्पत्तेरभावो द्योतमानोऽस्त्यतोऽत्र विशेषक्त्यलङ्कारोऽप्यपरिहार्यो वर्त्तते।

अपि च मन्त्रे 'सयुजा, सखाया' इति विशेषणद्वयेन परमात्म-जीवात्मनोर्नित्यत्वं सच्चिद्रूपत्वञ्चापि ध्वन्यते। अस्माद्धेतोरिमौ शब्दौ पदद्योतध्वनेरप्युदाहरणं भवितुमर्हतः। ईषद् विमर्शे कृते सत्यमेव चात्र माधुर्यगुणोऽपि स्फुटो भवन्नयनपद्धतिमवतरति।

इत्थमिहैकस्यामेव ऋचि भूयांसि काव्यतत्त्वानि, अलङ्काराश्चानेके विलसन्ति, यानि सहृदय-हृदयप्रीणनाय सर्वथाऽलं सन्तीति न केषामपि धीजुषां विसंवादः। एवमेवान्या अपीदृश्य ऋचो विद्यन्ते यासु सुधियां काव्यतत्त्वलोकनाभिलाषः पूर्तिमेति। अत्र तासु कतिचन प्रस्तूयन्ते-

चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य। त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्या आ विवेश॥[8]

स्पष्टमस्ति यदस्यामृचि व्यतिरेकातिशयोक्ति-नामानौ उभावलङ्कारौ स्फुटं राजेतेतराम्। अस्मिन् मन्त्रे वैयाकरणानां ब्रह्मसहोदरस्य उपमेयभूतस्य वर्ण्यस्य अर्थात् विषयस्य 'शब्दस्य' अध्यवसानं निगरणं विलीनीकरणं वा एकेन उपमानभूतेन विषयिणा महता वृषभेण कृतम्। उपमेयं नात्र शब्दोक्तम्। अतोऽत्रातिशयोक्तिः निर्बाधैव। यदि च शृङ्गचतुष्टयवान् त्रिपात् सप्तहस्तयुक्तः शिरोद्वयसमेतः त्रिधाबद्धोऽयं वृषभः शृङ्गद्वयवतः चतुष्पदः एकशिरोवतः एकत्र बद्धस्य च लौकिकस्य वृषभस्य अपेक्षया विलक्षणो मन्यते तदा तु व्यतिरेकालङ्कारमपि को नामात्र वारयितुमीष्टे?

वर्णानुप्रासप्रियता शब्दानुप्रासप्रियता च वैदिकेषु ऋषिषु बाहुल्येन दृश्यते।

लौकिककाव्यकाराणाम् अनुप्रासालङ्कारस्य प्राणवती तनुस्तत्र निरतां परिस्फुटन्ती परिलक्ष्यते। यथा-

धूर॑सि॒ धूर्व॒ धूर्व॑न्तं॒ धूर्व॒ तं यो॒ऽस्मान्धूर्व॑ति॒ तं धूर्व॒ यं व॒यं धूर्वा॑मः। दे॒वाना॑मसि॒ वह्नि॑तम॒ꣳ सस्नि॑तमं॒ पप्रि॑तमं॒ जुष्ट॑तमं देव॒हूत॑मम्॥ [१]

प्रतीयते यल्लाटानुप्रासालङ्काराय यमकालङ्काराय चापि स्पृहयन्ति स्म वैदिका ऋषयः। यतो हि यजुर्वेदस्य (१.३), (१.३०), सन्दर्भस्थलयोः अथर्ववेदस्य च (१४.२.५३-५८) स्थले लाटानुप्रासस्य अपरिपक्वं स्वरूपमुपलभ्यते, एवमेव ऋग्वेदस्य (५.२७.४) तथा (५.७६.२), स्थलयोः, यजुर्वेदस्य अष्टादशेऽध्याये तथा (२३.१९), स्थलयोः, सामवेदस्य उत्तरार्चिके (१.५.१) स्थले, अथर्ववेदस्य च (१२.२.१४)स्थले यमकालङ्कार अङ्कुरा लोचनातिथी भवन्ति।

ब्राह्मणग्रन्थेषु मूर्धन्यतां गते शतपथब्राह्मणे 'हित' शब्दे (१.३.१.२५) वर्ष शब्दे (२.२.३.७) महिषीशब्दे च (६.५.३.१) अनुभूयमानः श्लेषालङ्कारो विदुषां ध्यान आकर्षणाय सर्वथालमेव।

उपनिषत्स्वपि अलंकार-सौन्दर्यं दरीदृश्यते। तत्र उपमा-रूपकानुप्रास-विरोधाभास सदृशानामलङ्काराणामपि स्थितिश्चमत्करोत्येव सचेतसां चेतांसि। दृश्यताम्-

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।

कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति॥ [१०]

अन्यत्र रूपकस्य निदर्शनमतीव हृदयावर्जकम्। शरीरावयवेषु रथावयवानामरोप कियान् मनोहर इति दृश्यतां तावत्-

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। बुद्धिं च सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।

आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥ [११]

अत्रोपमा उपस्थाप्यते-

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः। दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भि-र्मनुष्येभिरग्निः॥ [१२]

अस्यामाशयो यद् उपनिषद्रूपिणि धनुषि उपासनारूपिणं शरं निधाय भावनारूपिण्या शक्त्या आकृष्य ब्रह्मरूपं लक्ष्यं वेधनीयम्।

एतावता गवेषणात्मकेन विश्लेषणेन मन्ये यद् वैदिकसाहित्येऽपि काव्यालंकाराः सन्ति। किन्तु मदीयस्यास्य कथनस्य इदं तात्पर्यं नास्ति यत्तत्रापि लौकिक साहित्ये इवैव अनेकविधाः कविकल्पनाकान्तिकलितकलेवरा अलंकाराः सन्तीति। यतो हि वैदिकसाहित्यकालिका ऋषयो निजाध्यात्मिकविषयकभावाभिव्यक्तये यथा प्रयासं कृतवन्तः, न तथा स्वमानस कोमलकान्त-कामकल्पनाकलाकौशल कीर्त्तये। अतएव तेषां कृतिषु भावानाम् अतिसारल्येन अभिव्यक्तिकरणाय सहज रूपेण प्रयोगविषयीविधीयमाना उपमा-रूपकव्यतिरेकातिशयोक्ति सदृशा अङ्गुलिगण्याः केचिदेव अलंकाराः समुपलभ्यन्ते, न तु सर्वविधाः। एतेषामपि उपलभ्यमानानाम् अलंकाराणां यत्र-तत्र कुत्रचिदेव प्रयोगो नयनावनिमवतरति, अनुप्रासस्तु ध्वन्यात्मकताधायकत्वात् समेषामेव पुरातनानां नूतनानां च लेखकानाम् अतिसहज अलंकारबन्धः।

इत्थमिदं निश्चप्रचमेव यत् तदानीन्तने युगे साम्प्रतिकस्य साहित्यिकक्षेत्रस्य अलङ्कारोमहीरुहो लब्धजन्मा स्वीय-विभिन्न-भेदशाखा-प्रशाखाभेद्-भेदोन्मुखश्चासीदित्यत्र नास्ति कश्चित्संशीतेरवसरः इति।

पाद-टिप्पणियां-

१ अथर्व०१०.८.३२

२ ऋग्वेद १.११५.२

३ ऋग्०१.२५.४

४ ऋग्०१.१५४.२
५ ऋग्०१.१२४.७
६ ऋग्०१०.७१.४
७ ऋग्०१.१६४.२०
८ ऋग्०४.५८.३
९ यजु०१.८
१० कठोपनिषद् १.२.२१
११ कठोपनिषद् १.३.३-४
१२ कठोपनिषद् २.१.८

Vaidika Vāg-Jyotiḥ
ISSN 2277-4351

Vol.1, No.1 (181-187) Jul-Dec 2012

Water and Vedic Culture

Gauri Mahulikar
Dept. of Sanskrit, Ramkrishna Bajaj Sanskrit Bhavan,
University of Mumbai, Mumbai 400098

Introduction: All ancient civilizations flourished along the banks of great rivers. Nile was the backbone of the Egyptian civilization and *Sindhu-Sarasvati* civilization got famous by the name of Vedic civilization. Proximity of water is the main factor in the development of mankind. Water, one of the five gross elements, inspired the ancient man. Though universal, it is the most unique and unusual substance in the world. This paper aims at underlining its importance in two parts. First is the apotheosis, deification of water and second is to emphasize its inevitability in Indian culture.

Derivation: Water, in all its forms, be it the pure form of rain or the stored water in pools, ponds, wells, lakes, rivers and oceans, deserves the veneration and profound respect from mankind. Sanskrit word for water is '*āpah*', derived from root '*āp*' to obtain and is explained as *āpanāh*: sarvavyāapanāh, obtainable, all-encompassing, all-pervading element. Its universality can be explained thus: on this terrain, this earth, it is the flowing water of brooks, streams etc. In the atmospheric region it is the rain water and in the celestial world it is the water stored in the solar orb.

Characteristics of Water: Water in its different forms has always been a source of wonder, curiosity and practical concern for human beings. The most noteworthy trait of water is its ability to cleanse, purify and because of this, the water places, the lakes, ponds etc, got prominence in man's social and religious life. In addition to this, it is also endowed with the healing and curative power. It is for this reason that water is worshipped. is deified. Such glorification is seen not only in India but all over the world. Its sacredness and efficacy as a curative fluid is widely believed in. (Hastings. 1977,706) As water is a purifying agent, it is invoked to remove sins and evils.(*ṚV*.I.23.22, X.9.8) The holiness attached to bath at particular places on auspicious occasions, gave rise to the concept of *tirtha*. This word, derived from the root *tṛ* to get across and means a fordable place, or a *ghat* on a river or some water reservoir. The Jain concept of *Tirthankara* is based on this meaning. One who makes a fordable place to cross the ocean of transmigration is a *Tirthankara*. Since

water cleanses both body and mind, it is regarded as an eternal source of peace.(*Taitt. Br*. I.7.6.3) It is powerful agent that it purifies even the impurities in sacrifice. (*Śat. Br*. XI.4.1.15) The potency of water is used for witchcraft too! Magically charged water is used to kill enemy. This water is termed as *Udavajra*, water-thunderbolt. (*AV*.X.5.15,22,50) Water, thus becomes a secret missile.

Waters are said to bestow long life, health, wealth and immortality. *Brahma Purāṇa (*II.67.2-40) narrates a story of *Lakṣmi* and *Daridrā* and concludes that a bath in the river removes poverty.

Waters have the germs of creation. Unfathomable water existed prior to creation, says the *ṚV* X.129.3 At another place, it says that gods were dancing in the waters before creation (*ṚV*.X.72.6) Modern science also endorses this view that primary creation took place in water.

Part I Divination of Water: Water is thus precious, comprised with many properties and therefore needs to be guarded. As a result, waters are associated with many divinities. In the ṚV we have many deities linked with water. *Aja Ekpād*, one who is unborn and has one leg, is the Sun who traverses the vault of sky everyday. Then there is *Ahirbudhnya*, the gigantic serpent, the dragon, holding the waters captive. In the *Purāṇas,* it is the limitless *Ananta*, the cosmic serpent guarding the waters. He is at times called as *Vṛtra*. Basically it is the rain-cloud. There is a unique god associated with water and that is *Apām Napāt*, the son or grandson of water. This is an old deity and is found in the *Avestā* also.(holy scripture of Zoroastrians). Besides these special gods, the regular Vedic deities like *Indra, Varuṇa, Agni, Bṛhaspati* too are associated with waters in one way or the other. When we speak of the association with the gods, this necessarily brings in added holiness and divinity to the elemental waters.

Rain-God/*Parjanya*: Rain water is considered to be the purest form of water. Right from the Vedic times, man regarded rain water as the boon. This nectar from the vast blue sky astonished him and inspired words of praise from him. The *ṚV* glorifies *Parjanya* as a mighty male deity, the divine seeder or fructifier of this naked earth. He causes the green sprouts and vegetation and thus announces the fertility of earth. (*ṚV.* V.83.1) Rain, thus is the semen, life-bestowing principle, the first visible incarnation of the divinity of water. Rain water is useful for agriculture, no doubt, but it is essential for survival. It is called '*Jivana*', life. Storage of water in wells, pools, ponds, lakes etc is therefore necessary, so as to make provision of drinking water for men as well as cattle all through the year.(*Ibid*.8) *Parjanya* is treated as father by the Vedic seers.(*Ibid*.6) The thundering during showers is supposed to kill the evils and sins. (*Ibid.* 2,9) Agriculture dependent upon rains, has a special term called '*Devamātṛka*'. Sanskrit literature has references of

'*Adevamātṛka*' agriculture, that which is not-dependent upon rain water. (*Kirātarjuniya* I.17) This in other words, is called '*Nadimātṛka*', dependent upon rivers.

Rivers: Due to its continuous flow, a river is always regarded as clean, pure and holy. It is purifier, as it washes the physical dirt and dust and metaphorically cleanses the impurities of mind. River is called '*Nadi*' as it makes sound while flowing. It has the watery attire. These details helped the personification of the watery mass in the river. Its anthropomorphic form is that of a lady, a dancing damsel, a mother who nourishes her children (people on her banks) on the milky white pure water. Interestingly, '*Payas*', a Sanskrit word denotes both water and milk. It can be derived from root '*pā*' to drink as well as from root '*pyai*' to nourish. Rivers are mermaids. *Gangā* is depicted as dancing on Siva's locks, her body below the waist undefined, and almost formless, like a tapering wavy mass. (Sivaramamurti, 1976, 43) River is tender at heart and sympathetic to all. At times she is viewed as a young mother bending a bit while breast-feeding her child and at some place she is considered to be a shy maiden bending to get embraced from her lover (*ṚV*.III.33.1) Thus all types of female relationships are superimposed upon her, yet the image of a sustaining mother has been preserved in our tradition, both in literature as well as art and architecture. The *ṚV* glorifies river *Sarasvati* as the best mother, best river and best goddess. (*ṚV*.II.41.16) On her lap, the children of the soil could sit and muse without thought of the future, (Sivaramamurti, 1976, 49) depositing all their worries and sorrows in her ever-flowing streams and totally relying on her for their wellbeing. This is '*Nadimātrka*' way of life. There are idols of rivers having jets of water from their jar-like full breasts and some carrying food and water for men in a tray and water-jar respectively. (Illustrations given by Sivaramamurti) The ancient text says, "water, verily is food" (*Kauṣitaki Br*.12.3)

Bath or dip in a river is regarded holy and purifying. It washes the dirt and the immaculate waters of knowledge wash away the impurities of ignorance. During consecration, the king is given a ceremonious bath. This ritual is known as '*Hiraṇyagarbhadānavidhi*'. It signifies new birth of the king. Sri Aurobindo regards river *Sarasvati* as great flood of inspiration, rich in substance of thought and not the physical river. A bath in her is explained by him as that she inspires the sacrifice, her capacity to offer by awakening the consciousness of mortal man. (Aurobindo, 1999,100,101) This is a psychological interpretation. For a common man, however, bath is a physical feature. Even in *Āyurveda*, bath with herbs gets a special treatment. Bath in the ocean is regarded more holy, naturally because many rivers flow in their purity and thus add to the sanctity of the ocean.

Once divinity and purity are associated with river, some restrictions

and taboos are bound to creep in. The *Gṛhya Sutras* ordain that one should not take bath without clothes. *(Āsv. G. S.*III.9.6.8). Nude bath is as good as insulting and humiliating the deities residing in waters or governing the waters. The famous episode of '*Ciraharaṇa*' in the *Bhāgavata Purāṇa*, illustrates this. There *Kṛṣṇa* tells *Gopis* that they have disregarded the divinities by taking nude bath and that they will have to appease and pacify their wrath by worshipping *Shakambhari* deity. This is a mother goddess and vegetation personified as the name suggests. The iconic representation of river is many times done as *Apsarās*. There are instances of many *apsarās* turning into rivers. The mythological pattern is set. *Indra* is worried about the austerities of some seer, sends one of his heavenly nymphs to seduce the ascetic. The ascetic curses the nymph to turn into a river and then mitigates the curse by saying that she would regain her proper form upon flowing into some major river. *Mulā, Muthā*, *Nirā,* all tributaries of river *Bhimā* in Maharāshtra, are said to be some such nymphs, who were liquefied in this way. (Anne,1995, 41) In relation to ocean, which is seen as masculine, the rivers that flow into it are seen as wives. Sometimes, some kings marry these rivers and beget sons, whereupon they get freed from their curse. The famous story of *Śantanu* marrying *Gangā* or King *Samvarana* marrying river *Tāpi* are too well-known to be quoted here.

The name *apsarās* is associated with water. In fact the *apsarās* are the divine dancers, moving in waters, (*apsu saranti iti*). They can be helpful and benign; but at times they are harmful. That is why one has to be very cautious while entering any unknown water place. The '*Yakśapraṣna*' in the *Mahabhārata* hints at this harmful aspect, though in a male form. In Maharāshtra these are called '*Sāti āsarā*' or '*Paryā*'. The phonetic similarity of this word *'pari'* with the English word of the same meaning 'fairy' is noteworthy. These are female goblins. Many times they are accompanied by a male, not their husband, but a guardian, protector, like a foster brother. He is called '*Mhasobā*' or '*Joting*' or '*Vetāl*'. These are ghosts. Thus it is clear that the folk river goddesses can be harmful at times. They take human form, especially of young maiden, dressed in white saris. These are folk-goddesses of rivers and normally have a shrine or a temple at the riverside. (Dr. Dhere and Dr. Morwanchikar have dealt with this concept in details and I won't like to repeat that here.) They are treated as married ladies, called 'Suvāasini'. They are offered green glass bangles. There is a rite called '*oti bharane*', filling the lap of the river like that of a '*suvāsini*' with coconut, a blouse piece, grains of rice or wheat, a betel nut, turmeric powder and *kumkum*. This is a good wish for fertility. This rite is also performed when a new irrigation plant is inaugurated, a canal is thrown open or a dam is built. This is not just greeting the river goddess, but is a desire to appease her, to urge her not to

cause any harm. Even during floods, rivers are placated by throwing a coconut in the stream. This can be compared with the customary throwing of coconut in the ocean by the fishermen on the full moon day of *Srāvaṇa*.

The zoo morph of a river is mostly a cow. The names of rivers like *Godāvari* or *Gomati* are apparently linked with cow. A folk-tale in Andhra Pradesh tells that once *Garuda* snatched away the calf of a cow and flew. The cow followed its shadow on the earth. While the cow was chasing, milk was oozing from her udder. That turned into the river *Godāvari*. According to the *Brahma Purāṇa*, *Pārvati* was jealous of *Gangā* on Śiva's head. She, in consultation with *Gaṇeśa*, sent her friend *Jayā* in the form of a cow to the hermitage of sage *Gautama*. The sage tried to drive away the grazing cow with a blade of grass. The cow died. The sage then propitiated Śiva and asked for *Gangā*. *Gangā* descended at the hermitage. In her flow, the cow got revived. That stream is called *Go-dā-vari,* giver of the best cows. In the case of others too, they are seen emerging from '*Gomukha*'. *Indra* is said to release the water-cows from the clutches of demon *Vṛtra* or *Paṇi,(ṚV*.I.32.11 and many more references) Other animals associated with a river are fish, tortoise, serpent and elephants.

Part II Water and Culture: Culture has a very vast connotation. It deals with the concrete material world as well as the abstract inner world. For a commoner, it means rites and rituals, beliefs and practices, festivals and fairs and general norms of life. All these aspects can't be discussed here for want of time. I would, therefore deal with the *Samskāras,* an integral part of Indian Culture and Indian festivals.

What is *Samskāra*: Technically *Samskāra* means consecration, that removes blemishes (if any) from a thing/person and deposits qualities and virtues in it. (*Brahma Sūtra. Śānkarabhāṣya*.I.1.4) In Indian tradition, right from birth till death, various *Samskāras* are prescribed. The number oscillates between 16 and 40. These include *Garbhādhāna, Pumsavana, Nāmakaraṇa, Upanayana, Vivāha, Śrāddha* etc.. In all these, presence of water is inevitable.

Ritual Details: All our rituals begin with *Samkalpa,* sipping water before declaring his wish/ decision to undertake any rite. This is supposed to purify him from within. Then water is offered to the desired deity as '*pādya*'. *Arghya*, offering of water with flowers or sandalwood paste, is given as a way of greeting. The most important and distinguishing feature of any ritual, however, is ritual bath or sprinkling.

Snāna* and *Abhiṣeka: Regular river bath is advised and preferred in our scriptures. Bath in a river is worth the donation of 100/1000 dark-coloured cows, according to our holy texts,(Anne, 1995,47) Bath is supposed to give new life, new birth to a person, because river is regarded to be a living unit. In the *Skanda Purāṇa,* there is a story of *Katha*, a celibate,

studying in the hermitage of sage *Bharadvāja*. As '*gurudakṣiṇā*', the sage asked him to marry his ugly daughter *Revati*. After marriage, *Katha* propitiated Śiva and asked him to confer beauty and prosperity on his wife. As told by Śiva, he bathed his wife and washed her. She turned into a beautiful lady. The stream which flowed got the name *Revat*i, which later on joined *Gangā*. Thereupon a reward of beauty was assured for a person who took bath at that place. Sage *Chyavana* got rejuvenated and cast off his old emaciated body after a bath (*Bhāgavata Purāṇa*.IX.3.13ff) A ceremonious bath is given to a bride in open as a lustration rite. (*ṚV*.X.85,*AV*.XIV.1 Both are marriage hymns) Ceremonious bath (*Avabhṛthasnāna*) is a customary rite for a student, indicating end of his celibacy and eligibility to attain the new status of a householder.(*Manu Smrti*.3.4)

Water is imbued with power of spiritual purification. All temples are located near water source. The devotees are supposed to bathe or wash their hands and feet before entering the shrines. This is a universal custom. In Judaism at *Mikveh*, a holy day, ritual bath is considered important. Muslims, before their daily prayers (*namaz*) wash hands, feet and eyes. All the mosques have water source. In Christianity water is linked with Baptism. Jesus was baptized by John the Baptist in river Jordan, with a belief the water rejects original sin. Thus bath is important in all traditions.

When full bath is not possible, sprinkling is done through jars filled with water. It is symbolic bath. Divinity and positive vibrations are stored and protected in closed jars and not in the open buckets. Therefore in Indian culture, much prominence is attached to *ghata* or *kalasa*. It is believed that *Visṇu, Rudra*, *Brahma* and other gods and goddesses dwell in different parts of a *ghata*. Thus worship of *ghata* is worship of all these gods and sprinkling of water from *ghata* is being blessed by them. *Ghata* also symbolizes the womb and signifies fertility. The water in a *ghata* is thus creative, fertile fluid and not just elemental water. The water from *ghata* is used in pacificatory rite as well. Due to the inherent power of water to remove evil and illness, water is used to ward off 'evil-eye' also.

Festivals: Festivals form a special feature of any culture. Festivals provide occasion for people to gather together, socialize with each other and pay homage to deities for their favour. All over the world, some festivals are associated with harvest. After reaping bumper crops, sons of the soil express their gratitude towards the factors causing their prosperity. Water, rain river are these prominent principles.

In India, many festivals are connected with the rainy season. *Nāgapancami*, to express gratitude to serpents, the real friends of farmers and the zoo morph of water is celebrated in *Srāvaṇa*. *Onam* or *Pongal* also come as harvest festivals. On the full moon day of *Śrāvaṇa* the fishermen throw

coconuts in the ocean to pacify it. Then comes *Polā,* the veneration of bulls. Bull is an emblem of physical strength and symbolizes *Indra*.

Simhastha or *Kumbha,* after every 12 years, is the most distinguishing feature of Indian Culture. No invitations, letters or brochures are sent to anyone and yet thousands of devout people gather at places like *Prayāg, Haridwār, Ujjain, Kumbhakonam Puṣkar* etc and take a dip in the holy river. The binding force is Water.

I'll end up my paper with a Vedic verse, in the veneration of *Āpah*

(*RV*.VII.49.4)

Yāsu rājā Varuno yāsu Somo
Visvedevā yāsu urjam madanti
Vaisvānaro yāsu Agnih pravistah
Tā āpo deviriha māmavantu

Bibliography:

Kumar, Savitri, The Pauranic Lore of Holy Places, Delhi, 1983.

Ram Gopal, India of Vedic Kalpasutras, Delhi, 1959.

Keith, A. B., The Religion and Philosophy of the Veda and Upaniṣads, Delhi, 1970 (1925)

Morwanchikar, R.S., Bharatiya Jalasanskriti: Swarupa ani Vyapti (Marathi), Dombivli, 2006.

C.Shivaramamurti, Ganga, Delhi, 1976.

S.Abid Hussain, The National Culture of India, Delhi, 1978.

Macdonell, A.A., A Vedic Reader for Students, Delhi, 1992.

Anne Feldhaus, Water and Womanhood, New York, 1995.

Bhat, Y.A. Dharmaṣastraca Itihasa (Marathi), Mumbai 1980.

Sri Aurobindo, The Secret of the Veda, Pondicherry, 1999 (1920)

Mahulikar, Gauri, Vedic Elements in Puranic Mantras and Rituals, Delhi, 2000

Vaidika Vāg-Jyotiḥ
ISSN 2277-4351
Vol.1, No.1 (188-196) Jul-Dec 2012

Yājñavalkya Maitreyī Dialogue in *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad* : A Model for Thought Communication

Aparna Dhir
Co-ordinator, Rashtriya Sanskrit Sansthan, New Delhi
(Resi-) House-1, Road-22, Punjabi Bagh Extension, New Delhi -110026
dhir.aparna@gmail.com

A mind filled with noble and auspicious thoughts is always desired by Vedic poets. The philosophical discussion, between great sage Yājñavalkya and his wife Maitreyī focuses on the characteristics of the thought-communicator and its follower while highlighting the power of speech and reasoning.

Buddhist scripture, the *Dhammapada*, states that "man is the fruit of his thoughts, and that if he speak or act with an impure heart, then suffering will follow, as the wagon follows the foot of the ox; but if he speak or act with a pure heart, then happiness will pursue him to the very end, even as a shadow".[1] So our entire future depends upon the quality of our thinking. Thus, our thinking or say our nature completely relies on a process called "Thought", as it refers to any mental activity involving an individual's subjective consciousness. Whether one expresses them or not but numerous thoughts do come in mind, as mind is limitless.[2] A mind filled with noble and auspicious thoughts is always desired by Vedic poets.[3] For a spiritual aspirant such a mind is unendingly essential. Our Vedic seers were very keen on this. In the form of different dialogues and verses they present their ideology. The paper focuses on one such conversation from the Vedic literature that presents a model for thought communication.

The famous Vedic dialogue between great sage Yājñavalkya and his wife Maitreyī is recorded in Yajurveda's *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad*. Yajurveda is mainly known for the rituals or sacrificial practices, but indeed, its major philosophical text the *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad* is the greatest of all *Upaniṣads*. As the name suggests, it is a vast forest of knowledge or we can say it is great because it talks about '*Bṛhat*' i.e. the *Brahman*, the Supreme Lord. The *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad* is found as the concluding part in both the

rcensions (the *Kāṇva* and the *Mādhyandina*) of the *Śatapatha Brāhmaṇa* that belongs to White Yajurveda. The *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad* consists of three *kāṇḍas* – the Madhu-*kāṇḍa*, the Yājñavalkya-*kāṇḍa* or Muni-*kāṇḍa*, and the Khila-*kāṇḍa*. The Madhu-*kāṇḍa* conveys '*Upadeśa*' of the *advaita*, the explanation of the *Upadeśa* by logical argument is the theme of the Yājñavalkya-*kāṇḍa*, and the third the Khila-*kāṇḍa* deals with modes of meditation. [4] Basically the *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad* divided into six chapters are further classified into *Brāhamaṇas*. The immortal conversation between Yājñavalkya and Maitreyī recorded twice in *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad*'s fourth *Brāhamaṇa* of second *Adhyāya* (2.4) and fifth *Brāhamaṇa* of fourth *Adhyāya* (4.5). The text of the dialogue in both the chapters has almost identical verses. This famous dialogue offers the very quint-essence of the *Upaniṣads*. It would not be wrong to say that one who has well understood this dialogue has understood the *Upaniṣadic* philosophy only too well.[5]

Before moving ahead, one should be well aware of these two great Vedic personalities - Yājñavalkya and Maitreyī. Yājñavalkya is recognized as one of the foremost thinkers of the Vedic-period. He is known as the chief recipient of the 'Shukla Yajurveda *Samhitā* from the Sun god.[6] Most of the times, We find Yājñavalkya arguing, as he is the leading participant in all the discourses that we came across in *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad* like - Yājñavalkya-Janaka, Yājñavalkya-Gārgī, Yājñavalkya-Śākalya, Yājñavalkya-Maitreyī etc. In all these debates, sage Yājñavalkya appears as the great philosopher. Yājñavalkya was the eminent *Brahmiṣṭha*, who desires that others must know the '*Brahmana* or Supreme'. He is always all set for involving himself into discussions '*sarve vā mā pṛcchata*'[7], that's the reason for him being the prime speaker. In ancient Vedic India women too enjoyed a respectful status in perspective of domestic affairs, education, spiritual debates and social organizations etc. The Vedas have lots of narrations where women complemented their male partners. The *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad* records one of the best periods of Indian History, when women were admitted into philosophical groups and were allowed to discuss the highest spiritual truths of life.[8] Gārgī and Maitreyī dialogues with Yājñavalkya are the traced examples in this context. Maitreyī is famous as the woman seer and a Vedic philosopher. In *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad*, we find her harmonizing with her sage-husband Yājñavalkya and his spiritual thoughts. The chapter four[9] of *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad*

illustrates the nature of Maitreyī as *Brahmavādinī* i.e. one who discuss *Brahma*, also referred to those ladies who never married and lived an ascetic life throughout[10].

The enlightening dialogue between Yājñavalkya-Maitreyī is mainly regarding the achievement of immortality through spiritualism. Here Yājñavalkya plays a role of a spiritual teacher, who explains each and every step of self-realization through rational examples. The story narrated in *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad* reveals that the *ṛṣi* Yājñavalkya has two wives-kātyāyanī and Maitreyī. He gives them a proposal to divide all his earthly possessions as he is going to renounce his life as *Gṛhastha*.[11] His wife Maitreyī show firmness in her decision and asks "Sir, if I had this whole earth full of wealth, would that give me immortality?" So, the dialogue starts with Maitreyī's curiosity to know the Supreme. This reflects that inquisitiveness is must to gain knowledge. Immediately Yājñavalkya said, "No, it will not. Your life will be just be like that of people who are rich and have plenty of things, but there is no hope of gaining immortality through wealth."[12] Then Maitreyī replied, "What shall I do with that wealth which will not make me immortal" and asked him to teach her the only means for immortality.[13] One must note that the Brāhmaṇakāras acknowledged *yajña* as '*śreṣṭha*'[14] but Śankaracarya here indicated that even the rites performed were rejected as a means to immortality.[15] On seeing Maitreyī's keenness, Yājñavalkya was pleased, as now Maitreyī is harmonized with his views. He immediately replied, "You have been always my beloved and by this question you are more beloved now." He agreed to explain the desired question of Maitreyī but at the same moment he clears that whatever he is going to explain, Maitreyī has to meditate upon it.[16]

With a view of instructing the means to immortality, sage Yājñavalkya first discussed the process[17] of attaining detachment from the worldly affairs. He said, "It is not for the sake or the necessity of the husband that he is loved by the wife, but it is for one's own sake that he is loved by her. It is not for the sake of the wife, that she is loved, but for one's own sake that she is loved. It is not for the sake of the sons, that they are loved, but for one's own sake that they are loved. It is not for the sake of wealth, that it is loved, but for one's own sake that it is loved. It is not for the sake of the *Brāhmaṇa*, that he is loved, but for one's own sake that he is loved. It is not for the sake of the *kṣatriya*, that he is loved, but for one's own sake that he is loved. It is not for the sake of the worlds, that they are loved, but for one's own sake that they are loved. It is not for the sake of

the gods, that they are loved, but for one's own sake that they are loved. It is not for the sake of the beings, that they are loved, but for one's own sake that they are loved. It is not for the sake of all that all is loved, but for one's own sake that it is loved." With these statements Yājñavalkya creates logic for distaste for the wife, husband, sons, etc. One can believe this easily, that, Self is present everywhere. If anything is dear and lovable to us, it is because of the Self in the object attracts the Self in us and then the object looks attractive. It is not the object that is attractive, because a dead body cannot attract anybody. It is the life principle that attracts, the Selfhood in the object is actually attracting.[18] This concept clarifies by the philosopher, Raja Rao also, in his book entitled '*The Meaning of India*' - 'For, where there is duality....one sees the other, one touches the other, one hears the other, and one knows the other. But when everything has become one's own self, what is there to see, and what to know.'[19] Here Yājñavalkya presents a new ideology of 'one's own self'. The Self pulls the Self i.e. the Selfhood in the object attracts the Selfhood in the observer of the object. Thus, the present text lists the priority of the sources of joy, from whom the insensitivity should be attained. It is noteworthy that our love for all objects should be secondary, as they all are meant for the pleasure of the self: hence, the love for the self is the primary - '*tasmāllokaprsiddhametat-ātmaiva priyaḥ, nānyat*'[20].

This reveals that impassiveness is the only possible way to realize the Self. Indirectly the significance of a controlled mind is highlighted. As it is through the mind *(Manas)* only; one sees, hears, desire, resolve, doubt, faith, lack of faith, calmness, impatience, shame, intelligence, and fear. When this mind joins itself to the objects, and then only other sense organs are able to perceive their respective objects like sound, colour, touch etc.[21] This confirms that our thoughts (generated within mind) and actions are co-related. Without uniting the mind to any action, nothing can be done.[22] As a mind being the prime source of knowing Self, should be free from worldly affairs. One even wishes desire through the mind.[23] A man whose mind is full of desires, will always get attract to his loved ones or other associations and finally get himself caught into grief and misery. Therefore Yājñavalkya justifies that the Self, should be realized, should be heard of, should be reflected on and meditated upon.

Ṛṣi Yājñavalkya narrates the realization of the self not only depends upon the detachment, but also on hearing, reflection, and meditation. Firstly it should be heard of from a

teacher or learnt through scriptures, then reflected on through reasoning or discussion, and finally by meditation the Self got realized. Thus the Self i.e. the Supreme will be realized only by combining *śravaṇa*, *manana* and *nididhyāsana*. together, that means, unless and until mind and soul is not connected together the Self cannot be realized. The Vedas hold the view that the mind, as such. is a very subtle insentient entity. It gets its ability for intelligent actions only in association with the Atman which is of the nature of intelligence and knowledge. [24] Connectivity of mind to the Supreme is the foremost factor in its realization. Therefore, *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad* identified the *Brahman* with the mind.[25]

Yājñavalkya continues 'Whoever knows the *brāhmaṇa* as other than the Self, the *brāhmaṇa* deserts that being.' Similarly, the *kṣhatriya*, the worlds, the gods, the beings, and the universe desert the one who considers them as being other than the Self. Therefore, the *brāhmaṇa*, the *kṣhatriya*, the worlds, the gods, the beings, and all this are none but the Self, indeed – '*idaṁ sarvaṁ yadayamātmā*'. [26] As everything springs from the Self, is resolved into it, and remains within during the span of the Self's materialization, nothing can be supposed apart from the Self. So, the objects which we consider, see, feel, hear etc are nothing but the false notions like that of a snake in a rope, imposed by ignorance.

Yājñavalkya addresses 'When a drum or a conch or a *vīṇā* is beaten or blown or played, the particular notes or sounds cannot be distinguished from the wholeness of the great sound. Being no separate existence, the individual notes are nothing but indistinguishable components of the general sound. [27] Similarly, all particulars perceived in the waking and dream states do not exclude the Pure Intelligence; rather, these two states merge into the Absolute. One should always be aware that all particulars will be unified in *Brahman*.

In just two stanzas, sage Yājñavalkya enlightened the truth of creation and dissolution of the universe. He marked, the Absolute as the epicenter of the whole creation and dissolution processes. While explaining creation[28], He gave an example of a fire, that the sparks, smoke, embers and flames before separation are nothing but fire. Likewise fire; the universe cannot be differentiated into various forms before its origin. The four Vedas, *Upaniṣads*, history, mythology, arts, too get manifested like the breath of the supreme. So, all these names and forms are the limited adjuncts of the infinite reality. Dissolution of universe is same as well as its creation. During or before

creation; just as bubbles, foam etc has no existence after being separated from water. In the same way, during dissolution[29] or unification to all sorts of water such as rivers, tanks, ponds, and lakes, the only goal is to get dissolve in the ocean; as to all kinds of touch, the skin is the one centre; as of all odors, the nose is the one centre; as of all taste, the tongue is the one goal; as of all forms or colours, the eyes are the one goal; as of all sounds, the ears are the one goal; as of all thoughts, the mind is the one goal; as of all kinds of knowledge, the intellect is the one goal; as of all work, the hands are the one goal; as of all kinds of enjoyment, the organs of generation is the one goal; as of all excretions, the anus is the one goal; as of all kinds of walking, the feet is the one goal; as of all Vedas the organ of speech is the one goal. The consecutive steps of unity of all these will result in the recognition of Supreme *Brahman*.

Yājñavalkya adds; as a lump of salt dropped into water dissolves with its component water, and no one is able to pick it up, but from wheresoever takes it, it tastes salty. Like this, the great Supreme reality is infinite, beyond fear, immortal; it is only because of ignorance that one cuts off as separate entity identified with name, actions, community. When all these differences ended by realizing the self, at that moment the separate existence goes beyond the bondage of the name and form i.e. its individuality gets united with the Pure Intelligence and the universe becomes one. [30] Here Śankaracarya added even when the reflections of sun, moon on water gets vanish but still the sun, moon remains there endlessly. Similarly, when the ignorance of 'I', 'Mine' etc got destroyed after attaining oneness with the Self, then only the infinite reality remains. It is the knowledge of the self with the abandonment of everything as part of it. When the self is known, whole universe is known.

Finally, Yājñavalkya describes the state of unity[31], i.e. when to the knower of *Brahman* everything becomes Self, then what should one smell and through what, what should one see and through what, what should one hear and through what, what should one speak and through what, what should one think and through what, what should one know and through what? In all these statements, there is an action which depends on certain factor, means for example, that an agent smell some object through his nose but when these names and forms got integrated in the Self, then what object is to be smelled, by whom and by what mechanism? When, all these combinations among the elements possessed by the particular consciousness get dissolved through knowledge. Then for a knower of *Brahman*, there are no such actions,

no factors, no instruments, and no results apart from the Supreme. This all appears to Maitreyī, as if all individuality will be lost. There will be no one to recognize, no one to love, no one to hate. But Yājñavalkya clarifies when to a knower of the Self everything becomes the Self, then it cannot be understood or known, as it is the one who understands and knows.

Even being the philosophical discussion, the above discourse carry on with simple and genuine words. By way of a debate i.e. through reasoning a complicated thought can easily be communicated; this is the idea, which Yājñavalkya proved with his wisdom. This dialogue side by side focuses on the characteristics of the thought-communicator and its follower. It informs the way to ensure the step by step progressiveness of thoughts. Besides all this above conclusions, some relations as well as some responsibilities also get highlighted through the present dialogue.

This conversation presents Yājñavalkya as a teacher and his wife Maitreyī as his disciple. A teacher should always first of all try to read his student's mind, and then slowly-slowly moves ahead by keeping an eye on student's grasping power. Here Yājñavalkya didn't show his mind untill Maitreyī expressed her willingness. Then with an immediate and straight forward response ('no, you won't') on Maitreyī's query regarding immortality through wealth, Yājñavalkya reflected his sensible personality. As Yājñavalkya is going to teach the *Upaniṣadiya-jñāna*, [as the term derives from *upa-* (nearby), *ni-* (at the proper place, down) and *ṣad* (to sit) thus implies sitting down near a teacher to receive instruction] he called Maitreyī nearby before start preaching. Then affectionately slowly-slowly with practical examples he explained the truth of 'Self-Realization'. By repeated arguments, it is teacher's duty to make sure that his student understands well, here Yājñavalkya too by giving so many related examples repeats the concept (it may be case of detachment from loved ones or a case of unity with Supreme by examples of drum, *vīṇā*, fire, salt etc). On the other hand, Maitreyī portrayed as a disciple. Maitreyī's statement "what shall I do with that wealth which will not make me immortal" reveals her interest, firm-determination, detachment and of course her desire to know 'Self'. These four qualities are must in a pupil. Maitreyī remain calm and alert during conversation that exhibits other two essential qualities of a disciple. A student should feel free in front of their teachers to get their doubts clear, as Maitreyī liberally said 'just here you have thrown me into confusion'. Also after being taught, *śravaṇa*, *manana* and *nididhyāsana* are three major steps

to be followed by the student. That is the reason, Yājñavalkya clarified that whatever he is going to explain, Maitreyī has to meditate upon it.

Like teacher-disciple relationship, the dialogue point outs husband-wife relation too. The conversation begins, with the Yājñavalkya asking for the consent of his wives before renouncing; this throws light on the characteristics of a couple i.e. for a healthier relationship a couple should ask each other for approval. In marriage, there should be a respect for each other's views and desires. As Maitreyī communicate her wish, sage Yājñavalkya immediately appreciates her desire. On statement "what shall I do with that wealth which will not make me immortal", Yājñavalkya was delighted on seeing his wife Maitreyī getting synchronized with his views. Thus, synchronization between a husband and a wife is must for a stable relationship.

As per Indian culture, there are four stages in a man's life. Here the significance of these four stages is revealed. The conversation commenced with Yājñavalkya to renounce his life from *gṛhastha āśrama* to *samnyāsa āśrama.* Otherwise the dialogue can be started without any such declaration. While renouncing, it is the duty of an individual to detach himself from all his wealth and worldly affairs. For this reason, as a responsible person of a society, Yājñavalkya wants to put an end to his relationship with his wives and also separate them by dividing the wealth.

Many times sage Yājñavalkya mentions the universality of the Supreme. The Self remains within everybody, everything, and all the worlds etc; in fact, this awakens a consciousness of an integrated planet. We should apply the above said concept of 'Self' to this materialistic world. When everyone considers each other like his own kind. Then there will be no evil thoughts, no partiality, and no terrorism; only the feeling of oneness will prevails.

Today all of us have a lot of aspirations but none of us are aware of the right path to achieve them. Yājñavalkya Maitreyī dialogue not only suggests us the way (i.e. dedication, detachment etc) but also informs us that how a thought can bring a difference to the society. Simultaneously it highlights on the power of speech and reasoning. To carry out fruitful changes in today's society, there's a need to move towards Vedic era. Thus, Vedic *ṛṣi* prays "May the auspicious thoughts come to us from every side"[32]

References -

1 Dhammapada 1.1-2

2 Aparimitataramiva hi manaḥ. Śatapatha Brāhmaṇa 1.4.4.7

3 Tanme manaḥ śivasaṅkalpamastu. Vājasaneyi Saṁhitā 34

4 The Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad (with the commentary of Śankaracarya), (Trans.) Swami Madhavanada, Introduction, xii

5 Suresvara's Vartika on Yājñavalkya Maitreyī Dialogue, Shoun Hino, p. 4

6 Śatapatha Brāhmaṇa 14.9.4.33

7 Br. Up. (Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad) 3.9.27

8 Glimpses of Vedic & Ancient Indian Civilization, Shashi Tiwari, p. 1

9 Maitreyī Brahmavādinī babhūva. Br. Up. 4.5.1

10 Glimpses of Vedic & Ancient Indian Civilization, Shashi Tiwari, p. 31

11 Br. Up. 2.4.1, 4.5.2

12 Br. Up. 2.4.2, 4.5.3

13 Br. Up. 2.4.3, 4.5.4

14 Yajño vai śreṣṭhatamṁ karma. Śatapatha Brāhmaṇa 1.7.1.5;
Yajño hi śreṣṭhatamṁ karma. Taittrīya Brāhmaṇa 3.2.1.4

15 The Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad, (Trans.) Swami Madhavanada, p. 245

16 Br. Up. 2.4.4, 4.5.5

17 Br. Up. 2.4.5, 4.5.6

18 http://www.swami-krishnananda. org/disc /disc_24.html

19 Creation and Existence in Indian Tradition, (Ed.) Shashi Tiwari, p. 97

20 Bṛhadāraṇyakopaniṣad (sānuvāda śāṅkarabhāṣyasahita), Geeta Press Gorakpur, p. 550

21 Kāmaḥ saṁkalpo vicikitsā....mana eva. Br. Up. 1.5.3

22 Śatapatha Brāhmaṇa 6.3.1.14

23 Manasā hi kāmānkāmayate. Br. Up. 3.2.7

24 Effulgence of Vedic Thoughts, (Ed.) K. Gopalan, p. 52

25 Manomayo'yaṁ puruṣo. Br. Up. 5.6.1

26 Br. Up. 2.4.6, 4.5.7

27 Br. Up. 2.4.7-9, 4.5.8-10

28 Br. Up. 2.4.10, 4.5.11

29 Br. Up. 2.4.11, 4.5.12

30 Br. Up. 2.4.12, 4.5.13

31 Br. Up. 2.4.14, 4.5.15

32 O no bhadrāḥ kratavo yantu viśvataḥ. Vājasaneyi Saṁhitā 25.14

Bibliography –

1. Bhagyalata Pataskar (Ed.), *The Studies in the Āraṇyaka-s*, Adarsha Sanskrit Shodha Samstha, Pune, 2010
2. K. Gopalan (Ed.), *Effulgence of Vedic Thoughts*, Sri Vadakkunnatha Kshethra, Naveekarana Kalasa Committee, Trichur, 1995
3. Klaus G. Witz, *The Supreme Wisdom of the Upaniṣads*, Motilal Banarsidass Publishers, Delhi, 1998
4. Shashi Tiwari (Ed.), *Creation and Existence in Indian Tradition*, Pratibha Prakshan, Delhi, 2011
5. Shashi Tiwari, *Glimpses of Vedic & Ancient Indian Civilization*, New Bharatiya Book Coorporation, Delhi, 2006
6. (Trans.) Swami Madhavanada, The Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad (with the commentary of Śankaracarya), Advaita Ashrama, Calcutta, 1997
7. Shoun Hino, *Suresvara's Vartika on Yājñavalkya Maitreyī Dialogue*, Motilal Banarsidass Publishers, Delhi, 1991
8. http://www.dlshq.org/saints/yajnavalkya.htm
9. http://www.swami-krishnananda.org/disc/disc_24.html

* * * * * *

Vaidika Vāg-Jyotiḥ
ISSN 2277-4351

Vol.1, No.1 (197-205) Jul-Dec 2012

A correlation between the Purano-Vedic and Physicists descriptions of the universe

Rai Gyan Narain Prasad
Savitri Niwas, Behind Post Office Mohaddipur,
Gorakhpur, U.P. 273008, Indi

Summary

The laws of natural world are eternal i.e. independent of regional and temporal boundary. They may be defined in any frame of reference but they are independent of the reference system. This is the covariance of laws. In Vedic time, the natural forces are impersonal divine fellows. In Puraṇic time they became personified as deities. In modern time, they are the mechanical ones. This whole world is certainly the Brahman. It is created by, sustained in and would annihilate into the Brahman. Who knows the smaller than the smallest as well as bigger than the biggest soul (Brahman), residing inside the heart-labyrinth, is the beloved of that. The primal man (Brahman) is much greater than this. All the observable constitutes only a quarter i.e. one fourth of the Brahma. Three quarters or three-fourth of whom is pure i.e. inaccessible to the mortals. Of which, in Waking state he is illuminated as Brahma; In the Dreaming state as Visṇu; in Sleeping state as Rudra while in Turiya (non-observing i.e. beyond the three state of observations) state as Aksara (non-decaying state). In the fourth (10^{-57} cm to 10^{-33}cm) sector, all the three —observer-observable; space-time and matter-field — are unified or separately insignificant or unidentified. Thus no any motion or change or decay can be perceived. It is known as Akṣara (non-decaying) state or Turiya-state of Atman or Brahman. It is totally beyond the physicists observation limit, the Planck's length and Planck's time. In third sector (quantum mechanical world from 10^{-33} cm to 10^{-9} cm), Matter-field (Tamas) is dominant while space-time is insignificant and observer is dormant (sleeping). In Puraṇas this state is characterised by lord Rudra-Shiva, the personified tamas. The second sector (classical mechanical planetary world from 10^{-9} cm to 10 cm) observer (Rajas) is dominant, in waking state, thus characterised by lord Brahma in puraṇas. In the first sector (general relativistic astronomical world from 10^{15} cm to 10^{39} cm), space-time (Satva) becomes dominant. In vast space time, matter-radiation as well as observer both becomes insignificant (or in dreaming state) and may be treated as singularities of space-time. It is characterised by lord Viṣṇu in Puraṇas.

1. Prologue

It is no easy task for man to study nature. His trouble is that, by virtue of his mutual relations with nature, he is forced to proceed in his investigations from the particular to general. From this stem many

of his frustrations in cognising the world, for very often a realisation of generalised concepts requires a drastic reappraisal of well-established and apparently self-evident +notions. Physical phenomena cannot be investigated without reference to a co-ordinate system. One is free to choose any of a countless number of reference systems moving in all manners with respect to one anotlier. The manifestations of laws of nature, however, may differ in different systems. If an arbitrary reference system is chosen one may find that the laws governing the simplest phenomena are involved indeed. The problem thus is to find a frame of reference in which all the laws of nature would appear in as simple a form as possible; such a reference system would evidently be best suited for describing physical phenomena.

From the ancient (Purano-Vedic) to modern (Physics-Mathematics) times, man faced; several havoc in investigating the natural world but he does not give up. Because he knows that his labour is not in wane. The laws of natural world are eternal i.e. independent of regional and temporal boundary. They may be defined in any frame of reference but they are independent of the reference system. The poetry of natural laws is the same though it may be written in any language of the world. People understand the theme easily by translating the poem in his own language. This is the covariance of laws. In Vedic time, the natural forces are impersonal divine fellows. In Pauranic time they became personified as deities. In modern time, they are the mechanical ones. But in all times they are the same in themselves only our language of description differs through ages. By the critical careful study we may translate and correlate them and may discover few more hitherto unknown.

2. Four-faced Brahman, the ultimate reality

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमय: पुरुषो यथा क्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति तथेत: प्रत्येभवति स क्रतुं कुर्वीत॥ (Chhandogya Upaniṣad, 3/4/1)

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद् विजिज्ञास्व। तद् ब्रह्म॥ (Taittiriya Upaniṣad, 3/1)

एष म आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वैषम आत्मान्तर्हृदये ज्यायान्पृथिव्या ज्यायान्तरिक्षाज्ज्यादिवो ज़्यायानेभ्यो लोकेभ्य:। (Chhandogya, Upaniṣada, 3/14/3)

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्। तमक्रतु: पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मन:॥ (Katha, 1/2/20; Śvetaśvatara, 3/20, Taittiriya Ār., 10/12/1

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि ओम् इत्येतत्॥(Katha, 1/2/15)

This whole world is certainly the Brahman. It is created by, sustain in and would annihilate into the Brahman. We have to worship like that with peaceful mind and calm soul because the being is the only existing reality (Chhandogya Up. 3/4/1). From that all the observable are created. Sustain their lives after the creation and annihilate after the destruction. Be curious for that. That is the Brahman (Taittiriya Up. 3/1). My soul, who resides inside the heart-lotus (heart-cavity), is far minute than grains viz. paddy, barley, mustered or even than sawan and ramdanas and at the same time it is much more bigger than the earth,

solar system and all world of observable in space (Chhandogya Upaniṣada, 3/14/3). Who knows the smaller than the smallest as well as bigger than the biggest soul (Brahman), residing inside the heart-labyrinth, is the beloved of that? Because he transcends all the desire and sorrow (Katha, 1/2/20; Śvetaśvatara, 3/20; Taittiriya Ār., 10/12/1): Who is defined by Vedas; described by austeterics and sages; meditated on with self-control by Yogis, I tell you about that ultimate absolute non-decaying Brahman who may most suitably be denoted the term 'AUM' (Katha, 1/2/15).

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वा ऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥
पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥
एतावानस्य महिमा ऽतो ज्यायाँश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥
त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि॥

(R.V, 10/90/1-4; Yajus, 31/1-4),

अथास्य पुरुषस्य चत्वारि स्थानानि भवन्ति नाभिहृदयं कण्ठं मूर्धेति च तत्र चतुष्पादं ब्रह्म, जागरिते ब्रह्मा स्वप्ने विष्णु; सुषुप्तौ रुद्रस्तुरीयंपरमाक्षरम्। स आदित्यश्च विष्णुश्चेश्वरश्च। स्वयममनस्कमश्रोतमपाणिपादं ज्योतिवर्जितम्॥

(Brahmopniṣada, 1)

विराड्विश्वः स्थूलश्चाकारः। हिरण्य गर्भस्तैजसः सूक्ष्मश्च उकारः। कारणाव्याकृतप्राज्ञश्च मकारः। अकारो राजसो रक्तो ब्रह्मा चेतन उच्यते। उकारः सात्त्विकः शुक्लो विष्णुरित्यभिधीयते मकारस्तामसः कृष्णो रुद्रश्चेति तथोच्यते॥ (Yogachudamṇi Upaniṣad, 75, 76)

The thousand headed, eyed and infinite legged, Puruṣa (Brahman) encloses the whole world often angulas (fingers or organelles i.e. planets) beyond and including the earth i.e. the whole planetary world or solar system which is known as 'Bhūmi' the world of present tense before an observer (1). Bhuta i.e. past (astronomical) as well as Bhavya or Bhaviṣyata i.e. future (quantum) world-sectors are also the organs of the Puruṣa. He acquires divine-greatness after being manifest by emanating from non-manifest (2). This (planetary world) is, in fact, his observable glory or sector. The primal man (Brahman) is much greater than this. All the observable constitutes only a quarter i.e. one fourth of the Brahma. Three quarters or three-fourth of whom is pure i.e. inaccessible to the mortals (3). Three organs i.e. conceptual-sectors of Puruṣa (Primal-man) are raised up to the heavens i.e. macrocosm but all the three stand on his extra i.e. fourth non-conceptual leg-organ i.e. base-sector; He is imminent in all the living as well as non-livings. (ṚgVeda 10/90/1-4; Yajur Veda, 31/1-4).

In our body, Naval, Heart, Neck and Brain are the four important seats of the soul where four-faced Brahman is illuminated. Of which, in Waking state he is illuminated as Brahma; In the Dreaming state as Viṣnu; in Sleeping state as Rudra while in Turiya (non-observing i.e. beyond the three state of observations) state as Akṣara (non-decaying state). The first letter 'A (अ)' denotes concrete direct-observable (waking state observer) physical planetary world; second the 'U (उ)' Hiraṇyagarbha (golden-germ); Tejas (fiery) and beyond the physical contact (remote-observable — dreaming state observer)

and third one the 'M (r)' cause, unseen i.e. indirect-observable (sleeping state observer) and Pajna. Further A (3?) denotes Rajas (dynamic), red (blood) colour, deity Brahma and cosmic consciousness (the observer). U 0?) denotes Satva (space-time manifold), white-coloured (illuminated space provides form or shape) and Visnu. M (H) denotes Tamas (the substance — matter or energy), black-coloured (radiationless i.e. formless) and Rudra.

3. The four-sectored Physicists universe

Ours is a time of unprecedented progress of the natural sciences. Especially great are advances in physics, the fundamental science of nature, which embraces the most ambitious fields of human learning. Physics investigates the simplest but most fundamentals 'structures of the world' it studies the simplest but deepest lying links in the world harmony. Contemporary physics comprises a beautiful, well-balanced system of principles and concepts, backed by sound mathematical formulations, whose depth and uniformity allow for a thorough investigation of both the elementary 'structures of the world' and the world as a whole. Physical concepts are of quantitative nature and are therefore of necessity bound together by mathematical formalism. But then, mathematics is an excellent tool for coping with abstract notions of all kinds and its possibilities in this respect are virtually unlimited. The mathematical apparatus of physics enables the researcher to delve freely into regions where imagination alone is powerless.

For the three sectors of the universe, physics develops three distinctly different types of mechanical laws viz. classical mechanics for empirical world of common human experiences, relativistic mechanics for astronomical world of macrocosmic distances and quantum mechanics for sub-atomic microcosmic distances. Beyond the Planck's length 10^{-33} cm or Plank's time 10^{-43} sec, physics cannot explore the fourth sector of the universe, what our Upanisadas call 'Turiya' state of Ātman or Akṣara Brahman.

3.1 The demarcation line between macrocosm and microcosm

Concerning the four sectored physicists universe, we know not much about its definite partition lines with any degree of certainty. To make a simple guesswork, the demarcation line between macrocosm and microcosm is arbitrarily chosen at ~ 10^{-10} cm or something just smaller than the diameter of smallest hydrogen atom i.e. ~ 0.529×10^{-8} cm range. In smaller region, classical mechanical laws, applicable to macrocosm, ceases to work and a totally new set of laws of quantum mechanics takes over to define microcosm. At this demarcation line, the gravitational field becomes the weakest in comparison to electromagnetic field of the order of ~ $1:10^{40}$. Towards bigger as well as smaller both the sides, it seems that gravity becomes stronger. Both the microcosm and macrocosm may further be subdivided into two sectors each, where gravity takes over the other field interactions. In macrocosm, gravity may dominate over electromagnetism, the only other long-range force just beyond a planetary system

of sun like star. The accumulation of matter in a sun like star introduces an observable amount of general relativistic curvature of-1.70 sec of arc. But we the humans are more sensitive and aware about the'electromagnetism on the planet Earth. Probably, in microcosm, this may happen precisely at Planck's length and time.

3.2 Two sectors of macrocosm

3.2.1 Classical-empirical planetary world of direct observations

It is impossible to investigate physical phenomena without introducing a frame of reference, reference bodies, or landmarks relative to which observations are carried out. Imagine a highway crossing a very flat and monotonous plain. A car travelling along it in the distance at first seems to be standing still. But when one finds a landmark — a telegraph pole or a tree (usually this is done sub-consciously) — and continues to observe the car for a period of time one detects a change in the mutual positions of the car and the landmark. The concept of frame of reference (coordinate system) is a fundamental one in physics. A researcher embarking on physical investigations is free to choose any reference body he likes. It is natural to assume that laws governing a given phenomenon do~not depend on the choice of reference system. Experience, however, confirms this only with respect to a very special class of reference system (the inertial systems) which moves at a uniform velocity relative to each other.

It is appropriate to note at this juncture that the greater the scope of the phenomena involves the higher the class of transformations with respect to which the laws of physics is invariant. Thus the equations of classical mechanics are invariant with respect to the Galilean transformations. This means that any equation describing a classical mechanical phenomenon in terms of position co-ordinates and time has the same form in different inertial frames of reference. Our empirical world with the waking state human observers is approximately governed by the classical mechanics of Galilean transformations of inertial systems because the gravitational effect are so negligible that can be neglected. Our senses perceive motion and changes from the chemical atoms (larger than ~10^{-9} cm postulated by Pakudha Katyayana and Kanada in India and Democritus and Dalton etc. in West.) up to the planetary orbits (smaller than 10^{15} cm, in ancient India, up to the Saturn but now to the Pluto). This is the limit of empirical world sector of human observation without instruments aid having a total magnitude range of ~10^{24} between the limits. This is the only sector where a waking state observer finds concrete reality of present tense (Vartaman-kala) because human observer may travel physically (in a technologically advanced spaceship) within the planetary limits of the solar system and would find approximately the same state of things what he remotely observed from the earth., in contrast, he never sure about the present state of affairs concerning the astronomical world of stars and galaxies.

3.2.2 Astronomical world of stars i.e. dreamland of human observers

The equations of the more-general relativistic mechanics and electromagnetic theory are invariant with respect to a

broader class of space-time transformations — the Lorenz transformations — though only inertial frames of reference are still considered. When gravity is taken into account, the laws of physics becomes so comprehensive and 'exhaustive' that they are invariant with respect to any completely arbitrary space-time transformations (a property known as covariance of equations). In other words physical laws are at least independent of the choice of frame of reference i.e. of whim and will of the observer but still we cannot observe any event without introducing the frame of reference. Only we are free to choose any frame of reference which does not disturb a physical law, because, the equations of motion of a particle in a given gravitational field are derived in tensor form by introducing an arbitrary four dimensional curved space-time co-ordinate system.

The stars, galaxies and its clusters and super-clusters, quasars, pulsars and black holes etc. (i.e. all the astronomical designations and the system containing all of it) are the member of this sector of the universe which may extend beyond the planetary limits (i.e. 10^{15} cm or 10^{10} km) of an average star like sun, up to the boundary of macrocosm (i.e. up to 10^{39} cm or 10^{21} light years (because light travels 3 x 10^{10} cm/sec or 9 x 10^{17} cm/year) , if the magnitude of extension is the same (~ 10^{24}) for all the four sectors. The figure 10^{21} years is amazingly unbelievable to modern physicists but my previous works assigned this figure 1.86 x 10^{21} years to the total life of Brahma or a day of Viṣṇu. Beyond which we cannot imagine. This sector lies beyond the human physical reach. He may only study through sophisticated telescopes and other instruments, but never set foot in this dreamland sector. For a naked eye human observer nothing moves or changes in the astronomical world of fixed stars on the pitch-dark space background.. Human observer is not an active part of this sector. Always we get a past state (Bhuta-kala) knowledge of the astronomical world just like dreaming state observer see dreams. Gravity is the only dominant force and the general relativity is the only mechanical law.

3.3 Two worlds of microcosm

3.3.1 The causal world of quantum mechanics of slept observer

The state of observable at a given instant is determined in classical and relativistic mechanics by its position co-ordinates and momentum; in electromagnetic field theory it is defined by the values (over all space) of electric and magnetic field vectors; in gravitational field theory, by the value of metric tensor; in quantum mechanics by the wave function. To determine the state of a physical system it must interact with external classical things. Such interaction is accompanied by disturbance of the system. This means that any observation involves a disturbance or perturbation, of the observed thing. An observable is treated as a classical mechanical system when the disturbance caused by the observation can be neglected and its behaviour can be described by classical mechanics. If on the other hand, there exists a certain quantum of action (represented by Planck's constant, which has the value h = 6.62 x 10^{-27} erg. sec) which cannot be neglected, we have a

quantum mechanical system. A quantum mechanical system cannot be observed without causing a major perturbations in it and, consequently, one cannot expect complete determinism of the result of observations: uncertainty and statistical relations come into play. Quantum theory, therefore, must allow for a mathematical prediction, not of the exact results of observations, but of the probability of obtaining one or another result of measurement. A unique experimental result is possible only in the special case when the probability of a result is unity. Heisenberg's uncertainty relationship $\Delta p \Delta x \sim h$, the Δp and Δx are uncertainties in the precise values of the momentum and position co-ordinates at the same instant; they indicate that the two cannot be precisely defined at the same time.

Thus active observation i.e. waking state observer is totally excluded from this sector of the universe for its non-disturbed normal functioning. Here observer is supposed to be sleeping or in dormant state. Observation is totally indirect that are we know quantum world only through its interactions with the classical objects in the form of our detecting instruments. In this sector, observation process, we know always affects the quantum mechanical object, changing its state and, accordingly, its wave function, thereby destroying, as it were, the whole of the past (prior to the interaction). We have seen that if a quantum mechanical object is subjected to two successive interactions A and B, the effects of process A can be used to determine the probability of the effects of process B, regardless of what was happening to the object before process A began. Thus in this world we may observe indirectly or forecast about the future probabilities of any process in contrast to the astronomical world where we may observe only the past events.

The range of this sector may begin from just below the dimension of hydrogen atom ~ 10^{-9} cm up to the Planck's length ~ 10^{-33} cm, if equal division of magnitude range 10^{24} is valid. It is now believed that once (at its beginning moments) the whole universe acquired these tiny dimensions. When universe was only 10^{-12} sec of age electromagnetic and weak interactions were the same at energies - 100 GeV i.e. 10^{150}K temperature. At 10^{-32} sec of age, universe have the size of a Softball having temperature 10^{270}K. Physicists with faith in the grand unified field theories (GUTs) believe that at 10^{-35} second age, the strong force was one with the electro-weak force at energies 10^{15} GeV and the universe size was 10^{-24} cm. The pure energy just began to condense into point -like particles quarks and leptons. The basic idea is that the effective coupling constant of the strong interactions, which is large at low energies, gradually decreases at high energies because of asymptotic freedom. On the other hand, effective coupling constant of Salam-Weinberg electroweak theory, which is small at low energies gradually increases at high energies because this theory is not asymptotically free and thus one finds the two coupling constants become equal at an f energy ofabout10^{15}GeV.

3.3.2 The non-decaying (akṣara) world beyond the physical investigation

The wall of Planck's length and time comes 10^{-33} cm and 10^{-43} sec and decides the boundary line between third (the quantum mechanical world or Prajna state) and fourth (the aksara state of Upanishads). At this point

there is a fundamental breakdown in the ability of physicists to describe space, time or matter. It is presumed that gravity has just broken its bond with the single unified force that existed at the instant of the big bang (when universe first acquired beingness at a size of $\sim 10^{-57}$ cm). Thus this fourth sector extends its limits from 10^{-33} cm to 10^{-57} cm i.e. an equal magnitude-range of 10^{24}. To cross the Planck's wall, it would be helpful for physicists to know whether the various GUTs are really on track. There is no immediate hope for getting past this last frontier 10^{-43} sec, on the far side may exist a self-explanatory universe of ultimate simplicity. 'At that point the gravitational field has become so strong that quantum effects must — by definition — - be taken into account,' said Hawking 'If we want to understand how the universe began, we must understand how gravitation and quantum mechanics are combined into quantum theory of gravity.

The bubble theory of universe, originated in 1981, eliminates most of the flaws in the big bang theory. The basic idea is that not one but several universes arose from bubbles inflating like balloons in the void. At 10^{-32} sec of age, universe is not bigger than a grapefruit. After that the ordinary big bang scenario takes over and universe swelled into the present size. J. Rechard Gott, has proposed that our universe is but one of perhaps an infinite number that were created like bubbles in a hot liquid of great but finite density. These bubbles form out of a type of space named after Willem de Sitter (1917). Gott's cosmology, however, applied Hawking radiation to the early universe. Gott, looking at the interplay between gravitation and quantum mechanics, determined that the event horizons surrounding black holes continuously generate thermal radiation. The radiation becomes fluid that causes the bubble universe to expand. It is extremely hot — over 10^{31} °K and incredibly dense ~ 10^{93} gm/cm^3. The risky part of the Gott's model is that it tries to tell us what was happening on the other side of the Planck's time at 10^{-14} sec or earlier. During this period, he suggests, that other universes — an infinity of them — also could have formed, just like bubbles foaming in a head of beer. Each is separated from the other by an event horizon, the light barrier that prevents the transmission of all information from one to the other. The essence of a scientific theory is that it must be conformable. So, beyond the physicists limit, how does Gott suggest that his speculation about bubbles emerging in a forth and infinite number of universes be proved or disproved? This fourth sector of the universe is totally beyond the physical enquiry.

4. Epilogue

According to Upanisadas, Brahman becomes 'sat' (being or manifest) from 'asat' (non-being or non-manifest) that is observable from unobservable which clearly - means that observer or consciousness separated first from rest of the reality creating difference between the observer or knower and the observable or knowable. Sankhya philosophy also endorses this view that Mula Prakriti cannot be known. Rajas (consciousness) first tried to knock his separate identity. At this point, the observable can really be quantified as something like 10^{-57} cm, probably not. At upper limit of sector four, the Planck's wall, gravity separated out from the rest of the force means clearly that space-time acquired separate identity from the matter-radiation composite because Einstein's general relativity

equates gravity with space-time manifold. According to Sankhya, separation of Rajas (consciousness) is an efficient cause but the separation of JSatva (space-time) from the Tamas (matter-radiation) is the material cause to create a physical difference between observer and observable. Therefore, physical enquiry can only be possible on this side of the Planck's wall and we cannot cross the Planck's wall.

In this fourth sector, all the three —observer-observable; space-time and matter-field—are unified or separately insignificant or unidentified. Thus no any motion or change or decay can be perceived. It is known as Akṣara (non-decaying) state of Brahman or Turiya State of Ātman. In third sector (quantum mechanical world), Matter-field (Tamas) is dominant while space-time is insignificant and observer is dormant (sleeping). In Purāṇas this state is characterised by lord Rudra-Shiva, the personified tamas. The second sector (classical mechanical planetary world) observer (Rajas) is dominant, in waking state, thus characterised by lord Brahma in Purāṇas. In the first sector (general relativistic astronomical world), space-time (Satva) becomes dominant. In vast space-time, matter-radiation becomes insignificant and observer as dreamer and may be treated as singularities of space-time. It is characterised by lord Viṣṇu in Purāṇas.

Footnotes and references

Acharya, Pt. Sri Ram Sharma (ed). Ṛig-Veda, 1974; Yajur Veda, 1974; Viṣṇu Purāṇa 1971; Śhiva Purāṇa, 1979;

Vayu Purāṇa, 1969; Kanada's Vaiśeṣika Darshana, 1971; Sanskriti Sansthan Bareilly.

Katha Upaniṣada, 1975, Isadi Nav-Upanishad, 1976.

Chhandogya Upaniṣada, 1971, Gita Press, Gorakhpur.

Boslough, J., 1985, Beyond the Black Hole (Stephen Hawking's Universe), Harper Collins Publishers, London.

Ivanov, B., Contemporary Physics, Peace Publishers, Moscow.

Prasad, R.G.N., 1976, Brahman ka Neti-Neti Swaroop, Gorakhpur.

Prasad, R.G.N., 1978, Gradational Theory of Universal Reality, Gorakhpur.

Prasad, R.G.N., 1981, Gradational Structure of Universal Time — A Scientific Resurrection of Ancient Hindu Calendar, Gorakhpur.

Prasad, R.G.N., 1994, Hindu Concept of Biophysical Time, Concept of Time (theme papers), World Archaeological Congress-3, New Delhi.a

विद्वज्जन-परिचय

प्रो० दिनेशचन्द्र शास्त्री	अध्यक्ष-वेदविभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
स्व०भगवद्दत रिसर्च स्कॉलर	प्राच्यविद्याविशारद, पूर्वी पटेल नगर, नई दिल्ली
प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार	भूतपूर्व वेदोपाध्याय, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल	पुरातत्त्वविद्याविद् एवं प्राच्यविद्याविशारद, लखनऊ
डॉ० रामनाथ वेदालंकार	वेदमन्दिर, गीता आश्रम, ज्वालापुर, हरिद्वार
पं०जगन्नाथ वेदालंकार	अरविन्दाश्रम पाण्डेचरी
आचार्य राजवीर शास्त्री	सम्पा० दयानन्द-सन्देश, भूपेन्द्रपुरी, मोदीनगर, गाजियाबाद (उ०प्र०)
डॉ० सुद्युम्न आचार्य	भूतपूर्व रीडर, स्नातकोत्तर संस्कृत अध्ययन एवं शोधविभाग, श्री मु०म०टाउन, पी०जी०कॉलेज, बलिया (उ०प्र०)
डॉ० शशि तिवारी	पूर्व विभागाध्यक्ष, संस्कृत विभाग, मैत्रेयी कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
प्रो० वीरेन्द्र कुमार मिश्र	प्रोफेसर-संस्कृतविभाग, हि०प्र० विश्वविद्यालय, समरहिल, शिमला
प्रो० मनुदेव बन्धु	प्रोफेसर, वेदविभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
डॉ० प्रशस्य मित्र शास्त्री	वैदिक प्रवक्ता, बी०-२९, आनन्द नगर, जेलरोड, रायबरेली (उ०प्र०)
डॉ० मनोहरलाल आर्य	अध्यक्ष संस्कृतविभाग, डी०ए०वी०कॉलेज, कांगड़ा, हि०प्र०
डॉ० किशनाराम विश्नोई	प्रभारी, गुरु जम्भेश्वर धार्मिक अध्ययन संस्थान, गु०ज०वि०वि०, हिसार
डॉ० नन्दिता सिंघवी	अध्यक्ष, संस्कृतविभाग, रा०डूं०महाविद्यालय, बीकानेर (राज०)
डॉ० राम हरीश मौर्य	पूर्व शोधच्छात्र, वेदविभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
डॉ० नरेश कुमार	असिस्टेण्ट प्रोफेसर (तदर्थ), वेदविभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उ०ख०)
डॉ० जीवन वेदालंकार	गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
डॉ० देवीसिंह	संस्कृत व्याख्याता, गोस्वामी गणेशदत्त सनातन धर्म महाविद्यालय, सै० ३२, चण्डीगढ़
डॉ० रमेश कुमारी सिंह चौहान	रीडर संस्कृतविभाग, सी०एस०एन०कॉलेज, हरदोई (उ०प्र०)
पं० वेदप्रिय शास्त्री	४ भ २७, विज्ञाननगर, कोटा (राज०)
पं० अ०सी० विश्वनाथ श्रौती	वैदिक संशोधन मण्डल पूना (महाराष्ट्र)
पं० नरदेवशास्त्री वेदतीर्थ	पूर्वकुलपति, गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर
प्रो० मानसिंह	६०/३ मुंशी प्रेमचन्द मार्ग, न्यू नेहरु नगर, रुडकी (हरिद्वार)
प्रो०विक्रमकुमार विवेकी	पूर्वविभागाध्यक्ष, संस्कृतविभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ

पं० कपिलदेव हरेकृष्ण शास्त्री	प्राचार्य, श्री कैलाश गुरुकुल, पोस्ट महुवा, जामनगर (गुजरात).
Dr. Gauri Mohulikar	Dept. of Sanskrit, Ramkrishna Bajaj Sanskrit Bhawan, University of Mumbai
Dr. Aparna Dhir	Co-ordinator, Rashtriya Sanskrit Sansthan, New Delhi.
Dr. Rai Gyan Narain Prasad	Savitri Niwas, Behind Post Office Mohaddipur, Gorakhpur (U.P.)

Vaidika Vāg-Jyotiḥ is a half yearly peer-reviewed International Vedic Journal of Gurukul Kangri Vishwavidyalaya, Haridwar . Manuscripts should be submitted to the Editor both in Electronic Form and in Hard Copy (Typed in double spacing on A4 size paper). Research papers of late eminent vedic scholars recommended by reviewers can also be consider for publication.

Contact for :-

Submission of Manuscript
Chief Editor **'वैदिक वाग्‌-ज्योतिः' 'Vaidika Vāg-Jyotiḥ'**
Gurukula Kangri Vishwavidyalaya, Haridwar - 249 404
Uttarakhand, INDIA
Email - dineshcshastri@gmail.com
Tel : +91- 9410192541
http:/www.gkv.ac.in

For further Information Mail to :
Prof. Dinesh Chandra Shastri
Chief Editor (dineshcshastri@gmail.com)

ISSN 2277-4351
UTTMUL 000 25/35/1/2012-TC
Vol. 1, July-Dec. 2012, No.1

'वैदिक वाग्-ज्योतिः' 'Vaidika Vāg-Jyotiḥ'

An International Half Yearly Refereed Research Journal on Vedic Studies

Aims & Objectives

1. ***To rectify and clarify the illusionary thoughts expressed by critics on Vedas, by referring to the existing logical proof and arguments, in Shastras.***

2. ***To extract the knowledge-scientific or otherwise, hidden in Vedas.***

3. ***To publish the original Vedic findings.***

4. ***To prepare special edition on Vedic doctrine, containing detailed arguments for notified Vedic research outcomes.***

5. ***To accelerate Swami Dayanand Sarswati's thoughts and opinions for clearing the illusions prevailing about Vedas.***

6. ***To publish critical edition of work carried out on Vedas by citing the facts that originally existed in Vedic books, rarely available.***

मुद्रकः किरण ऑफसैट प्रिंटिंग प्रैस, कनखल, हरिद्वार फोनः 9837007222

ISSN 2277-4351
UTTMUL 000 25/35/1/2012-T

वैदिक वाग् ज्योतिः

Vaidika Vāg Jyotiḥ

An International Refereed Research Journal on Vedic Studies

Vol. 1 JAN-JUNE 2013 No

जनवरी–जून 2013

सम्पादक

दिनेशचन्द्र शास्त्री

गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

Gurukula Kangri Vishwavidyalaya

Haridwar-249 404(Uttarakhand), India

ISSN 2277-4351
Vol. 1, Jan-June 2013, No.2

'वैदिक वाग् ज्योतिः' 'Vaidika Vāg Jyotiḥ'

An International Half Yearly Refereed Research Journal on Vedic Studies

Chief Editor

f. Dinesh Chandra Shastri
d, Dept. of Veda, GKV, Haridwar-249 404 (U.K.) India
il - dineshcshastri@gmail.com
+91- 9410192541

Annual Subscription

Rs. 150.00, US $ 9, Single Copy: Rs. 75.00
Payment Mode :
D.D. in favour of Registrar G.K.V. Haridwar (U.K.)

Published by

Prof. A.K. Chopra
Registrar, GKV, Haridwar - 249 404 (Uttarakhand) India

Printed at

Kiran Offset Printing Press, Kankhal, Haridwar - 249 404 (U.K.) India, Tel: +91- 9837007222, 01334 -245975

ISSN 2277-4351
UTTMUL 000 25/35/1/2012-TC

वैदिक वाग् ज्योतिः

Vaidika Vāg Jyotiḥ

An International Refereed Research Journal on Vedic Studies

Vol. 1 Jan-June 2013 No.2
जनवरी–जून 2013

सम्पादक
प्रो० दिनेशचन्द्र शास्त्री
अध्यक्ष, वेद विभाग

गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
Gurukula Kangri Vishwavidyalaya
Haridwar-249 404(Uttarakhand), India
http://www.gkv.ac.in

विषयसूची

–o–

श्रुति-सुधा

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव।

यद्भद्रं तन्न ऽआ सुव ॥ यजु०३०.३॥

(नारायणः। सविता=ईश्वरः। गायत्री। षड्जः)

पदार्थः-**(विश्वानि)** समग्राणि **(देव)** दिव्यगुणकर्मस्वभाव **(सविता)** उत्तमगुणकर्मस्वभावेषु प्रेरक परमेश्वर! **(दुरितानि)** दुष्टाचरणानि दुःखानि वा **(परा)** दूरार्थे **(सुव)** गमय **(यत्)** **(भद्रम्)** भन्दनीयं धर्म्याचरणं सुखं वा **(तत्)** **(नः)** **(अस्मभ्यम्)** **(आ)** समन्तात् **(सुव)** जनय॥

अन्वयः-हे देव सवितस्त्वमस्मद्विश्वानि दुरितानि परा सुव यद्भद्रं तन्न आ सुव॥

भावार्थः-अत्र वाचकलुप्तोपमालंकारः। यथोपासितो जगदीश्वरस्स्वभक्तान् दुष्टाचारान्निवर्त्य श्रेष्ठाचारे प्रवर्त्तयति, तथा राजाऽपि प्रजा अधर्मान्निवर्त्य धर्मे प्रवर्त्तयेत्, स्वयमपि तथा स्यात्॥

(महर्षिदयानन्दकृतवेदभाष्यम्)

*हे **(सवितः)** सकल जगत् के उत्पत्ति कर्त्ता, समग्र ऐश्वर्ययुक्त **(देवः)** शुद्धस्वरूप, सब सुखों के दाता परमेश्वर! आप कृपा करके **(नः)** हमारे **(विश्वानि)** सम्पूर्ण **(दुरितानि)** दुर्गुण, दुर्व्यसन और दुःखों को **(परा, सुव)** दूर कर दीजिए **(यत्)** जो **(भद्रम्)** कल्याणकारक गुण, कर्म, स्वभाव और पदार्थ हैं **(तत्)** वह सब हमको **(आ, सुव)** प्राप्त कीजिए।* **(महर्षि दयानन्दकृत संस्कारविधि, ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासना)**

*हे सत्यस्वरूप, हे विज्ञानमय, हे सदानन्दस्वरूप, हे अनन्तसामर्थ्ययुक्त, हे परम कृपालो, हे अनन्तविद्यामय, हे विज्ञानविद्याप्रद **(देव)** हे परमेश्वर! आप सूर्य्यादि सब जगत् का और विद्या का प्रकाश करने वाले हो, तथा सब आनन्दों के देने वाले हो, **(सवितः)** हे सर्वजगदुत्पादक सर्वशक्तिमन्! आप सबको उत्पन्न करने वाले हो, **(नः)** हमारे **(विश्वानि)** सब **(दुरितानि)** दुःख हैं उनको और हमारे सब दुष्ट गुणों को कृपा से आप **(परासुव)** दूर कर दीजिए अर्थात् हमसे उनको सदा दूर रखिए **(यद्भद्रं)** और जो सब दुःखों से रहित कल्याण हैं जो कि सब सुखों से युक्त भोग है उसको हमारे लिये सब दिनों में प्राप्त कीजिए। सो सुख दो प्रकार का है-एक जो सत्यविद्या की प्राप्ति में अभ्युदय अर्थात् चक्रवर्त्ति राज्य, इष्ट, मित्र, धन. पुत्र, स्त्री और शरीर से अत्युत्तम सुख का होना; और दूसरा जो निःश्रेयस सुख है कि जिसको मोक्ष कहते हैं; और जिसमें ये दोनों सुख होते हैं उसी को भद्र कहते हैं **(तन्न आसुव)** उस सुख को आप हमारे लिये सब प्रकार से प्राप्त करिए और आपकी कृपा के सहाय से सब विघ्न हमसे दूर रहें।*

(महर्षि दयानन्दकृत ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, ईश्वरप्रार्थनाविषयः)

वाग्ज्योतिर्नितरां विभाति भुवने ज्ञानप्रदं वैदिकम्

नाना-तर्कैर्वितर्कैर्विबुध-जनमतैर्भूषयल्लेखमालाः,
शास्त्राणां दर्शनानां निगमपथजुषां ब्राह्मणानां बहूनाम्।
वाक्यैः सिद्धान्तनिष्ठैः समम् उपनिषदां तत्त्वमाधातुकामम्,
वाग्ज्योतिर्वैदिकं तत् प्रसरतु भुवने ज्ञानविज्ञानदं नः॥१॥ (स्रग्धरा)

विद्वद्व्यूहविचारसारसहितं यत् प्राच्यविद्याऽऽश्रितम्,
अज्ञानाऽन्धतमोनिवारणपरं सद्-बुद्धिशुद्धि-प्रदम्।
शोधोद्योगपरायणा बुधजना जानन्तु तद् दीपकम्,
वाग्ज्योतिर्नितरां विभाति भुवने ज्ञानप्रदं वैदिकम्॥२॥ (शार्दूलविक्रीडितम्)

-प्रशस्यमित्रशास्त्रिणः

सम्पादकीय (Editorial)

(i) मातृशक्ति के प्रति बढ़ते अपराध और उनका वैदिक निदान

वेदों के अनुसार यातुधान, रक्षस्, दस्यु, पिशाच, स्तेन और तस्कर-इन छह नामों का दण्डनीय व्यक्तियों में उल्लेख किया जाता है। ये सभी नाम प्राय: पर्यायवाची हैं। साथ ही इनके अर्थों में परस्पर कुछ भेद भी है। यों तो सभी प्रकार के अपराधी इन नामों के भीतर आ जाते हैं। परन्तु वेद में स्पष्टता के लिये स्थान-स्थान पर कितने ही अपराधियों के नाम गिनाये गये हैं, जिनमें दुष्कृत, कोकयातु एवं स्त्रीभिर्यो वृषणं पृतन्यात् (व्यभिचारी)-नाम से कथित अपराधी भी परिगणित हैं। १. दुष्कृत=दुराचरण करने वाला, २. कोकयातु=कोक पक्षी की तरह आचरण करने वाला। कोक पक्षी में कामवासना प्रबल रूप से होती है। जो लोग अपनी कामातुरता के कारण दूसरों को कष्ट पहुंचाएं, बलात्कार करें; वे कोकयातु हैं। ३. स्त्रीभिर्यो वृषणं पृतन्यात्=जो पुरुष स्त्रियों से व्यभिचार करे, वह व्यभिचारी पुरुष है। ऋग्वेद १०.५.६-सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात। आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीळे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ।। मन्त्र में सात मर्यादाओं की चर्चा की गयी है, जिसमें एक मर्यादा आचार्य यास्क के अनुसार तल्पारोहण=व्यभिचार न करना भी है। वेद कहता है जो कोई भी इनकी ओर जाता है, वह महापापी कहलाता है।

उपर्युक्त प्रकार के अपराधी सीधे तौर पर मातृशक्ति के प्रति किये जाने वाले अपराध से सम्बन्धित हैं। ऐसे अपराधियों के लिये वेदों में कई प्रकार के दण्ड बताये हैं। जिनमें पहला यह है कि अपराधी को जिह्वा से पकड़ना चाहिये अर्थात् वाणी से समझाना चाहिये साथ ही अपराधी की धन-सम्पत्ति आदि को छीन कर राष्ट्र के सहायता के योग्य पुरुषों में बांट देना चाहिये। दूसरा यह है कि ऐसे अपराधी को कारागार में डाल देना चाहिये, क्योंकि इनमें ऐसे भी अपराधी हो सकते हैं, जिन पर समझाने और आर्थिक दण्ड-दोनों का ही कोई प्रभाव न पड़े। उन्हें समाज से अलग करके जेल में डालने की आवश्यकता पड़ सकती है। उन्हें कारावास के कठोर दण्ड का विधान है। उन्हें किसी भी प्रकार की जमानत नहीं मिल सकती-ऐसा वेद का कठोर आदेश है। यदि वहाँ रह कर भी न सुधरे तो उसे पुनः जेल में लाकर उस कालकोठरी,

अन्धेरी कोठरी; जिसमें कुछ भी दिखायी न पड़ता हो, डाल देना चाहिये। यदि इतने पर भी अपराधी न सुधरे तो उसके शरीर के विशेष विशेष अंगों को लोहे के गर्म हथियारों से बींध देना चाहिये। जिससे उन्हें अपने अपराध का दण्ड सदा स्मरण रहे और उनके दग्ध अंगों को देखकर सर्वसाधारण जनता भी भयभीत होकर उन अपराधों से बची रहे। अपराधी की दोनों आंखें निकालना-**पातयु परमक्ष्युतावरम्**-अथर्व०१.८.१३ का भी विधान वेद में है। आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति ने यहाँ आंखों को उपलक्षण मानते हुए लिखा है कि आंखों की भांति दूसरे अंग भी काट डाले जा सकते हैं।' मातृशक्ति के प्रति एवं शैशवावस्थापन्न बच्चों के प्रति अमानवीय दुष्कृत्य करने वाले घोर अपराधी हो सकते हैं, जो किसी भी प्रकार से न माने, और बार-बार उसी अपराध को करते चले जायें। जिनको देखकर, सुनकर दूसरे भी ऐसा ही दुर्व्यवहार करने को उद्यत हों। समाज पर दुष्प्रभाव न पड़े, अतएव ऐसे लोगों के लिये यह आवश्यक है कि उनके शिश्न को या दूसरे उन-उन अंगों को काट दिया जाये, जिससे वे अपराध करते हैं। ऋग्वेद ७.१०४.२२-**उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्। सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र॥** मन्त्र में तो स्पष्टरूपेण अन्य बुरी वृत्तियों वालों के साथ-साथ कोकयातु=व्यभिचारी को भी राष्ट्र का राक्षस कहा गया है और राजा से, जैसे पत्थरों के द्वारा चनों को पीस दिया जाता है वैसे ही उसे हिंसित करने, मारने वा मसलने की प्रार्थना की गयी है।

देश के वर्तमान परिदृश्य पर दृष्टि डालते हैं तो ध्यान में आता है कि मातृशक्ति के विरुद्ध बलात्कार, अत्याचार, हिंसा, लूटपाट आदि की घटनाओं में निरन्तर वृद्धि हो रही है। कुल मिलाकर देखा जाये तो देश की सामाजिक स्थिति में निरन्तर गिरावट आ रही है। बलात्कार की बढ़ती घटनाएं देश की बिगड़ी हुई सामाजिक व्यवस्था का ही दुष्परिणाम है। इस समस्या का स्थायी समाधान चाहिये तो उनके कारणों को ढूंढ कर निदान की प्रक्रिया अविलम्ब प्रारम्भ करनी होगी।

एक साप्ताहिक पत्र के अनुसार गत वर्ष देश की राजधानी दिल्ली में लगभग ७०० बलात्कार की घटनाएं हुईं, जिनमें से कुछ को ही दोषी ठहराया जा सका-यह आंकड़ा भी सही नहीं है। क्योंकि अनेक घटनाएं तो पुलिस स्टेशन तक पहुंचती ही नहीं हैं। एक समाचार पत्र में विवरण आया कि एक बलात्कारी आटो चालक ने स्वीकार किया कि उसने नौ महिलाओं को अपनी हवस का शिकार बनाया, जिसमें से मात्र दो ने ही शिकायत दर्ज की थी। दूसरी ओर कई बार वर्षों तक मामले चलते रहते हैं, इसके बाद सजा होगी तो भी उसका कोई मतलब नहीं होता। इसलिये आज के कानून में सुधार होना चाहिये। न्यायालयों (फास्ट ट्रैक कोर्ट)

की संख्या अधिक बढ़ानी चाहिये, पीडितों को शीघ्रातिशीघ्र एक निश्चित समय में न्याय मिलना चाहिये। अपराधी को उपर्युक्त वेदोक्त कठोरतम सजा मिलनी चाहिये। पुलिस की संख्या बढ़ाना और उसको चुस्त-दुरुस्त करना भी आवश्यक है। वेदोक्त कठोर कानून के भय से कुछ सुधार हो सकता है क्योंकि कहा भी है-**दण्ड एवाभिरक्षति**। परन्तु इससे स्थायी एवं पूर्ण समाधान सम्भव होगा क्या? देश में इस विषय पर चल रही व्यापक चर्चा में एक बात उभर कर सामने आयी है कि समाज को अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन लाना होगा। मनु के शब्दों में यह मानना पड़ेगा कि **यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवताः** अर्थात् जहाँ नारियों का सम्मान होता है, वहां देवता निवास करते हैं। 'परन्तु दृष्टिकोण में बदलाव आये कैसे? यह बड़ा प्रश्न है। फांसी की सजा से या अपराधी के सम्बन्धित अंग को काटने से, पुलिस की व्यवस्था बढ़ाने से, बलात्कारियों के नामों की सूची इन्टरनेट (अन्तर्जाल) पर डालने से यह बदलाव सम्भव है क्या? **मेरी दृष्टि में दृष्टिकोण में बदलाव विचारों से आ सकते हैं। विचारों में बदलाव परिवार के संस्कारों एवं शिक्षा में नैतिकमूल्यों के समावेश तथा समाज के संस्कारक्षम वातावरण से सम्भव हो सकता है।** महिलाओं के प्रति दृष्टिकोण में बदलाव की शुरूआत स्वयं के परिवार से करनी होगी। परिवार में बहिन, बेटी, पत्नी, माता आदि के साथ सम्मानपूर्वक एवं समानता का व्यवहार हो। निर्धन परिवार भी दो वक्त की रोटी को परेशान हैं। बच्चों की तरफ उचित ध्यान नहीं है। उनका सही विकास नहीं हो पा रहा है। दूसरी तरफ मध्यम वर्ग भौतिकता की दौड़ में जुटा है। पति पत्नी दोनों के नौकरी या व्यवसाय में होने के कारण उनके पास बच्चों के लिये समय नहीं है। इसी प्रकार ज्यादातर और आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न परिवारों में ड्रिंक्स, डांस और क्लब का कल्चर बहुत बढ़ रहा है। जब बच्चों को माता-पिता से स्नेह, संस्कार एवं उचित देख-रेख नहीं मिलती, तब अतृप्त व असहिष्णु किशोर बनता है।

आज समाज में खुलापन भी बढ़ रहा है। अधिकांश फिल्मों, दूरदर्शन चैनलों एवं विभिन्न समाचार माध्यमों के द्वारा विश्व को एक बाजार मानते हुए महिलाओं को भोग की वस्तु के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। कम्प्यूटर, इन्टरनेट में हर प्रकार की अश्लील सामग्री उपलब्ध है। इस प्रकार उपर्युक्त समस्या का दूसरा सबसे बड़ा कारण बाजारवाद है। इस परिस्थिति में बच्चों को अधिक संस्कारों एवं समझदारी की आवश्यकता है। इसका माध्यम है-माता पिता का बालकों के प्रति स्नेह, संवाद का व्यवहार। यदि इस दिशा में प्रयास किया जाये तो समस्या का समाधान सम्भव है। इस विषय में **सत्यार्थ प्रकाश** के द्वितीय समुल्लास में **स्वामी दयानन्द** लिखते हैं कि-***बालकों को माता सदा उत्तम शिक्षा करे, जिससे सन्तान सभ्य हों और किसी अंग से कुचेष्टा न करने पावें।***

....जैसे सन्तान जितेन्द्रिय, विद्याप्रिय और सत्संग में रुचि करें, वैसा प्रयत्न करते रहें। .....उपस्थेन्द्रिय के स्पर्श और मर्दन से क्षीणता, नपुंसकता होती है...इससे उसका स्पर्श न करें।....आदि गुणों की प्राप्ति जिस प्रकार हो, करावें।' माता-पिता के द्वारा बाल्यावस्था में ही *'वीर्य की रक्षा में आनन्द और नाश करने में दुःख प्राप्ति भी जना देनी चाहिये। जैसे देखो, जिसके शरीर में सुरक्षित वीर्य रहता है, तब उसको आरोग्य, बुद्धि, बल, पराक्रम बढ़के बहुत सुख की प्राप्ति होती है। इसके रक्षण में यह रीति है कि विषयों की कथा, विषयी लोगों का संग, विषयों का ध्यान, स्त्री का दर्शन, एकान्त सेवन, सम्भाषण और स्पर्श आदि कर्म से ब्रह्मचारी लोग पृथक् रहकर उत्तम शिक्षा और पूर्ण विद्या को प्राप्त होवें। जिसके शरीर में वीर्य नहीं होता वह नपुंसक, महाकुलक्षणी....दुर्बल, निस्तेज, निर्बुद्धि एवं उत्साह, साहस, धैर्य, बल, पराक्रम आदि गुणों से रहित होकर नष्ट होता है। ... जो तुम लोग....वीर्य की रक्षा करने में इस समय चूकोगे तो पुनः इस जन्म में तुमको यह अमूल्य समय प्राप्त नहीं हो सकेगा।'* इसी प्रसंग में मनुप्रोक्त निम्न बातों को भी माता-पिता बच्चों को बतायें-

'कि मनुष्य का यही मुख्य आचार है कि जो इन्द्रियाँ चित्त को हरण करने वाले विषयों में प्रवृत्त कराती हैं, उनको रोकने में प्रयत्न करें, जैसे घोड़े को सारथी रोककर मार्ग में चलाता है, इस प्रकार इनको अपने वश में करके अधर्म मार्ग से हटाके धर्म मार्ग में सदा चलाया करें। क्योंकि इन्द्रियों को विषयासक्ति और अधर्म में चलाने से मनुष्य निश्चित दोष को प्राप्त होता है और जब इनको जीत कर धर्म में चलाता है तभी अभीष्ट सिद्धि को प्राप्त होता है। यह निश्चय है कि जैसे अग्नि में ईंधन और घी डालने से अग्नि बढ़ता जाता है, वैसे ही कामों, विषयवासनाओं के उपभोग से काम शान्त कभी नहीं होता किन्तु बढ़ता ही जाता है। इसलिये मनुष्य को विषयासक्त कभी नहीं होना चाहिये-

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान् यन्तेव वाजिनाम्॥
मनु० २.८८

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम्।
सन्नियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति॥
मनु० २.९३

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥
मनु० २.९४॥

इसी प्रकार और एक महत्त्वपूर्ण तथ्य पर हमारा ध्यान नहीं है, या उसकी चर्चा नहीं होती है। ३०-४० वर्ष पूर्व बच्चों की यौनसम्बन्धित समझदारी सोलह से अट्ठारह वर्ष के आस-पास आती थी। साधारणतः उसी उम्र में उसका विवाह भी हो जाता था। आज बच्चों की यौनसम्बन्धित समझदारी १०-१२ वर्ष की उम्र में आ जाती है और उनके विवाह की उम्र ३० वर्ष के आस-पास हो गया है। इतने समय वे युवा संयम के साथ कैसे

वितायें। यह बड़ा प्रश्न है। संयमहीनता ही वह कमजोरी है जिसका बाजारवाद कामोत्तेजित वस्तुओं के विज्ञापनों के द्वारा फायदा उठाता है, चाहे आने वाली पीढ़ी बर्बाद हो जाये, इससे उसे कोई मतलब नहीं है। इसको स्पष्ट करते हुए प्रो० धर्मवीर जी ने परोपकारी, अप्रैल प्रथम २०१३ के सम्पादकीय में लिखा है- *'जो प्रमुख बात है वह है बाजार, हमारी सरकार के निर्णय समाज व्यक्ति देश के हानि-लाभ को देखकर नहीं होते। सरकार के निर्णय बाजार के हित-अहित की चिन्ता करते दिखायी देते हैं। आजकल सत्ता, सरकार में सामर्थ्य नहीं है। आज वास्तविक सत्ता बाजार में निहित है। बाजार की उपस्थिति इच्छाओं पर आधारित है। मनुष्य में इच्छा उत्पन्न होती है, उससे बाजार उत्पन्न होता है। स्वाभाविक प्रक्रिया तो इच्छा उत्पन्न होना और उसके लिये बाजार उत्पन्न होना है, परन्तु आज इसके विपरीत होता दिख रहा है। मनुष्य में बाजार इच्छाओं को उत्पन्न कर रहा है, उन्हें बढ़ा रहा है। बाजार के मालिक मनुष्यों की इच्छाओं को बढ़ाकर बाजार को सफल बना रहे हैं। आपको क्या खाना है, आपकी इच्छा, आपकी आवश्यकता से नहीं, बाजार के निर्देश से जुड़ी है। पिज्ञा खाना है, नूडल्स, मांस खाना है, चूजा खाना है या कुछ और यह बाजार बतलाता है। आपको कपड़ा कैसा, कौनसा पहनना है? इसका निर्णय बाजार करता है। क्या देखना अच्छा लगता है, बाजार बताता है। बाजार इच्छा को अच्छा लगने से जोड़ देता है, जैसे खाना, पीना, पहनना, देखना, सुनना, सूंघना-सब कुछ बाजार निर्धारित करता है। इनकी इच्छा बढ़ने से बाजार बढ़ता है, उसी प्रकार कामभावना का भी बड़ा बाजार है। भोजन के बाद यदि कोई सबसे बड़ा बाजार है तो वासना का बाजार है। वासना तो है, उसकी पूर्ति में सुख अनुभव भी होता है, तो अधिक सुख के लिये अधिक इच्छा और अधिक साधन यह बाजार का खेल है। इसमें वासना की भूख बढ़ती है, तो इसमें और जो शरीर की आवश्यकता है, काम की भावनाओं से अन्य इच्छाओं में अन्तर है। और अन्य इच्छा में इच्छापूर्ति का साधन जड़ है। हम उसे कैसे भी प्रयोग कर सकते हैं। हम क्या देखें, कुछ भी देखें, कुछ भी सुनें, कुछ भी खायें, कुछ भी सूंघें, इससे जिसका उपयोग किया जा रहा है, उसको कोई हानि-लाभ नहीं हो रहा है, परन्तु स्पर्श सुख में ऐसा नहीं है, उस इच्छा की पूर्ति का सम्बन्ध चेतन से है। अतः इसका हानि व लाभ दोनों पर होता है। अतः विवाह सम्बन्ध की कल्पना की गयी है। जड़ वस्तुओं से विवाह नहीं किया जाता, उनसे सहमति नहीं ली जाती, क्योंकि उन वस्तुओं को आपके साथ आने न आने की कोई इच्छा नहीं, आपका उन पर अधिकार होता है। आप उनका कैसे भी प्रयोग कर सकते हैं। वे सर्वथा आपके आधीन हैं। परन्तु वासना की तृप्ति का सम्बन्ध चेतन से है, समाज से है। अतः सहमति की आवश्यकता है।*

कामभावना अन्य भावनाओं के साथ तृप्ति के साथ वहीं समाप्त नहीं हो जाती, अपितु उसका परिणाम सन्तान होता है। बाजार भावना को बढ़ाना चाहता है। आने वाली सन्तान बाजार में बाधक बनती है। यदि काम का भाव केवल सन्तान हो तो बाजार की आवश्यकता समाप्त हो जाती है। अतः बाजार ने इसमें अपना स्थान बनाया है। कामभाव बढ़ाने वाली औषधियों की

बाजार में भरमार है। इसके साथ इस इच्छापूर्ति में बाधक कारणों को भी दूर करना होगा। इन कामसम्बन्धों में सबसे बड़ी बाधा रोग है, उसके लिये एन्टीबॉयोटिक्स का आविष्कार हुआ। आज उसके भी असफल होने पर अन्य उपाय खोजे जा रहे हैं। दूसरी और सन्तान की बाधा दूर करने के उपायों की एक बहुत बड़ी शृंखला बाजार में है, उनका उपयोग कर लोग अपने को सन्तान के उत्तरदायित्व से मुक्त रख सकते हैं। आज मुख्य रूप से यह बाजार सरकार पर हावी है। यह बाजार भारत में उत्पन्न होने वाले हर बच्चे को अपना ग्राहक समझता है, वह इसको अपने बाजार के लिये उपयोगी मानता है, उसका पूरा उपयोग करना चाहता है। अच्छा विज्ञापन देकर खाने के लिये प्रेरित किया जा सकता है, उसी प्रकार काम व्यापार के लिये व्यक्ति को उत्तेजित किया जा सकता है।' प्रो० धर्मवीर के उपर्युक्त वक्तव्य के आधार पर हम कह सकते हैं कि उत्तेजित व्यक्ति शराब आदि का सेवन करके असंयमी हो जाता है, जिसको उचित-अनुचित का कुछ भी ध्यान नहीं रहता और वह उन सब अमानुषिक एवं पाश्विक कृत्यों को कर बैठता है, जिसकी ध्वनि दिसम्बर २०१२ में दिल्ली में सुनायी दी। वेद कहता है कि संयम की साधना आंख और कान से होती है। कानों द्वारा भद्र वचनों को सुनें और आंखों के द्वारा हम भद्र दृश्यों को देखें-**भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिः**- ऋग्०१.८९.८। आज बाजारवाद ने संयम की साधना के दोनों सोपानों को ही भयंकर रूप से प्रदूषित कर रखा है। सर्वत्र वातावरण चाहे रूप विषय का हो या श्रवणेन्द्रिय से कर्णगोचरी होने वाले विषय का- उत्तेजित और अविन की वैचारिक रूप से गन्दा करने वाला है। समाज को **कोकयातु** और **शिश्नदेव** बनानेवाला है। इस हेतु आज बच्चों में संस्कार एवं समझदारी लाने के लिये अधिक मात्रा में प्रयास और संवाद की आवश्यकता है।

जिस देश की शिक्षा में मूल्यों, नैतिकता, आध्यात्मिकता का निरन्तर अभाव होगा, वहाँ युवाओं में अनैतिकता पनपने की पूरी सम्भावनाएं होती हैं। शिक्षा से तीन बातें फलित होनी चाहियें-
१. व्यक्तित्व का समग्र विकास एवं चरित्र निर्माण,
२. देश व समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति और
३. राष्ट्रिय और अन्ताराष्ट्रिय चुनौतियों का समाधान।
देश की वर्तमान शिक्षा व्यवस्था से एक भी बात सिद्ध नहीं हो पा रही है। इस हेतु स्वतन्त्र भारत में केन्द्र सरकार द्वारा गठित आयोगों ने मूल्यपरक शिक्षा हेतु अनुशंसाएं दी, परन्तु देश की शिक्षा में आज तक उन मूल्यों का समावेश नहीं किया गया। सामाजिक स्तर पर जहाँ-जहाँ वर्तमान शिक्षा के साथ अतिरिक्त प्रयास के द्वारा मूल्यों या नैतिक शिक्षा देने का प्रयास हुआ, वहां-वहां उनके अच्छे परिणाम देखने को मिलते हैं। यदि सरकारों ने संकल्प लिया कि वे मूल्यपरक शिक्षा देंगे, परिवार ने संकल्प लिया कि वे अपने बच्चों को संस्कारक्षम वातावरण देंगे और समाज ने संकल्प लिया कि उच्छृंखल खुलापन और महिलाओं को सिर्फ उपभोग की वस्तु बताने वाले विज्ञापनों, कार्यक्रमों, मादक पदार्थों एवं भोगेच्छावर्धक सामग्री व दृश्यों का बहिष्कार करेंगे तथा विश्व को बाजार न मानते

हुए कुटुम्ब के रूप में (वसुधैव कुटुम्बकम्) स्वीकार करेंगे तो निश्चित रूप से मातृशक्ति के प्रति बढ़ते कोकयातु और शिश्नदेवों के अपराधों में कमी आएगी और माताएं, बहनें एवं बेटियाँ अधिक सुरक्षित होंगी।

(ii) A Report on Prof. Bajaj & Prof. Shastri's Lectures

Prof. Madan Mohan Bajaj, Former Professor of Physics, University of Delhi & Chancellor International Kāmadhenu Ahimsa University, a role model himself & one man army, delivered a special lecture on पशुवध एवं प्राकृतिक आपदाएं : एक वैदिक एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण (Terrestrial Problems, Bio-Medical Consequences, Cosmic Catastrophies : Latest results on BIS processes-with special reference to vedas) at Department of Vedic Studies, Gurukul Kangri Vishwavidyalaya, Haridwar on 30.03.2013.

In his lecture he echoed the always present Vedic Literature when he quoted the references from Atharvaveda :

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः (१२.१.१२)

सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन विराधिषि (१.१.४)

Further, he warned the nations by reminding us Maxmuller that the nation, that spoils the pride of its past also spoils, its foundation. He explained Dresden 2008 resolution. While detailing it Prof. Bajaj made every listener spell bound when he talked about a new subject of Human Science with the title of BISOLOGY which is actually already present in Vedas and defined it as the Science which divides our 1/1 wc = Z BIS and elaborated BIS as breakdown of Integrated System and introduces four dimensional word XYZT. He further emphasized that today they are hopeful for the ten dimensional thought of \ Vedas. Here he brought some novel and alarming issues before us that no country of the world at any time & situation should slaughter its living creatures. This universe is threatened by-chaos which has been called Karma Phala in Vedas whenever Anachar which can be in form of animal killing. That, when the animals are killed in the butcher houses there emerges Hill Boso Particle or electromagnetic current which varies animal to animal. These activities result into natural disasters like volcanoes, cyclones and earthquakes etc.

So, this is the high time when we all should try to overcome these violences. These maltreatments increase the BIS effect upon the person concerned. As far as this BIS effect will be increased aggressive it will be increased and the chances of casualty are much more than the person who is much

more *Satvik.* Thus the BIS Effect will be decreased and all catastrophes can be checked by controlling this effect through behavioural science. He also cited the examples to prove the probability of death or disaster due to BIS Effect upon the concerned fellow. He gave the example Princess Dianna. wife of Prince Charles, England. The Princess died on the spot in an accident, as the BIS Effect upon the casualties was much more than the persons alive, on the other hand, the driver was safely alive.

Secondly, he said that the II[nd] World War millions of people died but after the war was over, due to the non veg. people, 30 million died there as the epidemic was the post-effect.

He also talked about the promising hand of BISOLOGY mentioning that 300 diseases can be cured by being purely vegetarian and this is how world's 70% health Budget can be economized. This science can also control the formation of Black holes, & three diseases like cancer, Elzgibities (Memory lapse) and heart disease.

Dr. Bajaj also said that their team is working on the, task of bringing **kāmadhenu/cow** on the moon. Prof. Bajaj said that 5000 yrs back Pythagoras mentioned that even lion, mosquito etc. non vegetarian animals can be vegetarian if they are trained. He also informed about the efforts made by countries like Germany that celebrated the completion of 100 years of Plant Based Diet.

Drinking alkohal, meat eating raping anger etc. Then sir Bajaj drew the attention of the world to the issue of the animal killing.

Our holy scriptures also have the massages of non-violence. For example 10[th] Chapter of **Satyarth Prakash** by Swami Dayananda Saraswati. Over Vedic Scriptures also prohibits 500 to 700 places meat eating or eatables or non-eatables.

Thus both the BISOLOGY & Holy Scriptures give a call back to ओं विश्वानि देव (यजु०३०.३) .....and the immediate denial of Hinsa, Anachar and Kumati Only then the forth coming ages will be able to have the vision of Ramneeya Phala. We can summrize to Prof. Bajaj's Lecture in Hindi poetry as following written by Dr. Bharti Sharma :

जिस जगह कत्ल किये जाते हैं,

उस जगह बहुत से घातक

परिणाम रह जाते हैं,

वहां जाकर सहृदय आत्मसात् हो जाते हैं

अनगिनत वर्षों के अन्तरालों के पश्चात्

मुण्डों की माला के दर्शन के साथ

स्मरण हो आया मेरे संवैधानिक पूर्वजों

के आहवान पर

आहवान है चांद पर गाय माता

कामधेनु को उतार लाने का

वेदों ने गो-वध को जघन्य दर्शाया है

नौजवान युवकों व बहनों की शहादत और

आचार व्यवहार के बावजूद भी

आ जाते हैं जलजले

आज दृढ़ संकल्प है अहिंसा की बात

को जमीं पर उतारने का

ओ३म् विश्वानि देव को सदा

आचार में विहारने का

आओ हम सब संकल्प लें

तत्काल ही हिंसा अनाचार व कुमति

को नकारने का

अपने ही अपूर्व साक्ष्यों वेद पुराण व इतिहास

के रमणीय फल को निहारने का।

As panel speaker Prof. Dinesh Chandra Shastri, Head of the Department of Vedic Studies & Chief Editor of *Vaidika Vāg Jyotiḥ*, an International half yearly refereed research journal of Gurukula Kangri Vishwavidyalaya, Haridwar deleverd a concerned lecture on Eatables or Non Eatables according to Vedas {Meat (Beaf) Eating, Drinking And Vedas} as following :

This is an erroneous notion as in all the four Vedas and ancient sankrit literature the world अघ्न्या (Aghnyā) has been used for the cow which means, never to be slaughtered under any circumstances, In the Vedic Lexicon-*Nighantu* we find three words for cows denoting that they should never be killed, अघ्न्या, अही, अदिति. All these words which occur in the Vedas again and again prove that accoding to them cow should never be slaughtered. To kill a cow is such a heinous crime that capital punishment is percribed for a person committing that sin in the Vedas, अन्तकाय गोघ्नातम् the Śuklayajurveda (Chap.30.18) which means that a man who kills a cow may be killed according to the law. In the Rigveda & Atharvaveda also we come across similar in injuctions in the mantras like :

यो अघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च॥ Rig १०.८७.१६

and

यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्।
तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा॥ अथर्व० १.१६.४॥

i.e who ever kills a cow-That should never be killed, should be beheaded if he does not desist from this sinful act when convincingly told to do so by the wise preceptors. O sinner, if thou killest our cow or a horse, we shall kill the with the bullet made of lead. On the basis of such mantras which abound in the Vedas, it is rightly stated in the *Mahābhārata Śanti Parva* :

अघ्न्या इति गवां नाम एताभिः हन्तुमर्हति।
महच्चकाराकुशलं, वृषं गामालभेत् तु यः॥
२६२.४७॥

meaning that in the Vedas, the cow referred to as अघ्न्या i.e. never to be killed, as such who can even think of killing a cow? He who kills a cow or a bull commits a great sin.

It is noteworthy that for the bull also the world अघ्न्य (Aghnya) has been used in the mantras like :

विमुच्यध्वमघ्न्या देवयाना अगन्म तमसस्पारमस्य

(YV. 12.73)

Here all commentators have interpreted Aghnyah as

अहन्तव्याः गावो बलीवर्दाः (गौ as plural)

गवां यः पतिरघ्न्यः (Ath. V. 9.4.17)

i.e. the bull that is never to be slain. In this connection, it is remarkable that even macdonnel in his –"Vedic Reader for Students" Vocabulary explains-अघ्न्या (*Aghnyā* as cow Ṛg V.83.8 not to be slain from han slay p.222)

As a matter of fact, the Vedas probhit the flesh not only of the cow and the bull but all the animal saying :

यः पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः। यो अघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च।। Ṛg. 10.87.16

which means - one who partakes of human flesh, the flesh of a horse or of another animal and deprives others of the milk slaughtering cows. O king if such a find does not desist by other means, then even cut off his head by your power. This is the ultimate punishment which can be inflicted upon him.

Even taking eggs is forbidden :

य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये क्रविः। गर्भान् खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि।।

Ath.V.8.6.23

It means that these who eat uncooked flesh, who eat meat cooked by men, who eat eggs that are embryos, do away with this evil addiction of theirs.

Sometimes it is said that the ancient Āryans used to kill cows and other animals in the Yajñas (Sacrifices) to please the Gods. But this is a very wrong conception of the Vedic Yajñas. the synonymous term for the Yajñas in the Vedic Lexicon called *Nighantu* is अध्वर (Adhvara) which has been explained by Maharshi Yāskāchārya-an ancient Vedic etymologist as :

अध्वर इति यज्ञनाम ध्वरति,

हिंसाकर्म तत्प्रतिषेधः (Nirkuta 1.7)

अध्वर means where there is no violence of any king or perfectly non violent. This word अध्वर has been used in all the four Vedas hundreds of times clearly proving that the Vedas do not sanction animal sacrifices. But they tell us quite un-ambiguously :

अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि।

स इद् देवेषु गच्छति।। Ṛg V.1.1.42

That only non-violent noble sacrifices are acceptable to God and his devotees.

राजंन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम्०

Ṛg V.1.1.8

Meaning that it is only in the non-violent sacrifices that God shines.

In the Yajurveda which mainly deals with the Yajñas. we are asked to look upon all being on earth as our friends-

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥ Y.V.36.18

द्विपादव चतुष्पात् पाहि Y.V.14.8

i.e. protect all bipeds and quadrapeds. Never kill a cow but treat her as mother-गां मा हिंसीरदिति विराजम (११)

In the Samveda it is clearly stated :

न कि देवा इनीमसि न क्या योपयामसि। मन्त्रश्रुत्यं चरामसि॥ १७६

i.e. we act according to the injection, contained in the Vedic hymns. We, therefore, never resort to the slaughter of human or other beings and we never tempt anyone to go against his duties.

Such being the case, it is clear that animals sacrifices are not sanctioned by the Vedas and they are opposed to their very spirit. Who then introduced them? Let us listen to the answer given in the Mahābhārata by such renowned scholar as *Bhiṣma Pitāmaha* in reply to *Yudhiṣthira's* question on the subject. There we are expressly told :

सुरा मत्स्याः पशोर्मासम् आसवं कृशरौदनम्।
धूर्तैर्प्रवर्तितं यज्ञे, नैतद् वेदेषु विद्यते॥

M.B.Śā.Par.261.9

i.e taking wine. fish and flesh of animals. intoxicant drinks of various kinds etc. is not sanctioned by the Vedas at all. It is wicked people that have introduced such ignoble practices.

It is further stated :

लुब्धैर्वित्तपरैब्रह्मन्, नास्तिकैः संप्रवर्तितम्।
वेदवादानविज्ञाय, सत्याभासानिवानृतम्।
सतां वर्त्मानुवर्तन्ते, यजन्तेत्वविहिंसया॥

M.B.Śā.Par. Ch. 363/6-7

i.e. It is greedy atheistic people hankering after wealth that have introduced the slaughter of animals in the Yajñas which sometimes looks apparently sanctioned by the Vedas but which really speaking is intiely false. They have done so being ignorant of the real meaning of the mantras. Righteous people perform Yajñas non-violently, following into the footsteps of the noble persons.

The real nature of such wicked persons who introduced diabolical practice of animal sacrifices is stated further as :

अव्यवस्थितमर्यादैर्विमूढैर्नास्तिकैर्नरैः।
संशयात्मभिरव्यक्तैर्हिंसा समनुवर्णिता॥

i.e. only such absolutely foolish people (विमूढैः) who do not know the real import and tradition of the ancient dharma who are atheists (नास्तिकैः) and who are sceptics (संशयात्मभिः) that have mentioned slaugher of animals.

It is thus clear that the Vedas do not at all sanction the slaughter of the cows other animals either for Yajñas or for the purpose of eating.

Regarding drinking wine, it should be borne in mind that in the Vedas and other ancient literature drinking is considered to be a great sin as it leads to many evils.

In the well-known Mantra :

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदुभ्यंहुरो गात । आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीळे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ॥ Rg.10.5.6

where seven great sins have been referred to सुरापानम् or drinking wine is one of the along with theft, adultery and falsehood etc.

In another mantra of the Rigveda, enumeratin seven causes leading to sins, सुरा or drinking wine has been mentioned as the second following anger, gambling and ignorance etc:

न स स्वो दक्षो वरुण ध्रुतिः सा सुरा मन्युर्विभीदको अचित्तिः। Rg 7.86.6

Sh. Madan Mohan Seth. M.A., L.L.B. Retired Session Judge has rightly remarked while quoting this that drinking is condemned as leading to quarrels and as seducing men from the path dicing and meat eating.

Pointing out of the pernicious effect of drinking wing the Ṛgveda says:

हृत्सु पीतासो युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायाम्।
ऊधर्न नग्ना जरन्ते॥ Rg 8.2.12

i.e. After drinking wine drunkards fight among themselves. As their physical strength weakned on account of drinking, they soon become prematurely old. They lie naked on the roads at night.

In the Atharvaveda it is stated that :

यथा मांसं यथा सुरा यथाक्षा अधिदेवने। यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः। ६.७०.१

i.e. here it is said flesh eating, drinking, gambling and dultery, all destroy and mar the mental faculties of a man.

It should be remembered that there is world of difference between सोम (Soma) and Wine, as Soma is promoter of the divine virtues, and destroyer of sins.

देवावीरघशंसहा। Ṛg 9.24.7

सुरा (wine) is promoter of sin.

सुरा अनृतस्य प्रयोता Ṛg 7.80.6

In the Brahmanas-expositions of the Vedas it is clearly stated about सुरा (wine)

अनृतं पाप्मा तमः सुरा। Śat.5.1.2.10

i.e. wine is a great sin, leading to falsehood and drankness of ignorance.

अभिमाद्यन्निव हि सुरां पीत्वा भवति।

Śat.1.6.34/5.5.45

A man becomes mad or behaves madly after drinking wine.

तस्मात् सुरां पीत्वा रौद्रमनाः।

Śat.12.7.3.20

A man becomes cruel hearted after drinking wine.

In the Smritis or Dharma Śastras, Upaniṣads and Mahābhārata etc. also drinking wine has been strongly condemned and enumerated among the great sins.

So, Dr. Shastri strongly said that it is wrong to say that meat eating and drinking are in any way sanctioned by the Vedas and other ancient books. Both are very strongly condemned and are absolutely against the Indian culture.

-प्रो० दिनेशचन्द्र शास्त्री

Vaidika Vāg Jyotiḥ
ISSN 2277-4351

Vol.1, No.2 (1-8) Jan-jun 2013

वैदिक याग, पशुहिंसा और दयानन्ददृष्टि

वीरन्द्र कुमार अलंकार

प्रोफेसर, संस्कृतविभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ (पंजाब)

महाभारत के पश्चात् वेदाध्ययन की परम्परा घटती चली गयी। वेदार्थ का तात्पर्य कर्मकाण्ड तक सीमित हो गया। तात्पर्यार्थ की अपेक्षा शब्दार्थ प्रधान हो गया। जिससे वेदार्थ का मूलतत्त्व प्रायः लुप्त हो गया। यह सच है कि आज भी वेद का अर्थवाद तो बहुत है, किन्तु अध्ययन-अध्यापन की परम्परा अत्यन्त क्षीण है। आज चार वेदों के किसी एक अध्येता को ढूंढ़ना भी बड़ा श्रमसाध्य कार्य है, जिसके पास आर्षदृष्टि हो, ब्राह्मणों और गृह्यसूत्रों के अध्येता का तो कहना ही क्या? किन्तु यह भी सच है कि यह वैदिक अर्थवाद महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा उत्पन्न हुआ है। उनके प्रयास का ही फल है कि आज चारों वेदों के भाष्य हिन्दीं में उपलब्ध हैं तथा वेदाध्ययन कर्मकाण्ड की संकीर्ण मानसिकता से बाहर आ गया है। दयानन्ददृष्टि के खण्डनकर्त्ता भी आज विज्ञान, राजनीति, अर्थशास्त्र, गणित आदि विषयों को वेदों में खोज रहे हैं। दयानन्द सरस्वती ने वेदार्थ को जो नया रूप दिया, वह यास्कादि प्राचीन आचार्यों, ब्राह्मणग्रन्थों व गृह्यसूत्रों, श्रौतसूत्रों से पूरी तरह समर्थित है। ब्राह्मणों और गृह्यसूत्रों की आख्यान-शैली को मानवीय इतिहास मानने से वेदार्थ प्रायः अनुपयोगी हो गया था। इसी के आधार पर जो भाष्य लिखे गये, वे अनेक स्थानों पर अत्यधिक अश्लील हो गये और अनेक स्थलों पर हिंसात्मक भी दिखायी देते हैं। वेद अपनी सार्वभौमिकता खोकर दैशिक, कालिक और वर्गीय सीमाओं में बन्ध गये। यह परम्परा पश्चाद्वर्ती साहित्य में दिनों दिन बढ़ती दिखायी देती है। वेदार्थ को इन सीमाओं से बाहर निकालने के लिये महर्षि दयानन्द ने जिस पद्धति को अपनाया, उसका नाम है-आर्षपद्धति।

आर्षदृष्टि में परमाप्त हैं-वेद अर्थात् मन्त्रभाग का स्वतःप्रामाण्य। वेदप्रतिकूल किसी भी ग्रन्थ का कथन अमान्य माना जाये। कोई भी कथन वा सिद्धान्त चाहे वह स्मृति, ब्राह्मण, श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, दर्शन या पुराण में ही वर्णित हो, यदि उसकी वेदानुकूलता है, तो मान्य हो, प्रतिकूलता हो, तो अमान्य है। इस दृष्टि से अनेक दार्शनिक, सामाजिक और धार्मिक समस्याओं का समाधान कर दिया है। भारतीय शास्त्रों का तत्त्वार्थ आर्षदृष्टि के बिना नहीं समझा जा सकता-यह स्वामी जी की दृढ़ मान्यता थी। मांसभक्षण या जीवहिंसा से पाप होता है तो अन्न या वनस्पतियों के सेवन से पाप क्यों नहीं? इसका समाधान यह वेदमन्त्रांश है- **पयः॑ पशूनां रस॒मोष॑धीना॒ं बृह॒स्पतिः॑ सवि॒ता मे॒ नि य॑च्छात्**[1] इससे यह अर्थापत्ति होती है

मांस मनुष्य का आहार नहीं है। पशुहिंसा कथमपि धर्म का अंश नहीं है। इस दृष्टि को केन्द्र में रखकर ब्राह्मणों और गृह्यसूत्रों का अर्थविश्लेषण किया जायेगा, तो वेदार्थ की संगति लगेगी, नहीं तो वेदार्थ का कोई महत्त्व नहीं है।

कुछ व्याख्याताओं ने तो वेद में नरमेध तक की स्थापना कर दी है। शुनःशेप की कथा इसका एक प्रमाण है, किन्तु महर्षि दयानन्द की दृष्टि से अध्ययन करने वाले विद्वान् मानते हैं कि शुनःशेप, वशिष्ठ, भारद्वाज, अङ्गिरस् आदि व्यक्तिविशेष के नाम न होकर प्राणों के वाचक हैं।[२] च्यवन किसी व्यक्ति का नाम न होकर पतितावस्था से उभरने का नाम है। यही है च्यवन की युवावस्था एवं सम्पत्ति, विद्याप्राप्ति, यशप्राप्ति आदि ही च्यवन का कन्याओं से विवाह है। अन्यथा अश्विदेवों के निर्देश पर च्यवन का सरोवर में डुबकी लगाने से युवा हो जाना और फिर विवाह कर लेना आदि बेसिर पैर की कल्पनाएं हास्यास्पद ही प्रतीत होंगी। ऐसा वेदभाष्य किस काम का? इसलिये वेदार्थ की कुंजी दयानन्द सरस्वती के पास है, उसी से यह ताला खोला जा सकता है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती वेदार्थ में यौगिकार्थ और निरुक्ति को बहुत महत्त्व देते हैं। यज्ञ के पर्यायों में 'अध्वर' शब्द भी पठित है। इसका निरुक्त्यर्थ है-**ध्वरति हिंसाकर्मा, तत्प्रतिषेधः**।[३] इसलिये यज्ञ और हिंसा की समन्विति नहीं बैठ सकती। श्री राजेन्द्र लाल मिश्र[६] ने यह स्थापित किया है कि वैदिककाल में गोमांस का प्रचलन था। भूपानन्द भी इसी का समर्थन करते हैं। मैक्डॉनल, कीथ आदि भी पशुवधविधान को वैदिक मानते हैं। ऋग्वेद के **साध्वर्या अतिथिनीरिषिराः स्पार्हाः सुवर्णा अनवद्यरूपाः। बृहस्पतिः पर्वतेभ्यो वितूर्या निर्गा ऊपे यवमिव स्थिविभ्यः**[६] शब्दों को देखकर विनायक महादेव ने भी पशुबलि को वेदसमर्थित माना है।[७] जबकि सायण ने इसका अर्थ हिंसापरक नहीं किया है, किन्तु एक अन्य मन्त्र (ऋग्०२.७.५) में स्वयं सायण ने भी *वशाभिः...अष्टा* पदीभिराहुतः का अर्थ किया है- *वन्ध्याभिः गोर्भिः.....अष्टपदीभिः गर्भिणीभिः आहुतः आराधितः* कहकर पशु हिंसा की बात कही है। स्मरणीय यह है कि इससे पूर्वमन्त्र में हिंसा जैसा कोई प्रसंग ही नहीं है। दयानन्द इसी का यह योगार्थ प्रधान अर्थ करते हैं कि- *वशाभिः कमनीयाभिः ....अष्टापदीभिः अष्टौ पदानि यासां ताभिर्वाग्भिः*। अर्थात् कमनीय आठपदों वाली वाणी से आराधित। सायणभाष्य में यह भ्रान्ति अनेक स्थानों पर दिखायी देती है।[८] सी०कुन्हन् राजा ने भी वैदिक यज्ञों में पशुबलि का उल्लेख किया है। ऋग्वेद ६.१.३ में वपावन्तम् का अर्थ मांसयुक्त (आहुति) किया है।[९] जबकि सायण ने यहाँ मांस अर्थ नहीं माना है। यहाँ 'वपा' शब्द आर्द्रात्मक है। इसलिये घृत वा तक्रादि अर्थ यहां अभिप्रेत है। किन्तु फिर भी एक अन्य मन्त्र में *पीवानं मेषमपचन्त वीराः* (ऋग्०१०.२७.१७) में सायण ने अर्थ कर दिया कि *प्रजापतेः पुत्रा अङ्गिरसाः स्थूल मेदोमांसादियुक्तमित्यर्थो मेषम् अजम् अपचन्त*। जबकि महाभारत के अनुसार अज. नामक बीजों से यजन का निर्देश है।

अजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः।
अजसंज्ञानि बीजानि छागान्नो हन्तुमर्हथा।। [10]

सायण का अनुसरण कुन्हन् राजा ने भी किया और बल दिया कि The heros cooked a fat goat.[11] इसलिये जहां-जहां वेद में किसी पशु का नाम आया, वहाँ अनुसन्धाता सामान्यार्थ गृहीत करेगा, तो वह वेद बहुत उपयोगी नहीं है। उसे यह याद रखना चाहिये कि-**पशवो वै पुरोडाशः** (तैत्ति०ब्राह्मण १.८.३.३), **राष्ट्रं वा अश्वमेधः** (शत०ब्रा०१.८.३.३), **उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः, साश्चिक्षुर्वातः प्राणः** (बृहदारण्यकोपनिषद् १.१.१) आदि। पं० युधिष्ठिर मीमांसक का यह वचन सदा स्मरणीय है कि सब वैदिक यज्ञ सृष्टियज्ञ हैं और पशुयज्ञ आसुर यज्ञ।[12] वेदार्थ तात्पर्य को आर्षीदृष्टि से ही समझा जा सकता है, यह स्वामी दयानन्द सरस्वती का मन्तव्य है। आर्षी दृष्टि से ही सन्दिग्ध स्थलों से परत उठेगी। यहाँ गृह्यसूत्रोक्त केवल तीन यज्ञों पर ही विचार किया जा रहा है।

(क) पशु याग-मैत्रायणी संहिता, मानव श्रौतसूत्र, मानव गृह्यसूत्र में पशुयाग का उल्लेख हुआ है। **अपनी कामना की पूर्ति के लिये जिस देवता के निमित्त अज आदि पशुओं से यज्ञ किया जाता है, उसे पशुयाग कहा गया है।** पशुयाग की इस व्याख्या ने भारतवर्ष में घिनौनी और क्रूर भूमिका निभायी है। यही व्यथा महात्मा बुद्ध की थी। निरीह प्राणियों को कर्मकाण्ड के नाम पर कई शताब्दियों तक मारा

दिखाई नहीं दी। यदि पशुयाग का अर्थ पशुओं की हिंसा है, तो अतिथियाग और पितृयाग का अर्थ अतिथि और माता-पिता की बलि चढ़ाना अर्थ करेंगे। देवयाग और ब्रह्मयज्ञ की व्याख्या कैसे हो पायेगी। यह आश्चर्य ही तो है कि पशुयाग का अर्थ पशुओं की बलि और पितृयाग का अर्थ माता-पिता की पूजा किया जा रहा है।

पशुयाग में पशु-आलभन किया जाता है। कदाचित् यहीं से समस्या आरम्भ हुई है। आलभन का अर्थ-पशु को बांधना कैसे हुआ, यह समझ से बाहर है। वस्तुतः आलभन का अर्थ पशु का स्पर्श है। लभ धातु प्राप्त्यर्थक है-डुलभष् प्राप्तौ (भ्वादि-९७५)। अतः आलभन का अर्थ है-स्पर्शपूर्वक प्राप्ति। सायण ने '**अक्षान् यद् बभ्रूनालभे** (अथर्व०७.११४.७) का भाष्य करते हुए कहा है कि ***बभ्रूवर्णान्...अक्षान् देवनं साधनभूतान् आलभे देवितुं स्पृशामीति।*** महर्षि दयानन्द भी यही अर्थ कर रहे हैं-***आलभते समन्तात् प्राप्नोति*** (यजुर्भाष्य ३०.२२)। विवाहसंस्कार में भी 'हृदयमालभे' का अर्थ हृदय का स्र्पश है। यही अर्थ पशु-आलभन में पशु को बाँधना या मारना कैसा हो गया। वस्तुतः वैदिक साहित्य में आ √लभ् स्पर्शार्थक और आ √लम्भ मारणार्थक प्रसिद्ध है। इनसे क्रमशः आलभन और आलम्भन शब्द व्युत्पन्न होते हैं। यह ध्यातव्य है कि पशुयाग में आलभन कहा गया है, आलम्भन नहीं। चरकसंहिता (चिकित्सास्थान १९.४) का वक्तव्य देखिये-

आदिकाले खलु यज्ञेषु पशवः समालभनीया बभूवुः, नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म। अर्थात् प्राचीनकाल में यज्ञों में पशुओं का

आलभन (स्पर्श/उपस्थापन) किया जाता था, आलम्भ (मारण) नहीं। मानवगृह्यसूत्र में उल्लेख है कि पशु को स्नान कराकर, पानी पिलाकर यज्ञ के निमित्त उसका संज्ञपन किया जाता है। फिर यज्ञीय द्रव्य को पकाकर **'जातवेदो वपयागच्छ देवांस्तव हि होता प्रथमो बभूव। घृतस्याग्ने तन्वासम्भव सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः'** मन्त्र से होम किया जाता है। यज्ञीय द्रव्य से पहले 'स्वाहा देवेभ्यः' मन्त्र से और बाद में 'विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा' मन्त्र द्वारा घी से हवन किया जाता है।[१३]

ऐसा प्रतीत होता है कि 'आलभन' की तरह 'संज्ञपन' शब्द ने भी भ्रमित किया है। अतः 'संज्ञपन' शब्द का अर्थ यहाँ विचारणीय है। पाणिनीय धातुपाठ में 'ज्ञा' धातु तीन बार पठित है-१. ज्ञा मारणतोषणनिशमनेषु (भ्वादि०८११), २. ज्ञा अवबोधने (क्र्यादि-१५०५) तथा ३. ज्ञा नियोगे (चुरादि०१७३३)। चुरादिगण की ज्ञप ज्ञाने ज्ञापने च (१६२५) धातु से भी संज्ञपन शब्द व्युत्पन्न हो सकता है। यहाँ भी हिंसा सिद्ध करने के लिये अनुसन्धाताओं को केवल मारण अर्थ ही दिखाई दिया; तोषण, निशामन (चाक्षुष ज्ञान या ज्ञापन या तीक्ष्ण), अवबोधन, नियोजन या ज्ञान अर्थ नहीं। इसका एक कारण कदाचित् बालमनोरमाकार का यह वाक्यांश है कि- **अक्षतस्य मारणे संपूर्वकस्यैव ज्ञाधातोः प्रयोगः।**[१४] यद्यपि बालमनोरमाकार से तो सहस्रों वर्ष पूर्व पशुहिंसा का प्रचलन हो चुका था। सायण ने संज्ञपन का अर्थ **'सम्यक् ज्ञानजननं येन कर्मणा भवति तत्कर्म'**[१५] किया है। सायण का यदि यह अर्थ ले लिया जाए, तो पशु के महत्त्व को समझना ही उसका संज्ञपन हुआ, वध नहीं। यही अभिप्राय दयानन्दभाष्य में स्थाने-स्थाने दिखायी देता है कि गोमेध का अर्थ गोपूजा, अश्वमेध का अर्थ अश्व की पूजा अजमेध का अर्थ अज की पूजा लिया जाना चाहिये।

मानवगृह्यसूत्र में पशुयाग का एक अर्थ यह भी निर्दिष्ट हुआ है कि जिस पशु को उपलक्षित कर यजन किया जाता है, वही पशु दान में दिया जाता है, इसलिये इसे पशुयाग कहते हैं-**पशोः पशुरेव दक्षिणा** अथवा **पूर्णपात्रं दक्षिणा।**[१६]

ऐसा प्रतीत होता है कि मेरे घर में जो सबसे उपयोगी पशु है, उसका दान करना भी पशुयाग है और पशुरक्षा का संकल्पात्मक व्रत भी पशुयज्ञ है। किन्तु गृह्यसूत्रों के व्याख्याकार इस प्रकार के प्रसंगों में स्पष्ट नहीं हैं, उन्होंने शब्दार्थमात्र दिये हैं, जिससे समस्या और उलझ गयी है।

(ख) शूलगव-

गृह्यसूत्र में 'शूलगव' नामक याग का भी उल्लेख है। मानवगृह्यसूत्र के व्याख्याकार कहते हैं कि शूल से गाय का वध करना, उसे अग्नि में पकाना 'शूलगव' है। सूत्रकार की भाषा भी इसी ओर संकेत दे रही है। किन्तु दयानन्द दर्शन का अध्येता होने के कारण यह बात मन-मस्तिष्क को स्वीकार्य नहीं हो सकती। ऐसे प्रसंग या तो त्याज्य हैं या अनुसन्धेय। यदि गाय के अवयवों को लौहशलाका पर पकाना ही शूलगव है, तो फिर वह 'अध्वर' कैसा हुआ। यूं भी भारतीय समाज में 'गौ' को उत्कृष्ट व पूजित पशु माना गया है तो क्या गृह्यसूत्रों में ये

प्रसंग अनर्थकारी हैं। बहुत विचार करने के पश्चात् यह समझ में आया कि यहाँ 'गौ' का अर्थ गाय पशु नहीं होना चाहिये। वैदिक शब्दकोश में 'गौ' का अर्थ पृथिवी भी है। अत: कृषिकर्म ही यहाँ शूलगव है। शूल अर्थात् हल आदि से गौ (पृथिवी) को चीरना, खनन करना ही शूलगव याग है। यह प्राय: शरद् काल में किया जाता है। लगता है राष्ट्र के निमित्त गेहूं के लिये पृथिवी को जोतना, अन्न पैदा करना ही शूलगव है। तभी तो कहा गया है कि-रौद्र: शरदि शूलगव:।[१७] यदि 'गौ' का अर्थ 'गाय' करके उसके अवयवों को अग्नि पर पकाना अर्थ करेंगे, तो फिर अथर्ववेद में 'ब्रह्मगवी' सूक्त में जो गोरक्षा की प्रार्थना और कामना है, वह निरर्थक हो जायेगी। वेद में 'गौ' शब्द गाय, वेद, ब्रह्म, पृथिवी, वाणी, सूर्यादि नक्षत्र, विद्वान् की वाणी, ज्ञान आदि का वाचक है।

'शूलगव' याग के प्रसंग में यह भी कहा गया है कि गाय आदि पालतू पशुओं को मालपुए खिलाना भी शूलगव है और यह पशुयाग ही है-**अपूपानेके पाकयज्ञपशूनाहु:**[१८]। अब भला पशुओं को घर में बनी चीजें खिलाना 'शूलगव' है तो उनके अवयवों को लोहे की छड़ से अग्नि में पकाना 'शूलगव' कैसे हो सकता है? इन दोनों की संगति तभी लग सकेंगी जब कृषिकर्म से अन्न उत्पन्न करना अथवा उत्पन्न अन्न को गाय आदि को खिलाना अर्थ किया जाए। पर, व्याख्याकार क्यों मौन हैं? इसका कारण आर्षी दृष्टि का विस्खलन नहीं तो और क्या है?

इस यज्ञ में यजुर्वेद के आठ मन्त्रों (१६.१-८) से आहुति दी जाती है।[१९] इनमें किसी एक मन्त्र में भी हिंसा वर्णित नहीं है, बल्कि अन्नप्राप्ति, सुशासन और समृद्धि की ही प्रार्थना है।

यह ध्यातव्य है कि कौषीतकि-गृह्यसूत्र (३.५.४) और शांखायन गृह्यसूत्र (३.९.१) में गोष्ठ कर्म का विधान है। इसमें गौओं के कल्याण एवं सुरक्षा की अभिलाषा की जाती है। सद्य: प्रसूता गाय के दूध से यज्ञ किया जाए-यह कौषीतकि गृह्यसूत्र (३.५.८) का विधान है।

अब यदि शूलगव का अर्थ गाय के अंगों को अग्नि में पकाना होगा तो शांखायन और कौषीतकि गृह्यसूत्र में उसकी संगति कैसे लगेगी। इसलिये स्मरण रहे दयानन्दोक्त आर्षदृष्टि का एक फल यह है कि सम्पूर्ण वेदार्थ में एकान्विति मानी जाए। यही एकान्विति स्वामी जी ने छह दर्शनों में भी मानकर उनके अविरोध की बड़ी तार्किक मीमांसा की है।[२०]

(ग) सर्पबलि या सर्पयाग-

यह बड़े सन्तोष की बात है कि व्याख्याकारों या अनुसन्धाताओं ने जहाँ पशुयाग और शूलगव का अर्थ पशु हिंसा और गाय को आग में पकाना कर दिया, वहाँ सर्पबलि या सर्पयाग का अर्थ सांपों को मारना नहीं किया। गृह्यसूत्रकारों का कहना है कि सर्पों के भय से रक्षा की याचना ही सर्पयाग है-**सर्पेभ्यो बिभ्यत् श्रावण्यां तूष्णीं भौममेककपालं श्रपयित्वाऽक्षतसक्तून् पिष्ट्वा...जुहोति।**[२१] इसे श्रावणा कर्म[२२] भी कहा गया है। व्याख्याकारों ने इसे सर्पमय शान्ति[२३] कहा है। किन्तु क्या भयभीत होकर यज्ञविशेष करने से सांप भाग जायेंगे? यदि पज्ञाविधि से सर्पभय समाप्त हो

सकता है तो फिर पूजा से शत्रु भी भाग सकते हैं, क्या यह सम्भव है। ऐसा अर्थ क्लीबता को जन्म देता है। फिर इनकी क्या उपयोगिता है ?

ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का अध्ययन करने के उपरान्त यह धारणा बनती है कि ये कृत्य संकल्पात्मक होते हैं। जैसे प्रायश्चित्तीय विधि का अभिप्राय है पुनः वही दुष्कर्म या पाप कर्म न करने का संकल्प। प्रत्येक सूत्रकार ने सर्पबलि को श्रावण कर्म कहा है। श्रावणी पूर्णिमा को यज्ञीय कृत्य द्वारा सर्पों को अभय प्रदान करना ही सर्पबलि का लक्ष्य प्रतीत होता है। सावन में सर्पों का प्रजनन बढ़ जाता है। यह ठीक है कि सर्प भयकारी प्राणी है, पुनरपि प्रत्येक जीव इस ईश्वरीय सृष्टि का महत्त्वपूर्ण अंग है तथा यह मानवजाति के लिये हितकारी भी है। उसे शत्रु समझकर हम तुरन्त मार देते हैं। इस याग का संकल्प यही है कि यदि घर में साँप हो तो प्रथम दृष्ट्या उसे बाहर भगाने का ही प्रयास किया जाये तथा स्वयं सर्पभय से चौकन्ने रहें और यदि वन या खेत में सांप या इसी श्रेणी का कोई प्राणी हो, तो उसे एकदम मार डालने की प्रवृत्ति छोड़ दें। जीवमात्र में मैत्रीभाव रखना सर्पयाग है। ये सर्प परमात्मा की दिव्य सृष्टि हैं, तभी तो **दिव्यानां सर्पाणामधिपतये स्वाहा, दिव्येभ्यः सर्पेभ्यः स्वाहा**[२४] की आहुति दी जाती है। इससे यही ज्ञापित होता है कि सर्प आदि में द्वेष्य बुद्धि न रखी जाए। इस यज्ञ में सभी दिशाओं में भी आहुति दी जाती है, जिसका अर्थ सब और मैत्री बुद्धि रखना है।[२५] पारस्कर गृह्यसूत्र (२.१४.८) के अनुसार इस कृत्य में सर्पों के निमित्त घृतसिक्त सत्तुओं की आहुतियाँ दी जाती हैं। हिरण्यकेशि गृह्यसूत्र (२.१६.५) ने सर्पों को बलि देने का विधान किया है। इन कृत्यों का सीधा सा अभिप्राय सर्प आदि को सुरक्षा प्रदान करना ही है।

मानवगृह्यसूत्रकार ने छह मन्त्रों से आहुति का विधान किया है।[२६] जिसमें तीन मन्त्र यजुर्वेद के हैं। इनमें सर्प का अर्थ प्राणी है और उन्हें नमन का अर्थ अन्न प्रदान करना है। इसी प्रकार सर्प का अर्थ दुष्ट प्राणी भी है।

यह दयानन्दार्थ देखिए-

नमोऽस्तु सर्पेभ्यो ये के च पृथिवीमनु। येऽअन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः॥ यजु० १३.६

पदार्थ- जो **(के)** कोई इस जगत् में लोकलोकान्तर और प्राणी हैं **(तेभ्यः)** उन **(सर्पेभ्यः)** लोकों के जीवों के लिये **(नमः)** अन्न **(अस्तु)** हो, **(ये)** जो **(अन्तरिक्षे)** आकाश में हो। जो **(दिवि)** प्रकाशमान् सूर्य आदि लोकों में **(च)** और **(ये)** जो **(पृथिवीम्)** भूमि के (अनु) ऊपर चलते हैं, उन **(सर्पेभ्यः)** प्राणियों के लिये **(नमः)** अन्न प्राप्त होवे।

याऽइषवो यातुधानानां ये वा वनस्पतीँ१॥ऽरनु। ये वावटेषु शेरते तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः॥ यजु० १३.७

पदार्थ-हे मनुष्यो! तुम लोग **(याः)** जो **(यातुधानाम्)** पराये पदार्थों को प्राप्त होके धारण करने वाले जनों की **(इषवः)** गति हैं **(वा)** अथवा **(ये)** जो **(वनस्पतीन्)** वट आदि वनस्पतियों के **(अनु)** आश्रित रहते हैं, और **(ये)** जो **(वा)** अथवा **(अवटेषु)** गुप्त मार्गों में

(शेरते) सोते हैं **(तेभ्य:)** उन **(सर्पेभ्य:)** चञ्चल दुष्ट प्राणियों के लिये **(नम:)** वज्र चलाओ॥

ये वा॒मी रो॑च॒ने दि॒वो ये वा॒ सूर्य॑स्य र॒श्मिषु॑। येषा॑म॒प्सु सद॑स्कृ॒तं तेभ्यः॑ स॒र्पेभ्यो॒ नम॑:॥ यजु०१३.८

पदार्थ-हे मनुष्यो! **(ये)** जो **(अमी)** वे परोक्ष रहने वाले **(दिव:)** बिजुली के **(रोचने)** प्रकाश में **(वा)** अथवा **(ये)** जो **(सूर्यस्य)** सूर्य की **(रश्मिषु)** किरणों में **(वा)** अथवा **(येषाम्)** जिनका **(अप्सु)** जलों में **(सद:)** स्थान **(कृतम्)** बना है **(तेभ्य:)** उन **(सर्पेभ्य:)** दुष्ट-प्राणियों को **(नम:)** वज्र से मारो॥

स्वामी जी द्वारा यहाँ प्राणिमात्र के लिये अन्नप्राप्ति और दुष्टों के लिये दण्ड देने की प्रार्थना की गयी है। अन्य तीन मन्त्रों में भी सांपों के भय की बात नहीं है।

इन विनियुक्त मन्त्रों के अर्थ से यह भासित होता है कि सर्प का अर्थ दुष्ट प्राणी भी है। दुष्टों से बचने का उपाय सर्पयाग माना जा सकता है।

उपसंहार- गृह्यसूत्रों में हुए यज्ञविवेचन को 'अध्वर' की निरुक्ति के आधार पर देखा जाना चाहिये। यह मानना चाहिये कि गृह्यसूत्र अर्थवाद प्रधान ग्रन्थ हैं। इसलिये इनमें प्रतिपादित सिद्धान्तों को उसी रूप में सम्पादित करना न तो व्यावहारिक ही है और न ही तर्कसंगत तात्पर्यार्थ को प्रधान मानकर ही इन कृत्यों की व्याख्या सम्भव है। कई सहस्राब्दी पूर्व 'पशुयज्ञ' का रूप पशुहिंसा हो गया था। किन्तु वैदिककाल में निश्चयेन पशुयाग का तात्पर्य पशुपूजा ही था। श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र साहित्य को भी पशुहिंसा ने प्रभावित किया है। उस साहित्य में कितना मूल और कितनी मिलावट है, कहा नहीं जा सकता। इनका कर्मकाण्डीय पक्ष इतनी औपचारिकताओं से भरा है कि लगता है जीवन का उद्देश्य कोरं कर्मकाण्ड का अनुष्ठान ही हो। इसलिये इस साहित्य में अनेकत्र अर्थवाद है, उस अर्थवाद का उद्देश्य जीवन को संवेदनशील बनाना है, यही इन गृह्यसूत्रों की उपयोगिता है। यह संवेदना है सम्पूर्ण प्राणिजगत् के लिये, न कि किसी हिंसा के लिये। यदि हिंसा के लिये होता तो 'भूतयज्ञ' या 'बलिवैश्वदेवयज्ञ' का क्या औचित्य था। 'आश्वयुजी' कृत्य में पशुओं का हित है। इस कृत्य में गाय आदि पशु तथा उनके बछड़ों को भी भोज दिया जाता है। व्यवहार और तर्क का समन्वय करके ही इन गृह्यसूत्रों को समझा जा सकता है। साथ ही इनकी नए सन्दर्भ में व्याख्या भी अपेक्षित है। मिथ्या स्तुति से शास्त्रहानि ही होती है।

पाद-टिप्पणियां-

१ अथर्व०१९.३१.५

२ द्र० वैदिक इतिहासार्थ निर्णय-शिवशंकरकाव्यतीर्थ

३ निरुक्त १.७

४ Beef in Ancient India (Br.up.6.4,18)

५ Introduction to Beef in Ancient India.

६ ऋग्०१०.६८.३

७ Vedic Age, p.313

८ ऋग्०१०.८६.१४

९ The Quintessence of the Ṛgveda, p.120

१० महाभारत (शान्तिपर्व) ३३७.४

११ The Quintessence of the Ṛgveda, p.122

१२ वैदिक सिद्धान्तमीमांसा, पृ०३६२

१३ मानवगृह्यसूत्र २.४.१,३,५-६

१४ वैयाकरणसिद्धान्त कौमुदी (भाग-३) बालमनोरमा, पृ०१८६, माधवमत में सम पूर्वक ज्ञप (चुरादि०) ही मारणार्थक है। द्र०वही।

१५ अथर्ववेद ६.१७४.२

१६ मानवगृह्यसूत्र २.४.१३

१७ मानवगृह्यसूत्र २.५.१

१८ मानवगृह्यसूत्र २.५.६

१९ मानवगृह्यसूत्र २.५.३

२० सत्यार्थप्रकाश

२१ मानवगृह्यसूत्र २.१६.१

२२ शांखायन गृह्यसूत्र ४.१५; पारस्कर गृह्यसूत्र २.१४; आश्वलायन गृह्यसूत्र २.१.१.१५

२३ मानवगृह्यसूत्र (व्याख्यान अष्टावक्र) २.१६

२४ गोभिल ३.७.१३-१५; मानवगृह्यसूत्र २.१६.३

२५ मानव गृह्यसूत्र २.१६.३

२६ कौषीतकि गृह्यसूत्र ४.३.२

Vaidika Vāg Jyotiḥ
ISSN 2277-4351
Vol.1, No.2 (9-14) Jan-jun 2013

वशा और उसका स्वरूप

बद्रीप्रसाद जी पंचोली, किशनगढ़-राजस्थान

अथर्ववेद में वशा के दो सूक्त मिलते हैं। ऋग्वेद में भी वशा का उल्लेख हुआ है। वेदों में सायणादि भाष्यकारों ने वशा को वन्ध्या गौ माना है। अथर्ववेद में वशा के दुग्धादि का वर्णन भी मिलता है। अत: वशा को वन्ध्या गौ मानना उचित नहीं जान पड़ता। इसके विपरीत पं०सातवलेकर ने तो वशा को दुधारू गाय माना है।

वशा शब्द वश-कान्तौ धातु से निष्पन्न है। इस प्रकार इस शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है- कान्तियुक्त अथवा अभिलषणीय।

ऋग्वेद के एक मन्त्र के अनुसार हृदय से तष्ट, अग्नि के लिये हवि रूप में समर्पित ऋचा ही उक्ष और वशा का रूप धारण कर लेती है-

आ तें अग्न ऋचा हविर्हृदा तष्टं भरामसि।
ते तें भवन्तूक्षण ऋषभासो वशा उत ॥[1]

वशा के ऋण का उल्लेख मिलता है जिसे ब्रह्मणस्पति प्राप्त करता है (ऋग्०२.२४.२३) सम्भवत: वशा का ऋणवशा से प्राप्त घृत दुग्धादि अन्न हों, जिनकी आहुति दी जाती है। वशान्न अग्नि के लिये समर्पित किया भी जाता है (ऋग्०८.४३.११)। वशा (वशा द्वारा प्राप्त अन्न) से अग्नि को आहुत करने का भी यही भाव ज्ञात होता है। (ऋग्०२.७.५)। यज्ञ में उपकल्पित वशा धेनु को अश्व, ऋषभ आदि के साथ ही छोड़ दिया जाता है (ऋग्०१०.९१.१४)। इन प्रसंगों में वशा गौ या उससे प्राप्त अभिलषणीय अन्न है।

ऋग्वेद में कुछ अन्य मन्त्रों में वशा का रहस्यात्मक रूप भी मिलता है। एक मन्त्र में दश वशाओं का उल्लेख है (ऋग्०६.६३.९)। कदाचित् जिन वशाओं का अनुगमन करता हुआ अश्विन्-द्वय में से एक का रथ यज्ञ में प्रवेश करता है (ऋग्०१.१८१.५), ये वे ही वशाएं हैं। स्तुत होकर इन्द्र भी इन वशाओं का अनुगमन करता है (ऋग्०१.८२.३)। ऐसा करता हुआ वह सोमपान करता व अतीव तेजस्वी हो जाता है (ऋग्०८.४.१०)। आप: के न्ययन और समुद्र के निवेशन से अन्य मार्ग का अवलम्बन लेकर अग्नि भी इन वशाओं का अनुगमन करता है (ऋग्०१०.१४२.७)। यहां आप: का न्ययन सृष्टि की पूर्वावस्था- सलिलावस्था ज्ञात होती है और वशाओं का इन देवताओं द्वारा अनुगमन सृजन में प्रवृत्त वशा के कार्य में योगदान माना जा सकता है। दस वशाएं विराट् (दशाक्षरा) से अभिन्न ज्ञात होती है। सृजन-प्रक्रिया को रोकने वाली आसुरी शक्तियां दशधा विभक्त थीं, जिन्हें 'दश-वृत्राणि' कहा गया है (अवे०२०.२१.५)। इन्द्र अपने सहस्र-वीर्यों से इन वृत्रों का वध कर देता है। उसका यह कार्य दस आसुरी शक्तियों

को पराजित करके दशधा विभक्त होकर सृजन में प्रवृत्त होने वाली वशा का अनुगमन ही माना जाना उचित है। निर्माण कार्य में कुशल ऋभु भी इन्द्र के साथ रथारोही होकर वशाओं की श्री के साथ होते हैं। अर्थात् सृजन में प्रवृत्त वशाओं की श्री के साथ होते हैं। अर्थात् सृजन में प्रवृत्त वशाओं की तरह शोभान्वित होते हैं (ऋग्०३.६०.४)। वशा के समान गृहनिर्माण में प्रवृत्त होने वाली नववधू को वशिनी कहा गया है (ऋग्०१०.८५.२६)। इससे स्पष्ट है कि **वशा सृजनकार्य में प्रवृत्त प्रकृति को कहा गया है।** डॉ० फतेहसिंह ने 'वैदिक समाजशास्त्र में यज्ञ की कल्पना' पुस्तिका में प्रकृति को अथर्ववेद की साक्षी से वशा से गाय माना है, जिसमें वशी नामक यक्ष या योद्धा व्याप्त है तथा जिसके चार भाग हैं-१. व्यापकतत्त्व, २. अमृत-तत्त्व, ३. यज्ञतत्त्व और ४. मूर्ततत्त्व।

ऋग्वेद के देवताओं के कर्मों में एक 'अप्रसूता गौ को पुष्ट व प्रसूता बनाना' भी उल्लिखित है : अधेनुं स्तर्यम् अपिन्वतं गाम् (ऋग्०१.११७.२०) कदाचित् प्रकृति की साम्यावस्था को अप्रसूता गो कहा गया हो और वशा शब्द उसके उस रूप को भी संकेतित करता हो। सायणादि ने वशा को वन्ध्या गो इस रूप में माना हो तब तो वशा के वर्णन से उनकी मान्यता का विरोध नहीं रह जाता। कबीर की भी मान्यता है-

जो ब्यावे तो दूध न देई, ग्याभण अमृत सरवै।

यह गो (कामधेनु-कबीरदास) गर्भिणी होने की दशा में ही अमृत बरसाती है, प्रसूता होने पर दूध देना बन्द कर देती है।

कुछ भी हो वन्ध्या शब्द के अर्थ से तो वशा का स्वरूप भिन्न है। प्रकृति सृजन में प्रवृत्ति होने व इस प्रकार जगत् को अपने गर्भ में धारण करने पर ही वशा कही जाती है।

शतपथब्राह्मण के अनुसार जब कोई रस परिशिष्ट नहीं रहा तो वह मैत्रायणी वशा हो गयी। इसलिये वह प्रजनन नहीं करती। इससे ही रेतस उत्पन्न होता है और रेतस् से पशु होते हैं। यह तो अपने में एक ही होती है, अतः अन्तर में ही यज्ञ का अनुवर्त्तन करती है (४.५.१.१)।

यहाँ पर स्पष्ट हो जाता है कि वशा सारी सृष्टि को अपने में ही धारण करती है और ऐसे किसी रस का पता नहीं चलता जिससे वशा व सृष्टि में भेद का आभास हो। इसीलिये उसको प्रसूता नहीं माना जाता।

इसे पृथिवी रूप वशा पृश्नि भी कहा गया है (शत०ब्रा०१.८.३.१५ व ५.१.३.३) पृथिवी सृजन कार्य के लिये प्रयत्नशीला प्रकृति का ही नाम है।

ऐतरेयब्राह्मण के द्वारा जो 'वश' स्रवित हुआ वही वशा हो गया (ऐत०ब्रा०३.२६)। वश शब्द के इच्छा, संकल्प, शक्ति, उत्पत्ति आदि अर्थ हैं। प्रजापति के काम (संकल्प-सृजनेच्छा) का दोहन करने के कारण प्रकृति को 'कामदुघा' कहा जाता है। 'वश' से वशा का होना भी इसी भाव का द्योतक ज्ञात होता है। इच्छा या संकल्प शक्ति के प्रवर्तक शक्तिमान् को ही वशी कहा गया है। ऋग्वेद में इन्द्र का नाम 'वशी' है (ऋग्०१.१०१.३, ८.१३.९, ८.६७.८, १०.१५२.२)। उसे संस्रष्टा या संसृष्टजित कहकर (ऋग्०१०.१०३.३)। उसको सृजन कार्य से संयुक्त माना गया है।

स्थावर और जंगम के आधार तथा उनके सृजन सविता देव को भी वशी कहा है (ऋग्०४.५३.६)।

ऋग्वेद की सृष्टि का व्याख्यान करने वाले एक सूक्त (ऋग्०१०.१९०) के अनुसार अर्णव समुद्र (प्रकृति की सलिलावस्था) से संवत्सर अर्थात् कालात्मक प्रजापति उत्पन्न हुआ, जिसने अहोरात्र को धारण किया। उनको व्याप्त करता हुआ विश्वोत्पादन में हिरण्यगर्भ (वशी) उत्पन्न हुआ (ऋग्०१०.१९०.२)। इस धाता ने सूर्य, चन्द्र, द्युलोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग को यथा पूर्व बनाया (ऋग्०१०.१९९.३)।

अथर्ववेद में वशा के स्वरूप पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। राजा वरुण की सत्यावशा का उल्लेख भी मिलता है (अथर्व०१.१०.१)। वरुण के द्वारा अथर्वन् को दी गयी सुदुघापृश्नि-धेनु से यह अभिन्न ज्ञात होती है, इसे नित्यवत्सा और शक्ति के अनुकूल शरीर धारण करने वाली कहा गया है : **यथावशं तन्वः कल्पयाति** (अ०७.१०४.१)। नित्यवत्सा विशेषण वशा के उपर्युक्त स्वरूप कि वह सदा गर्भिणी रहती है और कभी प्रसूता नहीं होती, अतः इस रूप में वन्ध्या है, की ओर संकेत करता है। वह अपने इसी रूप से सृष्टिकार्य में प्रवृत्त होती है और प्राणियों के लिये पोषक अन्न प्रदान करती है।

अथर्ववेद में भी दशमी वशा का उल्लेख है (अथर्व०३.४.७), जिसकी समानता ऋग्वेद की दश वशाओं में खोजी जा सकती है।

वरुण के साथ वशा के सम्बन्ध का उल्लेख ऊपर किया गया है। अथर्ववेद में वरुण की पृश्नि के विषय में एक रोचक संवाद मिलता है। वरुण ने उसे अथर्वन् को दे दिया, परन्तु उसकी योग्यता के विषय में सन्देह होने से उसे वापस मांगा। अथर्वन् ने पूछा भी-कि दक्षिणा में देकर पृश्नि को वापस लेने की क्यों अभिलाषा करते हो। वरुण ने कहा-कि कामनावश पृश्नि को वापस नहीं मांगा जा रहा है। मांगने का कारण यह है कि वह केवल ध्यान करने वाले और इस प्रकार अपने को अधिकारी प्रमाणित करने वाले को ही दी जाती है। अथर्वा बोला-वरुण, सत्य कहता हूं-मैं ज्ञान द्वारा आत्मस्वरूप हूँ। सहज बोध के कारण मैं जातवेदा हूँ। जिस व्रत को मैं धारण करता हूं, उसे दास या आर्य हिंसित नहीं कर सकते। वरुण अथर्वा की इस योग्यता से प्रभावित हुआ। उसने अथर्वा का लोकों से ऊपर उनमें व्याप्त रहने वाले एक तत्त्व से परिचय कराया और पृश्नि अथर्वा के पास ही रहने दी (अथर्व०५.११)।

डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने **उरुज्योति** में इस पृश्नि को प्रकृति माना है। क्रान्तदर्शिनी प्रज्ञा वाला अथर्वन् जैसा मानव ही इस प्रकृति रूपी गो का स्वामी होने व उसके स्तन्यपान करने की योग्यता रखता है।

अथर्ववेद में दो सूक्त वशा के हैं। इस सूक्त (अथर्व०१०.१०) में उसे वन्दनीया व अघ्न्या कहा गया है (मन्त्र १)। 'सप्तप्रवृत' और 'सप्तपरावत' और यज्ञ के शिर को जानने वाला ही वशा को ग्रहण कर सकता है (मं०२)। इनमें से प्रथम का सम्बन्ध वशा के व्याप्त तत्त्व से, द्वितीय का अमृत से और तृतीय का यज्ञतत्त्व से ज्ञात होता है। इन तीन रूपों से वशा इस स्थूल जगत् का संचालन व धारण

किये हुए है। प्रकृति इस अन्तिम रूप में जड़ तत्त्व है।

द्युलोक, पृथिवीलोक और आप: को सुरक्षित करती हुई वशा सहस्र धाराओं में दुग्ध प्रदान करने वाली है (मन्त्र ४)। सौ कांस्यपात्र लेकर, सौ दुहने वालों से युक्त तथा सौ रक्षकों से रक्षित इस गौ को वे ही देवता जानते हैं जो गौ में प्राणधारण करते हैं (मं०५)। देवों के निकट गमन करने वाली वशा यज्ञपदी, अन्नप्रदात्री, स्वधा-प्राण, पर्जन्यपत्नी और पृथिवी के समान पोषिका है (मं०६)।

यह वशा विश्वरूपिणी है। पर्जन्य इसका ऊधस् है और विद्युत् स्तन है। देवगण इस पर आश्रित हैं (मं०७)। यह राष्ट्र का पोषण करती है (मं०८)। ऋतावरी वशा को इन्द्र ने सहस्र पात्र भरकर सोमरस पिलाया (मं०९)। इन्द्र से वियुक्त होकर जब यह (वृत्र रूपी) ऋषभ से संयुक्त हो जाती है तो इन्द्र इस पर क्रोध करता है (मं०१०)। क्रोध में वह वशा के दूध को ले लेता है जिसे स्वर्ग तीन पात्रों में रखा लेता है (मं०११)। सोमरूपी दुग्ध को वशा तीन पात्रों में रख लेती है (मं०१२)। सोम से संगत वशा प्राणियों के लिये मिलकर समुद्र (जगत्) में अधिष्ठित होती है (मं०१३), ऋचा और सामों को धारण करती हुई समुद्र पर नृत्य करने लगती है (मं०२४), कालरूप अश्व समुद्र होकर वशा के ऊपर आरूढ़ हो गया (मं०१६)।

यह वशा देवताओं की (संभवत: समस्त शक्ति तत्त्वों की) माता है। यज्ञ ही उसका आयुध है। चित्त उसी यज्ञ से उत्पन्न होता है (मन्त्र १८)। ब्रह्म के ऊर्ध्वभाग से एक बिन्दु ऊपर चला गया। वशा उसी से उत्पन्न हुई (मन्त्र १९)। गाथा, बल, यज्ञ-रश्मियां, गति, भक्षण-शक्ति, ओषधियां आदि वशा से उत्पन्न हुए (मन्त्र २०-२१)।

वशा वरुण के उदर में प्रविष्ट है। ब्रह्मा से आहूत होकर, उसके मार्गदर्शन में वशा अप्रसूता होने पर भी सृजन में प्रवृत्त हुई। सृष्टि का यह परिवृद्ध (ब्रह्म) रूप वशा का बन्धु हुआ (मं०२२-२३)।

वशा का स्वामी-वशी योद्धाओं को : संम्भवत: सत्य-असत्य, देव-असुर, पाप-पुण्य, द्यावापृथिवी, अग्नि-सोम आदि द्वन्द्व, जिनका संघर्ष सृष्टि का आधार है : प्रेरित करता है। यज्ञ उसी का सामर्थ्य है और वशा उन सामर्थ्यों की आंख (मन्त्र २४)।

वशा यज्ञ को ग्रहण करती और सूर्य को धारण करती है। ब्रह्म के साथ ओदन वशा में प्रविष्ट है (मन्त्र १५)। वैदिक सृष्टि विज्ञान के अनुसार सारा ब्रह्माण्ड धर्मपात्र के समान है, जिसमें ब्रह्मोदन पक रहा है। वशा में ही ब्रह्मोदन-पाक प्रतिष्ठित हो रहा है।

वशा अपने अमृतत्व से अमृतस्वरूपा है और मूर्तरूप में मर्त्यधर्मादेव, मनुष्य, असुर, पितर और ऋषि तत्त्वों से बना हुआ यह जगत (इदं सर्वम्) वशा ही है (मन्त्र २६)।

वरुण की तीन जिह्वाओं में से मध्य में विराजने वाली एक वशा है (मन्त्र २८)। वरुण की एक जिह्वा (वाक् जिह्वा निघण्टु १.११ में वाक् का नाम है।) का निष्क्रिय रूप है और तीसरा रौद्र रूप (जिससे सृष्टि में प्रलय होता है) मध्यमा राष्ट्री (प्रकाशमाना-मन्त्र के 'मध्ये

राजति' से तुलनीय) वाक् ही सृजन में योग देती है। वशा भी सृजकशक्ति है। इन तीनों का संयुक्त रूप कदाचित् पृश्नि हो और उसके विविध वर्ण त्रिविध शक्तियां हों। वशा के कर्मसामर्थ्य : वीर्य : को वसुधा भी कहा गया है-आप : व्याप्तिधर्मा : अमृत : पोषणधर्मा : यज्ञ : सृजक और पशु : क्षरतत्त्व मूर्ततत्त्व।

वशा द्यौ:, पृथिवी, विष्णु और प्रजापति है (मन्त्र ३०)। अत: व्याप्तिधर्मा है। साध्यदेव वसु आदि उसके दुग्ध को पीकर स्वर्गधाम में भी दूध का ही वर्णन करते हैं। इस प्रकार वशा का पोषण कर्मसामर्थ्य का उल्लेख है। कोई उससे सोमरस निकाल लेता है और कोई घृत की उपासना करते हैं। सोम और घृत आनन्द और प्रकाश के वाचक हैं और यज्ञ में प्रवृत्ति के कारण हैं। यज्ञरत रहने वाले विद्वान् को गो देने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है (मन्त्र ३२)। इस वशा में सत्य, यज्ञ, ज्ञान, वेद और तप विद्यमान हैं (मन्त्र ३३)। देवता और मनुष्य की उपजीव्या है। जहाँ तक सूर्य चमकता है वहां विस्तृत यह भौतिक जगत् वशा ही है (मन्त्र ३४)।

इस सूक्त में विविध देवशक्तियों से मिलकर सृष्टिकार्य में प्रवृत्त होने वाली और चार प्रकार से स्वयं को सृष्टि में परिवर्तित कर देने वाली प्रकृति का विश्वरूपिणी गो के रूप में वर्णन है।

दूसरे वशा सूक्त (अथर्व०१२.४) में वशा को कामनाओं का दोहन करने वाली (मं०३२,३६) व अनेक प्रकार से सृजन में प्रवृत होकर विविध पदार्थों के रूपों का निर्माण करने वाली (मं०२९), यज्ञ से निर्मित (मं०४१), स्वधाकार से पितरों को व यज्ञ से देवताओं का भाग (मं०२१) देवताओं की निधि (मं०१७) तथा देवों की गो (मं०१२) कहा गया है।

मित्रावरुण के साथ वशा का सम्बन्ध ऊपर बताया गया है। इस रूप में यह सांख्य की महत्प्रकृति के तुल्य है। इसका पिण्डगत रूप बुद्धि और उसकी वृत्तियां हैं। भक्त कवि सूरदास ने अपनी इच्छाशक्ति को गो मानकर गो-चारण-दक्ष कृष्ण से चराने की प्रार्थना की है-

माधौ जू यह मेरी इक गाय।
हित करि मिलै लेहु गोकुलपति अपने गोधन माह।

अथर्ववेद में इसी प्रकार पिण्डगत वशा को देवों व उनसे प्रेरित कर्मों के लिये समर्पित करने की प्रेरणा दी गयी है (सूक्त १२.४)। आपातत: मन्त्रों से गो दान में प्रवृत्त होने की प्रेरणा मिलती है, परन्तु इससे भी अधिक महत्त्व इन मन्त्रों का आत्मनिवेदन के लिये मनुष्य को तैयार करना है। इस प्रसंग में ब्राह्मण की याचना का तात्पर्य अन्तरात्मा की पुकार से हो सकता है। यहाँ संकल्प रूपी गो को हिंसित करने की अपेक्षा उसके उदात्तीकरण (Sublimation) को महत्त्व दिया गया है। ऐसी समर्पित गो के विषय में देवता भी कहते हैं कि यह विद्वान् की गौ है (मं०२५)।

एक मन्त्र (सं०२८) के अनुसार ऋचाओं को सुनकर जो गोपति अपनी गो को अन्यत्र दूसरी गोओं के साथ विचरने देता है, उसकी आयु व ऐश्वर्य नष्ट हो जाते हैं और देवता क्रोध करके उसे काट डालते हैं (मं०२८)। एक मन्त्र

के अनुसार जो मन से संकल्प किया जाता है वह अन्य देवों के पास जाता है और तब संकल्प (वशा) को प्रेरित करने के लिये हृदय की पुकार सुनाई पड़ती है (मं०३१)। अन्य गौओं के साथ जब यह गो (अभिलषणीय वशा) विचरण करती है तो बड़ी सन्तप्त होती है और गोपति के लिये विष ही दूहती है (मं०३९)। ऐतरेय उपनिषद् में वश प्रज्ञान का नाम है (मं०३२)। अत: मनस्तत्त्व का बोधक है। यहाँ ऐतरेय उपनिषद् की साक्षी से इन वशा के तीन प्रकारों (मं०४४,४६,४७) विलिप्ती (विशेष प्रकार से विषयों में लिप्त-भीमतया) सूतवशा (इच्छानुसार जन्म लेने वाली) और वशा (सामान्य इच्छाएं) ये तीन प्रकार की उल्लिखित हैं। मन्त्रों में मेधा को वशा का पर्याय माना जा सकता है। मेधा शक्ति को देवार्पित करके तदनुकूल कार्यों से दत्तचित्त हो जाना ही ऐसे मन्त्रों का अभिप्रेत भाव ज्ञात होता है।

इस प्रकार ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में **ब्रह्म की सृजनशक्ति का वशा के नाम से वर्णन किया गया है। उसका पिण्डगत रूप ज्ञानेन्द्रियों की प्रेरक मेधा या मति है।** जिस तरह वशा विविध देवशक्तियों से संयुक्त होकर सृजन में प्रवृत्त रहती है, उसी प्रकार संकल्पशक्ति को देवार्पित करके कर्मरत हो जाने की प्रेरणा वशा वर्णन में वेदों का लक्ष्य ज्ञात होता है।

पाद-टिप्पणी-

१ ऋग्०६.१६.४७

Vaidika Vāg Jyotiḥ
ISSN 2277-4351
Vol.1, No.2 (15-24) Jan-jun 2013

मंगलीक योग एवं गुणमेलापक-वेदोक्त यथार्थता की कसौटी पर

(वेदप्रकाश शास्त्री, 4-E, कैलाश नगर, फाजिलका, पंजाब)

(ज्योतिष् निश्चित रूप से विज्ञान है, लेकिन विज्ञान की तरह इसकी भी सीमाएं हैं। विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में लगातार अनुसन्धान चल रहे हैं। जबकि ज्योतिष् में ऐसा नहीं है। ज्योतिषी अनुसन्धान करने की बजाए इसे धन कमाने का साधन बनाये हुए हैं। इसे अन्धविश्वासों से जोड़कर दुःख दूर करने के उपायों के नाम पर लोगों को लूटा जाता है। इससे इस पवित्र विद्या के प्रति लोगों का विश्वास शिथिल होता जा रहा है। जहाँ तक एक ही कुण्डली या घटना पर विद्वान् ज्योतिषियों की अलग-अलग भविष्यवाणियाँ होती हैं, तो कोई गलत नहीं है। एक रोगी के बारे में डॉक्टरों की राय भी तो अलग-अलग होती है। पृथिवी से लाखों किलोमीटर दूर ग्रहों-नक्षत्रों के प्रभाव के बारे में कहना है कि 'ग्रह' का अर्थ है-पकड़ना। इसका मतलब है कि फल देने के लिये मानव के कर्म कई जन्मों तक उसका पीछा करते हैं और प्रत्येक व्यक्ति को उसके कर्मों का फल अवश्य मिलता है। व्यक्ति का प्रारब्ध या नियति उसके संचित कर्मों के अनुसार बनती है। पिछले जन्मों में किये कर्म व्यक्ति को भोगने ही पड़ते हैं। महाभारत में कहा गया है कि जिस प्रकार गायों के झुण्ड में बछड़ा अपनी मां को पहचान लेता है, उसी प्रकार विगत जन्मों में किये गये कर्म अपने कर्त्ता को पहचान कर उस तक पहुंच जाते हैं। ज्योतिष् को सनसनीखेज बनाने के कारण इसकी महत्ता और वास्तविक उपयोगिता दोनों को नुकसान पहुंच रहा है। वो कहते हैं कि ज्योतिषी 'कालसर्प', 'शनि की ढइया', 'शनि की साढ़े साती' से डराकर और 'मांगलिक दोष' दूर करने के उपायों का नाम लेकर परेशान लोगों से हजारों रुपये ऐंठ लेते हैं। श्री के०एन०राव ने लिखा है कि मुझे कहीं ज्योतिष्-ग्रन्थों में कालसर्प का जिक्र नहीं मिला। मैं प्रसिद्ध तिरुपति मन्दिर से लगभग पचास किलोमीटर दूर काल हस्ती शिव मन्दिर भी गया, जहाँ कालसर्प दूर करने के लिये विशेष पूजा की जाती है। वहाँ भी मैनें उन ज्योतिषियों से उन शास्त्रों के बारे में जानना चाहा, लेकिन किसी ने नहीं बताया। यदि ज्योतिषी उपाय करके भाग्य बदल सकते होते तो वे ईश्वर ही न बन जाते। प्रस्तुत निबन्ध में श्री वेदप्रकाश शास्त्री ने 'मांगलिक दोष' से सम्बन्धित भ्रान्तियों का निराकरण वेदोक्त विचारधारा के आधार पर किया है-सम्पा०)

वर-कन्या के विवाह के समय पौराणिक मत के अनुसार मंगल और मंगलीक योग पर अत्यधिक विचार किया जाता है। अनेक बार तो ऐसा देखने को आया है कि वर-कन्या में शैक्षिक, शारीरिक, पारिवारिक, कुलीय (वंश की कुलीनता), रंग, रूप आदि गुण अति सम्यक् प्रकारेण मिल जाते हैं, परन्तु मंगलीक योग अथवा ज्योतिषीय वर्णादि अष्टकूट गुण नहीं मिलते, जिसके कारण ऐसे य़ोग्य और महत्त्वपूर्ण विवाह नहीं हो पाते। अतः सम्पूर्ण जीवन पश्चाताप के आंसू बहाने पड़ते हैं। इसके विपरीत जिस वर-कन्या की मेलापक-सारिणी अर्थात् ज्योतिषीय गुण मिल जाते हैं, उनमें विवाह हो जाता है। फिर चाहे सारा जीवन

बेमेल विवाह के कारण पछताते रहें। अतः यह कोई बुद्धिमत्तापूर्ण निर्णय नहीं कहा जा सकता।

इस सम्बन्ध में डॉ० लक्ष्मण सिंह टांक, पूर्व प्राचार्य सी०सी०आर०महाविद्यालय, मुजफ्फरनगर, उ०प्र० लिखते हैं-

"आपसे यह अनुरोध है कि शादी हेतु "मंगली राशि" पर बड़ा विचार किया जाता है। कृपया इस पर वेदों में क्या लिखा है? इसका विस्तृत वर्णन प्रकाशित करायें, जिससे आम व्यक्ति इससे लाभान्वित हो सके।"

यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना अत्यावश्यक है कि वैदिक काल में एतादृश फलित ज्योतिष् का विचार ही नहीं है। उस समय गणितीय ज्योतिष् ही प्रचलित थी। मंगलीक और अष्टकूट गुणों पर विचार ही नहीं किया जाता था। न ही वेदों में इसका कहीं उल्लेख मिलता है। अतः यह वैदिकीय पद्धति नहीं है। जिसका महर्षि दयानन्द सरस्वती ने **सत्यार्थप्रकाश** नामक ग्रन्थ के तृतीय समुल्लास में अप्रामाणिक बताते हुए पठन-पाठन हेतु निषेध किया है।

वर्तमान समय में मुहूर्तचिन्तामणि, ज्योतिष् चिन्तामणि, सारावली, बृहज्ज्योतिष् सार, मुहूर्त मार्तण्ड, लाल किताब, भृगुज्योतिष् जैसी अनके पुस्तकें उपलब्ध हैं।

आइए, सर्वप्रथम यह विचार करें कि पौराणिक मत के अनुसार मंगलीक योग क्या है? इस सम्बन्ध में 'पंचांग दिवाकर' लिखता है-

विवाह योग्य लड़के-लड़की की जन्म कुण्डली में वर्ण, वश्य, तारा, ग्रहमैत्री, नाड़ी आदि अष्टकूट सम्बन्धी गुण मिलान के पश्चात् कुण्डली में मंगल एवं मंगलीक दोष पर विशेष रूप से विचार किया जाता है। मंगलीक दोष का आधार सामान्यतः निम्न श्लोक माना जाता है-

लग्ने व्यये च पाताले जामित्रे चाष्टमे कुजे।
कन्या भर्तुर्विनाशाय भर्ता कन्याविनाशकः॥ (मु०संग्रह दर्पण)

जिस कन्या की कुण्डली में १,४,७,८ या १२वें स्थान में मंगल हो, तो वह कन्या वर (पति) के लिये हानिकारक तथा इसी भांति जिस लड़के की कुण्डली में इन्हीं स्थानों में मंगल हो तो वह कन्या को हानिकारक होता है।

इसी भांति चन्द्र लग्न और कभी-कभी शुक्र की राशि से भी मंगल की उपर्युक्त स्थितियों का विचार किया जाता है।

जितना दोष जन्म लग्न से विचार में माना जाता है, उसका आधा दोष चन्द्रलग्न में और उसका आधा शुक्रलग्न से जानना चाहिये।

अपवाद-मंगल दोष वाली कन्या का विवाह मंगलीक दोष वाले वर के साथ करने से मंगल का अनिष्ट दोष नहीं होता तथा वर-वधू के मध्य दाम्पत्य सुख बढ़ता है-

कुजदोषवती देया कुजदोषवते किल।
नास्ति दोषो न चानिष्टं दाम्पत्योः सुखवर्धनम्॥

मंगलीक वाले स्थानों में मंगल के अतिरिक्त कोई अन्य क्रूर ग्रह भी १,२,७ एवं १२वें स्थानों में हो तो वह भी पारिवारिक एवं वैवाहिक जीवन के लिये अनिष्टकारी होता है-

लग्ने क्रूरा व्यये क्रूरा धने क्रूराः कुजस्तथा। सप्तमे भवने क्रूराः परिवारक्षयंकराः॥ मु०संग्रहदर्पण

सुगम ज्योतिष प्रवेशिका, पृष्ठ २१४ के अनुसार-

"सूर्यादि नौ ग्रहों में चन्द्रमा, बुध, बृहस्पति, शुक्र-मेलापक विचार में शुभ माने जाते हैं। मंगल सबसे अधिक क्रूर समझा जाता है। शनि भी क्रूर गिना जाता है। राहू और केतु भी क्रूर माने जाते हैं। सूर्य को भी क्रूर मानते हैं। जन्मकुण्डली विचार में मंगल को सबसे अधिक पापी मानने के कारण इस दोष को बोलचाल की भाषा में 'मंगलीक दोष' कहते हैं। परन्तु वास्तव में मं०, श०, रा०, के०, सू० इन पांचों का विचार करना चाहिये। मंगलीक दोष की फौज में ये पांचों ही हैं। इनका नेता मंगल है।"

गुण मेलापक विचार-

मेलापक प्रक्रिया में मंगलीक के अतिरिक्त अष्टकूट तत्त्वों का विशेष महत्त्व है क्योंकि वर-कन्या के दाम्पत्य जीवन को अधिकाधिक सुखी एवं मंगलमय बनाने के लिये उनके जन्म नक्षत्रों एवं जन्म कुण्डलियों के अनुसार मिलान करना अत्यन्त आवश्यक है।

नक्षत्र मिलान के मुख्य तत्त्व अष्टकूट हैं जिनका निर्णय वर-कन्या के जन्म नक्षत्रों से ही किया जाता है, जो निम्नलिखित हैं-

(१) वर्ण (२) वश्य (३) तारा (४) योनि (५) ग्रहमैत्री (६) गणमैत्री (७) भकूट (८) नाड़ी।

प्रत्येक कूट की क्रम संख्या अपने श्रेष्ठ गुणों की सूचक हैं। वर्णादि अष्टकूटों के गुणों का योग ३६ होता है। इसमें क्रमानुसार वर्ण का गुण, वश्य के २, तारा के ३, योनि के चार, ग्रहमैत्री के पाँच, गणमैत्री के ६, भकूट के ७ एवं नाड़ी के ८ गुण जानने चाहियें।

वर्णादि कुल ३६ गुणों के योग में से १ से १७ तक गुण मिलान तुच्छ एवं निन्दनीय (त्याज्य) माने जाते हैं। १८ से २१ तक मध्यम एवं ग्राह्य, २२ से २८ तक उत्तम तथा २९ से ३६ तक गुण सर्वोत्कृष्ट माने जाते हैं-

एकैक वृद्धितो ज्ञेया वर्णादीनां गुणाः क्रमात्। विवाहः शुभदस्तेषां गुणे त्वष्टादशाधिके॥ मुहूर्तगणपति

समीक्षा-आइए, मंगल आदि ग्रहों पर वैज्ञानिक आधार पर विचार किया जाये। वस्तुतः मंगल, सूर्य, शनि, बृहस्पति, बुध आदि समस्त ग्रह जड़ अर्थात् निर्जीव हैं, चेतन नहीं जो किसी को हानि पहुंचाएं। यथा-सूर्य हमें प्रकाश, ताप, ऊर्जा प्रदान करता है। इन्हीं के द्वारा वह हमें हानि या लाभ पहुंचा सकता है। सूर्य तप रहा है। उसकी उष्णता में यदि कई व्यक्ति एक साथ खड़े हो जाते हैं तो एक समान उष्णता देने पर भी उसका प्रभाव भिन्न-भिन्न पड़ेगा। यह व्यक्ति की शारीरिक क्षमता और सहनशक्ति पर निर्भर करेगा कि वह कहाँ तक तपन का मुकाबला कर सकता है। हो सकता है कि क्षीण या कृशकाय व्यक्ति ताप को सहन न करते हुए गिर पड़े, बेहोश हो जाये। दूसरा व्यक्ति कसमसा कर रह जाय। तीसरा व्यक्ति शान्तचित्त खड़ा रहे। सूर्य की तपन एक जैसी पर तीनों पर प्रभाव अलग-अलग।

एक अन्य उदाहरण-खेत पर काम करने वाला व्यक्ति सारा दिन धूप में खेत में काम करता रहता है, उसे कुछ नहीं होता। इसके विपरीत दफ्तर में काम करने वाले व्यक्ति को धूप में खड़ा कर दिया जाये तो वह निढाल हो

जायेगा। उसके लिये धूप में खड़ा होना कठिन ही नहीं, असम्भव हो जायेगा।

यह है सूर्य का प्रभाव। चन्द्रमा शीतलता प्रदान करता है। वह व्यक्तियों को शीतलता के द्वारा प्रभावित करेगा। इसी प्रकार अन्य ग्रहों की स्थिति भी जाननी चाहिये।

ये समस्त ग्रह पृथिवी से इतनी दूर हैं कि वे चेतन जीव के सदृश किसी भी प्रकार का प्रभाव मनुष्य पर नहीं डाल सकते।

इन ग्रहों में जो अचेतन गुण हैं, उनसे ही ये प्रभावित करते हैं। यथा-सूर्य चन्द्र में आकर्षण शक्ति है, जिसके कारण समुद्र में ज्वारभाटा आता है। जो समीपवर्ती जनजीवन को प्रभावित करता है।

यह है निर्जीव ग्रहों के प्रभाव! जैसे मनुष्य में निर्दयता, क्रूरता, पाप, अत्याचार, अमानुषिकता के विचार होते हैं, वैसे ग्रहों में नहीं होते। वे हर्ष, शोक, ईर्ष्या, द्वेष, सुख, दुःख आदि का अनुभव नहीं करते। यथा-मंगल, शनि, सूर्यादि क्रूर ग्रहों की पूजा की, दान-पुण्य किया और वे प्रसन्न हो गये।

वस्तुतः इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, हर्ष, शोक, निमेष, उन्मेष, चेष्टा आदि ये जीव के गुण हैं। उन ग्रहों में यह चेतना नहीं, जिससे वे किसी पर तो प्रसन्न हो जायें अथवा किसी को पीड़ित करने लगें।

एक बात और मनुष्यों ने उनका क्या बिगाड़ा है, जो वे उन्हें पीड़ा देंगे? अथवा अन्य किसी ने उनका क्या उपकार कर दिया, जो वे उनसे प्रसन्न हो जायेंगे।

मंगल, सूर्यादि ग्रह अपनी-अपनी गति के अनुसार कार्य कर रहे हैं। उन्हें प्रेरित नहीं करना पड़ता। वे किसी के प्रति क्रूर और किसी के प्रति उदार नहीं होते। अतः विवाह में वे मंगलीक वर-कन्या पर अपना कोई प्रभाव नहीं डाल सकते। वस्तुतः इन ग्रहों का वर-कन्या के विवाह से कुछ लेना-देना नहीं। न ही इनका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी प्रकार का सम्बन्ध है। यह तो ज्योतिषियों के द्वारा फैलाया गया एक ऐसा मकड़जाल है, जिसमें फंस गए तो फंसते चले गये। वे चाहते भी ऐसा ही हैं। इसी में उनकी पौ बारह है, चांदी ही चांदी है। चित है तो उनकी, पट है तो उनकी। मंगलीक या अन्य ग्रह-गृहीत व्यक्ति की स्थिति वही होती है कि आकाश में गिरे और खजूर पर अटके। मंगल से निकले तो सूर्य के चक्कर में फंस गये या शनि की चपेट में आ गये। कोई न कोई ग्रह अपनी क्रूरता दिखाएगा ही। जैसा डॉक्टर के चुंगल से निकलना मुश्किल है, वैसे ही ज्योतिषी के जाल से मुक्त होना असम्भव है।

यदि हम गम्भीरता पूर्वक विचार करें या चारों ओर नजर दौड़ाएं तो प्रतीत होता है कि इन ग्रहों के चक्कर में जितने अशिक्षित फंसे हैं, उससे कहीं अधिक शिक्षितजन जकड़े हुए हैं। विज्ञान के ज्ञाता बुद्धिजीवी भी इनके विचार के समय बुद्धि पर ताला लगा लेते हैं। बिना सोचे समझे इन अशिक्षित, अर्धशिक्षित ज्योतिषियों के जाल में फंस जाते हैं। ऐसे आंख के अन्धे और गांठ के पूरे लोगों से ज्योतिषी खूब धन ऐंठते हैं और वे प्रसन्नतापूर्वक देते चले जाते हैं। आँखें तब खुलती है, जब सब कुछ लुटा चुके होते हैं।

ग्रह नक्षत्रों से सम्बन्धित होने के कारण अष्टकूट-वर्ण, वश्य, तारा, योनि, ग्रहमैत्री,

गणमैत्री, भकूट और नाड़ी का फल भी मंगल आदि ग्रहों के सदृश जानना चाहिये अर्थात् इनके मेल मिलाप आदि का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अनेक लोगों ने बहुत अच्छी तरह विद्वान् ज्योतिषियों से मिलान करवाकर वर-कन्या के विवाह किये फिर भी उनके विवाह सफल नहीं हुए या दुर्घटनाएं हो गईं, वर मर गया अथवा कन्या दिवंगत हो गयी या दोनों ही मर गये, तलाक हो गया अथवा बिना तलाक ही पृथक्-पृथक् रहते रहे। इस सम्बन्ध में जब ज्योतिषी जी से पुन: पूछा जाता है कि आपने तो बहुत विचार करके मिलान किया था फिर ऐसा क्यों हो गया? तो उत्तर मिलता है- 'परमात्मा के आगे किसी का वश नहीं।'

देखा आपने, ज्योतिषी जी साफ बच निकले। दुष्परिणाम परमात्मा के सिर मढ़ दिया। यदि अच्छा परिणाम होता तो कहते-''देखो हमारी ज्योतिष! कैसा उत्तम फल देती है? सफलता मिलती है, कार्य सिद्ध होते हैं, भविष्यवाणी अचूक होती है। अत: ऐसे अष्टकूट और मंगलीक् दोषों के भ्रमजाल में नहीं पड़ना चाहिये।

ग्रहफल पर महर्षि दयानन्द की सम्मति-

महर्षि दयानन्द अंक, बीज एवं ज्यमितीय गणित ज्योतिष् पर विश्वास करते हैं, फलित ज्योतिष् पर नहीं। वस्तुत: फलित ज्योतिष् बहुत ही अर्वाचीन है और फल की घोषणा अनुमान पर अधिक आधारित है। इसकी घोषणाएं अंक गणित के समान अक्षरश: सत्य सिद्ध नहीं होतीं। इसलिये ऋषि ने फलित ज्योतिष् के ग्रन्थों के पठन-पाठन का निषेध किया है।

सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय समुल्लास में वे लिखते हैं-

''और जब किसी ग्रहग्रस्त, ज्योतिर्विदाभास के पास जाकर वे कहते हैं 'हे महाराज! इसको क्या है?' तब वे कहते हैं कि इस पर सूर्यादि क्रूर ग्रह चढ़े हैं। जो तुम इसकी शान्ति, पाठ, पूजा, दान कराओ तो इसको सुख हो जाये, नहीं तो बहुत पीड़ित हो और मर भी जाये तो आश्चर्य नहीं।' उत्तर-कहिए ज्योतिर्वित्! जैसी यह पृथिवी जड़ है वैसे ही सूर्यादि लोक हैं। वे ताप, ऊर्जा और प्रकाश आदि से भिन्न कुछ भी नहीं कर सकते। क्या ये चेतन हैं जो क्रोधित हो के दु:ख और शान्त होके सुख दे सकें?'

जन्मपत्री के सम्बन्ध में महर्षि लिखते हैं- ''यह ग्रह तो बहुत अच्छे हैं परन्तु ये ग्रह क्रूर हैं। अर्थात् फलाने फलाने ग्रह के योग से आठ वर्ष में उसका मृत्युयोग है। इसको सुनके माता-पितादि पुत्र के जन्म के आनन्द को छोड़ के, शोक-सागर में डूबकर ज्योतिषी जी से कहते हैं कि ''महाराज जी! अब हम क्या करें? तब ज्योतिषी जी कहते हैं-''उपाय करो।'' गृहस्थ पूछे-'क्या उपाय करें?', ज्योतिषी जी प्रस्ताव करने लगते हैं कि 'ऐसा-ऐसा दान करो। ग्रह के मन्त्र का जाप कराओ और नित्य ब्राह्मणों को भोजन कराओगे तो अनुमान है कि नवग्रहों के विघ्न हट जाएं। अनुमान शब्द इसलिये कि जो मर जायेगा तो कहेंगे हम क्या करें, परमेश्वर के ऊपर कोई नहीं है, हमने तो बहुत सा यत्न किया और तुमने कराया, उसके कर्म ही ऐसे थे। और जो बच जाये तो कहते हैं कि 'देखो, हमारे मन्त्र, देवता

और ब्राह्मणों की कैसी शक्ति है। तुम्हारे लड़के को बचा दिया। यहाँ पर यह बात होनी चाहिये कि जो इनके जपपाठ से कुछ न हो तो दूने, तिगुने रुपये इन धूर्तों से ले लेने चाहिए। और बच जाये तो भी ले लेने चाहिये क्योंकि जैसा ज्योतिषियों ने कहा कि 'इसके कर्म और परमेश्वर के नियम तोड़ने का सामर्थ्य किसी में नहीं? वैसे गृहस्थ भी कहें कि 'यह अपने कर्म और परमेश्वर के नियम से बचा है, तुम्हारे करने से नहीं।'

प्रश्न-तो क्या ज्योतिःशास्त्र झूठा है?

उत्तर-नहीं, जो उसमें अंक, बीज, रेखागणित विद्या है, वह सब सची, जो फल की लीला है, वह सब झूठी है।''

तृतीय समुल्लास में महर्षि दयानन्द पठनीय शास्त्रों के अन्तर्गत ज्योतिष् शास्त्र सूर्यसिद्धान्तादि जिसमें बीजगणित, अंक, भूगोल, खगोल और भूगर्भ विद्या है, इसको यथावत् सीखें। परन्तु जितने ग्रह, नक्षत्र, जन्मपत्र, राशि, मुहूर्त आदि फल विधायक गन्थ हैं, उनको झूठ समझ के कभी न पढ़ें और न पढ़ावें।

परित्याग योग्य ग्रन्थों में ज्योतिष् में शीघ्र बोध, मुहूर्त चिन्तामणि आदि (ग्रन्थ जानना चाहिये)।''

एकादश समुल्लास में महर्षि दयानन्द लिखते हैं-

प्रश्न-ग्रहों का फल होता है वा नहीं?

उत्तर-जैसा पोपलीला का है वैसा नहीं। किन्तु जैसा सूर्य, चन्द्रमा का किरण द्वारा उष्णता, शीतता अथवा ऋतुकालचक्र के सम्बन्धमात्र से अपनी प्रकृति के अनुकूल-प्रतिकूल सुख-दुःख के निमित्त होते हैं परन्तु जो पोपलीला वाले कहते हैं ''सुनो, महाराज सेठ जी! यजमानो! तुम्हारे आज आठवां चन्द्र सूर्य आदि क्रूर घर में आया है। तुमको बड़ा विघ्न होगा। घर द्वार छुडाकर प्रदेश में घुमावेगा। परन्तु जो तुम ग्रहों का दान, जप, पाठ, पूजा कराओगे तो दुःख से बचोगे।'' इनसे कहना चाहिये कि सुनो पोपजी! तुम्हारे और ग्रहों का क्या सम्बन्ध है? ग्रह क्या वस्तु है?

इसकी टिप्पणी में पं० भगवद्दत्त जी लिखते हैं-

ग्रह शुभाशुभ के कारण नहीं। वे निवेदक मात्र हैं। ऐसा महाभारत, अनुशासन पर्व, अध्याय २२५ में महेश्वर का मत है-**केवलं ग्रहनक्षत्रं न करोति शुभाशुभम्। सर्वात्मकृतं कर्म लोकवादी ग्रहाः इति॥** अर्थात् अपने ही कर्म सब फल है। संसार भूल से कहता है, यह ग्रहों का फल है।

आगे महर्षि लिखते हैं-

तुमको दान देने से प्रसन्न और न देने से अप्रसन्न होते हों तो सूर्यादि ग्रहों की प्रसन्नता अप्रसन्नता प्रत्यक्ष दिखलाओ। जिसको आठवां सूर्य, चन्द्र और दूसरे को तीसरा हो, दोनों को ज्येष्ठ महीने में बिना जूते पहने तपी भूमि पर चलाओ। जिस पर प्रसन्न हैं उनके पग, शरीर न जलने और जिस पर क्रोधित हैं उनके जल जाने चाहिए। तथा पौष मास में दोनों को नंगे कर पौर्णमासी की रात्रि भर मैदान में रखें। एक को शीत लगे दूसरे को नहीं तो जानो कि ग्रह क्रूर और सौम्य दृष्टि वाले होते हैं।

सच तो यह है कि सूर्यादि लोक जड़ हैं, वे न किसी को सुख और न दुःख देने की चेष्टा

कर सकते हैं। किन्तु जितने तुम ग्रहदानोपजीवी हो वे सब तुम ग्रहों की मूर्तियाँ हो। क्योंकि ग्रह शब्द का अर्थ भी तुममें ही घटित होता है। **'ये गृह्णन्ति ते ग्रहा:'** जो ग्रहण करते हैं, उनका नाम ग्रह है। जब तक तुम्हारे चरण राजा, रईस, सेठ, साहूकार और दरिद्र के पास नहीं पहुंचते, तब तक किसी को नवग्रह का स्मरण भी नहीं होता। जब तुम साक्षात् सूर्य, शनैश्चरादि मूर्तिमान् क्रूर रूप धर उन पर जा चढ़ते हो तब बिना ग्रहण उनको कभी नहीं छोड़ते।

बहुत से ज्योतिषी लोग अपने लड़के-लड़की का विवाह ग्रहों की गणित विद्या के अनुसार करते हैं पुन: उनमें विरोध वा विधवा अथवा मृतस्त्रीक पुरुष हो जाता है। जो फल सच्चा होता तो ऐसा क्यों होता? **इसलिये कर्म गति सच्ची और ग्रहों की गति, सुख-दु:ख भोग में कारण नहीं।** भला ग्रह आकाश में और पृथिवी भी आकाश में बहुत दूर पर है। इनका सम्बन्ध कर्त्ता और कर्मों के साथ साक्षात् नहीं। ...जो तुम ग्रहों का फल मानों तो इसका उत्तर देओ कि जिस क्षण में एक मनुष्य का जन्म होता है जिसको तुम ध्रुवात्रुटि मानकर जन्मपत्र बनाते हो उसी समय भूगोल पर दूसरे का जन्म होता है वा नहीं? जो कहो कि नहीं तो झूठ, और जो कहो कि होता है तो एक चक्रवर्ती के सदृश भूगोल में दूसरा चक्रवर्ती राजा क्यों नहीं होता? हां, इतना तुम कह सकते हो कि यह लीला हमारे उदर भरने की है, तो कोई मान भी लेवे।

'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में 'ग्रन्थप्रामाण्याप्रमाण्यविषय:' के अन्तर्गत 'ग्रहपूजाया: मिथ्यात्वम्' में महर्षि दयानन्द लिखते हैं-

"इसी प्रकार अल्पबुद्धि मनुष्यों ने 'आकृष्णेन रजसा०' इत्यादि मन्त्रों का सूर्यादि ग्रहपीड़ा की शान्ति के लिये ग्रहण किया है। सो उनको केवल भ्रममात्र हुआ है। मूल अर्थ से कुछ सम्बन्ध नहीं। क्योंकि उन मन्त्रों में ग्रहपीड़ा निवारण करना, यह ही नहीं है।

मंगल ग्रह का मन्त्र इस प्रकार है-

अ॒ग्निर्मू॒र्द्धा दि॒वः क॒कुत्पति॑: पृ॒थि॒व्याऽअ॒यम् । अ॒पाꣳरेता॑ꣳसि जिन्वति ॥ यजु०३.१२॥

यह जो अग्नि संज्ञक परमेश्वर वा भौतिक है, वह प्रकाश वाले और प्रकाशरहित लोकों का पालन करने वाला तथा सब पर विराजमान, और दिशाओं के मध्य में अपनी व्यापकता से सब पदार्थों का राजा है। वही जगदीश्वर प्राण और जलों के वीर्यों को पुष्ट करता है। इस प्रकार भूताग्नि भी विद्युत् और सूर्य रूप से पूर्वोक्त पदार्थों का पालन और पुष्टि करने वाला है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि पौराणिकों ने मन्त्र को जो मंगल ग्रह के साथ जोड़ा है सो उचित नहीं है क्योंकि इसमें मंगलग्रह का वर्णन है ही नहीं। अत: मंगल शान्ति के लिये इसके पाठ में औचित्य नहीं।

मंगलीक योग में क्योंकि मंगलग्रह की ही प्रधानता होती है। अत: उसका फल भी सूर्यादि ग्रहों के समान निरर्थक ही जानना चाहिये। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने ग्रहों का फल ऊपर स्पष्ट कर ही दिया है। अतएव उसके विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं रह जाती। मंगल भी सूर्यादि की तरह निर्जीव ही है। इसलिये उसका फल या प्रभाव कुछ भी नहीं होगा।

वर-कन्या के मेलापक गुण-

पौराणिक मत के अनुसार मंगलीक योग के साथ ही अष्टकूट गुणों पर विचार किया जाता है। इन अष्टकूट गुणों को ही मेलापक गुण भी कहते हैं। विवाह के समय इन्हीं गुणों का मिलान किया जाता है। इनका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

परन्तु महर्षि दयानन्द सरस्वती ने मनु महाराज द्वारा रचित **मनुस्मृति** के उद्धरण प्रस्तुत करके वर-कन्या के मेलापक गुणों का विस्तृत वर्णन किया है जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, ग्राह्य, विचारणीय एवं व्यावहारिक है। वस्तुतः वर-कन्या में इन्हीं गुणों का मिलान करना चाहिये न कि मंगलीक और अष्टकूट गुणों का।

महर्षि दयानन्द सरस्वती **सत्यार्थप्रकाश** के चतुर्थ समुल्लास तथा **संस्कारविधि** के विवाह संस्कार में लिखते हैं-

गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृतो यथाविधिः।उद्वहेत् द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्॥ मनु०३.४

गुरु की आज्ञा से स्नान कर गुरुकुल से अनुक्रम पूर्वक आकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अपने वर्ण के अनुकूल सुन्दर लक्षणयुक्त कन्या से विवाह करे।

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः। सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने॥

३.५

जो कन्या माता के कुल की छह पीढ़ियों में न हो और पिता के गोत्र की न हो, उस कन्या से विवाह करना उचित है-

महान्त्यपि समृद्धानि गोऽजाविधनधान्यतः। स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत्॥

मनु०३.६

चाहे कितने ही धन-धान्य, गाय, अजा, हाथी, घोड़े, राज्य, श्री आदि से समृद्ध कुल हों तो भी विवाह सम्बन्ध में निम्नलिखित दश कुलों का त्याग कर दे-

हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम्। क्षय्यामयाव्यपस्मारि श्वित्रिकुष्ठिकुलानि च॥

मनु०३.७

जो कुल सत्क्रिया से हीन, सत्पुरुषों से रहित, वेदाध्ययन से विमुख, शरीर पर बड़े-बड़े लोम अथवा बवासीर, क्षयी, दमा, खांसी, आमाशय, मिरगी, श्वेतकुष्ठ और गलितकुष्ठयुक्त कुलों की कन्या वा वर के साथ विवाह नहीं होना चाहिये, क्योंकि ये सब दुर्गुण और रोग विवाह करने वाले के कुल में भी प्रविष्ट हो जाते हैं। इसलिये उत्तम कुल के लड़के और लड़कियों का आपस में विवाह होना उचित है।

नोद्वहेत्कपिलां कन्यां नाधिकाङ्गीं न रोगिणीम्। नालोमिकां नातिलोमिकां न वाचाटां न पिंगलाम्॥ मनु०३.८

न पीले वर्ण वाली, न अधिकांगी अर्थात पुरुष से अधिक लम्बी, चौड़ी, अधिक बलशाली, न रोगयुक्ता, न लोमरहित, न बहुत लोम वाली, न बकवाद करने हारी और न भूरे नेत्र वाली कन्या से विवाह करे।

नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम्। न पक्ष्यहि प्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम्॥

मनु०३.९

ऋक्ष अर्थात् अश्विनी, भरणी, रोहिणी देई, रेवती बाई, चित्तरी आदि नक्षत्र नामवाली, तुलसिया, गेंदा, गुलाबी, चम्पा, चमेली वृक्ष नामवाली, गंगा, यमुना आदि नदी नाम वाली,

चाण्डाली आदि अन्त्य (नीच) नामवाली, विन्ध्या, हिमालया, पार्वती आदि पर्वत नाम वाली, कोकिला, मैना आदि पक्षीनाम वाली, नागी, भुजंगी आदि सर्पनाम वाली, माधोदासी, मीरादासी आदि प्रेष्य नाम वाली, कुंवरी, चण्डिका, काली आदि भीषण नाम वाली कन्या के साथ विवाह न करना चाहिये। क्योंकि ये नाम कुत्सित और अन्य पदार्थों के भी हैं।

अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम्। तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत् स्त्रियम्॥ मनु०३.१०

जिसके सरल, सूधे अंगे हों, विरुद्ध न हों, जिसका नाम सुन्दर अर्थात् यशोदा, सुखदा आदि हो, हंस और हस्तिनी के तुल्य जिसकी चाल हो, सूक्ष्म लोम, केश और दांत युक्त, जिसके सब अंग कोमल हों, वैसी स्त्री के साथ विवाह करना चाहिये।

काममामरणात्तिष्ठेत् गृहे कन्यर्तुमत्यपि। न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित्॥

मनु०९.८९

चाहे लड़का-लड़की मरणपर्यन्त कुमारे रहें, परन्तु असदृश अर्थात् परस्पर विरुद्ध गुण, कर्म, स्वभाव वालों का विवाह कभी न होना चाहिये।

महर्षि याज्ञवल्क्य ने भी इस विषय पर अत्यन्त गम्भीरता पूर्वक विचार किया है-

अविप्लुत-ब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत्। अनन्यपूर्विकां कान्तामसपिण्डां यवीयसीम्॥

याज्ञ०आ०५२

ब्रह्मचर्य से च्युत न होकर शुभ लक्षणों से युक्त स्त्री से विवाह करे, जो पहले किसी अन्य पुरुष को प्रदत्त या किसी द्वारा भुक्त न हो। सुन्दरी हो, असपिण्ड हो तथा (आयु एवं शरीर प्रमाण में) अपने से छोटी हो।

असपिण्ड किसे कहते हैं-**असपिण्डा समानः एकः पिण्डो देहो यस्याः सा सपिण्डा, न सपिण्डा असपिण्डा** अर्थात् समान पिण्ड=शरीर है जिसका वह सपिण्ड है, जो सपिण्ड न हो, वह असपिण्ड है।

अरोगिणीं भ्रातृमतीमसमानार्षगोत्रजाम्॥

याज्ञ०आ०५३

असाध्य रोग से अछूती हो, भाई वाली हो और समान गोत्र तथा प्रवर वाली न हो।

केवल कन्या ही नहीं वर भी श्रेष्ठ गुण युक्त होना चाहिये-

एतैरेव गुणैर्युक्तः सवर्णः श्रोत्रियो वरः। यत्नात्परीक्षितः पुंस्त्वे युवा धीमान्जनप्रियः॥

याज्ञ०आ०५५

वर भी इन्हीं पूर्वोक्त गुणों से युक्त सवर्ण और विद्वान् होना चाहिये। उसके पुरुषत्व की यत्नपूर्वक परीक्षा की गयी हो और वह युवक विवेकशील एवं प्रिय हो।

विष्णुस्मृति का कथन है-

अनेनैव विधानेन कुर्याद् दारपरिग्रहम्। कुले महति सम्भूतां सवर्णां लक्षणान्विताम्॥

याज्ञ०आ०१.२६

शास्त्रविधि के अनुसार स्त्री का पाणिग्रहण करे। उच्च कुल में उत्पन्न हुई सजातीय सुलक्षणा स्त्री के साथ विवाह करे।

व्यासस्मृति में भी इन्हीं विचारों का समर्थन किया गया है-

अरोगादुष्टवंशोत्थानशुल्कदानदूषिताम्।
सवर्णामसमानार्षाममातृपितृगोत्रजाम्॥
अनन्यपूर्विकां लघ्वीं शुभलक्षणसंयुताम्॥

२.२,३॥

जिस कन्या को कोई रोग न हो और वंश भी उत्तम हो, जिस का पिता कुछ रुपया न ले, जो अपने वर्ण की हो और माता-पिता के गोत्र की न हो। पहले जिसका विवाह न हुआ हो, छोटी व पतली हो, शुभ लक्षणों से युक्त हो। उसके साथ विवाह करे।

उल्लिखित प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि इन्हीं गुणों का वर-कन्या के विवाह के समय विचार करना चाहिये। मंगल, शनि, सूर्यादि ग्रहों तथा अष्टकूट गुणों का नहीं। यही वैज्ञानिक दृष्टिकोण है, जो सभी को स्वीकार्य होना चाहिये।

Vaidika Vāg Jyotiḥ
ISSN 2277-4351
Vol.1, No.2 (25-35) Jan-jun 2013

ऋग्वेद के प्रमुख पुरुष व्यत्ययों की समीक्षा

रामनाथ वेदालंकार (राष्ट्रपति-पुरस्कृत)
वेद मन्दिर, ज्वालापुर (हरिद्वार)

यदि हमारा कोई छात्र **'सः असि'** लिखता है, तो हम उसे समझाते हैं कि **'सः'** के साथ **'अस्ति'** आता है, **'असि'** **'त्वम्'** के साथ होता है। भलीभाँति याद कर लो इस तालिका को-**'सः अस्ति', तौ स्तः, ते सन्ति'** प्रथम पुरुष, **'त्वम् असि, युवां स्थः, यूयं स्थ'** मध्यम पुरुष, **'अहम् अस्मि, आवां स्वः, वयं स्मः'** उत्तम पुरुष। फिर भी यदि छात्र **'सः असि'** लिखता है, तो वह भर्त्सना या दण्ड का पात्र होता है। किन्तु वेद तो युग--युगों से **'सः असि'** लिख रहा है और युग-युगों से प्रतिष्ठा पा रहा है।

स हि...असि सत्यः। ऋग्०१.८७.४, **स हि स खलु मरुद्गणः....प्राविता असि प्रकर्षेण रक्षिता भवति। असि**; पुरुषव्यत्ययः सायण।

सायणाचार्य ने इस प्रयोग को पुरुषव्यत्यय का प्रमाणपत्र दिया है। किन्तु व्यत्यय का अर्थ है नियम का व्यतिक्रम, अतः व्यत्यय कहने से गलती का परिहार नहीं होता। हम यह सिद्ध करेंगे कि न इस प्रयोग में पुरुष-व्यत्यय है, न ही इस जैसे अन्य बीसियों प्रयोगों में पुरुष-व्यत्यय है।

वेदों में कई मन्त्र ऐसे हैं, जो **'स त्वं'** से प्रारम्भ होते हैं तथा जिसमें क्रियापद मध्यम पुरुष का है। यथा-

स त्वमस्मदप द्विषो युयोधि जातवेदः।
ऋग्०८.११.३

स त्वं न ऊर्जां पते रयिं रास्व सुवीर्यम्।
ऋग्०८.२३.१२

स त्वं विप्राय दाशुषे रयिं देहि सहस्रिणम्।। ऋग्०८.४३.१५

स त्वं नो अग्नेऽवमो भवोति। यजु०२१.४

'सः' के साथ **'त्वम्'** लगाने से **'त्वम्'** प्रधान होता है, अतः इन मन्त्रों में **'त्वम्'** के अनुसार मध्यम पुरुष एकवचन का क्रियापद है, जो व्याकरण के अनुकूल है। अतः यहाँ व्यत्यय का कोई अवकाश नहीं है।

इसी की तुलना में कुछ मन्त्र ऐसे भी हैं, जो **'सः'** से प्रारम्भ होते हैं, जिनके साथ **'त्वम्'** नहीं है, तथापि जिसमें क्रियापद मध्यम पुरुष एकवचन का है। सायणप्रभृति भाष्यकारों ने इसमें व्यत्यय नहीं माना, प्रत्युत **'त्वम्'** अध्याहार कर लिया है। यथा-

स नो वृषन्नमुं चरुं सत्रादावन्नपा वृधि।
ऋग्०१.७.६

स नो बोधि श्रुधी हवम्।। ऋग्०५.२४.३

स नो राधांस्या भरेशानः सहसो यहो।।
ऋग्०७.१५.११

स नो विश्वान्या भर सुवितानि शतक्रतो॥

ऋग्०८.९३.२९

स नो अर्ष पवित्र आ॥ ऋग्०९.६४.१२

स जातो गर्भो असि रोदस्योः।

ऋग्०१०.१.२

इन मन्त्रों में 'सः' के साथ मध्यमपुरुष एकवचन का क्रियापद होने पर भी 'त्वम्' का अध्याहार होने के कारण यदि व्यत्यय नहीं है, तो प्रारम्भ में उद्धृत 'सः हि..असि सत्यः' ऋग्०१.८७.४॥ मन्त्र में भी 'त्वम्' का अध्याहार करके कार्यनिर्वाह हो सकता है, वहां भी सायणप्रोक्त पुरुषव्यत्यय अनावश्यक है।

अब हम बड़ी संख्या में वेदों के ऐसे उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं, जिनमें क्रिया के कर्त्ता 'त्वम्' से भिन्न सुकीर्ति, अग्नि आदि हैं, किन्तु क्रियापद मध्यम पुरुष एकवचन का है और सायण तथा उससे पूर्ववर्ती एवं परवर्ती भाष्यकारों ने जिनके भाष्य में पुरुषव्यत्यय लिखा है-

अस्मत् सुकीर्तिर्मधुजिह्वमश्याः।[१]

(ऋग्०१.६०.३)

अग्निर्देवत्वा विश्वान्यश्याः॥

(ऋग्०१.६९.६)

अग्निः सुशोको, विश्वान्यश्याः।

(ऋग्०१.७०.१)

आप्रा[२] द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्यः। (ऋग्०१.११५.१)

इयं धीर्भूया[३] अवयानमेषाम्॥

(ऋग्०१.१८५.८)

इयं सा वो अस्मे दीधितिर्यजत्रा अपिप्राणी च सदनी च भूयाः[४]।

(ऋग्०१.१८६.११)

श्रूया[५] अग्निश्चित्रभानुर्हवं मे॥

(ऋग्०२.१०.२)

सप्तिर्न रथ्यो अह धीतिमश्याः[६]॥

(ऋग्०२.३१.७)

परि णो हेती रुद्रस्य वृज्याः[७]।

(ऋग्०२.३३.१४)

नराशंसो ग्नास्पतिर्नो अव्याः[८]।

(ऋग्०२.३८.१०)

आस्य हविस्तन्वः कामगृध्याः[९]॥

(ऋग्०३.५०.१)

समानमभि क्रत्वा पुनती धीतिरश्याः[१०]।

(ऋग्०४.५.७)

सा नः सुदानुर्मृळयन्ती देवी प्रति द्रवन्ती सुविताय गम्याः[११]। (ऋग्०५.४१.१८)

गीर्मित्रं भगमदितिं नूनमश्याः[१२]।

(ऋग्०५.४२.१)

प्र सुष्टुतिः स्तनयन्तं रुवन्तमिळस्पतिं जरितर्नूनमश्याः[१३]॥ (ऋग्०५.४२.१४)

प्रैषः स्तोमः पृथिवीमन्तरिक्षं वनस्पतींरोषधी राये अश्याः[१४]॥

(ऋग्०५.४२.१६)

परि नो हेळो वरुणस्य वृज्याः[१५]।

(ऋग्०७.८४.२)

सोमः पुनानो अव्यये वारे शिशुर्न क्रीळन् पवमानो अक्षाः[१६]। (ऋग्०९.११०.१०)

लोपाशः सिंहं प्रत्यञ्चमत्साः[१७]।

(ऋग्०१०.२८.४)

भूया[१८] **ऋतस्य सुदुघा पुराणवत्।**

(ऋग्०१०.४३.९)

वृत्रहेन्द्रो नामान्यप्राः[१९]।

(ऋग्०१०.७४.६)

भूतांशो अश्विनोः काममप्राः[२०]।

(ऋग्०१०.१०६.११)

ओर्वप्रा अमर्त्या निवतो देव्युद्वतः। ज्योतिषा बाधते तमः[२१]॥ (ऋग्०१०.१२७.२)

विचार करने पर हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि इन सब स्थलों पर भी यदि 'त्वम्' का अध्याहार करके वाक्य को प्रत्यक्षकृत बना लिया जाये, तो बल अधिक आ जाता है और व्यत्यय मानने की भी आवश्यकता नहीं रहती। यथा-

सूर्यः त्वं द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम् आ अप्राः।

तुम सूर्य ने द्यावापृथिवी और अन्तरिक्ष को प्रकाश से आपूरित कर लिया है।

चित्रभानुः अग्नि त्वं मे हवं श्रूयाः।

चित्रभानु अग्नि तू मेरी पुकार को सुन।

ग्नास्पतिः नराशंसः त्वं नः अव्याः।

स्त्रियों का स्वामी नराशंस तू हमारी रक्षा कर।

गीः त्वं मित्रं भगम् अदितिं नूनम् अश्याः।

वाणी तू मित्र, भग और अदिति को निश्चय ही प्राप्त हो।

वरुणस्य हेळः त्वं मः परिवृज्याः।

वरुण का क्रोध तू हमें छोड़ दे।

स्वयं सायण ने इन मन्त्रों जैसे एक अन्य मन्त्र के भाष्य में 'त्वम्' अध्याहार करके पुरुष-व्यत्यय से छुटकारा पाया है, वह मन्त्र निम्नलिखित है-

अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि यदि वायुस्ततप पूरुषस्य। अद्या स वीरैर्दशभिर्वि यूया यो मा मोघं यातुधानेत्याह॥ ऋग्०७.१०४.१५

यहाँ तृतीय चरण में '**स वियूयात्**' के स्थान पर '**स वियूयाः**' प्रयोग में पुरुष-व्यत्यय कहना चाहिये था, किन्तु उससे बचने के लिये सायण ने '**त्वम्**' का अध्याहार कर लिया। मन्त्रार्थ यह बना-"यदि मैं यातुधान हूँ, अथवा यदि मैंने किसी पुरुष की आयु को संतप्त किया है, तो मैं आज ही मर जाऊं। अन्यथा वह तू दसों वीरपुत्रों से वियुक्त हो जा, जो मुझे व्यर्थ ही यातुधान कहता है।"[२२]

कतिपय अन्य पुरुष व्यत्ययों पर विचार

१. निम्नलिखित मन्त्र का अर्थ है-'हे मनुष्यों' प्रकाशरहितों के लिये प्रकाश को करता हुआ और रूपहीनों के लिये रूप देता हुआ इन्द्र दाहक रश्मियों के साथ प्रकट हुआ है। क्रियापद '**अजायत**' के स्थान पर मध्यमपुरुष का '**अजायथाः**' रूप है, अतः पुरुष व्यत्यय है।

केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे। समुषद्भिरजायथाः॥ ऋग्०१.६.३॥

समाधान-'**अजायथाः**' क्रियापद ही यह बता रहा है कि इस मन्त्र में इन्द्र को सम्बोधन

है, तथा '**त्वम्**' पद अध्याहृत है। 'हे इन्द्र! तू प्रकट हुआ है' यह तात्पर्य है। '**मर्या:**' सम्बोधन पृथक् है, जिसकी वाक्ययोजना पृथक् होगी-हे मनुष्यो! इन्द्र के इस कौशल को देखो।[२३]

२. अस्मा इदु प्रयं इव प्रयंसि भराम्याङ्गूषं बाधे सुवृक्ति । ऋग्०१.६१.२। इस इन्द्र का (स्तोत्रगान करता हुआ मैं) मानो इसे अन्न दे रहा हूँ। यहाँ उत्तम पुरुष एकवचन '**प्रयच्छामि**' के स्थान पर मध्यम पुरुष एकवचन का '**प्रयंसि**' रूप प्रयुक्त होने के कारण पुरुष-व्यत्यय है।[२४]

समाधान-प्र पूर्वक यम धातु लेट् लकार, उत्तम पुरुष एकवचन का '**प्रयंसि**' रूप है। '**सिब्बहुलं लेटि** से सिप् का आगम हुआ है, इ उत्तमपुरुष एकवचन के इट् का है।

३. **तं वंश्चराथा, वयं वसत्यास्तं न गावो, नक्षन्त इद्धम्।** ऋग्०१.६६.९॥ यहां '**वयं नक्षन्ते**' प्रयोग के कारण पुरुष-व्यत्यय है। हम चर और अचर आहुति के द्वार प्रदीप्त तुम अग्नि को प्राप्त होते हैं, जैसे गौएं घर को प्राप्त होती हैं।[२५]

समाधान-मन्त्र में '**वयं**' के साथ '**नक्षामहे**' का अध्याहार होता है। '**अस्तं न गावो नक्षन्ते**' यह उपमासूचक पृथक् वाक्य है। जैसे '**गाव:**' के साथ '**नक्षन्ते**' है, वैसे ही '**वयं**' के साथ '**नक्षामहे**' स्वत: अध्याहृत हो जाता है।

४. उत वा यस्य वाजिनोऽनु विप्रमतक्षत।
स गन्ता गोमति व्रजे॥
ऋग्०१.८६.३॥

इस मन्त्र में '**वाजिन:**' के साथ तक्ष धातु का बहुवचन का '**अतक्षन्**' रूप प्रयुक्त होना चाहिये था, उसके स्थान पर मध्यमपुरुष बहुवचन का '**अतक्षत**' रूप प्रयुक्त हुआ है, अत: पुरुष-व्यत्यय है। जिसके हविरूप अन्न से युक्त ऋत्विज् लोग (**वाजिन:**) मेधावी मरुद्गण को (**विप्रं**), हविष्यप्रदानादि से तीक्ष्ण करते हैं, वह गोमान् व्रज को प्राप्त करता है।[२६]

समाधान-यहाँ '**वाजिन:**' के साथ '**यूयम्**' का अध्याहार होगा। '**वाजिन: यूयं विप्रम् अनु अतक्षत।**' यूयम् के साथ मध्यमपुरुष बहुवचन का प्रयोग व्याकरणसम्मत होने के कारण व्यत्यय नहीं है।

५. य: सोम सख्ये तव रारणद् देव मर्त्य:। तं दक्ष: सचते कवि:॥ ऋग्०१.९१.१४॥

सायणकृत अर्थ है-हे द्योतमान सोम! जो यजमान तेरे सख्य के निमित्त इस स्तोत्र के द्वारा तेरी स्तुति करता है, उसे क्रान्तदर्शी और सर्वकार्यसमर्थ तू सेवता है। यहां '**त्वम्**' अध्याहृत मानकर '**त्वं सचते**' से '**सचसे**' मध्यमपुरुष एकवचन के स्थान पर प्रथमपुरुष एकवचन '**सचते**' का प्रयोग होने के कारण पुरुष-व्यत्यय माना है।[२७]

समाधान-यह सर्वथा अनावश्यक है। स्कन्द और वेंकटमाधव ने यहाँ व्यत्यय नहीं माना।[२८] स्कन्द अर्थ करते हैं कि हे सोमदेव! जो तेरे याग में अत्यन्त रमता है, उसे बल वा वृद्धि (दक्ष) प्राप्त होते हैं और वह मेधावी (कवि) हो जाता है। वेंकटमाधव योजना करते हैं-हे देव सोम! जो मनुष्य तेरे सख्य में रमता

है, उसकी स्मृति के लिये समर्थ स्तोता (दक्षः कविः) उसका सेवन करता है।[२९]

६. **यं ते॑ का॒व्य उ॒शना॑ म॒न्दिनं॒ दाद्वृ॑त्र॒हणं॒ पार्यं॑ ततक्ष॒ वज्र॑म्॥** ऋग्०१.१२१.१२॥ हे इन्द्र! कवि के पुत्र उशना ने जिस मदकर वज्र को तुझे दिया था, उसे तूने वृत्रों का वध करने वाला और शत्रुओं को पार लगाने में समर्थ कर दिया है। यहाँ '**त्वं तं वज्रं वृत्रहणं पार्यं च ततक्ष**' यह योजना सायण ने की है। उसका कथन है कि '**ततक्ष**' रूप तो तक्ष धातु का प्रथम पुरुष के एकवचन में बनता है। '**त्वं**' के साथ तो '**ततक्षिथ**' या '**ततष्ठ**' होना चाहिये था, अतः पुरुष-व्यत्यय है।[३०] स्कन्दस्वामी ने '**ततक्ष**' को लोडर्थ में मध्यमपुरुष एकवचन के स्थान पर प्रथमपुरुष एकवचन का लिट् का रूप मानकर अर्थ करते हैं। 'उस वज्र को तू हमारे शत्रुओं के वधार्थ संस्कृत कर।'[३१]

समाधान-वस्तुतः यहाँ '**ततक्ष**' जहाँ का रूप है, उसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'काव्य उशना ने जिस वज्र को वृत्रघाती और शत्रुओं को पार लगाने में समर्थ बनाया **(ततक्ष)**, और उस मदकर वज्र को तुझे दिया (दात्) (उस वज्र से तू शत्रुसंहार कर)''-यह तात्पर्य बिना व्यत्यय के निकल रहा है। वेंकट माधव ने यही योजना की है।[३२]

७. **आद॑स्य ते कृ॒ष्णासो॑ दक्षि सू॒रयः॑।** ऋग्०१.१४१.८॥ अग्नि देवता है। पूर्वार्ध में अग्नि को कहा गया है कि तू ज्वाला रूप लाल अंगों से आकाश की ओर उठता है अर्थात् तेरी ऊँची-ऊँची ज्वालाएं हो जाती हैं। उस अर्थ के उद्धृत मन्त्रांश का अर्थ है-इसके अनन्तर तेरे मार्ग काले हो जाते हैं, क्योंकि अग्नि जलाता है। यहां '**दहति**' के स्थान पर सिप का छान्दस रूप '**दक्षि**' प्रयुक्त है, अतः सायण के मतानुसार पुरुष व्यत्यय है।[३३]

समाधान- तेरे मार्ग काले हो जाते हैं, क्योंकि तू काष्ठों को जलाता है- '**यतस्त्वं काष्ठानि दक्षि दहसि**' इस सीधी अर्थ योजना को छोड़कर आपने जो टेढ़ी योजना की है, उसके लिये आपको क्या कहें?

८. **अ॒ग्निं दू॒तं प्रति॒ यदब्र॑वीत॒नाश्वः॒ कर्त्वो॒ रथ॑ उ॒तेह कर्त्वः॑॥** ऋग्०१.१६१.३॥ सायण यह अर्थ करते हैं कि देवों ने दूतकर्मप्राप्त अग्नि को यह कहा था कि तुम्हें अश्व बनाना है, रथ बनाना है आदि। इस प्रकार वे '**अब्रुवन्**' के स्थान पर '**अब्रवीतन**' के प्रयोग को पुरुष-व्यत्यय मानते हैं।[३४]

समाधान-'**हे देवाः! यूयम् अग्निं दूतं प्रति अब्रवीतन**' यही वाक्य योजना समीचीन है, जिसमें व्यत्यय की आवश्यकता नहीं रहती। सायण ने स्वयं वैकल्पिक रूप में एक योजना प्रस्तुत की है, जिसमें व्यत्यय नहीं रहता।[३५]

९. **तमु॑ स्तु॒ष इन्द्रं॒ तं गृ॑णीषे॒।** ऋग्०२.२०.४॥ उसी इन्द्र की मैं स्तुति करता हूँ, उसी की गरिमा गाता हूँ। यहाँ उत्तम पुरुष के स्थान पर मध्यम पुरुष का प्रयोग होने से पुरुष-व्यत्यय है।[३६]

समाधान- '**स्तुषे**' और '**गृणीषे**' रूप यहाँ लेट् लकार उत्तमपुरुष एकवचन के ही हैं। '**सिब्बहुल लेटि**' से सिप् हुआ है।

१०. **योऽवरे वृजने विश्वथा विभुर्महामु रण्वः शवसा ववक्षिथ।** ऋग्०२.२४.११॥ जो विभु रमयिता ब्रह्मणस्पति हीन बल वाले तथा महान् दोनों को अपने बल से वहन कर रहा है। यहाँ '**यः**' के साथ सन्नन्त वह धातु लिट् लकार के मध्यम पुरुष '**ववक्षिथ**' का प्रयोग होने से पुरुष-व्यत्यय है।[३७]

समाधान-यहाँ **यः** के साथ **त्वम्** का अध्याहार होने पर वाक्यरचना शुद्ध हो जाती है। वेंकट माधव ने ऐसा किया भी है।[३८]

११. **य ईं राजानावृतुथा विदधद् रजसो मित्रो वरुणश्चिकेतत्। गम्भीराय रक्षसे हेतिमस्य द्रोघाय चिद् वचस आनवाय॥**

ऋग्०६.६२.९॥

हे लोकों के राजा दोनों अश्वि-देवो! जो तुम दोनों की परिचर्या करता है, उसे मित्र और वरुण जान लेते हैं, अर्थात् उस पर कृपा करते हैं। वह गम्भीर राक्षस पर अपना शस्त्र फेंकता है। यहां '**अस्यति**' के स्थान पर '**अस्य**' प्रक्षेपणार्थक अस धातु लोट् लकार मध्यमपुरुष का प्रयोग होने से पुरुष--व्यत्यय है।[३९]

समाधान-मन्त्र का पूर्वार्द्ध परोक्षकृत है तथा उत्तरार्द्ध प्रत्यक्षकृत। उत्तरार्द्ध में अश्विनौ की परिचर्या करने वाले मनुष्य को कहा जा रहा है कि तू गम्भीर राक्षस के ऊपर शस्त्र फेंक। अत: व्यत्यय नहीं है।

१२. **इळेन्यं वो असुरं सुदक्षमन्तर्दूतं रोदसी सत्यवाचम्। मनुष्यवदग्निं मनुना समिद्धं समध्वराय सदमिन्महेम।**

सायण ने '**संमहेम**' का अर्थ '**संपूजयत**' किया है तथा मध्यमपुरुष के स्थान पर उत्तम पुरुष का व्यत्यय माना है। '**वः**' का अर्थ '**यूयम्**' किया है।[४०]

समाधान-'**वः ईळेन्यम्**' जो तुम सबका पूजनीय है, ऐसे अग्नि की तुम और हम मिलकर पूजा करें '**सं महेम**'। इस दिशा में '**संमहेम**' का अर्थ '**संपूजयत**' करने की आवश्यकता नहीं है।

१३. **तद् वो अद्य मनामहे सूक्तैः सूर उदिते। यदोहते वरुणो मित्रो अर्यमा यूयमृतस्य रथ्यः॥** ऋग्०७.६६.१२॥[४१]

आज सूर्य के उदित होने पर हम सूक्तों के साथ तुमसे उस धन की याचना करते हैं, जिसे वरुण, मित्र, अर्यमा तुम प्राप्त कराते हो। (ओहते=ओहध्वे)। अत: पुरुष-व्यत्यय है।

समाधान-वः अद्य तद् मनामहे याचामहे यद् वरुणः मित्र अर्यमा ओहते प्रापयति। वरुण, मित्र, अर्यमा प्रत्येक के साथ पृथक्-पृथक् 'ओहते' लगेगा। '**यूयम् ऋतस्य रथ्य**=तुम ऋत के रथी हो, यह समापन-वाक्य है। बिना व्यत्यय के भी तात्पर्य वही निकल आता है, जो व्यत्ययवादी को अभीष्ट है।

१४. **पुरुप्रिया ण ऊतये पुरुमन्द्रा पुरूवसू। स्तुषे कण्वासो अश्विना॥** ऋग्०८.५.४॥

बहुप्रिय, बहु आनन्दकर, बहुधनी अश्विनौ की कण्वगोत्री हम हमारी रक्षा के लिये स्तुति करते हैं। (स्तुषे=स्तुमहे)। यहाँ पुरुष और वचन दोनों का व्यत्यय है।[४२] सायण ने दूसरा विकल्प यह दिया है कि 'कण्वासः' में बहुवचन पूजार्थ है। हे मेरे अन्तरात्मन्! कण्वगोत्री तू अश्विनौ की **स्तुषे**=स्तुति कर। इसमें व्यत्यय नहीं मानना पड़ता।[४३]

समाधान-यहाँ दो वाक्य बनेंगे, एक वाक्य **स्तुषे** क्रिया के अनुकूल और दूसरा **स्तुमहे** का अध्याहार करके। प्रथम वाक्य-हे भद्र! **त्वम् ऊतये पुरुप्रिया पुरुमन्द्रा पुरूवसू अश्विना स्तुषे= स्तुहि।** दूसरा वाक्य-**कण्वासः वयं नः ऊतये पुरुप्रिया पुरुमन्द्रा पुरूवसू अश्विना स्तुमहे।** वेद ने **स्तुमहे** के स्थान पर **स्तुषे** का प्रयोग किया हो, यह मानना समीचीन नहीं लगता।

१५. **प्रगायताभ्यर्चाम देवान्॥**

ऋग्०९.९७.४॥

'सोम का प्रकृष्टरूप से गान करो, हम देवों की अभ्यर्चना करें' इसमें समानवाक्यता न होने से **प्रगायताभ्यर्चत देवम्** होना चाहिये। **अभ्यर्चत** के स्थान पर **अभ्यर्चाम** होने के कारण पुरुष-व्यत्यय है।[८४]

समाधान-''आइये, सोम का गान करो, हम मिलकर देवों की अर्चना करें'', इसमें कोई दोष नहीं है, अतः व्यत्यय नहीं है।

१६. **स्तोमं त इन्द्र विमदा अजीजनन्॥** ऋग्०१०.२३.६॥

हे इन्द्र! तेरे लिये विमदों ने स्तोम रचा है। मन्त्र के उतरार्ध में क्रियापद '**विमद**' और '**करामहे**' हैं, तदनुसार **विमदा वयम् अजीजना** होना चाहिये था। '**अजीजनाम** के स्थान पर '**अजीजनन्** होने से पुरुष-व्यत्यय है।[८५]

समाधान-यदि हम विमद हैं, तो विमदों ने ऐसा किया है, यह कह देने से यह सूचित हो जाता है कि यदि हमने ऐसा किया है, अतः कोई दोष नहीं है। समानवाक्यता होनी आवश्यक नहीं है, भिन्नवाक्यता भी देखी जाती है।

१७. **प्र सु वं आपो महिमानमुत्तमं कारुर्वोचाति सदने विवस्वतः॥ प्र सप्तसप्त त्रेधा हि चक्रमुः प्र सृत्वरीणामति सिन्धुरोजसा॥** ऋग्०१०.७५.१॥

हे नदियो! तुम्हारी उत्तम महिमा को कारु बोल रहा है, इसके स्थान पर मैं कारु बोल रहा हूं, यह कहना चाहिये था। '**वोचामि**' के स्थान पर '**वोचाति**' होने से पुरुष-व्यत्यय है।[८६]

समाधान-यह शैली लोक में भी है। यदि मैं कारु हूँ, तो मैं ऐसा कर रहा हूँ, इसके स्थान पर कारु ऐसा कर रहा है, यह प्रयोग कर सकता हूँ। अतः कोई दोष नहीं है, न पुरुष-व्यत्यय है।

१८. **स ब्राधतः शवसानेभिरस्य कुत्साय शुष्णं कृपणे परादात्॥** ऋग्०१०.९९.९॥

वह इन्द्र महान् भी शत्रुओं को बल का प्रदर्शन करने वाले आयुधों से प्रक्षिप्त कर दे। असु,क्षेपणे, **अस्य=अस्यतु**। प्रथमपुरुष के स्थान पर मध्यम पुरुष का प्रयोग होने के कारण पुरुष-व्यत्यय है।[८७]

समाधान- '**त्वम्**' का अध्याहार कर लेने पर वाक्य रचना निर्दोष हो जाती है-'**स त्वम् अस्य=प्रक्षिप।**' वह तू इन्द्र शत्रुओं को प्रक्षिप्त कर।

१९. **अयं दंशस्यन् नर्येभिरस्य।**

ऋग्०१०.९९.१०॥

यह इन्द्र स्तोताओं को धन देना चाहता हुआ नरहितकारी मरुतों के दूसरे शत्रुओं को प्रक्षिप्त करता है। **अस्य=अस्यति**, असु क्षेपणे,

व्यत्यय से लट् लकार प्रथम पुरुष के स्थान पर लोट् लकार मध्यम पुरुष होने से पुरुष-व्यत्यय है।[८८]

समाधान-यहां भी पूर्ववत् **'त्वम्'** का अध्याहार कर लेने पर व्यत्यय की आवश्यकता नहीं रहती। **अयं त्वम् नर्येभिः अस्य**-हे इन्द्र! यह तू मरुतों के द्वारा शत्रुओं को प्रक्षिप्त कर।

२०. **इमा नु कं भुवना सीषधामेन्द्रश्च विश्वे च देवाः**। ऋग्०१०.१५७.१॥

सायण ने सीषधाम-पर्यन्त प्रथम पुरुष वाक्य की दो अर्थयोजनाएं की हैं, प्रथम में व्यत्यय नहीं माना, दूसरी में व्यत्यय माना है। १. हम इन प्रदृश्यमान भुवनों को शीघ्र सिद्ध करते हैं=वश में करते हैं। २. ये सब भुवन अर्थात् भूतजात हमारे लिये सुख को सिद्ध करें (**सीषधाम=साधयन्तु**, यहाँ व्यत्यय है)। प्रथम पुरुष बहुवचन के स्थान पर उत्तम पुरुष बहुवचन प्रयुक्त हुआ है।[८९]

समाधान-प्रथम अर्थ ही मानना उपयुक्त है, वेंकट ने भी वही माना है। अतः व्यत्यय नहीं है।

इस प्रकार ऋग्वेद के प्रमुख तथाकथित पुरुष व्यत्ययों की समीक्षा करने पर हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि इनमें पुरुष-व्यत्यय नहीं है।

पाद-टिप्पणियां-

१ अश्याः आभिमुख्येन व्याप्नोतु। अशूङ् व्याप्तौ, लिङि 'बहुलं छन्दसि' इति विकरणस्य लुक्। व्यत्ययेन परस्मैपदमध्यमौ-सायण।

२ आप्राः, प्रा पूरणे, लङि पुरुषव्यत्ययः-सायणः।

३ इयं धीः युष्मत्स्तुतिरूपम इदं कर्म यूयाः युयात् यवतु-सायण।

४ सा इयं प्रसिद्धा दीधितिः दीप्तिः अस्मे अस्माकम् अपिप्राणी सर्वदा चेष्टयित्री सदनी च निवासवती च भूयाः भूयात भवतु-सायण।

५ चित्रभानुः विचित्रदीप्तिश्चायनीयदीप्तिर्वा अग्निः मे मम हवं स्तोत्रं श्रूयाः शृणोतु-सायण।

६ रथ्यः रथसम्बन्धी सप्तिर्न सर्पणशीलोऽश्व इव युष्मद्गणः धीतिम् अस्मदीयं कर्म अश्याः अश्नोतु। अशूङ् व्याप्तौ, व्यत्ययेन परस्मैपदमध्यमौ-सायण।

७ रुद्रस्य महादेवस्य हेतिः आयुधं नः अस्मान परिवृज्याः परिवर्जयतु-सायण।

८ नः स्तुवतोऽस्मान् नराशंसः नरैः शंसनीयः ग्नास्पतिः देवपत्नीनां पतिः छन्दसां पतिर्वा सविता अव्या अव्यात्-सायण।

९ अस्य इन्द्रस्य सम्बन्धिनः तन्व शरीरस्य कामं पुष्ट्यादिलक्षणविषयमभिलाषं हविः अस्माभिर्दत्तम् आ ऋध्याः सर्वतः पूरयतु-सायण।

१० अस्नोतेर्लिङि, 'बहुलं छन्दसि' इति विकरणस्य लुक्। व्यत्ययेन परस्मैपदं मध्यमपुरुषत्वं च-सायण।

११ सा देवी नः अस्मान् सुविता सुखाय प्रति गम्याः प्रतिगम्यात् अभिगच्छेत्-सायण।

१२ गीः स्तुतिरूपा वाक् वरुणं मित्रं भगमदितिं च प्र अश्याः प्राप्नोतु-सायण।

१३ अत्र पर्जन्यः स्तूयते। पर्जन्यः हे जरितः स्तोतर्भवदीया स्तुतिः नूनं प्र अश्याः प्रकर्षेण व्याप्नोत-सायण।

१४ एष स्तोमः स्तुतिः पृथिव्यादिदेवताः प्र अश्याः प्राप्नोतु-सायण।

१५ वरुणस्य वारयितुर्देवस्य हेळः क्रोधः न अस्मान् परिवृज्याः परिवृणक्तु, परित्यज्यान्यत्र गच्छतु-सायण।

१६ अक्षाः क्षरति-सायण।

१७ लोपाशो मृगः प्रत्यञ्चम् आत्मानं प्रति गच्छन्तं सिंहम् अत्साः अत्सारीत्, आभिमुख्येन गच्छति-सायण।

१८ ऋतस्य सत्यस्य सुदुघा माध्यमिका वाक् पुराणवत् प्रत्नवत् काले भूयाः भूयात्, पुरुषव्यत्ययः-सायण।

१९ वृत्रहा इन्द्रः नामानि उदकानि अप्राः पूरयति, व्यत्ययेन मध्यमः-सायण।

२० भूतांशः एतन्नामर्षिः अश्विनोः कामम् अभिलाषम् आत्मीयाभिः स्तुतिभिः आ अप्राः आपूरयत्, सम्पूर्णमकार्षीदित्यर्थः। प्रा पूरणे, आदादिकः, व्यत्ययेन मध्यमः-सायण।

२१ देवी देवनशीला रात्रिः उरु विस्तीर्णम् अन्तरिक्षम् आ अप्राः प्रथमतस्तमसापूरयति। प्रा पूरणे, आदादिकः, लङि व्यत्ययेन मध्यमः।

२२ सः एवं दशभिः वीरैः पुत्रैः, उपलक्षणमेतत्, सर्वैर्बन्धुजनैः वियूयाः वियुक्तो भवेः, यः राक्षसः मा मां मोघं मृषैव हे यातुधान हे राक्षस इति सम्बोध्य आह-सायण।

२३ सम् अजायथाः त्वम् उषोभिः सह। तमिममाश्चर्यं मनुष्याणां निवेदयितुं तान् सम्बोधयति 'मर्याः' इति-वेङ्कटमाधव।

२४ प्रय इव अन्नमिव प्रयंसि प्रयच्छामि। प्रयंसि, यम उपरमे, इत्यस्मात् लटि पुरुषव्यत्ययः। 'बहुलं छन्दसि' इति शपो लुक्-सायण।

२५ वयम् इद्धं प्रदीप्तमग्निं नक्षन्ते व्याप्नुयाम, पुरुषव्यत्ययः, नक्षतिर्व्याप्तिकर्मा-सायण। नक्षन्ते व्यत्ययेन चोत्तमस्य स्थाने प्रथमपुरुषः, नक्षामहे व्याप्नुमः-स्कन्द।

२६ वाजिनः हविर्लक्षणान्नोपेता ऋत्विजः विप्रं मेधाविनं मरुद्गणम् अनु अतक्षत हविष्प्रदानादिना तीक्ष्णीकुर्वन्ति। अतक्षत तक्षू त्वक्षू तनूकरणे, छान्दसो लङ् व्यत्ययेन मध्यमः। अतक्षत=अतक्षन्-सायण।

२७ दक्षः सर्वकार्यसमर्थस्त्वं सचते सेवसे। षच समवाये, पुरुषव्यत्ययः-सायण।

२८ तं दक्षः बलं वृद्धिर्वा सचते सेवते, बलं वृद्धिं वा प्राप्नोतीत्यर्थः, कविः मेधावी-स्कन्द।

२९ यः सोम! तव सख्ये रमते देव! मनुष्यः, तं समर्थः स्तोता सेवते स्तोतुम्-वेंकट।

३० काव्यः कवेः पुत्रः उशना मन्दिनं मदकरं यं वज्रं ते तुभ्यं दात् दत्तवान्, तं वज्रं वृत्रहणं वृत्रस्यासुरस्य घातकं, पार्यं शत्रूणां पारणेऽतिक्रमणे समर्थं च ततक्ष कृतवानसि। ततक्ष, तक्षू त्वक्षू तनूकरणे, पुरुषव्यत्ययः-सायण।

३१ यच्छब्दश्रुतेस्तच्छब्दोऽध्याहार्यः। तम् ततक्ष, तक्षतिः करोतिकर्मा, शुद्धोऽपि सोपसर्गार्थो द्रष्टव्यः। लोडर्थे लिट्। मध्यमपुरुषस्य स्थाने प्रथमपुरुषः। अस्मदीयशत्रुवधार्थं संस्कुरु, निश्येत्यर्थः-स्कन्द।

३२ यम् च ते कविपुत्रः उशना मदयितारम् अदात् तं चादत्स्व, काव्यः इन्द्राय शत्रूणां हन्तारं युद्धपारगमनहेतुभूतम् अकरोत् वज्रम् इति-वेंकट।

३३ आत् प्रवृद्ध्यनन्तरम् अस्य अग्नेः ते सूरयः सरणयो मार्गाः कृष्णासः कृष्णवर्णा भवन्ति। यत एवं भवन्ति तदर्थं दक्षि दहति काष्ठान्। पुरुषव्यत्ययः-सायण।

३४ अग्निम् अङ्गनादिगुणदिगुणविशिष्टं दूतं दूतकर्म प्राप्तवन्तं त्वां प्रति यत्कार्यम् अब्रवीतन अब्रुवन्। व्यत्ययेन मध्यमः-सायण।

३५ यद्वा ऋषेरिदं वाक्यम्। हे ऋभवः! यूयमागतमग्निं दूतं प्रति यदब्रवीतन यत्कार्यं वक्ष्यमाणरूपं कर्तव्यत्वेन वदथ अंगीकुरुथ, तानि सर्वाणि सम्पाद्य हे भ्रातरग्ने कृत्व्या कर्मणा एमसीति ब्रूथ इति ऋषिराह-सायण।

३६ तमु तमेव इन्द्रं स्तुषे स्तौमि तथा तमिन्द्रं गृणीषे शंसामि। उभयत्र पुरुषव्यत्ययः-सायण।

३७ यः ब्रह्मणस्पतिः अवरे निकृष्टे वृजने वर्जनहेतुभूते बले वर्तमानम्, दुर्बलमिति यावत्, महान् उ महान्तं च, उभयविधं स्तोतारं शवसा आत्मीयेन बलेन ववक्षिथ वोढुमिच्छति, सर्वदा वहतीति यावत्। वहतेः सन्नन्तस्य लिटि एतद् रूपम्। पुरुषव्यत्ययः-सायण।

३८ यः त्वम् अवरे न्यूने वृजने विश्वथा विभुः महान् उ रण्वः बलेन वहसि। परोक्षः शेषः-वेंकट।

३९ किं चायं परिचारकः गम्भीराय महाबलाय रक्षसे राक्षसाय हेतिं घातकमायुधम् अस्य क्षिपति। प्रथमपुरुषस्य मध्यमपुरुषेण व्यत्ययः-सायण।

४० हे अध्वर्यवः! यूयम् ईळेन्यं स्तुत्यम्-मनुना प्रजापतिना समिद्धम् अग्निम् अध्वराय यज्ञाय सदमित् सदैव सं महेम संपूजयत। मध्यमपुरुषस्य व्यत्ययेनोत्तमपुरुषत्वम्-सायण।

४१ तत् प्रसिद्धम् अद्य अस्मिन् यागकाले वः युष्मान् मनामहे याचामहे-यत् धनं हे ऋतस्य उदकस्य रथ्यः नेतारः यूयं वरुणादयः ओहते। यूयमित्यनेन सामानाधिकरण्यात् 'ओहते' इत्यत्र पुरुषव्यत्ययः, 'ओहध्वे' इत्यर्थः-सायणः।

४२ ईदृशौ अश्विना अश्विनौ नः अस्माकम् ऊतये रक्षणाय कण्वासः कण्वगोत्रा वयं स्तुषे स्तुमहे, पुरुषवचनयोर्व्यत्ययः-सायण।

४३ यद्वा, कण्वास इति पूजार्थं बहुवचनम्। ऋषिरात्मानं सम्बोध्य ब्रूते-हे अन्तरात्मन्! कण्वासः कण्वगोत्रस्त्वं स्तुषे अश्विनौ स्तुहि।

४४ हे स्तोतारः प्रगायत सोमं प्रकर्षेणाभिष्टुत, तथा देवान् अभ्यर्चाय अभ्यर्चत, पुरुषव्यत्ययः-सायण। प्रगायत, अभि अर्चत देवान्-वेंकट।

४५ विमदाः विमदनामानो वयं स्तोमं स्तोत्रविशेषम् अजीजनन् जनितवन्तः, कृतवन्त इत्यर्थः। अत्र पूर्वोत्तरयोरेकवाक्ययोः पुरुषव्यत्ययः-सायण।

४६ कारुः स्तोता सिन्धुक्षिदहं विवस्वतः परिचरणवतो यजमानस्य सदने यज्ञगृहे सु सुष्ठु प्रवोचामि प्रब्रवीमि-सायण।

४७ स इन्द्रः ब्राधतः महतोऽपि शत्रून् शवसानेभिः बलमात्ररद्भिरायुधैः अस्य अस्यतु। असु क्षेपणे, व्यत्ययेन मध्यमः-सायणः। सः महतः शत्रून् बलवद्भिः आयुधैः अस्यति-वेंकट।

४८ अयम् इन्द्रः दशस्यन् स्तोतृभ्यो धनं प्रयच्छन् नर्येभिः नर्यैः नृहितैः मरुद्भिः अस्य अस्यति। छान्दसस्तिपो लोपः, यद्वा व्यत्ययेन लोण्मध्यमः- सायण। अयं दातुमिच्छन् नृहितैः मरुद्भिः सह अस्यति शत्रून्-वेंकट।

४९ इमा इमानि प्रदृश्यमानानि भुवना भुवनानि सीषधाम साधयामः वशीकुर्मः, कम् इति पूरकः। यद्वा- इमानि सर्वाणि भूतजातान्यस्मभ्यं कं सुखं सीषधाम साधयन्तु, पुरुषव्यत्ययः। इन्द्रश्च विश्वे सर्वे अन्ये देवाः च स्तुत्या प्रीता इममर्थं साधयन्तु-सायण। इमानि क्षिप्रं भुवनानि वयं साधयामः। अस्माकम इन्द्रः च विश्वे च देवाः तानि साधयन्तु इति-वेंकट।

Vaidika Vāg Jyotiḥ
ISSN 2277-4351

Vol.1, No.2 (36- 43) Jan-jun 2013

त्रिदोष-सिद्धान्त की वेदमूलकता

(दिनेशचन्द्र शास्त्री, प्रोफेसर एवम् अध्यक्ष-वेदविभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार)
dineshcshastri@gmail.com

आयुर्वेद सिद्धान्त एवं नाड़ी विज्ञान का आधार त्रिदोष है। आधुनिक वैज्ञानिक त्रिदोष को नहीं मानते एवं कुछ लोग उसे अप्रमाणिक समझते हैं। वात, पित्त और कफ-ये त्रिदोष ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, ब्राह्मणग्रन्थों तथा चरक, सुश्रुत आदि आर्ष-ग्रन्थों में वर्णित है। यह त्रिदोष-सिद्धान्त पूरी तरह वेदमूलक है क्योंकि जो वेद के द्वारा कहा गया है वही धर्म और वही मान्य होता है। अत: वेदों के द्वारा वात, पित्त और कफ-इन त्रिदोषों की सिद्धि करना आवश्यक है। वेदों में पृथक्-पृथक् और समष्टि रूप से दोषों की चर्चा की गयी है।

विस्तृत वैदिक वाङ्मय में त्रिदोष-सम्बन्धी अनेक मन्त्र हैं। **वात** (वायु) के सम्बन्ध में निम्नलिखित मन्त्र बहुत प्रसिद्ध है-

द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः। दक्षं ते अन्य आवातु व्य१न्यो वातु यद्रपः॥ (ऋग्०४.१३.२)

इस मन्त्र का ऋषि ***शन्ताति*** है और ***वायु*** देवता है। भावार्थ यह है कि प्रबल रूप से शरीर में दो प्रकार के वायु रहते हैं-प्राण और अपान। इनमें एक तो फुप्फुसों द्वारा रक्त को शुद्ध करता है और दूसरा शरीर से बाहर मलों को ले जाता है। इन दोनों में से 'एक तुझे बल प्रदान करे और दूसरा विकारों को शरीर से बाहर करे।' अथर्ववेद १०.२.७- **कति देवाः कतमे त आसन्य उरो ग्रीवाश्चिक्युः पूरुषस्य। कति स्तनौ व्य ʃ दधुः कः कफोडौ कति स्कन्धान्कति पृष्टीरचिन्वन्॥** इस मन्त्र में फुप्फुसों को कफोड़ कहा गया है। सारांश यह है कि प्राण और अपान ये दो प्रधान वायु हैं। ***बृहद्देवता*** नामक ग्रन्थ में इनको ***अश्विनौ*** कहा गया है।[१] 'शरीरतत्त्वदर्शन' में प्राण का स्थान मस्तिष्क बतलाया गया है, जो ज्ञान या संज्ञा वाहिनियों का मूल उद्गम स्थान है। 'अष्टांगहृदय' में भी प्राणवायु को ***ऊर्ध्वग*** कहा गया है। वेदों में भी कहा है-'**पवमानो अधिशीर्षतः**' अर्थात् प्राणवायु शीर्षस्थानीय है। प्राणवायु, बुद्धि, चित्त एवं इन्द्रियों को, हृदय को और हृदयगत भावों को अपने-अपने ईप्सित अर्थ की प्राप्त करने अथवा सिद्ध करने में प्रधान रूप से प्रेरक है। **अपान वायु** उदर के निचले प्रदेश में रहता है और शुक्र, आर्तव, मूत्र, पुरीष तथा गर्भ आदि का बाहर की ओर प्रेरक है। इसीलिये उसे अपान कहा गया है।[२] तात्पर्य यह है कि प्राणवायु बलदेता है और अपान मलों या दोषों को दूर करता है।

वात (वायु का निर्देशक) एक दूसरा मन्त्र इस प्रकार है-

आ वा॑त वाहि भेषजं वि वा॑त वाहि यद्रप॑:। त्वं हि विश्वभेषज देवानां दूत ईय॑से॥ (अथर्व०४.१३.३)

इसका ऋषि *'शन्ताति'* और देवता *'वायु'* है। सारांश यह है कि हे वायो! तुम सूक्ष्मतत्त्वों के साथ औषधि को शरीर में पहुंचाओ, क्योंकि तुम देवताओं के दूत हो।'

इस प्रकार वायु की महिमा एवं उसके कार्य के सम्बन्ध में अन्य अनेक मन्त्र वेदों में प्राप्त होते हैं। विस्तारभय से यहां उनका उल्लेख करना आवश्यक नहीं है।

त्रिदोष सिद्धान्त में आये **'पित्त'** से सम्बन्धित मन्त्रों का वर्णन इस प्रकार है-

सुपर्णो जात: प्र॑थमस्तस्य त्वं पित्तमा॑सिथ। तदा॑सुरी युधा जिता रूपं च॑क्रे वनस्पतीन्॥ (अथर्व०१.२४.१)

इस मन्त्र का ऋषि *'ब्रह्मा'* और *'आसुरी वनस्पति'* देवता है। भावार्थ यह है कि सूर्य अपनी किरणों से पित्त अर्थात् ऊष्मा को बढ़ाता है। वह पित्त सूर्य-किरणों द्वारा वनस्पतियों में संचित होता है और उसके=पित्त के द्वारा वनस्पतियों में जो परिपाक होता है, उसी से वनस्पतियों में बल और वर्ण की उत्पत्ति होती है। चरकसंहिता में कहा है कि पित्त, प्रभा और त्रर्णकारक है। वही अग्निरूप है।[3]

उप द्यामुप॑ वेतसमव॑त्तरो नदीना॑म्। अग्ने पित्तमपाम॑सि॥ (अथर्व०१८.३.५)

इस मन्त्र में द्यौ शब्द अवका के अर्थ में प्रयुक्त है, जो पानी का बूर या शैवाल कहा जाता है। शैवाल के सारभूत रक्षक अंश को अवत्तर कहते हैं। सारांश यह कि 'हे अग्ने! तू पानी से सम्बन्ध रखने वाला पित्त धातु है। वैजयन्तीकोश में भी पित्त को तैजस् कहा है।[4] आयुर्वेद के आचार्य भी कहते हैं कि ' अग्नि तत्त्व और जलतत्त्व के संयोग से पित्त बनता है।' इस समय प्रचलित तैजस् आप-तेजाब को भी पित्तस्थानीय ही जानना चाहिये।

यजुर्वेद के-**उप ज्मन्नुप॑ वेतसेऽव॑तर नदीष्वा। अग्ने॑पित्तमपाम॑सि मण्डूकि ताभिराग॑हि सेमं नो॑ यज्ञं पा॑वकवर्णꣳशिवं कृ॑धि ॥** (यजु०१७.६)-मन्त्र में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि *'पित्तमपामसि'* अर्थात हे अग्ने! तू जल का पित्त है।' इस पद से पित्त को जल का तैजस् रूप बतलाया गया है। *'मण्डूकि ताभिरागहि'* पद से यह दिग्दर्शन कराया गया है कि सभी जलमय प्राणी भीतर से ऊष्ण होते हैं। जैसे जल में रहने वाले मण्डूक भयंकर विषधर होते हैं। इसी प्रकार यजुर्वेद के अध्याय १९ मन्त्र ८५ में *'पित्तम्'* पद का प्रयोग किया गया है और २५वें अध्याय के सातवें मन्त्र में *'पित्तेन'* पद का प्रयोग मिलता है। चरक में भी कहा है- *'पाचिता: पित्ततेजसा'* पित्त की ऊष्मा से परिपाक होता है।

'कफ' (श्लेष्मा) प्रदर्शक मन्त्रों में-

अस्थिस्रंसं प॑रुस्रंसमास्थि॑तं हृदयामयम् । बलासं सर्वं॑ नाशयाङ्गेष्ठा यश्च पर्व॑सु॥ (अथर्व०६.१४.१) यह मन्त्र प्रमुख है। इस मन्त्र का ऋषि *'बभ्रुपिङ्गल'* और *'बलास'* देवता है। इसका भावार्थ यह है कि अस्थियों एवं अस्थिसन्धियों को शिथिल करने वाले, हृदय में अंगों की सन्धियों में रहने वाले बलास अर्थात् कफ को नष्ट करो।

इस मन्त्र में हृदय को कफ का अधिष्ठान माना गया है। सुश्रुत ने भी '**कफप्रसादजं हृदयम्**' कहते हुए हृदय को कफसंस्थान माना है। वेद ने भी हृदय और कफ का सम्बन्ध स्वीकार किया है।

वैदिक **बलास** शब्द कफ का वाचक है। इसके दो अर्थ हैं-१. कफ और २. कफक्षय। बलस्य आस:=स्थानम्-बलास:, अर्थात् बल का आश्रय, विशुद्ध कफ। यह 'आस उपवेशने' धातु से 'घञ्' प्रत्यय होकर बना है। दूसरे, बलस्य आस:= नाशक:-अर्थात् बल का नाशक। यहाँ 'असू क्षेपणे' धातु से 'घञ्' प्रत्यय होता है।

चरक ने भी इसे स्वीकार किया है- 'प्राकृतिक कफ बल है और विकृत कफ मल है।'[५] यही विकृत कफ बलनाशक है।

इस प्रकार अथर्ववेद के इस सूक्त ६.१४ (बलास:) में कफ सम्बन्धी और मन्त्र भी हैं जो कि इस प्रकार हैं-

निर्बलासं बलासिनः क्षिणोमि मुष्करं यथा। छिनद्म्यस्य बन्धनं मूलमुर्वार्वाइव॥ २॥

निर्बलासेतः प्र पताशुङ्गः शिशुको यथा। अथो इटइव हायनोप द्राह्यवीरहा॥ ३॥

अथर्ववेद के एक मन्त्र में त्रिदोष का प्रयोग हुआ है। वह मन्त्र इस प्रकार है-

मुञ्च शीर्षक्त्या उत कास एनं परुष्परुराविवेशा यो अस्य। यो अभ्रजा वातजा यश्च शुष्मो वनस्पतीन्त्सचतां पर्वतांश्च ॥

१.१२.३॥

इस मन्त्र का ऋषि **भृग्वङ्गिरा** और **यक्ष्मनाशन** देवता है। भावार्थ यह है कि हे यक्ष्मनाशन देव! इस रोगी को शिर:स्थूल से और कासरोग (खांसी) से मुक्त करो। इस रोगी के पोर-पोर में संचित कफजन्य विकारों, वायु से उत्पन्न होने वाले रोगों और पित्त से उत्पन्न होने वाले रोगों के लिये वृक्ष, वनस्पति तथा पर्वतों का सेवन करो।[६] अथर्ववेद में और भी कहा है-

शतधारं वायुमर्कं स्वर्विदं नृचक्षसस्ते अभि चक्षते रयिम्। ये पृणन्ति प्र च यच्छन्ति सर्वदा ते दुह्रते दक्षिणां सप्तमातरम् ॥

(१८.४.२९)

इस मन्त्र का तात्पर्य यह है कि वे (आयुर्वेद के विशारद) असंख्य नाड़ी स्रोतों से बहते हुए वायु को, सूर्य देवताक अग्नि-पित्त को और सोम देवताक पुष्टिकारक कफ को तर्क वितर्क के द्वारा भली-भांति जानते हैं, ये तीनों (वात-पित्त और कफ) रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र-इन सात धातुओं के निर्माणकर्त्ता हैं। इस प्रकार ये त्रिदोष प्रकृतिस्थ होकर पालन करते हैं और कुपित होकर विविध प्रकार की व्याधियों को उत्पन्न करते हैं। ये वात, पित्त और कफ, शरीर को सदा पूर्ण करते रहते हैं या भरते रहते हैं। इस मन्त्र में ***शतधार*** पद आया है। यहाँ **शत** शब्द का अर्थ **बहुत** है। वैदिककोश निघण्टु में **बहुत** के पर्यायों में शत शब्द का प्रयोग किया गया है।

चरकसंहिता के सूत्रस्थान, अध्याय १८ में कहा है कि "त्रिदोष प्राणियों के शरीर में सर्वदा रहते हैं। विद्वान् वैद्य उन्हें 'प्रकृतिस्थ हैं या विकृत हैं', यह जानने का यत्न करें।"[७]

सुश्रुत के सूत्रस्थान में भी लिखा है कि 'वायु, पित्त और कफ- इन तीनों से शरीर का निर्माण हुआ है। वे अविकृत रहने पर शरीर की कर्तृत्व शक्ति को बनाये रहते हैं।[८]

चरक के विमानस्थान में लिखा है- "वात, पित्त और कफ-ये तीन दोष हैं, ये प्रकृतिस्थ रहने पर शरीर को बढ़ाते हैं, अपने इष्टसाधन की शक्ति को भी बनाये रहते हैं और शरीर की इष्ट सिद्धि में सहायक होते हैं।[९]

सूत्रस्थान में लिखा है कि शरीर में प्रकृतिभूत ये त्रिदोष आरोग्य प्रदान करते हैं और विकृत होने पर वे ही विकार कहे जाते हैं। त्रिदोष का प्रकृतिस्थ रहना ही आरोग्य है।[१०]

सुश्रुत के सूत्रस्थान में कहा गया है कि जैसे वायु, सूर्य और चन्द्रमा परस्पर विसर्ग आदान और विक्षेप करते हुए जगत् को धारण करते हैं, उसी प्रकार वात, पित्त और कफ शरीर को धारण करते हैं।[११]

त्रिदोष के विशेष परिचय के लिये चरकसंहिता सूत्रस्थान के बारहवें **वातकलाकलीय** अध्याय को देखना आवश्यक है। ऋग्वेद के निम्न मन्त्र-**त्रिर्नो अश्विना दिव्यानि भेषजा त्रिः पार्थिवानि त्रिरु दत्तमद्भ्यः। ओमानं शंयोर्ममकाय सूनवे त्रिधातु शर्म वहतं शुभस्पती॥** (१.३४.६) में *त्रिधातु* पद का प्रयोग किया गया है। इस पर भाष्य करते हुए आचार्य सायण ने लिखा है-'हे सुन्दर जगत् के पालन करने वाले अश्विनी कुमार! तुम वात, पित्त और श्लेष्म इन तीन धातुओं का भलीभांति प्रशमन करो।

उसी के प्रथम मण्डल के ८५वें सूक्त में आये हुए **या वः शर्म शशमानाय सन्ति त्रिधातूनि दाशुषे यच्छताधि।** (१.८५.१२) इस मन्त्र में पठित *त्रिधातूनि* पद का अर्थ करते हुए महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वात, पित्त, कफ और लोहा, सोना तथा चांदी-दोनों अर्थ किये हैं।[१२]

उक्त प्रमाणों से यह नितान्त स्पष्ट है कि वेदार्थ प्रक्रिया में आयुर्वेद के मूलाधार त्रिदोष की व्यवस्था सर्वत्र सम्मान्य थी। *त्रिधातु* शब्द का लोक में भी वात, पित्त, कफ के अर्थ में प्रयोग है यथा-**यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके।**

महाभारत के युद्धपर्व में लिखा है 'हे राजन्! संग्राम में शत्रुओं के साथ अभिमन्यु का परस्पर ऐसा युद्ध हुआ, जिस प्रकार शरीर का वात, पित्त और कफ से हुआ करता है।[१३]

इससे यह सिद्ध होता है कि महाभारत काल में भी चिकित्सा-पद्धति का आधार त्रिदोष था। अथर्ववेद के निम्न मन्त्र-**द्रप्सश्चस्कन्द पृथिवीमनु द्यामिमं च योनिमनु यश्च पूर्वः। समानं योनिमनु संचरन्तं द्रप्सं जुहोम्यनु सप्त होत्राः॥** (१८.४.२८) में वात, पित्त और कफ-इनको शरीरोत्पत्ति का कारण कहा गया है। अर्थात् "प्रवृत्तिमान जीव[१४], द्यावापृथिवी की उत्पत्ति के अनन्तर मनुष्यादि योनियों को प्राप्त करता है, जो नित्य है। स्वकर्मानुसार भिन्न-भिन्न योनि को ग्रहण करते हुए जीव की स्थिति के लिये रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र रूप सात धातुओं को शरीर के अंवयवों के लिये सर्जन करता हूँ।[१५] सुश्रुत में शरीर के

धारक होने के कारण त्रिदोष को भी धातु कहा है।[१६]

इस प्रकार वेद, ब्राह्मणादि सत्य शास्त्रों से त्रिदोष-विज्ञान की वेदानुकूल विश्वव्यापकता स्वतः सिद्ध है! काश्यपसंहिता नामक कौमारभृत्यतन्त्र में त्रिदोष में प्रत्येक के दो-दो देवता माने जाते हैं। जैसे आकाशतत्त्व और वायुतत्त्व के योग से वात (वायु) नामक दोष आश्रित है। अग्नि और आदित्य के आश्रित पित्त दोष है और कफ, सोम और वरुण के गुणों का आश्रय करता है।

वैदिक संहिताओं, शाखाओं एवं ब्राह्मणग्रन्थों में अग्नि, सोम और वायु के जिन-जिन गुणों तथा विशेष कर्मों का वर्णन किया गया है, वे इस प्रकार है

वायु का स्वरूप-

यह सारा विश्व अन्तरिक्ष से व्याप्त है। यह छिद्र ही अन्तरिक्ष है। यह जो बाहर आकाश है, वही तुझमें और मुझमें है। अग्नि अन्तरिक्ष तथा वायु के आश्रय पर है। जहां-जहां वायु चलता है, वहां वहां आकाश है। वायु गतिशील है, और वायु ही पृथक् पृथक् पदार्थों को अवस्थित करता है। वात का पर्यायवाची वायु शब्द है, जो वायु है, वह इन्द्र है, जो इन्द्र है वह वायु है। वायु का नाम ही जातवेदा है, जो कुछ जगत् में क्रियामय दीख रहा है, वह सब वायु का ही महात्म्य है। जो यह आकाश में चलता है, वह वायु है। वायु ही ताक्ष्र्य है। स्वर्गलोक का वहन करने वाला ताक्ष्र्य वायु ही है। वायु ही तीनों लोकों में व्यापक है, अतः वह आशुत्रिवृत् है। वायु ही विश्वकर्मा है, वायु ही सब कुछ करता है। यह पवित्र करने वाला वायु है। वायु ही प्राण है। प्राणवायु भी वायु के आश्रय पर है। मन ही प्राण बनकर दक्षिण की ओर खड़ा हुआ था। तीनों लोक एक प्रकार की नगरी है, उसमें रहने से वायु का नाम पुरुष है। वायु सब देवताओं की आत्मा है। वायु ही आकाश का स्वामी है। वायु ही अन्तरिक्ष का आधार है। यह एक ही वायु पुरुष में प्राण, उदान तथा व्यान तीन प्रकार से है।[१७]

अग्नि का स्वरूप-

तेजःस्वरूप का नाम अग्नि है। तप का नाम अग्नि है। अग्नि ही देवताओं का जठर है। अग्नि ही सब कुछ खाने योग्य बनाती है। अग्नि ही मैथुन तथा प्रजनन का स्वामी है। यह दृश्यमान जगत् अग्निरूप है। अग्नि ही देवताओं का यष्टा है। अग्नि ही देवताओं का दूत है। अग्नि ही देवताओं का दूत था। अग्नि ही शीत की ओषधि है। शुद्ध अग्नि ही यश है।[१८]

आदित्य का स्वरूप-

आदित्य चक्षु है। आदित्य ही देवलोक है। आकाश में जो अकेला चलता है, वह आदित्य है। जो पूर्व में उदय होता है वह आदित्य है। आदित्य ही असंख्या रश्मियां है अथवा ये सर्प ही आदित्य है।[१९]

सोम का स्वरूप-

नक्षत्रों का स्वामी चन्द्रमा सोम कहलाता है। चन्द्रमा ही सोम है। वृत्र ही सोम था। पितृलोक का नाम सोम है। रात्रि का नाम सोम है। यह वट वृक्ष भी तिरोहित रूप में सोम है। दही का नाम सोम है। रस का नाम सोम है। सोम 'चन्द्रमा' राजा सब नक्षत्रों को प्राप्त करता

है। सोम अन्तरिक्ष देवता है। सोम ओषधियों का अधिराजा है।[20]

वरुण का स्वरूप-

पानी में दीखने वाला सूर्य ही वरुण है। वरुण का स्थान जल है। रात्रि का नाम वरुण है। मित्रावरुण का प्रिय स्थान द्यावापृथिवी है। यह पृथिवीलोक मित्र है और यह द्युलोक वरुण है।[21]

अथर्ववेद में वात, पित्त और कफ-ये तीन शरीर के मूल तत्व कहे हैं। इनमें से वात को जीवन तथा शरीर की बाह्य और आन्तरिक क्रियाओं का आधार कहा गया है। पित्त शरीर की ऊष्मा बनकर रस आदि धातुओं को प्राप्त हो, उनका परिणाम करता रहता है तथा शरीर में कान्ति बनाये रखता हैं। कफ शरीर में धातुओं का उपचय या संग्रह करता है एवं शरीर का पोषण करता है। इस प्रकार उक्त वात आदि प्रकृतिस्थ या स्वाभाविक अवस्था में रहते हुए शरीर के रक्षक होते हैं और विकृत होकर घातक बनते हैं। इस प्रकार वेदानुसार समस्त रोगों का प्रथम तथा सामान्य कारण धातुवैषम्य अर्थात् वात, पित्त, कफ, धातुओं की विषमता- अयोग्य स्थिति है। अथर्ववेद १.१२.३ **यो अभ्रजा वातजा यश्च शुष्मो वनस्पतींन्त्सचतां पर्वतांश्च**। अर्थात् जो रोग वात से उत्पन्न वातिक, जिसका वात कारण है (वातव्यः) पित्त से उत्पन्न पैत्तिक, जिसका पित्त कारण है (शुष्मः) और जो कफ से उत्पन्न श्लैष्मिक, जिसका श्लेष्मा या कफ कारण है[22] (अभ्रजाः) उस ऐसे रोग से रोगी को मुक्त करना चाहिये, वह ऐसे कि उक्त रोगी वनस्पतियों आदि और पर्वतों पर्वतस्थानों, पर्वतों-पाषाणों अभ्रक गन्धक रत्न आदियों को सेवन करे।[23] अथर्ववेद के एक मन्त्र में ज्वर को श्लैष्मिक, पैत्तिक (रूरः, अग्निर्वै रूरः-तां०ब्रा०७.५.११) और वातिक बताया गया है।[24]

पाद-टिप्पणियां-

१ प्राणापानौ हि तौ स्मृतौ (बृहद्देवता ७.१२६)
तौ=अश्विनाविति शेषः।

२ प्राणः संज्ञावाहिनीनां मूले मूर्द्धन्यवस्थितः।
सूक्ष्मरूपो बुद्धिचित्तेन्द्रियाणां स हि साधकः॥
हृदादीनामिन्द्रियाणामभिप्रेतार्थ-साधने।
प्रमुखः प्रेरकश्चायं ततः प्राणः इति स्मृतः॥
उदरस्याधः प्रदेशः अपानाख्ये समाश्रितः।
शुक्रार्तवशकृन्मूत्र-गर्भनिष्क्रमणक्रियः॥
अधःसमीरणादुक्त अपानाख्यः समीरणः॥
शरीरतत्त्वदर्शनतः, श्रीसत्यदेववसिष्ठ द्वारा लिखित 'नाडीतत्त्वदर्शन' के पृष्ठ ४ पर उद्धृत

३ प्रभावर्णकरो हि सः।

४ तेजोऽपिपत्तमपां पित्तम्, वै०को०लोकपालाध्यायः, श्लोक १९

५ प्राकृतस्तुबलं श्लेष्णा विकृतो मल उच्यते।

६ द्रः नाडीतत्त्वदर्शन, प्रथमोऽध्यायः, सत्यदेवोवासिष्ठ, पृ०७

७ नित्याः प्राणभृतां देहे वातपित्तकफास्त्रयः।
विकृताः प्रकृतिस्था वा तान् बुभुत्सते पण्डितः॥
च०सू०अ०१८.५०

८ वात-पित्त-श्लेष्माण एव देह-सम्भव-हेतवः।
तैरेवाव्यापन्नैः शरीरमिदं धार्य्यते॥ सुश्रु०सू०अ०२१, अनु०३

९ दोषाः पुनस्त्रयो वात-पित्त-श्लेष्माणाः। ते प्रकृतिभूताः शरीरोपकारका भवन्ति। विकृतिमापन्नास्तु

खलु नानाविधैर्विकारैः शरीरमुपतापयन्ति। च०, वि०, १.५

१० सर्वशरीरचरास्तु...प्रकृतिभूता:...विकृतिमापन्ना विकारसंज्ञकानि । च०, सू०, २०.९

प्रकृतिभूतानां खलु वातादीनां फलमारोग्यम्, च०, शा०, ६.१८

११ विसर्गादान-विक्षेपैः सोमसूर्यानिलायथा।
धारयन्ति जगद्देहं वात-पित्त-कफास्तथा।। सु०, सू०, २१.९

१२ त्रयां वात-पित्त-कफा येषु शरीरेषु वाऽयः सुवर्णरजतानि येषु धनेषु तानि।

१३ अभिमन्योस्ततस्तैस्तु तथा युद्धमवर्त्तत।
शरीरस्य यथा राजन्! वात-पित्त-कफैस्त्रिभि:॥ ६.८१.४१॥

१४ स्वामी ब्रह्ममुनि ने निम्न प्रकार अर्थ किया है-
संसार में मोह करने वाला जीव (दृप मोहने)-अनीशया शोचति मुह्यमान: (मु०उप०३.१.२)
द्र: अथर्ववेदीय चिकित्साशास्त्र, पृ०२५

१५ द्रप्सः =प्रवृत्तिमान जीवः, दृप हर्षमोहनयोः, दिवादिः। पृथिवीं द्याञ्चानु= द्यावापृथिव्योरुत्पत्त्यन्तरं योनिमनु= मनुस्यादि-योनिम्, चस्कन्द प्राप्नोति, यश्च पूर्वः=यश्च नित्योऽस्ति। समानं योनिमनु= स्वकर्मानुसारं योनिं, सञ्चरन्तम्- गृह्णन्तम्, द्रप्सं=मोहप्रवृत्तिमन्तं जीवं, सप्तहोत्रा अनु= रसरक्तमांमेदोऽस्थिमज्ज-शुक्ररूपात्मान सप्तधातून्, शरीरावयवान् प्रति, जुहोमि-सृजामीत्युपदिशतीश्वरः। होत्राः=अङ्गानि। अत्र प्रमाणम् अङ्गानि वाव होत्राः' गोपथब्राह्मणे उत्तरार्द्धे, (६.६)-नाडीतत्त्वदर्शन, प्रथमोऽध्यायः, सत्यदेवो वासिष्ठः, पृ०१०

१६ त एते शरीरधारणात् धातव इत्युच्यन्ते-सु०सू०, १४.२१

१७ अन्तरिक्षेणेदं सर्वं पूर्णम्-तां०ब्रा०१५.१२.२
छिद्रमेवेदमन्तरिक्षम्-तां०ब्रा० १.१०.२, २१.७.२

अयम्म आकाशः स मे त्वयि जैमि०ब्रा०उ०१.२०.२

अन्तरिक्षमस्याग्नौ श्रितम्। वायोः प्रतिष्ठा तैत्ति०ब्रा०३.११.१.८

स एवायं पवते (वायुः), एतदेवान्तरिक्षम् जैमि०ब्रा०उप०१.२०.२

अयं वै वायुर्योऽयं पवते, एष वा इदं सर्वं विविनक्ति यदिदं किञ्च विविच्यते शत०ब्रा०१.१.४.२२

वातो (यजुः १५.६२) हि, वायुः-शत०८.७.३.१२

यो वै वायु स इन्द्रः, य इन्द्रः, स वायुः शत०४.१.३.१९

वायुर्वै जातवेदा वायुर्हीदं सर्वं करोति यदिदं किञ्चन-ऐत०ब्रा०२.३४

योऽयं पवते एष द्युतानो मारुतः-शत०३.१.१६

वायुर्वै ताक्ष्र्यः-कौषीतकि ब्रा०३०.५

अयं वै ताक्ष्र्यो योऽयं पवते एष स्वर्गस्य लोकस्याभिवोढा-ऐत०ब्रा०४.२०

वायुर्वा आशुस्त्रिवृत्, स एष त्रिपु लोकेषु वर्तते शत०ब्रा०८.४.१.१९

अयं वै वायुः विश्वकर्मा योऽयं पवते शत०ब्रा०८.१.१.७

एष हीदं सर्वं करोति-शत०ब्रा०८.१.१.७, ८.६.१.१७

वायुर्वै प्राणः-कौषीतकि ब्रा०८.४

वायुर्हि प्राणः-ऐत०ब्रा०२.२६, ३.२

वायुर्वै प्राणे श्रितः-तैत्ति०ब्रा०३.१०.४.८

मनो हि वायुर्भूत्वा दक्षिणतस्तस्थौ शत०ब्रा०८.१.१.७

इमे वै त्रयो लोकाः पूः, अयमेव पुरुषो योऽयं पवते, सोऽस्यां पुरि शेते, तस्मात् पुरुषः शत०ब्रा०१३.६.२.१

सर्वेषामु हैष देवानामात्मा यद्वायुः शत०ब्रा०९.१.२.३८

वायुर्वै नभस्पतिः -गो०ब्रा०, उ०४.९
वायुर्वान्तरिक्षस्याध्यक्षः- तै०ब्रा०३.२.१.३
सोऽयं वायुः पुरुषेऽन्तःप्रविष्टस्त्रेधा विहितः प्राण उदान व्यान इति- शत०३.१.२.२०
१८ तेजो वा अग्निः -शत०ब्रा०२.५.४.८
तपो वा अग्निः -शत०ब्रा०३.४.३.२
अग्निर्वै देवानां जठरम्- तै०ब्रा०२.७.१२.३
अग्निर्वै सर्वमाद्यम्- तां०ब्रा०२५.९.३
अग्निर्वै मिथुनस्य कर्त्ता प्रजनयिता च- शत०ब्रा०३.४.३.४
इयं पृथिवी वा अग्निः -शत०ब्रा०७.३.१.१२
अग्निर्वै देवानां यष्टा- शत०ब्रा०३.३.७.३
अग्निर्हि देवानां दूत आसीत् -शत०ब्रा०१.४.१.३४
अग्निरेव देवानां दूत आस- शत०ब्रा०३.५.१.२१
अग्निर्हिमस्य भेषजम्- यजु०२३.४६
अग्निर्वै यशः -तै०ब्रा०३.९.५.४
१९ चक्षुरादित्यः- शत०ब्रा०३.२.२.१३
देवलोको वा आदित्यः -कौषीतकि ब्रा०५.७
असौ वा आदित्य एकाकी चरति- आदित्य उदयनीयः -शत०ब्रा०३.२.३.६
सहस्रं हैत आदित्यरश्मयः -जैमि०ब्रा०उप०१.४४.५
सर्प्पा वा आदित्याः -तां०ब्रा०२५.१५.४
२० सोमो राजा चन्द्रमाः -शत०ब्रा०१०.४.२.१
चन्द्रमा वै सोमः- कौषी०ब्रा०१६.५, तै०१.४.१०.७, श०१२.१.१.२

वृत्रो वै सोम आसीत्- शत०ब्रा०३.४.३.१३; ३.९.४.२
पितृलोकः सोमः- कौषी०ब्रा०१६.५
सोमो रात्रिः -शत०ब्रा०३.४.४.१५
परोक्षमिव ह वा एष सोमो राजा यन्न्यग्रोध इति- ऐत०ब्रा०७.३१
सोमो वै दधि- कौषी०ब्रा०३.८,९
रसः सोमः -शत०ब्रा०७.३.१.३
तस्मात् सोमो राजा सर्वाणि नक्षत्राण्युपैति- षड्विंश ब्रा०३.१२
अन्तरिक्षदैवत्या हि सोमः -गो०ब्रा०, उ०२.१४
११. सोमो वै ओषधीनामधिराजः -कौषी०ब्रा०४.१२
२१ स वा एष (सूर्य्यो)ऽपः प्रविश्य वरुणो भवति कौषी०ब्रा०१८.९
अप्सु वै वरुणः -तै०ब्रा०१.६.५.६
रात्रिर्वरुणः -ऐत०ब्रा०४.१०
द्यावापृथिवी वै मित्रावरुणयोः प्रियं धाम- तां०ब्रा०१४.२.४
अयं वै (पृथिवी) लोको मित्रोऽसौ (द्युलोको) वरुणः- शत०१२.६.२.१२
२२ शुष्मः शोषकः पित्तविकारजनित अभ्रजाः श्लेष्मरोगाः (सायणः)
२३ द्र : स्वामी ब्रह्ममुनि, अथर्ववेदीय चिकित्साशास्त्र, पृ०३८-३९
२४ अथर्व०५.२२.१०

Vaidika Vāg Jyotiḥ
ISSN 2277-4351

Vol.1, No.2 (44-54) Jan-jun 2013

वेदों की अपौरुषेयता के सन्दर्भ में :

बरमूडा-त्रिकोण का रहस्य

(पृथिवी के गर्भ में छिपा एक दैत्याकार लौह-स्तम्भ)

एम०एल० गुप्ता, सेवानिवृत्त प्रधानाचार्य, एस०एस०जे० स्नातकोत्तर कॉलेज, भरतपुर (राज०)

बरमूडा त्रिकोण का रहस्य वर्षों पुरानी एक ऐसी अनबूझ समस्या है, जिसे संसार का कोई वैज्ञानिक अभी तक सन्तोषजनक रूप से हल नहीं कर पाया है। इस समस्या को कुछ वर्ष पूर्व ही राजस्थान-पत्रिका के २ मार्च सन् २००८ के रविवारीय संस्करण में छपे एक लेख में 'कोई अजूबा है यह' शीर्षक से पुन: प्रकाश में लाया गया है जिसमें लेखिका क्षिप्रा माथुर ने बरमूडा त्रिकोण के क्षेत्र में सैंकड़ों जहाजों तथा वायुयानों के समुद्र में विलुप्त हो जाने का वर्णन किया है मानों कोई दैत्य उन्हें निगल गया हो। यह क्षेत्र इसी कारण बहुत वर्षों के कुख्यात रहा है। जहाजों और वायुयानों के विलुप्त हो जाने का कोई निश्चित वैज्ञानिक कारण ज्ञात न होने से यह अभी तक एक रहस्य बना हुआ है तथा इसी कारण इस क्षेत्र को एक अजूबा कहा गया है। लेख में कुछ वैज्ञानिकों द्वारा जहाजों के समुद्र में डूबने का कारण वहाँ मीथेन गैस के सशक्त बुलबुले उठना बताया गया है, जो वायुयानों के लिये तो हास्यापद ही है, जलयानों के लिये भी कोई उचित कारण प्रतीत नहीं होता। फिर वहाँ मीथेन गैस के बुलबुले उठने अथवा वहाँ मीथेन गैस का ज्वालामुखी होने और उसके समुद्र में डूब जाने का कोई कारण भी स्पष्ट नहीं किया गया है।

वैसे तो परमात्मा की बनायी हुई सम्पूर्ण सृष्टि ही एक अनबूझा रहस्य है परन्तु पृथिवी पर ही घटित हुई, बरमूडा त्रिकोण की घटनाओं के अतिरिक्त, अनेकों ऐसी रहस्यपूर्ण घटनाएं हैं जिनका वैज्ञानिक अभी तक कोई समाधान नहीं खोज पाये हैं, जैसे डायनौसोर प्रजाति का लगभग १० करोड़ वर्ष तक पृथिवी पर छाये रहना तथा लगभग ७ (सात) करोड़ वर्ष पूर्व लुप्त हो जाना, पृथिवी की आयु अरबों वर्ष होने पर भी उस पर मनुष्य प्रजाति का उद्भव लगभग ५० हजार वर्ष पूर्व ही होना, समुद्रतल में तथा पृथिवी पर लगभग ९००० मील व्यास के क्षेत्र में अत्यन्त चमकीले छोटे व बड़े धातु-मिश्रित पाषाण खण्डों (Tektites) का मिलना तथा उनके उद्भव का कोई पता न लग पाना, पृथिवी के अक्ष का उसके परिभ्रमण कक्ष की लम्बवत् दिशा से $23^{1/2°}$ झुका हुआ होना आदि। इसका कारण यही है कि ये सभी घटनाएं सृष्टि-प्रक्रिया से सम्बन्धित हैं, जिनका कोई निश्चित ज्ञान आधुनिक विज्ञान के पास नहीं है। परन्तु हमारे सबसे प्राचीन ग्रन्थ वेद में जिसे अपौरुषेय ज्ञान कहा जाता है, सम्पूर्ण सृष्टि-प्रक्रिया का अत्यन्त विस्तृत वर्णन दिया गया है तथा इसी कारण वेद के गम्भीर अध्येता के लिये इनमें से कोई भी घटना अनबूझ पहेली नहीं है। इन सभी घटनाओं का वर्णन लेखक की पुस्तक 'वेद-

विज्ञान-मंजूषा' (१९८८ संस्करण) तथा अधिक विस्तार से उसकी अँगरेज़ी पुस्तक 'The Cosmic Yajña 'the true story of creation from the Vedas, unknown to Modern Science (1999 edition) में दिया गया है। इस लेख में हम राजस्थान पत्रिका के २ मार्च के अंक में छपें लेख के सन्दर्भ में सभी पाठकों के लिये बरमूडा त्रिकोण के रहस्य का उद्घाटन करेंगे जो चन्द्रमा के जन्म से सम्बन्धित है। इसके साथ ही पृथिवी के अक्ष का अपनी कक्षा की लम्बवत् दिशा से 23½° झुके होने का रहस्य भी स्वत: ही स्पष्ट हो जायेगा।

चन्द्रमा का जन्म-आधुनिक विज्ञान में चन्द्रमा के जन्म से सम्बन्धित कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं है। परन्तु वेद में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि चन्द्रमा की उत्पत्ति पृथिवी से हुई। ऋग्वेद के मन्त्र (१.१६४.३३) में चन्द्रमा स्वयं ही अपने माता-पिता की घोषणा करता है।

द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्। उत्तानयोश्चम्वो३र्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्॥

अर्थात् (सूर्य मेरा पिता व जनक है, मेरी (कक्षा की नाभि) भी यहीं सूर्य में है। यह महान् पृथिवी मेरी माता तथा मुझे बन्धन में बाँधने वाली है।)

पृथिवी तथा सूर्य किसी प्रकार चन्द्रमा के माता एवं पिता हैं, यह भी ऋग्वेद के मन्त्रों में (१.१६४.८ व ९) में स्पष्ट किया गया है। इन मन्त्रों का सार यही है कि अरबों वर्ष पहले जब सूर्य से प्रथम सात ग्रहों का जन्म हो चुका था तथा पृथिवी सम्भवत: लाखों वर्षों से सूर्य का परिभ्रमण कर रही थी, तब वह निरन्तर सूर्य के प्रचण्ड कण विकिरण (१०० प्रकार के परमाणु नाभिकों की धाराओं) तथा ऊर्जा विकिरण (अत्यन्त तीव्र गामा किरणों) से विद्ध हुई जिससे पृथिवी के अन्त: में स्थित तरल पदार्थ का रूपान्तरण होकर चन्द्रमा का पिण्ड बना तथा अत्यन्त उच्चकोटि का दाब उत्पन्न हुआ है।

सा बीभत्सुर्गर्भरसा निविद्धा ।

(ऋग्०१.१६४.८)

अर्थात् (पृथिवी माता सन्तुलित तथा गर्भरस-अत्यन्त उच्च ताप व दाबयुक्त तरल पदार्थ से परिपूर्ण थी, निरन्तर विद्ध हुई)।

इस स्थिति में जब वह अपनी कक्षा की दक्षिण धुरी (सूर्य से निकटतम स्थान) पर आई, (युक्ता मातासीद् धुरि दक्षिणाया- (ऋग्०१.१६४.९) तब सूर्य के तीव्र आकर्षण से चन्द्रमा का पिण्ड अपनी अर्धघन अवस्था से पृथिवी की ऊपरी सतहों के अवरोध को तोड़ता हुआ प्रचण्ड वेग से बाहर निकलने को उन्मुख हुआ तथा जैसे ही वह एक विशाल पर्वताकार रूप में बाहर निकला, उस ओर भार अधिक हो जाने के कारण पृथिवी उस ओर सूर्य के आकर्षण से झुक गई मानो माता पृथिवी ने पिता सूर्य को नमन किया हो, तथा एक ओर सूर्य का आकर्षण अधिक हो जाने के कारण तथा चन्द्रमा के निष्कासन की प्रतिक्रिया के प्रभाव से उसके अक्ष में सूक्ष्म घूर्णन तथा कम्पन की गतियाँ उत्पन्न हो गईं जैसे एक तीव्र गति से घूमते हुए लट्टू को तनिक झटके से छू देने पर होता है। उपर्युक्त वेदमन्त्र संख्या (ऋग्०१.१६४.८) के शेष अर्ध भाग में बताया गया है कि चन्द्रमा, पृथिवी से तीव्र वेग से निकलने

के पश्चात् आकाश के चारों ओर हजारों मील तक छाये हुए घने बादलों में स्थित हुआ क्योंकि उस समय महासागरों का सारा जल वाष्प रूप में मेघों में था।

चूंकि पृथिवी अपनी कक्षा की लम्बवत् दिशा से 23½° झुकी हुई है, इससे सिद्ध होता है कि पृथिवी पर वह स्थान जहां से चन्द्रमा का विशाल पिण्ड पृथिवी से निकला 23½° अक्षांश पर ही स्थित है जिससे पृथिवी से चन्द्रमा के निकलते समय पृथिवी के अक्ष के झुकने पर उसका यह सबसे स्थूल भाग सूर्य के आकर्षण की ठीक सीध में आ गया।

बरमूडा त्रिकोण की स्थिति-पृथिवी के ग्लोब मानचित्र को देखने पर पता चलता है कि बरमूडा त्रिकोण जो दक्षिण में मियामी (फ्लोरिडा), प्यूरेटोरीको तथा उत्तर में अधिकतम बरमूडा तक फैला हुआ है, का मुख्य भाग 23½° अक्षांश पर ही स्थित है। इससे स्पष्ट संकेत मिलता है कि बरमूडा त्रिकोण की घटनाओं का चन्द्रमा की उत्पत्ति की घटना से सीधा सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में यही वह स्थान है जहाँ से चन्द्रमा पृथिवी से निकला, तथा उसकी उत्पत्ति ने निश्चय ही किसी ऐसी अदृश्य शक्ति को जन्म दिया जो जलयानों तथा वायुयानों को दूर से ही अपनी ओर आकर्षित कर, उन्हें समुद्र में खींच लेती है। यह शक्ति कौनसी है तथा वह कैसे उत्पन्न हुई है, यह ऋग्वेद के मन्त्र (१.११६.१५) में वेद की प्रतीकात्मक शैली में बताया गया है। इस मन्त्र के आशय को समझने से पहले वेद के कुछ प्रतीकात्मक शब्दों को समझना आवश्यक है।

वेद की प्रतीकात्मक शब्दावली-वेद में चन्द्रमा, सूर्य और पृथिवी के लिये कुछ प्रतीकात्मक शब्दों का प्रयोग किया गया है, जो निम्न प्रकार हैं-

चन्द्रमा-वेद में ग्रहों के चन्द्रमाओं को उनके पद बताया गया है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक ग्रह का चन्द्रमा सूर्य के आकर्षण से उसके पद भाग से निकलता है जो सूर्य की ओर होता है। इसी कारण पृथिवी, मंगल, बृहस्पति आदि को उनके चन्द्रमाओं की संख्या के आधार पर एक पद वाला, दो पद वाला, चार व आठ पदवाला कहा गया है। ये पद ग्रहों के शरीर से कटकर अलग हो चुके हैं, परन्तु उनकी गुरुत्वाकर्षण शक्ति से उनसे जुड़े हैं।

सूर्य-वेद में सौर-मण्डल के सन्दर्भ में सूर्य को **विश्पति** कहा गया है, जिसका अर्थ है- (सौरमण्डल रूपी) गृह का स्वामी, अथवा (ग्रहों रूपी) प्रजा का स्वामी। इस प्रकार '**विश्पति**' सूर्य के लिये बहुत सार्थक शब्द है।

पृथ्वी-वेद में पृथ्वी के लिये इसी प्रकार का सार्थक शब्द '**विश्पला**' है, जिसका अर्थ है गृह का पालन करने वाली, अथवा प्रजा का पालन करने वाली। पृथिवी सभी प्राणियों के लिये भोजन उत्पन्न करके उनका पालन करती है। अतः वह निश्चित ही **विश्पला** है।

अब हम ऋग्वेद के उपर्युक्त मन्त्र (१.११६.१५) का आशय समझ सकते हैं।

वेद से बरमूडा त्रिकोण का रहस्य-उपर्युक्त मन्त्र वेद में अश्विनी देवों के विभिन्न पराक्रमों के सन्दर्भ में आया है। अश्विनी देव, वेद में सन्तुलन की शक्तियों का नाम है, जैसे क्रिया और प्रतिक्रिया

(action and reaction) की शक्तियाँ, या परिभ्रमण गति के सन्दर्भ में आकर्षण तथा अपकर्षण बल। इसी कारण ये सदा दो की संख्या में आते हैं। उपर्युक्त मन्त्र में ही बरमूडा त्रिकोण के अजूबे का रहस्य छिपा हुआ है। यह मन्त्र इस प्रकार है-

चरित्रं हि वेरिवाच्छेदि पर्णमाजा खेलस्य परितक्म्यायाम्। सद्यो जङ्घामायसीं विश्पलायै धनें हिते सर्तवे प्रत्यधत्तम्॥

ऋग्० १.११६.१५॥

when at the time of urgency, in the trembling ones battle, a leg was severed like a wild bird's pinion, straight ye gave vishpala (the earth) a thigh of iron, that she might move forward in the interest of the fight. (on the basis of Griffith's translation)

अर्थात् जब अत्यन्त तीव्र आवश्यकता के समय, कम्पनशील पृथिवी के संघर्ष में पक्षी के पंख के सदृश उसका पैर (पद) कट गया, तब तुरन्त तुमने (अश्विनी कुमारों अर्थात् सन्तुलन की शक्तियों ने) विश्पला अर्थात् पृथिवी को लोहे की जङ्घा लगा दी, जिससे वह संघर्ष के हित में आगे बढ़ सके। (ग्रिफिथ के अनुवाद के आधार पर)

मन्त्र में पहले पृथिवी की उस समय की स्थिति का वर्णन है जब चन्द्रमा पृथिवी से बाहर निकलने को उन्मुख हुआ। पृथिवी के अन्त: में उस समय अत्यन्त उच्च ताप व दाब था जो बाहर निकल कर सम हो जाने का मार्ग खोज रहा था। परन्तु पृथिवी की ऊपरी परतें, जो अपेक्षाकृत ठण्डी थीं, उसके मार्ग में अवरोध उत्पन्न कर रही थीं। इस प्रकार दोनों ओर से उग्र संघर्ष की स्थिति थी, जिससे पृथिवी कम्पायमान हो रही थी। उस समय पृथिवी के कम्पनों को शान्त करने की अत्यन्त आवश्यकता थी। ऐसे समय में अचानक पृथिवी की ऊपरी परतों का अवरोध, सूर्य की प्रचण्ड किरणों की ऊष्मा तथा पृथिवी के अपनी कक्षा में सूर्य के निकटतम बिन्दु पर पहुंच जाने तथा इस समय सूर्य का गुरुत्वाकर्षण बल अधिक तीव्र हो जाने से टूट गया तथा चन्द्रमा का बृहत् पिण्ड एक विशाल, सैंकड़ों मील चौड़े बेलनाकार स्तम्भ के रूप में बाहर निकला और इस प्रकार **एकपदी विश्पला** अर्थात् पृथिवी का पैर कट कर उससे अलग हो गया। पृथिवी, इस भयंकर विस्फोट के फलस्वरूप असन्तुलित हो गयी, जैसे एक उड़ते हुए पक्षी का एक पंख कट जाने से वह असन्तुलित हो जाता है। ऐसी दशा में, मन्त्र में बताया गया है कि अश्विनी देवों ने जो प्रकृति में सन्तुलन की शक्तियां हैं, तुरन्त ही विश्पला (पृथिवी) को लोहे की जङ्घा लगा दी जिससे वह स्थिर हो गयी तथा अपनी कक्षा में आगे बढ़ने तथा अपने आन्तरिक ताप एवं दाब को सन्तुलित रखने में समर्थ हो गयी।

मन्त्र का तात्पर्य वह है कि चन्द्रमा के निकल जाने पर पृथिवी में सैंकड़ों मील चौड़ा तथा लगभग दो हजार मील लम्बा एक विशाल आकार का कुंआ बन गया, जो पृथ्वी के केन्द्र भाग में विद्यमान तरल लोहे से लगभग आधा भर गया, जिससे पृथ्वी के केन्द्र भाग पर दोनों ओर से दबाव सन्तुलित हो गया। यह तरल लोहे का स्तम्भ कालान्तर में ठण्डा होकर ठोस हो गया जो पृथिवी

में चरमूड़ा त्रिकोण के क्षेत्र में विश्पला (पृथिवी) की जङ्घा के समान अब भी विद्यमान है। इस अति विशाल लौह स्तम्भ की गुरुत्वाकर्षण शक्ति ही सम्भवत: वह दैत्य है जो उस क्षेत्र में आने वाले जहाजों तथा वायुयानों को तिरछी दिशा से आक्रमण पर असन्तुलित कर देता है और समुद्र में खींच कर मानों लील जाता है। वेद से प्राप्त इस तथ्य का सन्यापन उस स्तम्भ के विशाल आकार तथा उसकी गुरुत्वाकर्षण शक्ति की गणना से होता है जो आगे लेख में बतायी गयी है तथा जो चन्द्रमा का व्यास केवल आधा मानकर की गयी है, क्योंकि यजुर्वेद के एक मन्त्र में यह बताया गया है कि चन्द्रमा का आकार उसके जन्म के समय इतना नहीं था, जितना आजकल है। उसने अपने जन्म के पश्चात बहुत सा पदार्थ विशाल अन्तरिक्ष में आकर्षित किया जो ग्रहों के जन्म के समय से ही अन्तरिक्ष में बिखरा पड़ा है। इस समय चन्द्रमा का व्यास लगभग २००० मील है। अत: उसके जन्म के समय उसका व्यास १००० मील मानकर ही लौह-स्तम्भ के आकार आदि की गणना की गयी है। लेख में लौह-स्तम्भ का समुद्र-तल तथा जहाजों और वायुयानों पर प्रभाव का वर्णन भी दिया गया है।

स्तम्भ के आकार का अनुमान-हमारी पृथिवी का व्यास (diameter) लगभग ८०००, अर्थात् उसकी त्रिज्या (radius) लगभग ४००० मील। आधुनिक वैज्ञानिक अनुमानों के अनुसार पृथिवी का केन्द्र भाग जिसकी त्रिज्या २००० मील है अत्यन्त उच्च ताप पर अधिकांशत: तरल लोहा तथा कुछ अंश में अन्य भारी धातुओं से बना है, जिसका आपेक्षित घनत्व लगभग ८ है। उसके ऊपर २००० मील तक अन्य धातुओं तथा अन्य तत्त्वों से बने पदार्थों का आवरण है, जिसका औसत घनत्व लगभग ५ है। मन्त्र में कहा गया है कि अश्विनी देवों ने विश्पला को तुरन्त लोहे की जङ्घा लगा दी जिससे सिद्ध होता है कि चन्द्रमा का पदार्थ २००० मील की गहराई से पृथिवी में से निकला, जिससे तरल लोहा, पृथिवी के केन्द्रीय भाग से, दूसरी ओर के दबाव को सन्तुलित करने के लिये, चन्द्रमा के निष्कासन से रिक्त हुए स्थान पर भर गया। पृथिवी के केन्द्रीय भाग पर इस प्रकार एक ओर २००० मील तक घनत्व ५ का पदार्थ है तथा दूसरी ओर घनत्व ८ का लोह का स्तम्भ। इस तथ्य से सन्तुलन के लिये लोहे के स्तम्भ की लम्बाई स्पष्टत: १२५० मील होनी चाहिये। पृथिवी के आन्तरिक भाग में सूर्य विकिरण के अवशोषित होने से तापमान बढ़ने तथा पृथिवी की ऊपरी परतों के ठण्डा होकर सिकुड़ने से पृथिवी के अन्त: में दाब बढ़ने से इस स्तम्भ की लम्बाई अधिक हो सकती है। इस प्रकार १२५० मील स्तम्भ की न्यूनतम लम्बाई ही है, जो अन्य गणनाओं के लिये उपयोग में ली गयी है।

अब इस स्तम्भ की मोटाई जानने के लिये चन्द्रमा द्वारा रिक्त किया गया आयतन जानना आवश्यक है जो चन्द्रमा के आयतन के बराबर ही होगा। चन्द्रमा की त्रिज्या ५०० मील तथा बेलनाकार स्तम्भ की लम्बाई १२५० मील मानने पर उसकी त्रिज्या ३७५ मील, अर्थात् व्यास ७५० मील निकलता है। इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि पृथिवी से चन्द्रमा के निष्कासन के पश्चात् पृथिवी के सन्तुलन के लिये ७५० मील व्यास तथा १२५० मील लम्बाई का एक विशाल लौह-स्तम्भ पृथिवी

के केन्द्रीय भाग के ऊपर, जिसकी त्रिज्या २००० मील है, निर्मित हुआ। इसी लौह स्तम्भ के निर्माण को वेदमन्त्र में अश्विनी देवों द्वारा विश्पला (पृथिवी) को लोहे की जङ्घा लगाने के रूप में वर्णित किया गया है। जहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि लौह-स्तम्भ का यह आकार न्यूनतम है, क्योंकि उसकी लम्बाई-चौड़ाई की गणना से हमने चन्द्रमा की त्रिज्या वर्तमान त्रिज्या का आधा तथा इस प्रकार उसका आयतन वर्तमान आयतन का केवल १/८ माना है क्योंकि आयतन त्रिज्या के घन के समानुपाती होता है।

लौह-स्तम्भ का समुद्र-तल पर प्रभाव-समुद्र में चन्द्रमा के आकर्षण से ज्वार उठते हैं जबकि चन्द्रमा पृथिवी से लगभग २ लाख मील दूर है। परन्तु यह विशाल लौह-स्तम्भ का गुरुत्व-केन्द्र समुद्र की सतह से केवल १३७५ मील नीचे है तथा उसका घनत्व भी पृथिवी के सामान्य पदार्थ से ३ अधिक है। यदि उसका घनत्व पृथिवी के सामान्य पदार्थ जैसा ही होता है तो उसके गुरुत्वाकर्षण का समुद्रतल पर कुछ भी प्रभाव न होता। अतः यह ३ घनत्व विशाल स्तम्भ की लौह-स्तम्भ के गुरुत्वाकर्षण प्रभाव के लिये उत्तरदायी है। चूंकि गुरुत्वाकर्षण बल दूरी के वर्ग के विलोम अनुपात से क्षीण होता जाता है, अतः चन्द्रमा का आकर्षण बल, खम्भे के आकर्षण बल की तुलना में, गणना करने पर (१ : १५००) के अनुपात से अत्यन्त न्यून पड़ता है। इसका तात्पर्य यह है कि खम्भे का आकर्षण समुद्रतल पर चन्द्रमा के आकर्षण से १५०० गुणा अधिक है। इतने आकर्षण से लौह-स्तम्भ के क्षेत्र में समुद्रतल समतल न रहकर नतोदर (Concave) हो जायेगा जिससे उस क्षेत्र के निकट आता हुआ जहाज स्वतः ही उस लौह-स्तम्भ की ओर अग्रसर हो जायेगा, जैसे तेज ढाल पर साइकिल निरन्तर गतिशील होती जाती है।

लौहे-स्तम्भ का जलयानों पर प्रभाव-ये प्रभाव कई प्रकार के होंगे-जो नीचे दिये गये हैं

१. चूंकि स्तम्भ मुख्यतः लोहे का बना है, अतः पृथिवी की चुम्बकीय शक्ति के ऊर्ध्वभाग (vertical component) से वह चुम्बकत्व ग्रहण कर लेगा तथा उसके चुम्बकीय प्रभाव से जलयान का दिशा सूचक यन्त्र प्रभावित होगा, जिससे जलयान अपने मार्ग से भटक जायेगा।

२. अपने मार्ग से भटककर जलयान उन सामुद्रिक धाराओं में बह जायेगा, जो तीव्र वेग से उस विशाल गड्ढे की ओर जा रही हैं, जो लौह स्तम्भ के आकर्षण ने वहाँ समुद्रतल में बनाया है।

३. पृथिवी के गुरुत्वाकर्षण के साथ उस क्षेत्र में लौह-स्तम्भ के अतिरिक्त आकर्षण के कारण जहाज का भार बढ़ जायेगा, जिससे जहाज का अधिक हिस्सा पानी में डूब जायेगा।

४. लौह-स्तम्भ का गुरुत्वाकर्षण पृथिवी के केन्द्र की ओर न होकर उसके गुरुत्व केन्द्र की ओर होगा, जो पृथिवी के केन्द्र से २६२५ मील ऊपर है। इस तिरछे आकर्षण के कारण जो काफी प्रबल है (और उसकी गति को गड्ढे की ओर निरन्तर बढ़ा रहा है) जहाज टेढ़ा होकर असन्तुलित हो जायेगा और अन्ततः तीव्र वेग से समुद्र में समा जायेगा। बड़े जहाजों पर लौह-स्तम्भ का आकर्षण भी उतना ही बड़ा होगा।

लौह-स्तम्भ का वायुयानों पर प्रभाव-(नं०२ को छोड़कर) उपर्युक्त सभी प्रभाव

वायुयानों पर भी उसी प्रकार होंगे जैसे जलयानों पर। लौह-स्तम्भ के अतिरिक्त गुरुत्वाकर्षण के कारण वायुयान का भार उस क्षेत्र में अचानक बढ़ जायेगा, तथा उसकी दिशा तिरछी होने के कारण वायुयान पूरी तरह असन्तुलित हो जायेगा तथा वायुमण्डल का दाब उसे किसी प्रकार भी सन्तुलित न रख सकेगा। ऐसी स्थिति में वायुयान का नीचे समुद्र में गिरना ही उसकी नियति होगी। जैसा सन् ६० के दशक में फ्लोरिडा की फ्लाइट १९ के दुर्घटनाग्रस्त होने के विषय में लेख के अन्त में स्पष्ट किया गया है।

पत्रिका के २ मार्च के लेख में छपे तथ्यों का स्पष्टीकरण-

पृथिवी के अन्दर एक विशाल लौह-स्तम्भ के छिपे होने से जहाजों और वायुयानों के समुद्र में डूबने का कारण तो स्पष्ट होता ही है, २ मार्च के पूर्व उद्धृत लेख में छपे कुछ अन्य तथ्यों का भी स्पष्टीकरण होता है, जो निम्न प्रकार है-

कोलम्बस के प्रेक्षण-

(१). **कम्पास का कम्पन** : यह स्पष्ट ही लौह-स्तम्भ के चुम्बकीय प्रभाव के कारण हुआ होगा। जहाज के चलने तथा उसकी दिशा में सूक्ष्म परिवर्तन के कारण चुम्बकीय प्रभाव से न्यूनाधिक्य होने से दिशा-सूचक की चुम्बकीय सूई (Magnetic needle) में कम्पन होना स्वाभाविक है।

(२). **प्रकाश दिखायी देना** : यह सर्वविदित है कि पृथिवी के ऊपरी तथा दक्षिणी चुम्बकीय ध्रुवों पर उनके आकर्षण से वायुमण्डल में विद्युत्-संचारित कणों के इकट्ठा होने पर उनकी पारस्परिक क्रियाओं से प्रकाश उत्पन्न होता है, जिसे उत्तरी प्रकाश (aurora borealis) तथा दक्षिणी प्रकाश (aurora australis) कहते हैं। इसी प्रकार की घटना बरमूडा त्रिकोण के लौह स्तम्भ के चुम्बकीय ध्रुव पर कुछ अंशों में घटित होना पूर्णतया सम्भव है। यही प्रकाश कोलम्बस को दिखायी दिया होगा।

अन्य तथ्य:

(१). **समुद्र में पानी का तीव्र वेग**-लौह स्तम्भ के तीव्र आकर्षण से उसके ऊपर का समुद्रतल नतोदर (Concave) हो जाने के कारण भूमध्य क्षेत्र के (पृथिवी की घूर्णन गति के कारण) उन्नत तल के पानी का नतोदर भाग की ओर तीव्र वेग से बहना स्वाभाविक ही है। इसी बहाव के कारण समुद्री धाराएं बनती हैं। इसी के कारण इस क्षेत्र में अति वेगवती धारा गल्फ स्ट्रीम पायी जाती है। इस धारा के वेग के कारण ही सम्भवत: कई जहाज भी स्वत: ही उस विशाल गड्ढे की ओर अग्रसर हो गये होंगे जैसा ऊपर भी संकेत किया जा चुका है।

(२) **मीथेन गैस के बुलबुलों का उद्भव** : बरमूडा त्रिकोण के क्षेत्र में मीथेन गैस के बुलबुले असाधारण रूप से निकलने का कारण भी समझा जा सकता है यदि हम लौह-स्तम्भ के निर्माण के बाद सन्तुलन की शक्तियों के कार्यों पर विचार करें। चन्द्रमा के निष्कासन तथा उसके फलस्वरूप लौह-स्तम्भ के निर्माण के समय उस २००० मील गहरे कुएं का लगभग ७५० मील लम्बा ऊपरी भाग रिक्त रह गया था। यह भाग भी निरन्तर कार्यशील सन्तुलन की शक्तियों के कालान्तर में पृथिवी के ऊपरी भाग के पदार्थ से लगभग पूरा भर दिया गया। लौह-स्तम्भ के निर्माण से पृथिवी के

केन्द्रीय भाग में जो आयतन रिक्त हुआ, वह दोनों भागों के परस्पर आकर्षण से पृथिवी के सिकुड़ने पर, तथा साथ ही ऊपरी परतों के ठण्डा होने पर पूर्ण हो गया, जिससे पृथिवी में चारों ओर दाब बढ़ा तथा कुएं का रिक्त भाग भी काफी संकुचित हो गया। उसके पश्चात् पृथिवी के आन्तरिक दाव तथा उसके कम्पनों व विस्फोटों के कारण उस कुएं का शेष ऊपरी भाग भी चारों ओर के पदार्थ से, जो अर्धघन अवस्था में था, लगभग पूरा भर गया। इस कार्य में सम्भवत: सैकड़ों वर्ष लगे होंगे। जो कुछ मीलों का भाग शेष रहा वह घनघोर मेघों के बरसने पर चारों ओर से बहकर आयी हुई मिट्टी व कीचड़ से भर गया, जिसमें कालान्तर में घने वृक्ष उग आये तथा सहस्रों वर्षों में सारा क्षेत्र एक अत्यन्त घने जंगल के रूप में परिवर्तित हो गया। बादलों के बरसने का समय समाप्त होने पर जब समुद्र बन गये, तो वह सारा जंगल समुद्र में डूब गया तथा उसकी करोड़ों टन वनस्पति की सम्पदा पानी में सड़-सड़ कर मीथेन गैस बनाती रही, जो बुलबुलों के रूप में आज तक भी इस क्रिया की साक्षी बन रही है।

उपर्युक्त सभी तथ्यों की व्याख्या लौह-स्तम्भ की उपस्थिति से सन्तोषजनक रूप से हो जाने के कारण, अब यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि बरमूडा त्रिकोण के क्षेत्र में जहाजों और वायुयानों के समुद्र में गिर कर विलुप्त हो जाने का कारण विशाल लौह-स्तम्भ की अदृश्य गुरुत्वाकर्षण-शक्ति ही है। यह अदृश्य शक्ति ही निश्चयपूर्वक वह भयंकर दैत्य है जो पिछले लगभग ५०-६० वर्षों से उस क्षेत्र से होकर निकलने वाले सभी प्रकार के यानों को उदरस्थ करता रहा है, जिसकी सम्भावना इस निबन्ध में पहले व्यक्त की जा चुकी है।

लौह-स्तम्भ की उपस्थिति के प्रमाण तथा उसकी पृथिवी पर स्थिति:

लेख के अन्त में अब इस लौह-स्तम्भ की उपस्थिति के प्रमाण-स्वरूप कुछ तथ्य प्रस्तुत किये जाते हैं-

१. लौह-स्तम्भ के चुम्बकीय प्रभाव के कारण चुम्बकीय दिशा-सूचक यन्त्र का दिग्भ्रमित हो जाना या कम्पन करना, जैसा उस क्षेत्र के पास से निकलते हुए कोलम्बस आदि नाविकों का अनुभव है तथा जैसी साठ के दशक की फ्लोरिडा की दुर्घटनाग्रस्त फ्लाइट १९ के चालकों की रेडियो रिपोर्ट है।

२. बरमूड़ा त्रिकोण तथा उसके निकटस्थ क्षेत्र में गुरुत्वाकर्षण शक्ति का सामान्य से अधिक होना। मैक्सिको की खाडी के क्षेत्र में गुरुत्वाकर्षण-शक्ति का अधिक होना वैज्ञानिक सर्वेक्षणों से सिद्ध हो चुका है, तथा विज्ञान की पुस्तकों में भी वर्णित है।

३. इस क्षेत्र में समुद्री धारा गल्फ स्ट्रीम का पाया जाना और उसका कर्क रेखा के पास बहुत संकुचित और तीव्र हो जाना, जैसा ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी द्वारा सम्पादित एटलस में दिखाया गया है। इससे सिद्ध होता है कि वही स्थान जहाँ गल्फ स्ट्रीम कर्क रेखा को पार करती है, समुद्रतल में लौह-स्तम्भ की गुरुत्वाकर्षणशक्ति से बना नतोदर (Concave) तल का सबसे अधिक गहराई का स्थान है, तथा लौह-स्तम्भ की स्थिति का भी। समुद्री धाराओं के **संलग्न मानचित्र-एक** को देखने पर पता चलता है कि गल्फ स्ट्रीम भूमध्य रेखा के

उन्नत तल के भाग से उत्तर-पश्चिम दिशा की ओर बढ़ती हुई युकाटन प्रायद्वीप के पास से दिशा बदलकर उत्तर-पूर्व दिशा की ओर मुड़ती है तथा कर्क रेखा को पार करती है। तत्पश्चात् उसी दिशा में चलती हुई क्यूबा और फ्लोरिडा प्रायद्वीप के बीच से निकलती है। इस प्रकार यूकाटन और फ्लोरिडा प्रायद्वीपों के बीच मैक्सिको की खाड़ी में वह स्थान जहाँ गल्फ स्ट्रीम कर्क रेखा को पार करती है, समुद्रतल का सबसे गहरा तथा लौह-स्तम्भ की स्थिति का स्थान निश्चित होता है। यूकाटन प्रायद्वीप से इस धारा के दिशा बदलने का कारण भी सम्भवत: इस स्थान के तल की गहराई ही है।

४. लौह-स्तम्भ की इस स्थान पर उपस्थिति का एक अन्य विश्वसनीय प्रमाण यूकाटन प्रायद्वीप के निकट मैक्सिको की खाड़ी के तल में पाया जाने वाला वह विशाल 'चिक्सुलब क्रेटर' है जिसे अब तक निरी कल्पना के आधार पर किसी क्षुद्र ग्रह की टक्कर से बना हुआ माना जाता रहा है। (राजस्थान पत्रिका, २० अप्रैल सन् २००८, पृष्ठ २)। वास्तव में यह क्रेटर उस विशाल कुएं का अन्तिम शेषांश होना चाहिये जो चन्द्रमा के पृथिवी से निष्कासन के फलस्वरूप बना है तथा जिसका आधे से अधिक भाग लगभग १२५० मील तरल लोहे से भरकर लौह-स्तम्भ के रूप में परिवर्तित हो गया था तथा जिसका शेष भाग सैंकड़ों वर्षों से पृथिवी के सामान्य पदार्थ से भरकर तथा कालान्तर में एक विशाल जंगल के रूप में विकसित होकर समुद्र में डूब गया था, जैसा इस लेख में पीछे वर्णित है।

साठ के दशक में प्रसिद्ध फ्लाइट १९ की दुर्घटना का स्पष्टीकरण तथा लौह-स्तम्भ की स्थिति का सत्यापन :-

लौह-स्तम्भ की इस स्थान पर उपस्थिति से फ्लोरिडा की फ्लाइट १९ के दुर्घटनाग्रस्त हो जाने का कारण भी स्पष्ट होता है। फ्लाइट के प्रारम्भ में यान पर लौह-स्तम्भ के गुरुत्व केन्द्र के आकर्षण की दिशा पृथिवी के लगभग लम्बवत् थी, क्योंकि फ्लोरिडा लौह-स्तम्भ के स्थान से अधिक दूर नहीं है। परन्तु ज्यों-ज्यों वायुयान उत्तर दिशा की ओर बढ़ता गया, स्तम्भ के आकर्षण की दिशा निरन्तर अधिक तिरछी होती गयी, जिससे यान का सन्तुलन बिगड़ गया तथा वह समुद्र के गिर कर लुप्त हो गया जैसा **संलग्न चित्र दो** से स्पष्ट होगा।

लेखक का विश्वास है कि यदि आधुनिक वैज्ञानिक उपकरणों से सीसमिक (भू-कम्पीय) तरंगों के द्वारा उपरोक्त स्थान की खोज की जाये तो लौह-स्तम्भ की उपस्थिति का पता लगाया जा सकता है। लौह-स्तम्भ की उपस्थिति का सत्यापन हो जाने पर, यह आधुनिक विज्ञान की एक उपलब्धि तो होगी ही, वेद-ज्ञान के अपौरुषेय होने का, अन्य अनेक प्रमाणों के साथ, एक और सशक्त प्रमाण होगा।

मानचित्र-एक

पृथ्वी के केन्द्र से होकर आर पार जाने वाले तल का चित्र, जिसमें दोनों दिशायें (केन्द्र से लौह स्तम्भ (23½° अक्षांश, 85° देशान्तर) की तथा केन्द्र से बरमूडा (33°, 65°) की स्थित है। इन दोनों दिशाओं के बीच का कोण 25° मापा गया है।

विभिन्न दिशाओं में लौह-स्तम्भ के गुरुत्वाकर्षण का गुणात्मक चित्रण। बिन्दु "अ" पर इस आकर्षण की दिशा पृथ्वी के केन्द्र की ओर ही है, जबकि बिन्दु "ब" पर पृथ्वी के केन्द्र की ओर न होकर पर्याप्त तिरछा है। इस तिरछे आकर्षण के कारण ही वायुयान का सन्तुलन बिगड़ जाता है तथा वह समुद्र में गिर कर लुप्त हो जाता है।

मानचित्र-दो

Vaidika Vāg Jyotiḥ
ISSN 2277-4351
Vol.1, No.2 (55- 61) Jan-jun 2013
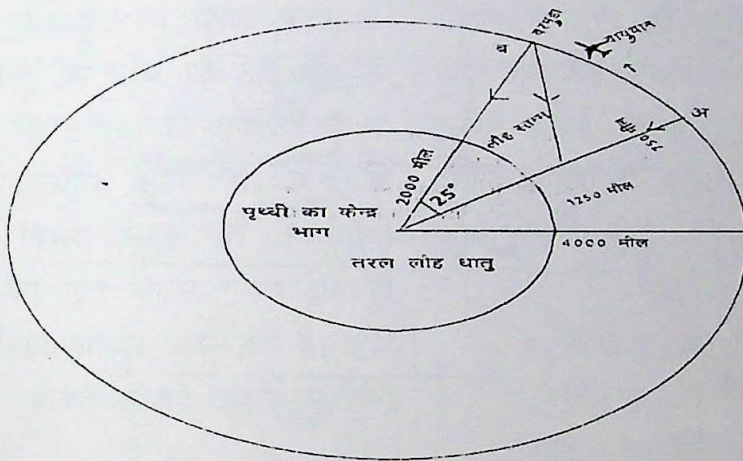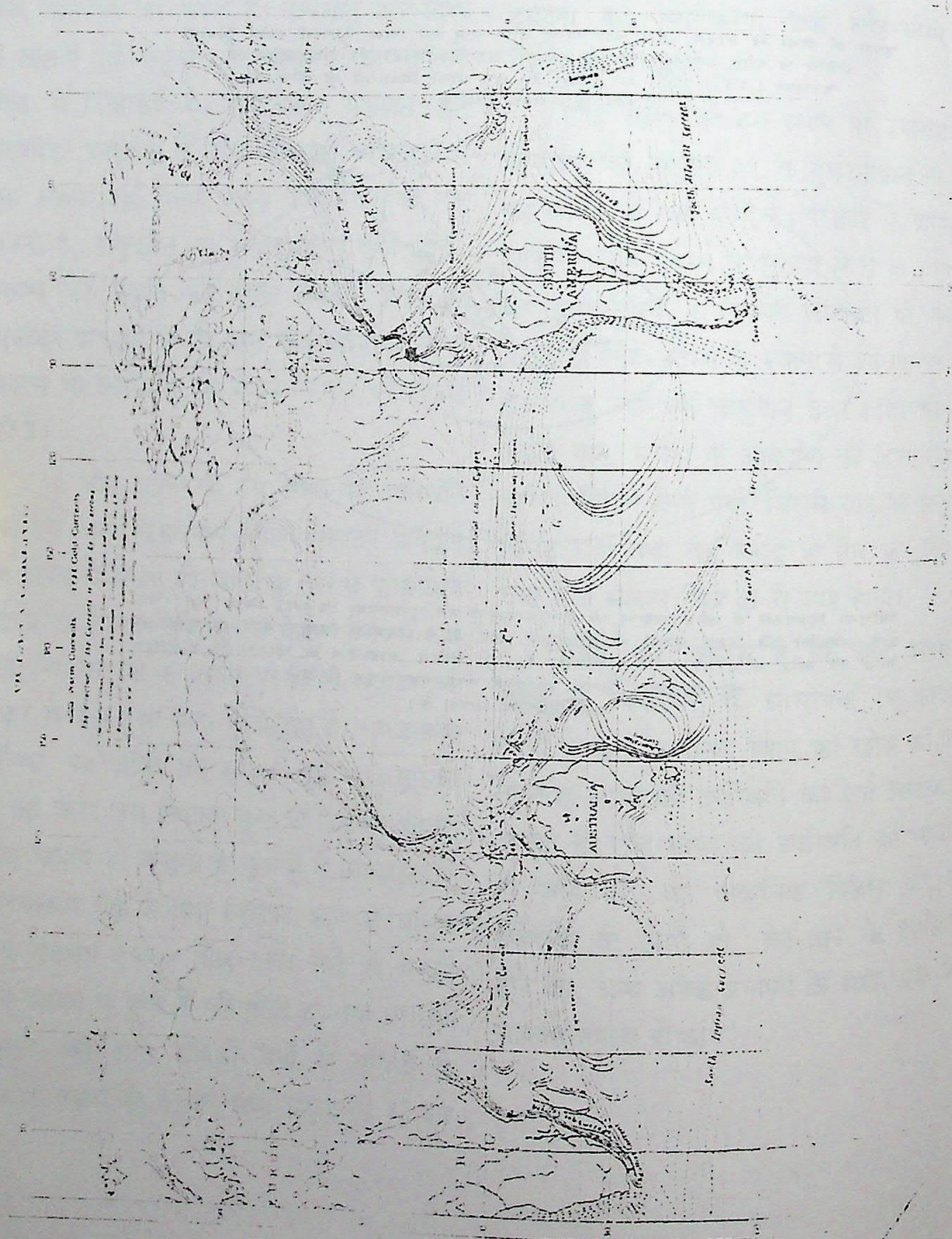
शतपथ ब्राह्मण में अंक-विमर्श : एक विश्लेषण

अपर्णा धीर, संयोजिका, परियोजना विभाग राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, जनकपुरी, नई दिल्ली
dhir.aparna@gmail.com

अंक मानव-जीवन का अभिन्न अङ्ग है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी दिनचर्या में अनेक बार अंकों अथवा संख्याओं का प्रयोग करता है, जैसे- किसी वस्तु की मात्रा एवं नाप-तोल में, घर से किसी भी स्थान की दूरी जानने में, यहाँ तक कि समय आदि का ज्ञान भी संख्याओं पर निर्भर करता है। इन सभी आवश्यक्ताओं की पूर्ति केवल गणना द्वारा ही सम्भव है, जिसका आधार अंक-ज्ञान है। इन्हीं प्रश्नों के उत्तर खोजते-खोजते अंकों का जन्म हुआ।

आज सभी 'वैदिक गणित' शब्द का प्रयोग प्राय: वेदकालीन प्रचलित गणित के सन्दर्भ में करते हैं। वैदिक काल में गणित का महत्त्व एवं उपयोगिता सर्वविदित है - 'तद्वद् वेदाङ्गशास्त्राणां गणितं मूर्धनि स्थितम्'। गणित का मूल आधार अंक अथवा संख्या है। वैदिक ऋषि के अंक-विद्या के प्रति जागरूक होने का अनुमान ऋक्-संहिता में प्राप्त संख्याओं 'नवनवति = 99, सहस्र = 1000, त्रीणिशतानि त्रिसहस्राणि त्रिंशश्च नव च = 3339' से लगाया जा सकता हैं। इसके पश्चात् यजुर्वेद की संहिताएँ इस सन्दर्भ में विशेषत: द्रष्टव्य हैं, जहाँ एक से परार्ध पर्यन्त अंकों का भण्डार है। एक से परार्ध पर्यन्त अंकों को लिखने से वैदिक ऋषि की तीक्ष्ण बुद्धि का दर्शन होता है, अर्थात् 1, 10, 100, 1000, 10,000, 1,00,000, 10,00,000 इत्यादि से शून्य की भूमिका ज्ञात होती है। भारत शून्य का अविष्कर्ता है, यह सुविदित है। इसकी झलक वैदिक ग्रन्थों में मिलती है। प्राचीन ऋषियों के अनुसार संख्याओं को प्रकट करने के लिए शून्य अत्यन्त सहायक है।

शतम् = 100

सहस्र = 100 × 10 = 1000

अयुत = 1000 × 10 = 10,000

नियुत = 10,000 × 10 = 1,00,000

यजुर्वेदीय संहिताओं की परम्परा के समान शुक्लयजुर्वेदीय शतपथ ब्राह्मण अंकों के विवेचन से परिपूर्ण है। यहाँ मास, अर्धमास, ऋतुओं, दिनों, नक्षत्रों, मुहूर्तों, प्रजापति, ऋचाओं, आदित्य, लोक, चन्द्रमा, दिशाओं, संवत्सर के विभिन्न अङ्गों एवं इटों के सन्दर्भ में अनेक संख्याएँ दी गई हैं। इसी ब्राह्मण के दशम काण्ड के चतुर्थ अध्याय के द्वितीय ब्राह्मण में इन्हीं संख्याओं का वर्णन पुन: मिलता है।

शतपथ ब्राह्मण में वर्णित संख्याएँ

एक	1
प्रथमा	पहला
द्वे, द्वा	2
द्वितीया	दूसरा

त्रय	3	त्रिंशत्	30
तृतीया	तीसरा	एकत्रिंशत्	31
चत्वारि, चतस्र	4	त्रयस्त्रिंशत्	33
चतुर्थे	चौथा	चतुस्त्रिंशत्	34
पञ्च	5	पञ्चत्रिंशत्	35
पञ्चमी	पाँचवीं	षट्त्रिंशद्	36
षड्, षष्ठ	6	चत्वारिंशत्	40
सप्त	7	एकचत्वारिंशत्	41
अष्ट	8	पञ्चचत्वारिंशत्	45
नव	9	सप्तचत्वारिंशत्	47
दश	10	अष्टाचत्वारिंशत्	48
एकादश	11	पञ्चाशत्	50
द्वादश	12	षष्टि:	60
त्रयोदश	13	एकसप्तति:	71
चतुर्दश	14	द्वासप्तती	72
पञ्चदश	15	द्वाभ्यां नाशीति:	78
षोडश	16	अशीति:	80
सप्तदश	17	नवती	90
अष्टादश	18	द्वाभ्यां न शतम्	98
नवदश, एकया न	19	शतम्	100
विंशति: संविश	20	एकशत्	101
एकविंशति:	21	विंशतिशतम्	120
द्वाविंशति:	22	अष्टत्रिंशत् शतम्	138
त्रयोविंशति:	23	चतु:चत्वारिंशत् शतम्	144
चतुर्विंशति:	24	अशीतिशतम्	180
पंचविंशति:	25	द्वेऽएकष्टे शते	261
षड्विंशति:	26	षष्टिश्च त्रीणि च शतान्य	360
सप्तविंशति:	27	पञ्चभि: न चत्वारि शतानि	395
अष्टाविंशति:	28		
एकया न त्रिंशत्	29		

सप्त च शतानि	720
विंशति	
सहस्र	1000
चत्वारि सहस्र	4000
अष्ट सहस्र	8000
दश च	10800
सहस्राण्यष्टौ च	
शतानि	
द्वादश सहस्र	12000
अन्त	1,00,00,00,000
परार्ध	10,00,00,00,000

विश्व में तीन प्रकार की संख्याओं का प्रयोग होता है, (1) गणनात्मक संख्याएँ जैसे - एक, दो, तीन आदि; (2) क्रम संख्याएँ जैसे -प्रथम, द्वितीय, तृतीय आदि; (3) गुणन संख्याएँ जैसे - समान, दुगुना, तिगुना आदि।[19] वैदिक ऋषि के गणनात्मक एवं क्रम संख्याओं से परिचित होने का ज्ञान शतपथ ब्राह्मण की उपर्युक्त तालिका द्वारा किया जा सकता है।

शतपथ ब्राह्मण में दीर्घ संख्याओं को बताने की शैली की ओर भी ऋषि ध्यान आकृष्ट करते हैं। (1) पहली विधि - अंकों को शब्दों में लिखना (2) दूसरी विधि जैसे- 10800 = दश च सहस्राण्यष्टौ च शतानि, 720 = सप्त च शतानि विंशति [Thousand-Hundred-Ten-Unit number system] (3) तीसरी विधि जैसे- 138 = अष्टत्रिंशत् शतम्, 144 = चतुःचत्वारिंशत् शतम् [Unit-Ten--Hundred-Thousand number system] (4) चौथी विधि जैसे- 98 = द्वाभ्यां न शतम्, 395 = पञ्चभिः न चत्वारि शतानि दीर्घ

अंकों की इस प्रकार की अभिव्यक्ति आधुनिक गणित में विख्यात 'Decimal Place Value System' की ओर इंगित करता है।[20] इसके अतिरिक्त शतपथ में स्पष्टतः एक और दस को छोटी संख्या तथा अन्त एवं परार्ध को बड़ी संख्या माना है।[21] यहाँ परार्ध के माध्यम से आधुनिक गणित में प्रचलित One Trillion तक की गणना को प्रस्तुत किया गया है।[22] ऋषि का यह कथन वैदिक काल में अंक-ज्ञान के विकास को दर्शाता है एवमेव यह सभी तथ्य न केवल अंक-ज्ञान के प्रारम्भिक चरण का उल्लेख करते हैं अपितु अंक-गणना की श्रृंखला (Counting-Series) में भारतीयों के योगदान की पुष्टि भी करते हैं।[23]

इन सभी संख्याओं के अतिरिक्त शतपथ ब्राह्मण में गणित के कुछ सिद्धान्त भी प्रतिपादित हैं। क्षुद्र-मुहूर्तों के कथन द्वारा गुणा[24] के सिद्धान्त का -

क्षिप्र = 10800 × 15 = 162000

एतर्हि = 162000 × 15 = 2430000

इद = 2430000 × 15 = 36450000

प्राण = 36450000 × 15 = 546750000 इत्यादि।

तथा पूर्णमासी एवं अमावस्या के उल्लेख द्वारा जमा[25] के सिद्धान्त का परिचय दिया है-

15 वर्षों = 360 पूर्णमासी एवं अमावस्या

15 वर्ष = 180 पूर्णमासी + 180 अमावस्या

1 वर्ष = 180 ÷ 15 = 12 पूर्णमासी

1 वर्ष = 180 ÷ 15 = 12 अमावस्या

इसी ब्राह्मण के एक स्थान पर गणित के भाग-सिद्धान्त के बीज भी दिखाई पड़ते हैं, यहाँ वर्णित है कि इन्द्र और विष्णु ने एक हज़ार गायों को तीन भागों में विभाजित किया, तो एक शेष रह गई।[26]

$$1000 \div 3 = 333.333$$

अथवा

$$1000 / 3 = 333 \times 1/3$$

शतपथ ब्राह्मण में अयुज और युग्म स्तोमों में मिलने वाले अंको द्वारा गणित के एक और पक्ष का प्रतिपादन किया गया है। कथित है कि अयुज स्तोम तैंतिस तक तथा युग्म स्तोम अड़तालीस तक जाता है।[27] पाश्चात्य विद्वान् एगलिङ्ग अयुज स्तोम का अर्थ uneven मानते हुए, उसका कथन इस प्रकार करते हैं- 1-3, 3-5, 5-7, 7-9, 9-11, 11-13, 13-15, 15-17, 17-19, 19-21, 21-23, 23-25, 25-27, 27-29, 29-31, 31-33 अर्थात् ऐसे स्तुति मन्त्र जो दो-दो (म्दल्ज्नं) के क्रम से निरन्तर गाये जाते हो।[28] वहीं पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय ने शतपथ ब्राह्मण के हिन्दी अनुवाद में अयुज का कथन करते हुए कहा है कि जिसके जोड़े न हों जैसे- 3, 5, 7, 9 इत्यादि।[29] इसी प्रकार पुनः एगलिङ्ग युग्म स्तोमों को ाहह शब्द द्वारा व्यक्त करते हैं। उनके अनुसार ऐसे स्तुति मन्त्र जो चार-चार (Quadruplets) के क्रम से निरन्तर गाये जाते हो अर्थात् 4-8, 8-12, 12-16, 16-20, 20-24, 24-28, 28-32, 32-36, 36-40, 40-44, 44-48।[30] इस विषय में पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय कहते हैं कि अयुज का उल्टा जैसे 2, 4, 6, 8, 10 इत्यादि युग्म कहलाता है।[31] शतपथ ब्राह्मण में वर्णित अयुज एवं युगम का विषय भले ही स्तोमों की श्रेणी में आता है, तथापि यह गणित-विषय के अन्तर्गत आने वाले odd एवं even वर्णों की साम्यता दिखाता है। प्रायः 'अयुज' एवं 'युग्म' शब्दों को odd तथा even वर्णों के रूप में विद्वानों द्वारा ग्रहण किया गया है।[32] द्रष्टव्यः है कि इन अयुज और युग्म स्तोमों में प्रत्येक परवर्ती संख्या की पुनरावृत्ति अगली संख्या की पूर्ववर्ती होकर होती है। संख्याओं की इस पुनरावृत्ति से उत्पन्न हुए कई रोचक गणितीय संयोजनों को डॉ. कृष्ण लाल ने अपने शोध-पत्र '*वेदों में गणित के कुछ तत्त्व*' में सम्मिलित किया है।[33] उन्होंने इन संयोजनों को वाजसनेयी संहिता के मन्त्र 18.24 एवं 18.25 के आधार पर प्रस्तुत किया है।

अयुज स्तोम

1 × 3 = 3	15 − 3 = 12	1 + 3 = 4
3 × 5 = 15	35 − 15 = 20; 20 − 12 = 8	3 + 5 = 8 पुनः यहाँ 4-4
5 × 7 = 35	63 − 35 = 28; 28 − 20 = 8	5 + 7 = 12 का अन्तर है
7 × 9 = 63	99 − 63 = 36; 36 − 28 = 8	7 + 9 = 16
9 × 11 = 99 इत्यादि।	इन सबमें 8-8 का अन्तर है	9 + 11 = 20

युग्म स्तोम

4 × 8 32	96 32 64	4 8 12
8 × 12 96	192 96 96; 96 64 32	8 · 12 20 पुन: यहाँ 8-8
12 × 16 192	320 192 128; 128 96 32	12 · 16 28 का अन्तर ह
16 × 20 320	480 320 169; 160 128 32	16 · 20 36
20 × 24 480	इन सबमें 32-32 का अन्तर है	

उपर्युक्त इन गणनाओं द्वारा अयुज और युग्म स्तोमों की श्रृंखला ऋषि के गम्भीर चिन्तन को दर्शाती है। यहाँ अयुज श्रृंखला (1-3, 3-5) में 2, 4, 8 तथा युग्म श्रृंखला (4-8, 8-12) में 4, 8, 32 का दिखाई देने वाले अन्तर पुन: एक नवीन श्रृंखला को प्रकट करता है। शतपथ ब्राह्मण में प्राप्त अयुज स्तोमों के वर्णन में आधुनिक गणित के वर्ग (Sqaure) एवं वर्गमूल (Sqaure-Root) जैसे सिद्धान्त भी परिलक्षित होते हैं। उदाहरणार्थ -

अयुज स्तोम का वर्ग-सिद्धान्त ⟶

$1 + 3 = 4 = 2^2$

$1 + 3 + 5 = 9 = 3^2$

$1 + 3 + 5 + 7 = 16 = 4^2$

$1 + 3 + 5 + 7 + 9 = 25 = 5^2$

$1 + 3 + 5 + 7 + 9 + 11 = 36 = 6^2$ इत्यादि।

अयुज स्तोम का वर्गमूल-सिद्धान्त ⟶

$1 + 3 + 5 + 7 + 9 + 11 + 13 + 15 + 17 + 19 + 21 + 23 + 25 + 27 + 29 + 31 + 33 = 289 = \sqrt{17}$ (कुल मिलकर यह सभी 17 अंक है)

ध्यान देने योग्य यह भी है कि युग्म स्तोम (4-8, 8-12, 12-16) और कुछ नहीं बल्कि स्पष्टत: चार का पहाड़ा है, जो कि गणित-विषय के अन्तर्गत महत्त्वपूर्ण भूमिका रखता है। अत: कह सकते हैं कि स्तुतिपरक-मन्त्रों के चयन में स्तोमों की संख्या के सन्दर्भ में मिलने वाले उपर्युक्त सभी मत ऋषि के अंक-गणित-विषय (arithmetic) से परिचित होने की ओर संकेत करते हैं।

वैदिक ग्रन्थों में अनेक गणितीय दृष्टान्त उपलब्ध हैं, जिसकी एक झलक शतपथ ब्राह्मण में देखने को मिलती है। शतपथ ब्राह्मण काल में न केवल अंकों का ज्ञान था अपितु प्रत्येक अंक के लिए नाम भी सुनिश्चित किया गया था। अन्त में कहना चाहिए कि प्रस्तुत ब्राह्मण में अंक-विमर्श के विषय का कुशलता के साथ प्रतिपादन है। सम्भवत: गणित पर केन्द्रित ज्योतिष-विद्या को सिद्ध करने में एवमेव गणित के अन्तर्गत आने वाले अंकगणित विषय के प्रारम्भिक चिह्न के यथार्थ वर्णन में शतपथ ब्राह्मण का योगदान हो।

पाद-टिप्पणियाँ-

[1] याजुष ज्योतिष 5

[2] ऋ. सं. 1.84.13, 10.62.7, 3.9.9

[3] दश च शतं च शतं च सहस्रं च सहस्रं चायुतं... समुद्रश्च मध्यं चान्तश्च परार्धश्च...। का. सं. 17.10;

मै. सं. 2.8.14 ; तै. सं. 4.4.11; क. सं. 26.9; वाज. सं. 17.2

[3] (सं.) कृष्ण लाल, *वैदिक संहिताओं में विविध विद्यायें*, जे. पी. पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1996, पृ. 347

[4] द्वादश वै मासा: संवत्सरस्य। श. ब्रा.1.2.5.13, 4.3.1.5, 14.2.2.12 इत्यादि (शतपथ ब्राह्मण (माध्यन्दिनी शाखा))।

[5] त्रयोदश मासा: संवत्सर:। श. ब्रा. 6.6.3.16, 9.1.1.16, 13.8.3.7 इत्यादि।

[6] चतुर्विंशतिर्वैसंवत्सरस्यार्धमासा:। श. ब्रा. 2.2.2.5, पञ्चदश वा अर्धमासस्य रात्रय:। श. ब्रा. 1.3.5.8

[7] श. ब्रा. 3.4.4.17, 2.4.4.24, 12.8.2.34, 8.4.1.23 इत्यादि।

[8] त्रीणि च वै शतानि षष्टिश्च संवत्सरस्याहानि। श. ब्रा. 1.3.5.9 इत्यादि।

[9] सप्तविंशतिर्होपनक्षत्राण्येकैकम्। श. ब्रा. 10.5.4.5

[10] दश च वै सहस्राण्यष्टौ च शतानि। संवत्सरस्य मुहूर्ता...। श. ब्रा. 12.3.2.5

[11] संवत्सरो वै प्रजापतिरेकशतविध:। श. ब्रा. 10.2.6.1

[12] श. ब्रा. 2.3.3.19-20

[13] असौ वाऽआदित्य एकविंश:। श. ब्रा. 13.3.3.3 इत्यादि।

[14] श. ब्रा. 13.1.7.2

[15] श. ब्रा. 14.4.3.22

[16] श. ब्रा. 3.5.1.32

[17] श. ब्रा. 8.4.1.11-25

[18] श. ब्रा. 10.4.2, 10.4.3

[19] वीरेंद्र कुमार एवं शैलेंद्र भूषण, *वैदिक अंकगणित*, ग्रंथ अकादमी, दिल्ली, 1999, पृ. 29

[20] (सं.) विद्याशंकर त्रिपाठी, *सारस्वत साधना के मनीषी एवं संस्कृत वाङ्मय में विज्ञान*, विश्वभारती अनुसाधन परिषद्, ज्ञानपुर 2010, पृ. 378

[21] ...एका च दश चान्तश्च परार्धश्चेत्येष हावरार्ध्यो भूमा यदेका च दश....। श. ब्रा. 9.1.2.16

[22] Westerner's way of writing large numbers, to economize space and readability.
For eg - 10^{12} = One Trillion [10^{11} - *Anta*, 10^{12} - *Praradha*]

[23] "कोई भी प्राचीन सभ्यता 1000 से अधिक गिनती नहीं जानती थी।" (सं.) कृष्ण लाल, *वैदिक संहिताओं में विविध विद्यायें*, पृ. 347

[24] श. ब्रा. 12.3.2.5

[25] श. ब्रा. 11.1.2.1.10-11

[26] श. ब्रा. 3.3.1.13

[27] अथायुज स्तोमन्जुहोति। श. ब्रा. 9.3.3.2, अथ युग्मतो जुहोति। श. ब्रा. 9.3.3.4

[28] "The formula of this set of libations (XVIII, 24) enumerates the seventeen uneven numbers (in the feminine gender) from 1 to 33, repeating the second number of each pair, so as to be the first number of the next pair (thus, 1 and 3, 3 and 5, &c.). These numbers are meant to represent the corresponding Stomas, consisting of an uneven number of verses, up to the *Trayastrimsa*, or thirty-three-versed hymn-form.", Julius Eggeling, *The Śatapatha-Brāhmaṇa*, Motilal Banarsidass, Delhi. 1963, Part- IV, p. 217

[29] शतपथ ब्राह्मण, (अनु.) गंगाप्रसाद उपाध्याय, (सं) स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती, विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली, 2003, भाग-2, पृ. 543

30 "The formula of this set of libations (XVIII, 25) enumerates (the twelve quadruples of 4 (in the feminine gender),

from 4 to 48 again repeating each number, except the first and last), as representing the Stomas consisting of an even number of verses, up to the *Ashtakatavarimsa*, or forty-eight-versed hymn-form.", Julius Eggeling, *The Śatapatha-Brāhmaṇa*,, Part- IV, p. 218

" शतपथ ब्राह्मण, (अनु.) गंगाप्रसाद उपाध्याय, (सं) स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती, भाग-2, पृ. 543

" (सं.) विद्याशंकर त्रिपाठी, *सारस्वत साधना के मनीषी एवं संस्कृत वाङ्मय में विज्ञान*, पृ. 376; Rani Rama Krishna, *Science in kṛṣṇa Yajurveda*, Sri Jayalakshmi Publications, Hyderabad, 1994, p. 124

" (सं.) कृष्ण लाल, *वैदिक संहिताओं में विविध विद्यायें*, दिल्ली, 1996, पृ. 350

* * * * * *

Vaidika Vāg Jyotiḥ
ISSN 2277-4351
Vol.1, No.2 (62- 66) Jan-jun 2013

वेदों में ऊर्जा के स्रोत

अर्चना दुबे
वनस्थली, विद्यापीठ, जिला-टोंक (राजस्थान)

वेद मानव जाति का आदि ग्रन्थ है । जिन्हें ऋषियों ने अपनी अन्तः प्रज्ञा से प्रकट किया । वेदों में दिये गये मूल तत्त्व कालजयी हैं ।

ए. आई.ओ.सी. के विद्वान् अध्यक्ष ने वैदिक भाषा के लिए बड़ी सटीक टिप्पणी की थी -"वेदों की भाषा प्रकाश की भाषा है अन्तर्बोध को प्रदीप्त करने वाली है ।"[१]

वेदों में सृष्टि संरचना के प्रतीक -

अश्वः -शक्ति का, ऊर्जा का प्रतीक है ।

सोमः -विकिरण ऊर्जा (radiant energy) का प्रतीक है । यह दो प्रकार की है, इनमें एक सर्वत्र एक ही समान व्याप्त है । इसे कास्मिक विकिरण भी कहते हैं । दूसरे प्रकार का सोम सूर्यादि लोकों से प्रकाश के रूप में प्रभूत होता है ।

मित्र -वरूण -'मित्र-वरुण' मौलिक कण हैं, जो विपरीत चार्ज वहन करते हैं । यदि 'वरुण' धनात्मक आवेश कणों का समुच्चय है तो 'मित्र' **ऋणात्मक आवेश** कणों का समुच्चय है । ये दोनों मिलकर आधुनिक विज्ञान का द्रव्यभाग बनाते हैं ।

अर्यमन् -यह प्रकृति विकिरण अंश है ।

मित्र वरुण (द्रव्य भाग) और अर्यमन् विकिरण मिलकर सम्पूर्ण प्रकृति बनाते हैं ।

मातरिश्वन् -महाविस्फोट के अनन्तर अग्नि विस्फोट के परिणामस्वरूप जो प्रारम्भिक संवेद उद्भुत होता है जिससे समस्त द्रव्य **मण्डन** का प्रसार होता है, यह उसी का प्रतीक है ।

वैश्वनावर अग्नि -यह भौतिक शक्ति तत्त्व है जिससे मानव में अन्य प्राणियों से उत्कृष्ट मानसिक विकास संभव हुआ है ।

भृगु -प्रलयकाल में सुरक्षित रखा गया ऊर्जा **तत्त्व** है जो सृष्टि के आरम्भ में गति का तारतम्य (Dynamic Continum) बनाये रखता है ।

ऋग्वेद की ऋचा कहती है, 'शक्ति का प्रयोग में लाने के इच्छुक उस शक्ति को जो अक्षय है, अन्य शक्ति के रूप में परिवर्तित करें ।'[२] एक अन्य ऋचा के अनुसार ये तुम्हारी सम्पूर्ण शक्ति निश्चय बढ़ाती है । पदार्थों की शक्ति का समुद्र कभी क्षय नहीं होता ।[३] ऋग्वेद के इस मंत्र में अश्व-शक्ति का द्योतक है । विज्ञान इसी को हार्स पावर कहता है । ऋग्वेद के इस मंत्र में इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि मैंने यह यज्ञ रचाया है । इसमें निमंत्रित आप दो घोड़ों की शक्ति से युक्त यान के द्वारा आइये । छैः आठ या दस घोड़ों की शक्ति वाले यान से आइये ।[४]

ध्वनि विज्ञान - ऋग्वेद के दशम मण्डल के ११४ वें सूक्त में वाक् का उल्लेख मिलता है ।[५] यहाँ तक ब्रह्म का विस्तार है वहाँ तक वाक् का प्रसार है । यही वाक्-विज्ञान के क्षेत्र में ध्वनि विज्ञान के रूप में जाना जाता है । ऋग्वेद के एक

अन्य स्थल का उल्लेख है -'सब भुवनों में वाक् वायु के समान विचरण करती है और अपनी शक्ति से इस पृथ्वी के भी परे तथा द्युलोक के पार पहुँच जाती है ।[६] यह विवेचन ध्वनि के बारे में संकेत करता है कि ध्वनि विज्ञान ऋग्वेद में विद्यमान है । वैदिक काल में इसी मंत्र से प्राप्त ध्वनि के माध्यम से अनेक चमत्कार किये जाते हैं । आज भी सूचना प्रौद्योगिकी के वैज्ञानिक एवं विशेषज्ञों की मान्यता है कि ध्वनि से युद्ध जीता जा सकता है । **ध्वनि से बिजली** प्राप्त की जा सकती है । ध्वनि के द्वारा चिकित्सा भी संभव है ।

ताप (अग्नि विज्ञान - अग्नि शब्द अग्, अगि, इण् आदि गत्यर्थक धातुओं से सिद्ध होता है । ये धातु इस ज्ञान के अतिरिक्त गमन, प्राप्त आदि अर्थ वाले भी हैं । ऋग्वेद[७] में २४०० के लगभग मंत्र अग्निपरक हैं । इसमें अग्नि का पूरा विज्ञान परिलक्षित होता है । ऋग्वेद[८] में नाभि युक्त अरा निर्मित चक्र का उल्लेख मिलता है । जो डायनेमिक्स (Dynamics) का प्रथम आविष्कार है । विज्ञान अपने प्रयोगशाला में इस पद्धति को जी.एल.सी. (Gas Liquid Chromatography) के माध्यम से प्रयोग करता है । आर्य यज्ञ कुण्ड के चारों ओर पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करते थे । और पदार्थों से विभिन्न प्रकार की गैसें प्राप्त करके उनका उपयोग वायुशक्ति, प्रदूषण दूर करने, खाद प्राप्त करने, रोगों की चिकित्सा और वर्षा कराने में कराते थे ।[९] यह वेदों का नाम, नक्श तथा परिधि का संकेत ऋग्वेद[१०] में मिलता है । प्रमा, प्रतिमा तथा परिधि यज्ञ में वर्गाकार वेदियाँ काम आती थी । वृत्ताकार तथा अर्धवृत्ताकार वेदियाँ भी होती थी । यह इनके क्षेत्रफल की पद्धति हैं ।[११] यह ज्यामिति तथा ट्रिग्नोमिति का एक फार्मूला है । जिसका सूत्र वेद में वर्णित है ।

यज्ञ के माध्यम से यजुर्वेद[१२] में पर्यावरण अनुरक्षण का भी उल्लेख मिलता है ।

विद्युत् - वैदिक विज्ञान विद्युत् को अग्नि का ही एक रूप मानता है । इसका संकेत ऋग्वेद में मिलता है । मेघ के छाने पर विद्युत् तेज होती है । यदि अशनिपात हो जावे तो वृक्षादि पार्थिव वस्तु के छू जाने से ही नष्ट हो जावेगी । परन्तु जब वह नीचे गिरती है या शुष्क वृक्ष पर गिरती है तो आग बन जाती है । मेघ में वह जलयुक्त है ।[१३]

वेदों में तार विद्या -दयानन्द सरस्वती ने अपने वेदभाष्यों में तार विद्या का संकेत ऋग्वेद में सूत्र के रूप में बताया है ।[१४] हे अश्वीयंत्रों तुम दोनों स्पृधा में सुव्यवहार के लिए श्वेत तरुतार को सिद्ध करो । शर्व और पृतना से तरने में कठिन पर चारों ओर व्यापनशील बिजली की अनुशासन सहित बार-बार प्रविष्ट कराओ ।

रेडियो व टेलीविजन -ऋग्वेद के मंत्र में **रेडियो** जैसे यंत्र का प्रमाण मिलता है -'हे द्युलोक की विद्युत् तरंगों, इस शब्द और वाणी को अज्ञान नाश के लिए दूर ले जाओ ।[१५] ऋग्वेद में टेलीविजन हेतु एक मंत्र इस प्रकार है -'व्यक्त अथवा अव्यक्त अग्नि (रूप) को, देवों (वैज्ञानिकों) द्वारा मथे जाने पर विद्युत् की तरंगे दूर देशों तक ले जाती हैं ।[१६] इस तरह वेदों में विविध रूपों में भौतिक विज्ञान का विभिन्न स्वरूप दिखाई देता है।

वायु का यांत्रिक प्रयोग -वायुयान - भाग्नवर्ष में प्राचीन काल में पुष्पक विमान, सोम विमान आदि चले थे । वैदिक काल में १८ प्रकार के वायुयान प्रचलित थे ।[१७] ऋग्वेद[१८] में अंतरिक्ष की यात्रा के लिए मन के समान वेगवान वायुयान का संकेत मिलता है । ऋग्वेद[१९] की ऋचाओं में

विमान का वर्णन अश्व नाम से किया गया है । अश्व शब्द का एक अन्य अर्थ भी प्रतीत है - शीघ्र गति से मार्ग तय करने एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचने वाला ।' विमान में भी यह गुण होता है इसलिए इन मंत्रों में विमान को **अश्व** कहा गया है । इसमें स्पष्ट हैं कि 'विचित्र अश्व का शरीर पक्षी रूप है, जिसके बारे में उल्लेख है कि आकाश के निश्चल और बाधारहित मार्ग से उड़ता है ।'[20] आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति ने इस अश्वों के बारे में कहा है - ये अश्व और कुछ नहीं बल्कि **विमान** है । विमान ही **आकाश में उड़ सकता** है ।[21] वे आगे और भी स्पष्ट करते हुए कहते हैं - 'अश्व शब्द वेद में अन्यत्र भी कई स्थानों पर अश्व पशु के अर्थ में प्रयुक्त होकर यंत्र कला से संचालित होने वाले विमान रथ, आदि में अर्थप्रयुक्त हुआ है ।'[22]

ऋग्वेद के एक मंत्र में तो नाम निर्देश पूर्वक विमान का वर्णन है । इस मंत्र में विचार पूर्व निर्मित सात चक्रों से युक्त व्यापक रूप से दूर-दूर तक गमन करने वाले विमान का उल्लेख है ।[23] **ऋग्वेद में विद्युद्रथाः**[24] का प्रयोग हुआ जिसका अर्थ बिजली से चलने वाले वायुयान अथवा पृथ्वी पर विद्युत चालित गाड़ियाँ आदि है । ऋग्वेद[25] में ही विद्युत चालित रथ का स्पष्ट वर्णन है ।

वेद में उषा सृष्टि के आदि काल का प्रतीक है तो नक्तः प्रलयकाल का । भृगु प्रलयकाल में सुरक्षित रखा गया । ऊर्जा तत्त्व है जो सृष्टि आरम्भ में गति का तारतम्य (Dynamic continuum) बनाये रखता है । बीजरूपों भृगु शक्ति के द्वारा आदि काल में ईश्वर सृष्टि रचना में सन्नद्ध होता है । महाविस्फोट (बिग बैंग) के पश्चात् अग्नि विस्फोट के परिणामस्वरूप प्रारम्भिक संवेग उद्‌भुत होता है । इससे समस्त द्रव्य मण्डल का प्रसार होता है । वेद में इस घटना का नाम **मातरिश्वन्** है । विज्ञान में इसे "विश्व का प्रसार" (Expanding universe) कहते हैं ।

सोम विकिरण ऊर्जा (radiant energy) का प्रतीक है । ऋग्वेद का सोम दो प्रकार का होता है । प्रथम, आदिकाल में मूल तत्त्वों (कण-प्रतिकण) के घर्षण से उत्पन्न हुआ था । यह विश्व व्यापक है । इसी कारण समग्र गुरुत्वाकर्षण बल उत्पन्न हुआ । दूसरा सोम सूर्य सदृश प्रकाशित लोकों से उद्‌भुत होता है । यह सोम तरंग (waves), आकर्षण, ताप, प्रकाश के रूप में फैली । **अर्यमन् प्रकृति** का विकिरण भाग है । सृष्टि में नियोजित होने के उपरान्त इस विकिरण की संज्ञा सोम कहलाती है ।

ऋभु देवों की जननी मूल **आद्या शक्ति** का नित्य गुण स्वरूप है । यह नित्य कण समूह का स्वभावगत परस्पर आकर्षण (घ्र्हीस्र्दह) है । इस स्वाभाविक गुण में चार प्रकार के बल निहित हैं । ऋभु चार प्रकार के आकर्षण का प्रतीक है । यह आकर्षण विद्युत चुम्बकीय शक्ति के रूप में परिलक्षित होता है । चार प्रकार के बलों में से दो बलों का क्षेत्र असीम एवं व्यापक है । मरुत असीमित क्षेत्र में बल का कार्य करने वाली **अन्तरिक्षीय शक्ति** है । यह बल विद्युत एवं गुरुत्वाकर्षण सम्बन्धी वेद के इस सिद्धांत में दो प्रकार के बलों के स्रोत का एक ही आधार होने का विचार निहित है । इसी तथ्य की पुष्टि विज्ञान आज (unified field theory) के अन्तर्गत सभी **'बलों के एकत्व'** के रूप में कर रहा है ।

पदार्थ कभी नष्ट नहीं होता केवल उसकी अवस्था परिवर्तन होता है । इस ऋग्वैदिक उक्ति में विज्ञान का ऊर्जा संरक्षण का सिद्धान्त स्पष्ट होता है । वेद के अनुसार सृष्टिकाल में द्रव्य सत्ता बढ़ती है एवं ऊर्जा कम होती है । प्रलयकाल आरम्भ होते ही यह संतुलन विपरीत जाता है और ऊर्जा की मात्रा अपेक्षाकृत बढ़ने लगती है । इसमें **थर्मोडायनामिक्स** का दूसरा नियम दृष्टिगोचर होता है । पदार्थ जब ऊर्जा में परिवर्तित हो जाता है । तो वह द्रव्य सत्ता में नहीं आ सकता है । इसे **एण्ट्रापी** कहते हैं ।

अतः वेदों में ज्ञान-विज्ञान का रहस्य छिपा है । ये ही शाश्वत ज्ञान-विज्ञान के अपौरुषेय सत्य हैं । ऋषियों ने ज्ञान प्राप्ति के अनुशासन अनुबंधों एवं सावधानियों का पालन करने ही दर्शन एवं विज्ञान की सृष्टि की है । विज्ञान की श्रेष्ठतम उपलब्धि को नवीन दर्शन कहा जा सकता है ।

पाद-टिप्पणियां-

[१] ऑल इण्डिया ओरिएण्टल कान्फ्रेन्स ३१ वें सेसन में पं. गौरीनाथ शास्त्री का अध्यक्षीय भाषण ।

[२] अयाते अग्ने विधेमोर्जो: नपादश्वमिष्टे एना सुक्तेन सुजात । ऋग्वेद २/६/२

[३] इमा हि त्वामूर्जो वर्द्धयन्ति वसूयवः सिन्धवोः न क्षरन्तः । ऋग्वेद १/११/१

[४] ऋग्वेद २/२८/४

[५] ऋग्वेद १०/११४४/८

[६] ऋग्वेद १/१६९/३४

[७] ऋग्वेद १/१/२, ३, ४, ५, ६; १/१२/१,१/२३४,१/४४/७,१/ १७९/२,३/१७/४,३/११/३,४/१०/३, ४/१३/६,६,१६/४८, ६/४३/१६,८/४४/१०

[८] अग्निर्देवेषु राजत्यग्निर्मर्तेष्वाविशन् ।
अग्निर्नो हव्यवाहनोऽ ग्निं धीभिः सपर्यत॥

ऋग्वेद ५/२५/४

[९] डॉ. रामेश्वर दयाल गुप्त - वैदिक वाङ्मय में विज्ञान, पृ १३०

[१०] ऋग्वेद १०/१३०/३

[११] ऋग्वेद १/१०५/१७

[१२] ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम्। स्वधा स्थ तर्पयत मे पितृन्।। -यजु, २/३४

[१३] यास्काचार्य, निरुक्त - ७/६/३

[१४] युवं पेदवे पुरुवारमश्विना स्पृधां श्वेतं तरुतारं दुवस्यथः। शर्यैरभिद्युं पृतनासु दुष्टरं चर्कृत्यमिन्द्रमिव चर्षणीसहम्॥ -ऋग्वेद १/११९/१०

[१५] एतं मे स्तोमंमूर्म्ये दार्भ्याय परा वह। गिरो देवि रथीरिव॥ - ऋग्वेद ५/६१/१७

[१६] ससृवांसमिव त्मनाग्निमित्था तिरोहितम्
ऐनं नयन्मातरिश्वा परावतो देवेभ्यो मथितं परि॥

-ऋग्वेद ३/९/५

[१७] आचार्य विजय मिश्र -वेद और विज्ञान, पृ. ९८-९९

[१८] आ वां रथं पुरुमायं मनोजुवं जीराश्वं यज्ञियं जीवसे हुवे। सहस्रकेतुं वनिनं शतद्वसुं श्रुष्टीवानं वरिवोधामभि प्रयः॥ -ऋग्वेद १/११९/१

[१९] ऋग्वेद - १/१६३/९,१०

[२०] ऋग्वेद १/१६३/६

[२१] आचार्य प्रियव्रत वाचस्पति - वेद और उसकी वैज्ञानिकता: भारतीय मनीषा के परिप्रेक्ष्य में, पृ. ३३६

[२२] वही

[२३] सीमा पूषणो रजसो विमान सपृचक्रं रथं विश्वपिन्वम् । विषूवृतं मनसा युज्मान तं जिन्वथो वृषणा पंचरश्मिम् ।। -ऋग्वेद २/४/३

[२४] ऋग्वेद ३/५५/१२

[२५] ऋग्वेद १/८८/१

Vaidika Vāg Jyotiḥ
ISSN 2277-4351
Vol.1, No.2 (67-74) Jan-jun 201.

प्रो० मैक्समूलर और वेद

(कृष्ण वल्लभ जी पालीवाल, एम०एस-सी०, पी-एच०डी०, नई दिल्ली-१२)

अधिकांश भारतीय प्रो० फ्रेडरिक मैक्समूलर को भारत का हितैषी और शुभचिन्तक समझते हैं क्योंकि उन्होंने भारतीय धर्मशास्त्रों और विशेषकर वेदों पर बहुत लिखा। उनके **वेदाध्ययन का मूल उद्देश्य क्या था? वेदों में उन्होंने क्या पाया, उनका वेदों के प्रति क्या दृष्टिकोण था और विश्व के धर्मग्रन्थों में वेदों का उनकी दृष्टि में क्या स्थान था?** यही इस छोटे से लेख का अभिप्राय है।

आपकी शिक्षा जन्म से जर्मन होने के कारण पहले लीपिंग और फिर बर्लिन विश्वविद्यालय के संस्कृतविभाग के अध्यक्ष प्रो० हरमैन ब्रोखोस के निरीक्षण में हुई। यहाँ के भाषा विशेषज्ञ फ्रांज बोप और दार्शनिक शीलिंग के विचारों का मैक्समूलर पर विशेष प्रभाव पड़ा। तत्पश्चात् आपने (१८४६-४७ तक) ऋग्वेद विशेषज्ञ फ्रांसीसी प्रोफेसर ओगीन बरनोफ के संस्कृत विभाग पैरिस में वेदाध्ययन किया। शिक्षा समाप्त कर आप एच०एच०विल्सन और वारोन वुनसन के आग्रह पर ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में वेदानुसन्धान के कार्य में लग गये और जीवन भर (१८४७ सं० १९०० तक) इसी विश्वविद्यालय से विश्व को अपने वेद, भाषा, तुलनात्मक धर्म और भाषाओं के विकास सम्बन्धी विचार देते रहे। इन पचास वर्षों में आपने Sacred of the East Series (**पूर्व की पवित्र पुस्तकें सीरीज**) के अन्तर्गत २५ धर्म ग्रन्थों का ५० भागों में अंग्रेजी में सम्पदान किया। ये पुस्तकें वेद, उपनिषद्, गीता, वेदान्तसूत्र से लेकर जैन, बौद्ध, इस्लाम, पारसी एवं चीन के धर्मग्रन्थों आदि के विषय में हैं। स्वयं मैक्समूलर ने वैदिक ऋचाएं, उपनिषद्, धम्मपद, गृह्यसूत्र और बौद्ध महायान का अंग्रेजी अनुवाद किया। भारतीय षट् दर्शनों पर १८९९ में 'Six systems of Indian Philosophy' नामक ग्रन्थ लिखा। आपके वेदसम्बन्धी भाषण The Vedas; India, what it can teach us?; The History of Sanskrit Literature (1859) आदि पुस्तकों के रूप में मिलते हैं।

प्रो० मैक्समूलर के वेदभाष्य का आधार सायणभाष्य है, जिसे इन्होंने छह भागों में (१८४९-१८७३) और दूसरा संस्करण ४ भागों में (१८९०-९२) छपवाया। केवल संहिताएं क्रमशः १८७३ और १८७७ में छपवाईं।

लेख में उठाये गये प्रश्नों का सबसे प्रामाणिक उत्तर उनके ही शब्दों होंगे जो उन्होंने अपने साहित्य एवं अपने पत्रों में लिखे हैं। वस्तुतः प्रोफेसर मैक्समूलर आजीवन विश्व को यह दिखाने का प्रयत्न करते रहे कि मेरा तो विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद के अध्ययन का उद्देश्य तुलनात्मक अध्ययन करना और इस भाषा और धर्म का विकास कैसे हुआ, यह जानना रहा है, परन्तु सत्य कुछ और ही है। एक तरफ वे लिखते हैं :-

"Let it not be supposed that because there are several translations of the Rigveda in English, French and German, therefore all that the Veda can teach us has been learned. Far from it, every one of these translations has been put forward as tentative only. We are still on the mere surface of the Vedic literature."

"यह विचार नहीं करना चाहिये-क्योंकि जर्मन, फ्रेंच और अंग्रजी में ऋग्वेद के अनेकों भाष्य हैं इसलिये वेद की समस्त शिक्षाओं को हमने सिख लिया है। वस्तुत: इसके अलावा, प्रत्येक भाष्य में अनुवाद के प्रस्तावित विचार हैं। हम वैदिक साहित्य की अभी ऊपरी सतह पर ही घूम रहे हैं।"

"I maintain that to everybody who cares for himself, for his ancestors, for his history or for his intellectual development, a study of Vedic Literature is indispensible. I maintain that for a study of man, or, if you like, for a study of Aryan humanity, there is nothing in the world equal in importance to the Veda."

वेदाध्ययन की महत्ता पर लिखते हुए वे कहते हैं

'मैं मानता हूँ जो स्वयं अपना, अपने पूर्वजों, अपने इतिहास का अध्ययन करना चाहता है, उसके लिये वेद आवश्यक है। आर्यजाति के अध्ययन के लिये वेद से अधिक महत्त्वपूर्ण कुछ नहीं है।'

भारत के लोगों की मैक्समूलर में श्रद्धा होने का कारण शायद यह भी है कि उसने भारतीयों, परसियनों, ग्रीकों, इटेलियनों को जर्मनों का सगा भाई बन्धु माना है। अपने को आर्य या इण्डोयोरोपीय गिना जैसा की नीचे के शब्दों से स्पष्ट होता है।

"Those men (Aryans) were the true ancestors of our race; and Veda is the oldest book we have in which to study the first beginning of our language, and of all that is embodied in language. We are by nature Aryans Indo-European, not Semetic : our spiritual kith and kin are to be found in India, Persia, Greece, Italy, Germany; not in Mesopotamia, Egypt or Palestine.

वे वेदों में राजाओं और लड़ाइयों का वर्णन बहुत कम पाते हैं और क्रमबद्ध इतिहास का अभाव है।

"There is perhaps too little of kings and battles in Veda and scarcely anything of the chronological frame work of history."

प्रोफेसर साहब को वैदिक ऋचाएं बचपनी, मुश्किल और सामान्य नजर आईं।

"Large Numbers of Vedic hymns are childish in the extreme; tedious, low, common place."

और वैदिक धर्म बहुदेवतावाद से भरा मिला। अग्नि, सूर्य, उषा, मरुत्, पृथिवी, अप: (जल), नदी, वरुण, मित्र, इन्द्र आदि को सम्बोधित ऋचाएं उनके विचार से अनेकों भौतिक शक्तियों की

उपासना का प्रतीक हैं, जैसा कि उन्हीं के शब्दों में पढ़िये।

"No doubt, if we employ technical terms the religion of the Veda is Polytheism, not Monotheism. Deities are invoked by different names, some clear and intelligible such as Agni (fire), Surya (sun), Usha (dawn), Maruta (Strom), Prithivi (earth) Ap (water), Nadi (rivers)."

काश प्रोफेसर जी वैदिक टेक्नीकल टर्मस समझते तो शायद यह भ्रान्ति उन्हें तथा उनके अनुगामियों को न होती और जब महर्षि दयानन्द सरस्वती का वेदभाष्य उन्हें टेक्नीकल टर्मस समझाता है तो वे उसे अधिक मूल्यांकन कहते हैं। वस्तुतः चारों वेद एकेश्वरवाद से भरे पड़े हैं (ऋग्०१.१५४.४; १.१६४.४६; ६.३६.४; ७.२१.१; ६.४५; १.१६४.४४; अथर्व०२.२०.१, २.२.२)

प्रो० मैक्समूलर को वेदों का विषय प्रातःसायं, नदी, नाले, पृथिवी, विद्युत्, वर्षा, सूर्यास्त ही दिखाई दिये। उनकी दृष्टि में वेद सामान्य बुद्धिवालों के विचार हैं। इस कविता के लिये किसी विशिष्ट प्रतिभा की आवश्यकता नहीं है। इन्हें कभी वैदिक उदात्त भावनाएं, गम्भीर दर्शन, आध्यात्मिक विद्या और तत्त्वविज्ञान नहीं मिला। बस यही उनके दृष्टिकोण को प्रकट करता है। वे लिखते हैं

"No superhuman revelation was requied for that of poetry. Nothing could be clearer than that the constant themes of these Vedic songs were sunrise and morning, day and night, earth and the rivers, storms, lightning, rain, sunset and night." पुनः

"But highly interesting as these Vedic hymns are to us, in spite of, or I should say, on account of their simplicity and childishness, anybody who came to know them at first hand has to confess that they seem quite unfit to satisfy the religious cravings of a later generation... They contain praises of the physical gods.....All this is historically and psychologically full of interest, but there is little only, except here and there, of exalted religious thoughts, of poetry or philosophy, still less of any records of historical events. Besides, their language is so difficult that, as yet, it makes a satisfactory translation of the whole Veda a perfect impossibility."

लेख के विस्तार के भय से और विचार न देकर मैं आपको इस सबके पीछे क्या उद्देश्य था लिखने का प्रयत्न करूंगा। आइये इस विषय में प्रोफेसर साहब के कुछ पत्रों के उद्धरण पढ़ें।

A friend of Prof. Maxmuller, Mr. E.B. Pussey writes to him thus :-

"Your work will form a new era in the efforts for the conversion of India, and Oxford will have reason to be thankful for that, by giving you a home, it will have facilitated a work of

such primary and lasting importance for the conversion of India, and which by enabling us to compare that early false religion with the true illustrates the more than blessedness of what we enjoy"

प्रो० मैक्समूलर के एक मित्र ई०बी०पूसी ने उन्हें निम्नलिखित पत्र लिखा-''तुम्हारा कार्य भारत के धर्म परिवर्तन के प्रयत्न में एक नवीन युग का निर्माण करेगा और ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय आपको यह स्थान देकर धन्यवाद का पात्र है। यह मुख्य और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण (वेदभाष्यादि) कार्य भारत के धर्म-परिवर्तन के कार्य को सरल करेगा और उस प्रारम्भिक असत्य धर्म को इस सत्य धर्म से जिसका हम पालन करते हैं, तुलना करने योग्य करेगा।''

Max muller, in 1886, thus wrote to his wife-"I hope I shall finish the work and feel convinced though I shall not live to see it, yet this edition of mine and the translation of the Veda will hereafter tell to a great extent on the fate of India and on the growth of millions of millions of souls in that country. It is the root of their religion and to show them what the root is, I feel sure, is the only way of uprooting all that has sprung from it during the last three thousand years."

१८८६ में प्रो० मैक्समूलर ने अपनी पत्नी को एक पत्र इस प्रकार लिखा-''मुझे आशा है कि मैं यह कार्य करूंगा और मुझे पूर्ण विश्वास है यद्यपि मैं उसे देखने को जीवित न रहूंगा तथापि मेरा यह संस्करण और वेद का भाष्य आद्यन्त बहुत हद तक भारत के भाग्य पर और उस देश की लाखों आत्माओं के विकास पर प्रभाव डालेगा। वेद इनके धर्म का मूल है और मुझे विश्वास है कि उनको यह दिखाना ही कि वह मूल क्या है, उस धर्म को नष्ट करने का एक मात्र उपाय है, जो गत तीन हजार वर्षों से उससे (वेद से) उत्पन्न हुआ है।''

On 16th Dec. 1868, he wrote a letter to them secretary of state for India, the Duke of Argyle, as below :- "The ancient religion of India is doomed, if Christianity dose not step in, whose fault will it be?"

१६ दिसम्बर १८६८ को उन्होंने तत्कालीन भारत के मन्त्री आरगायल के ड्यूक को निम्न पत्र लिखा-''भारत के प्राचीन धर्म का पतन हो गया है, यदि अब भी ईसाई धर्म नहीं प्रचलित होता है तो इसमें किसका दोष है?''

"On 29th Jan, 1882, he wrote to Byranjee Malbari thus, "As I told you on a former occasion, my thoughts while writing the lectures, Hibbert, were with the people of India. I wanted to tell to those few at least whom I might hope to reach in English, what the true historical value of this ancient religion is: as looked upon, not from an exclusively European or Christian but form a historical point of view. I wished to warm against two dangers, that of undervaluing and despering the

ancient national religion, as in often done by your half-Europeanised youths and that of over valuing it and interpreting it as it was never meant to be interpreted of which you may see a painful source in Dayanand Swaraswati's labour on the Vedas.

Accept the Veda as an ancient historical document, containing thoughts in accordance with the character of an ancient and simply minded race of men, and you will be able to admire it and to retain some of it, particularly the teachings of the Upanishads even in these modern days. But discover in it, "Steam Engines and electricity and European philosophy and morality" and you deprive it of its true character, you destroy its real value; and you break the historical continuity that ought to bind the present with the past. Accent the past as a reality, study it, try to understand it and you will then have less difficulty in finding the right way towards the future."

२९ जनवरी, १८८२ का श्री वाइरेन्जी मालाबारी को एक पत्र प्रो० मैक्समूलर ने लिखा- "जैसा कि मैंने पहले भी बताया है कि मेरे विचार "हिबर्ट" भाषण लिखते समय भारतीयों के बार में थे। मैं कम से कम उन थोड़े से लोगों को बताना चाहता हूँ, जिन तक मैं अपने विचार अंग्रेजी द्वारा पहुंचा सकता हूँ, कि उस प्राचीन धर्म का ऐतिहासिक महत्त्व क्या है, जैसा कि समझा जाता है न केवल यूरोपीय या ईसाइयत की दृष्टि से अपितु ऐतिहासिक दृष्टिकोण से। मैं दो आपत्तियों से चेतावनी देना चाहता हूं-प्रथम तो भारत के राष्ट्रीय धर्म की अवहेलना व न्यून मूल्यांकन करना जो प्राय: तुम्हारे अधूरे-यूरोपीय नवयुवकों द्वारा किया जाता है और दूसरे महत्त्व देना या ऐसा अनुवाद करना जैसा कभी नहीं किया गया। ऐसा दु:ख स्रोत महर्षि दयानन्द सरस्वती के वेदों पर परिश्रम में प्रदर्शित होता है। वेदों को प्राचीन ऐतिहासिक ग्रन्थ मानो जिनमें एक पुरानी और सरल प्रकृति की जाति के मनुष्यों के विचारों का चित्रण है और तब तुम इसकी प्रशंसा कर सकोगे। लेकिन इनमें खोज करो। "वाष्प इंजन, बिजली, यूरोपीय दर्शन और नैतिकता की"। **वेद को उसके सत्य रूप से अलग कर दो और उसके वास्तविक महत्त्व को नष्ट कर दो** और तुम प्राचीन और अर्वाचीन के ऐतिहासिक क्रम को, जो इन्हें बांधे हुए हैं, छिन्न-भिन्न कर दो। अतीत एक सत्य है, ऐसा मानो। उसका अध्ययन करो तब तुम्हें भविष्य में अपना ठीक मार्ग अपनाने में कम कठिनता होगी।"

पाठक यहाँ प्रो० साहब की अन्तरात्मा के भावों को समझ गये होंगे और वे किस प्रकार महर्षि दयानन्द की भाष्य-शैली से भयभीत प्रतीत होते हैं। समझते होंगे दयानन्द की शैली के आगे मेरी दाल न गलेगी।

He wrote to his son thus;-"Would you say that any one sacred book in superior to all others in the world ? It may sound prejudiced but taking all in all, I say, the new Testament. After that

I should place in Koran, which in its moral teaching in hardly more than a later edition of New Testament. Then would follow the Old Testament. Then would follow the Old Testament, the Southern Buddist Tripitika, the Taota kings of Laotize the king of Confucius, the Veda and Avesta. There is no doubt, however, that the ethical teaching is far more prominent in the Old and New Testament than in any other sacred book. Therein lies the distinctness to the Bible. Other sacred books are generally collections of whatever was remembered of ancient times."

उन्होंने अपने पुत्र को इस प्रकार लिखा- 'तुम पूछोगे कि विश्व में कौनसी पवित्र (धार्मिक) पुस्तक सर्वश्रेष्ठ है? शायद यह उत्तर पक्षपात पूर्ण प्रतीत हो, लेकिन मैं वास्तव में बाइबिल के न्यू टेस्टामेण्ट को कहूंगा। उसके पश्चात् कुरान को स्थान दूंगा, जो अपनी नैतिक शिक्षाओं में बमुश्किल न्यू टेस्टामेण्ट के संस्करण से श्रेष्ठ है। उसके पश्चात् क्रमशः ओल्ड टेस्टामेण्ट, दक्षिण बौद्धों की त्रिपिटिका, लाओट्ज के टाओज, राजा कन्फ्यूसिस, वेद और अवेस्ता। निस्सन्देह न्यू और ओल्ड टेस्टामेण्ट की नैतिक एवं चारित्रिक शिक्षाएं किसी भी अन्य पवित्र पुस्तक से कहीं उत्तम हैं। इसमें ही बाइबिल की अद्वितीयता अन्तर्निहित है। साधारणतया अन्य पवित्र पुस्तकें प्राचीनकाल के लोगों को जो स्मरण रहा उनका संचय मात्र हैं।''

In 1899; he wrote to Mr. N.K. Mujumdar, a Brahma Samajist as below,..."You know for how many years, I have watched your efforts to purify the popular religion of India and thereby to bring it never to the purity and perfection of other religious, particularly of Christianity. The first thing you have to do is to settle how much of your ancient religion you are willing to give up, if not all as utterly false, still as antiquated you have given up a great deal, polytheism, idolatry and your elaborate sacrificial worship.

Take then the New Testament and read it for yourself, and judge for yourselves, whether he words of Christ as contained in it satisfy you or not. Christ comes to you as he comes to us in the only trustworthy records presumed of him in the Gospels we have not even the right to consider how differently we interpret the ourselves. If you accept his teachings as there recorded, you are a Christian.

Tell me some of your chief difficulty that prevent you and your countrymen form openly following Christ, and when I write to you I shall do my best to explain how I Have met them and solved them. From my point of view, India, at least the best part of

it is already converted to Christianity. You want no persuasion to become a follower of Christ. Then make up your mind to work for yourselves. The bridge has been built for you by those who came before you. Step boldly forward, it will not break under you and you will find many friends to welcomes you on the other shore : and among them none more be delighted than you old friend and fellow labourer, F. Maxmuller.

१८९९ में प्रो० मैक्समूलर ने ब्रह्मसमाजी एन०के० मजूमदार को निम्नलिखित पत्र लिखा- "तुम जानते हो कि मैंने तुम्हारे भारत के प्रिय धर्म को शुद्ध करने के प्रयत्न एवं उसके द्वारा उसे अन्य धर्मों विशेषकर ईसाइयत की पवित्रता और पूर्णता के समीप लाने के कार्य का अनेकों वर्षों से अध्ययन किया है। सबसे पहले तुम्हें निश्चय करना है कि तुम अपने प्राचीन धर्म का कितना भाग त्यागने को तैयार हो यदि उसका सर्वस्व नहीं तो पुराना कहा जाता है। तुमने काफी मात्रा में त्याग दिया है-बहुदेवतावाद, मूर्त्तिपूजा और धूम-धाम से की गयी बलि पूजा।

तत्पश्चात् न्यूटेस्टामेण्ट उठाओ और स्वयं पढ़ो और स्वयं निर्णय करो कि उसमें लिखे ईसा के शब्द तुम्हें सन्तुष्ट करते हैं अथवा नहीं। ईसा के श्रद्धायुक्त वचनों में अन्तर्निहित उपदेश तुम तक वैसे ही आवेंगे जैसे वे हम तक आते हैं, विशेषकर यदि हम इसका स्वयं भिन्न अर्थ करें। यदि तुम उसकी शिक्षाओं को यथावत् स्वीकार करो तो तुम ईसाई हो (या हो सकते हो)। तुम मुझे अपनी मुख्य परेशानियाँ बताओ जो तुम्हें स्पष्ट रूप से ईसाई बनने में बाधा डालती हैं और जब मैं लिखूंगा मैं स्पष्ट करने की पूरी कोशिश करूंगा कि किस प्रकार मैंने और मेरे साथियों ने उनका मुकाबला किया। मेरी दृष्टि में भारत का मुख्य भाग ईसाई बन चुका है। तुम्हें ईसाई बनाने में समझाने बुझाने की जरूरत नहीं है। तब तुम स्वयं अपने (धर्म परिवर्तन के) बारे में विचार करो। तुमसे पूर्वगामियों ने पुल निर्माण कर दिया है निर्भयता पूर्वक आगे बढ़ो। यह तुम्हारे कारण टूटेगा नहीं और उस पार तुम्हारे स्वागत के लिये अनेकों मित्र हैं, जिनमें तुम्हारे पुराने मित्र और साथी फ्रेडरिक मैक्समूलर से ज्यादा कोई प्रसन्न न होगा।"

प्रोफेसर मैक्समूलर के उपर्युक्त उद्धरणों से आपको अब स्पष्ट हो गया होगा कि पचास वर्ष तक वेदाध्ययन करने पर उन्हें वेदों से क्या मिला और जो मिला, उसे वे किस प्रकार नष्ट-भ्रष्ट करके जनता के सामने रखने का निर्देश कर रहे हैं। ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त, जो मानव मात्र को एक परिवार के रूप में देखने, रहने और व्यवहार करने का आदेश देते हैं, उन्हें बचपने के विचार लगते हैं। ऋग्वेद जो स्टुअर्ट पिगोट के शब्दों में Illiad और Odyssey दोनों से मिलकर बराबर है, उनको सामान्य ज्ञान से भरा प्रतीत हुआ, जब कि सत्य यह है कि इस ईश्वरीय ज्ञान के भण्डार का सत्यार्थ अटकल बाजी या कुछ कल्पित मान्यताओं से नहीं निकलता। इसके समझने के लिये आर्ष प्रणाली की आवश्यकता है जिसका महर्षि दयानन्द ने पुनरुद्धार किया और जिसे वे अधिक मूल्यांकन कहते हैं। सच्चाई यह है कि वे उदात्त विचारों से पूर्ण वेद ज्ञान को हेय सिद्ध करें, ताकि उनका ईसाइयत के प्रचार का मार्ग सरल हो जावे, वे भावनाएं स्पष्ट

होती हैं, उनके आखिरी उद्धरण से। उनके संस्कृत और वेदाध्ययन का मूल उद्देश्य तो भारतीयों का धर्म-परिवर्तन करना था। उन्होंने समझ लिया था कि वेद भारतीयों के प्राण हैं, उनमें अश्रद्धा उत्पन्न करके ही हम उन्हें ईसाई बना सकते हैं। यही मार्ग उन्होंने अपनाया। आज भी उनके अनुयायी प्रो०एस्टलर ऋग्वेद का पुनर्गठन कर रहे हैं क्योंकि उनके विचार से यह विषयानुसार नहीं है। विषय तो उन्हें तब पता चलें जब वे सत्य जानना चाहें। वे तो भारतीयों की उनके धर्मग्रन्थों के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न करने पर तुले हुए हैं। आज से सौ वर्ष पहले एक मैक्समूलर था, मगर आज हजारों मैक्समूलर संस्कृत द्वारा भारतीय संस्कृति में रुचि दिखाने, धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन करने के नाम पर किस प्रकार वेदों का, धर्मशास्त्रों का अनर्थ करके धर्म परिवर्तन के कार्य को कर रहे हैं! यह भी कैसा अनुसन्धान है कि वेदों में कुछ भी हो मगर उनमें ढूंढो यूरोपीय दर्शन, बिजली, वाष्पयन्त्र आदि। निस्सन्देह पाश्चात्य विद्वानों ने अनुसन्धान के नाम पर वेदों के साथ जबर्दस्त अनर्थ एवं अन्याय किया है। कहाँ वेद की सार्वभौमिक, सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक, प्राणीमात्र के कल्याण की भावनाएं और कहाँ उनकी गिनती जो उनसे भी हेय, अमानुषिक और परस्पर विरोधी शिक्षाओं से भरे गए हैं। कहाँ सृष्टि के आदि में प्राणी मात्र के कल्याण के लिये दिया गया ईश्वरीय ज्ञान और कहां अल्पज्ञ मानव के मस्तिष्क की कल्पनाओं और इतिहास से भरे ये ग्रन्थ। कैसी समानता! रिसर्च **का अर्थ तो है-पदार्थ के सत्य ज्ञान का पता लगाना और वेदों के विषय में, उनका वही अर्थ करना, जिन भावनाओं से वे ओत-प्रोत हैं।**

मेरा विचार है कि आज नहीं तो कल महर्षि दयानन्द सरस्वती की भाष्यशैली ही वेद के सत्यार्थ को प्रकट करने में समर्थ होगी, ऐसा विश्व के वेद विद्वानों को स्वीकार करना पड़ेगा, जिसको प्रो० मैक्समूलर ने स्वीकार नहीं किया और अधिक मूल्यांकन करना कहा।।

Vaidika Vāg Jyotiḥ
ISSN 2277-4351
Vol.1, No.2 (75-79) Jan-jun 2013

पाश्चात्य वेदानुशीलन : कुछ तथ्यात्मक बातें

भवानीलाल भारतीय

(सेवानिवृत्त प्रोफेसर, दयानन्द शोधपीठ, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़)

पश्चिमी विद्वानों ने वेद तथा वैदिक साहित्य का अध्ययन करने के लिये जो परिश्रम किया है वह वस्तुतः प्रशंसनीय है। संस्कृतभाषा तथा उसका साहित्य यद्यपि मात्रा एवं गुण की दृष्टि से अनेक यूरोपीय भाषाओं से नितान्त समृद्ध था तथा उसे स्वायत्त करने में पर्याप्त अध्यवसाय, लगन तथा मनोनिवेश की आवश्यकता थी, तथापि पश्चिमी विद्वानों ने उस पर न केवल अधिकार ही प्राप्त किया, अपितु उसका पश्चिमी भाषाओं में अनुवाद करने का भी प्रयत्न किया। विलियम जोन्स, विल्सन, कोलबुक, मोनियर विलियम्स, मैक्डानल, कीथ आदि शतशः ऐसे विद्वान् हैं, जिनके जीवन का बृहदंश इसी संस्कृतवाङ्मय रूपी सागर के अवगाहन में ही व्यय हुआ।

पश्चिमी विद्वान् केवल वेद और संस्कृत साहित्य के गुणों पर मुग्ध होकर ही उसके अध्ययन में प्रवृत्त हुए थे, ऐसी बात नहीं है। इसके विपरीत इसका प्रयोजन द्विविध था। प्रथम तो वे भारत पर शासन करने के लिये जाने वाले नवयुवक अंग्रेजों को भारतीय साहित्य तथा परम्परा से परिचित कराना चाहते थे। साथ ही ईसाई प्रचारकों से भी वे यह अपेक्षा रखते थे कि उन्हें तुलनात्मक दृष्टि से उस साहित्य का पूर्ण परिज्ञान होना चाहिये, जिसमें उनके विरोधी धर्म के सिद्धान्त प्रतिपादित हुए।

प्रो॰ मोनियर विलियम्स ने अपनी Indian Wisdom (भारतीय प्रज्ञा) शीर्षक पुस्तक की भूमिका में यही बात लिखी-

''हमें यह नहीं भूल जाना चाहिये कि यह विशाल पूर्वीय साम्राज्य हमारे शासन में राजनीतिक तथा सामाजिक प्रयोगों का स्थान होने के लिये अथवा अपना व्यापार बढ़ाने, अपने को गर्वान्वित अनुभव करने या अपना सम्मान कराने के प्रयोजन के लिये नहीं सौंपा गया है। अपितु इसलिये कि एक विस्तृत जनसंख्या इसके द्वारा अनुरंजित, लाभान्वित एवं उत्थापित की जा सके और ईसांई धर्म के पुनरुद्धारक प्रभाव का इस देश में सर्वत्र प्रसार किया जा सके।''

(प्रथम संस्करण, प्रस्तावना, पृ॰११)

आगे चलकर मोनियर विलियम्स ने बताया कि ईसाई धर्म को बौद्ध, ब्राह्मण तथा इस्लाम-इन तीन प्रमुख मिथ्या धर्मों से टक्कर लेनी है। वह पुनः लिखता है-

''किस प्रकार इस समय विश्व में ईसाई धर्म से टक्कर लेने वाले तीन बड़े धार्मिक दर्शनों-ब्राह्मण धर्म, बौद्ध धर्म एवं इस्लाम के अध्ययन के

दृष्टिकोण से भारत पर हमारा आधिपत्य विशिष्ट उत्तरदायित्वों एवं अवसरों से संयुक्त है।''

प्रस्तावना, पृ०१९

ईसाई लेखक ने अपना मुखौटा उतारकर रख दिया। उसका अध्ययन न केवल गोरे साम्राज्य को प्रश्रय देने, अपितु ईसाई धर्म प्रचार द्वारा पौरस्त्य धर्मों का खण्डन करने में भी सहायक बनेगा-ऐसा उसका विश्वास है।

उसी विलियम्स ने संस्कृत अध्ययन को ईसाई प्रचार कार्य के परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास करते हुए एक भाषण दिया था, जिसका शीर्षक था-

"The study of sanskrit in relation to missionary work in India. A lecture delivered by Sir. M. Williyams, Boden Professor of Sanskrit in the University of Oxford."

ईसाई मत की सहायता के मिथ्या अभिमान को लेकर चलने वाला यह विद्वान् अन्य मतों के भौगोलिक ज्ञान का उपहास करता हुआ लिखता है-

''अन्य धार्मिक दर्शन बहुत-सी ऐसी वस्तुओं से भरे पड़े हैं, जो विज्ञान की प्रत्येक शाखा में मिथ्या हैं, जिससे भूगोल का एक सरल पाठ भी ऐसे धर्मों के प्रत्येक विचारवान् व्यक्ति की निष्ठा को हिलाने लगता है।''

प्रस्तावना, पाद टिप्पणी, पृ०४७

अन्य मतों की भौगोलिक परिकल्पनाओं का मजाक बनाने वाला प्रो० विलियम्स यह भूल जाता है कि बाईबिल में ही सृष्टि रचना विषयक जो बातें लिखी हैं, वे सर्वथा विज्ञान एवं सृष्टिविद्या की विरोधिनी हैं, जिन्हें पढ़-पढ़कर टामस पेन जैसे न जाने कितने पाश्चात्य मनीषी ईसाई विश्वासों को त्याग बैठे तथा जिन्होंने ईसाई मत ग्रन्थों की आलोचना करते हुए ऐसे ऐसे ग्रन्थ लिखे, जिसके कारण एक बार में ही पश्चिम से ईसाई मत की नींव हिल गयी थी।

इन्हीं लोगों ने जान-बूझकर वेदों का अध्ययन अपनी संकुचित एवं पक्षपातपूर्ण दृष्टि से किया। वेदों की उदात्त शिक्षा को आत्मसात् न कर पा सकने वाले विन्टरनिट्ज ने लिखा-

"We hear in the Rigveda incest, seduction, conjugal unfaithfulness, procuring of abortion, as also of deception, thebt and robbery."-History of Indian Literature, सं०१९२७, पृ०६७-६८।

ऋग्वेद के सूक्तों में सपिण्ड और सगोत्र दारकर्म, स्त्री अपहरण, व्यभिचार, भ्रूणहत्या तथा धोखा, चोरी और डकैती का उल्लेख है। पैगम्बर द्वारा लूट की बेटियों की कथा को भूलकर वैदिक साहित्य पर लगाया गया यह आरोप सर्वथा मिथ्या ही है।

ब्राह्मण-ग्रन्थों का अध्ययन तो और भी निराशाजनक रहा। मैक्समूलर ने अपने ग्रन्थ में लिखा-

"The brahmins judged by themselves are most disappointing. No one would have supposed that in so primitive a state of society there could have risen a literature which for pedantry and downright absurdity can hardly be matched anywhere. There is no talk of a striking thought. But these

are only like fragments and load. These works deserve to be studied as the physician studies the twaddle of idiots and the raving of mad men"

History of Sanskrit Literature, p-389.

अर्थात् ब्राह्मणग्रन्थों का जब स्वतन्त्र रूप से निरीक्षण किया जाए, तो वे अत्यन्त निराशाजनक प्रतीत होते हैं। कोई अनुमान भी नहीं कर सकता है कि समाज की प्राथमिक अवस्था में ऐसा वाङ्मय उत्पन्न हो सकता था जो वृथा पाण्डित्य प्रदर्शन और नितान्त उपहासास्पद होने की दृष्टि से अद्वितीय हो। इसमें सूझबूझ के विचार भी हैं परन्तु वे अत्यल्प हैं। वे सिक्कों का पीतल में जड़ित बहुमूल्य रत्नों के समान है। इन ग्रन्थों का अध्ययन इस प्रकार होना चाहिये जिस प्रकार कोई चिकित्सक किसी जड़मति की अनर्गल वाचालता तथा उसके उन्मत्त प्रलाप का अध्ययन करता है।

ऋषिप्रणीत ग्रन्थों को पागलों का प्रलाप कहनेवाला यह गर्वोन्मत्त ईसाई विचारक अपनी आँख का शहतीर नहीं देख पाता। एक अन्य पश्चिमी लेखक को ब्राह्मणग्रन्थों की व्याख्या प्रणाली जब समझ नें नहीं आयी तो वह लिख गया-

"For wearisome prolixity of exposations, charaterised by dogmatic assertions and a flimsy symbolism-rather than by serious reasoning, these works are perhaps not equaled anywhere."

जूलियस् एंगिल्स, शतपथ ब्राह्मण का अंग्रेजी अनुवाद, प्रस्तावना, खण्ड १, पृ०९

अर्थात् व्याख्या के भ्रान्तिकारी दुरूह विस्तार की विशेषता के लिये, जिसमें तर्कावकाशरहित और सारहीन प्रतीक हों तथा गम्भीर हेतु न हों, ये ग्रन्थ कदाचित् संसार में अपनी समता नहीं रखते। ब्राह्मणग्रन्थों की मन्त्रव्याख्या प्रणाली तथा उनकी प्रतीकात्मक व्यञ्जना को न समझने वाला पूर्वाग्रही व्यक्ति ही यह आक्षेप कर सकता है।

अडोल्प केगी ने जब ऋग्वेद का अध्ययन किया तो उसे इस संहिता के सूक्त विभिन्न कोटियों के प्रतीत हुए। उसने कहा-

Therefore the hymns very greatly in value, by the splendid productions of a divinely inspired poet we find a large number of unimportant, tiresome and overburdened compositions.

अतएव महत्ता में ये सूक्त पृथक्-पृथक् कोटियों के हैं। दिव्य प्रेरणा वाले कवियों के साथ-साथ हमें बहुत सी अनावश्यक, थकाने वाली और बोझिल कृतियाँ भी मिलती हैं।

यही बात उसने ब्राह्मणग्रन्थों के लिये भी लिखीं-

"The Brahmans, all of them marvelous products of priestly knowledge and perverted imagination. Dogma, mythology, legend, philosophy exegesis, etemology are here interwoven in reckless confusion. The

Rigveda, p.5

ब्राह्मणग्रन्थ सभी पौरोहित्यज्ञान और विकृत कल्पना की आश्चर्यजनक उपज हैं। अन्ध धारणा, कल्पित कथा-कहानी, दर्शन, व्याख्या, व्युत्पत्ति-ये

सब इनमें अन्धाधुन्ध ओतप्रोत किये गये हैं। वास्तविक बात यह है कि पाश्चात्य विद्वानों ने संहिता तथा ब्राह्मण भाग का अध्ययन भारतीय चिन्तन के प्रतिकूल दृष्टिकोण से किया। यही कारण है कि उन्हें मन्त्र तथा ब्राह्मणभाग में कथा-कहानी और पुराण-गाथा के तत्त्व दृष्टिगोचर होते हैं। वैदिक-विज्ञान को आत्मसात् करने की मेधा से ये लोग विहीन हैं।

आर्यों के देवताओं और पुरोहितों को 'बर्बर' संज्ञा से अभिहित करते हुए 'ऋग्वेद के धर्म' (रिलीजन दास वेद) के निम्न उद्धरण को विन्टरनित्स ने अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है-

"Sacrificial songs and litanies with which the priests of the Vadic-Aryans on a temple less place pf sacrifice, at the sacrificial fires strewn around with the grass, invoked their gods. Barbarian priests barbarian gods."

हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर-पृ०७५

यज्ञीय गीतों और निविदों में दोहराई गयी प्रार्थनाएं, जिनसे वैदिक आर्यों के पुरोहित मन्दिरविहीन यज्ञस्थल पर यज्ञाग्नियाँ जला कर इनके चारों ओर बर्हि (कुशा) बिछाकर अपने देवताओं का आह्वान करते थे। बर्बर पुरोहित और बर्बर देवता।

वैदिक देवताओं को बर्बर कहकर पुकारने वाला वेबर बाइबिल के उस ईश्वर को भूल गया जिसे प्रसन्न करने के लिये बछड़े को मार कर उसका रक्त वेदी पर छिड़कने का आदेश है। यदि पशुओं का बलिदान ही ईश्वर की पूजा का साधन है तो सामी मत वाले भी इसके लिये उतने ही दोषी हैं जितने परवर्ती शाक्त और वाममार्गी।

वास्तविक बात तो यह है कि ब्राह्मणग्रन्थों के रचयिताओं ने जिस प्रकार मन्त्रों की व्याख्या की थी, उसे भलीभांति समझने और स्वायत्त करने की क्षमता का इन विद्वानों में नितान्त अभाव था। तभी तो मारिस ब्लूमफील्ड ने लिखा-

"Both the performances and their explanations are treated in such a way, and spun out to such length, as to the reader there works (Brahman) are on the whole monuments of tediousness and intrinsic stupidity.

-रिलीजन ऑफ दी वेदाज, पृ०४४, (१९०८ ई०)

यज्ञ-क्रियाएं और उनके व्याख्यान, दोनों इस प्रकार लिखे गये और इतने लम्बे काते-बुने गये हैं कि ये ब्राह्मणग्रन्थ भ्रान्ति के स्मारक और अन्तर्निहित मूर्खता के ग्रन्थ बन गये हैं। इसी प्रसंग में उसने आगे लिखा-

"We are often vexed with their instable, contradictory and partly foolish statement."

रिलीजन ऑफ दी वेदाज-पृ०५७

भारत के धार्मिक चिन्तन तथा शास्त्रीय परम्परा से अनभिज्ञ व्यक्ति ही यह कह सकता है कि उनके अस्थिर, परस्पर विरुद्ध और आंशिक मूर्खतापूर्ण बयानों से हम तंग आ गये हैं। वस्तुतः रहस्यवादपूर्ण शैली और प्रतीकविधान को न जानने वाले पाश्चात्य समीक्षक ऐसी ही बातें लिखकर ब्राह्मणग्रन्थों को बदनाम करने की चेष्टा करते रहे हैं।

पाश्चात्यों की धारणाएं उनके भारतीय शिष्यों ने भी यथावत् ग्रहण कीं। अपनी बुद्धि का उपयोग करने की अपेक्षा बाबा वाक्यं प्रमाणम् की भांति उन्होंने पश्चिमी गुरुओं की हां में हां मिलाई। तभी तो बटकृष्ण घोष ने लिखा-

"Next to the Samhitas are the Brahmanas-an arid desert of puerile speculations ritual ceremonies.

वैदिक एज, पृ०२५

संहिताओं के पश्चात् ब्राह्मणग्रन्थ हैं-बालिश कल्पनाओं तथा याज्ञिक संस्कारों के शुष्क मरुस्थल।

आवश्यकता इस बात की है कि हम वैदिक साहित्य का अध्ययन करते समय पश्चिमी विद्वानों के इन पूर्वाग्रहों, पक्षपातपूर्ण धारणाओं तथा संकुचित विचारों से अपने आपको पूर्णतया मुक्त रखें, तभी हम उदात्त एवं महत्त्वपूर्ण भव्य सामग्री को आत्मसात् कर सकेंगे।

Vaidika Vāg Jyotiḥ
ISSN 2277-4351
Vol.1, No.2 (80-87) Jan-jun 2013

वेद और ईश्वर

(स्व०) श्रीपाद दामोदर सातवलेकर,
सञ्चालक-स्वाध्यायमण्डल, पारडी (बलसाड)

वेद पर विचार करने वाले यूरोपीय और भारतवर्षीय आधुनिक विद्वानों की सम्मति है कि 'वेद में ईश्वरविषयक विचार नहीं हैं, क्वचित् नासदीय सूक्त के समान कुछ विचार हैं, परन्तु वे अपवाद हैं। वेद में सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि पदार्थों की स्तुति है, परन्तु ब्रह्म, परमात्मा अथवा ईश्वरविषयक कोई विशेष विचार नहीं है।' इन विद्वानों का यह भी कहना है कि परमात्मविषयक कल्पना वेदसंहिताओं में नहीं थी, वह उपनिषदों में उत्पन्न होकर बढ़ गयी है और सगुण उपासना तो पुराणों से ही फैली है।

आधुनिक विद्वानों की इस सम्मति को देखकर जब हम प्राचीन भारतीय विद्वानों की सम्मति देखने का यत्न करते हैं, तब ऐसा प्रतीत होता है कि 'वेद समस्त विद्याओं का भाण्डार है और उसमें आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त की सभी विद्याएं निहित हैं।' उपनिषद् और गीता में तो स्पष्ट कहा गया है कि-

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि।। ओमित्येतत्।। कठोपनिषद् १.२.१५

'सम्पूर्ण वेद जिसका वर्णन करते हैं, सब तप जिसकी प्राप्ति के लिये किये जाते हैं और जिसके उद्देश्य से ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता है, वह (परमात्मा का) स्थान ओंकार से बोधित होता है।' यहाँ ऐसा स्पष्ट कहा है कि सम्पूर्ण वेदमन्त्र परमात्मा का ही वर्णन कर रहे हैं अर्थात् उपनिषत्कार की सम्मति इस विषय में निश्चित है। यही भाव गीता में भी है-

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः। (१५.१५)

'सम्पूर्ण वेदों के द्वारा मेरा (ईश्वर का) बोध होता है।' जो लोग कहते हैं कि वेद में ईश्वरविषयक ज्ञान नहीं है, उपनिषद् की और भगवद्गीता की सम्मति उनके विरुद्ध है।

वेद में ईश्वरविषयक ज्ञान है या नहीं, इसका जब हम विचार करने लगते हैं, तब हम उपर्युक्त वचनों को पृथक् नहीं कर सकते। आधुनिक विचारक जिन उपनिषदों में ब्रह्मज्ञान का वर्णन बतलाते हैं, उन्हीं उपनिषदों की यह सम्मति है कि वेद के सभी वचनों में एक ही अद्वितीय सत्ता का विचार किया गया है। यहाँ एक बात और यह विचारणीय है कि स्वयं उपनिषद् अपने ज्ञान के आविष्कार के प्रसंग में वेदसंहिता के वचनों को ही प्रमाणरूप से आदरणीय मानते हैं। जो लोग उपनिषदों का अध्ययन करते हैं, उन्हें इस बात का पता है। इससे सिद्ध होता है कि अध्यात्मज्ञान का उपदेश करने वाले उपनिषद् वेदमन्त्रों को ही प्रमाण मानते हैं, इसलिये वेदमन्त्रों में भी आत्मा, ब्रह्म अथवा ईश्वरविषयक ज्ञान अवश्य

होना चाहिये। स्वयं संहिता के मन्त्र में भी यह बात स्पष्ट शब्दों में कही है-

यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति ।

(ऋग्०१.१६४.३९)

'जो उसको नहीं जानता, वह वेद-मन्त्र लेकर क्या करेगा?' अर्थात् मन्त्र पढ़ने की सार्थकता तभी होगी जब उस पढ़नेवाले को (तत् वेद) उस परमपद का ज्ञान होगा। जिसको वह ज्ञान नहीं होगा, उसका वेदाध्ययन व्यर्थ है। इस मन्त्र का विचार करने पर भी यही स्पष्ट होता है कि वेदमन्त्रों की अन्तिम सिद्धि परमात्म पद का ज्ञान ही है।

इन सब वचनों पर मनन करने से हमें ऐसा स्पष्ट पता चलता है कि आधुनिक विद्वानों का यह मत कि वेद में ईश्वरविषयक ज्ञान नहीं है, सर्वथा अशुद्ध है। यहाँ कई पाठक कहेंगे कि 'केवल वचनों को उद्धृत करने से इस पक्ष की सिद्धि कैसे हो सकती है?' यह कहना ठीक है, अत: अब हम वेदसंहिता के मन्त्रों से ही ईश्वर-विषयक ज्ञान कैसे प्राप्त हो सकता है, इसका प्रमाणसहित विवरण प्रस्तुत करते हैं। इस विषय में सबसे प्रमुख यह वेदमन्त्र विचार करने योग्य है-

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ ऋग्०१.१६४.४६॥

'(एकं सत्) सत्य तत्त्व एक ही है, परन्तु (विप्राः बहुधा वदन्ति) ज्ञानी लोग उसका वर्णन अनेक रीति से करते हैं, उसी एक तत्त्व को इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य सुपर्ण, गरुत्मान्, यम और मातरिश्वा कहा जाता है।' अर्थात् उसी एक आत्मतत्त्व के ये अनेक नाम हैं। एक के अनेक नाम व्यवहार में भी होते हैं। एक ही मनुष्य पुत्र, पिता, भाई, पति, चाचा, मामा, भतीजा आदि नामों से पुकारा जाता है और यदि वह अधिकारी हुआ तो उसी को तहसीलदार, जज, दीवान आदि नामों से पुकारते हैं। व्यावहारिक नाते से ये विविध नाम होने पर भी इन अनेक नामों से बोधित होनेवाला मनुष्य एक ही होता है। इसी तरह **अग्नि, इन्द्र, पूषा आदि अनेक नामों से सम्बोधित होनेवाला एक ही ब्रह्म, आत्मा अथवा ईश्वर है। नाम अनेक होने पर भी तत्त्व अनेक नहीं हैं।**

'अग्नि, वायु आदि सृष्टि के अन्तर्गत तत्त्वों की ही पूजा वेद में कही है' यह मत उपर्युक्त वेदमन्त्र द्वारा खण्डित हो जाता है और 'अग्नि आदि अनेक नामों से एक ही आत्मा का बोध होता है' यह बात सिद्ध हो जाती है। इस पर भी आधुनिक विद्वानों का यह कथन है कि 'यह मन्त्र अर्वाचीन है, अत: प्रामाणिक नहीं है।' इस कारण अब हम इस विषय पर अन्य रीति से विचार करते हैं-

पाठक! 'इन्द्रिय' शब्द सब जानते हैं; 'इन्द्र' शब्द के साथ शक्तिवाचक 'य' प्रत्यय लगाकर (इन्द्र+य) इन्द्रिय शब्द बना है। 'इन्द्रिय' शब्द का मूल अर्थ 'इन्द्र की शक्ति' है। परन्तु वेदमन्त्रों में तथा भाषा में 'इन्द्रिय' शब्द आंख, नाक, कान, हाथ, पैर आदि इन्द्रियों के लिये प्रयुक्त होता है। क्योंकि इन आंख, नाक, कान, हाथ, पैर आदि से उनके अन्दर निवास करनेवाले 'इन्द्र' की शक्ति प्रकट होती है। यदि आंख, नाक, कानों में 'इन्द्र-शक्ति' कार्य कर रही है तो इससे नि:सन्देह यह अनुमान हो सकता है कि इनके पीछे अथवा बीच में इन्द्रदेव बैठा है। यदि इनके पीछे इन्द्रदेव न होता, तो इनमें इन्द्र-शक्ति कहाँ से आती और इनका इन्द्रिय नाम भी कैसे सार्थक होता? अत:

यह निःसन्देह सत्य है कि आंख, नाक, कान आदि के पीछे इन्द्रदेव विराजमान हैं, देखिए-

इसी प्रकार यहाँ पाठक अन्यान्य इन्द्रियों की भी कल्पना कर सकते हैं। इन्द्रदेव की शक्ति प्रथम बुद्धि से आती है और वहाँ से मन में तथा मन से इन्द्रियों में आकर कार्य करती है। इस विचार से सिद्ध होता है कि इन्द्र देवता अपने अन्दर है और उसकी शक्ति अपनी इन्द्रियों में आकर कार्य करती है। यह इन्द्रदेव हमारा 'आत्मा' ही है। वेद के मन्त्रों में जो इन्द्रदेवता का वर्णन है वह इसी आत्मा का वर्णन है। और जो आत्मा का वर्णन है वही परमात्मा का वर्णन होता है; क्योंकि घटाकाश, मठाकाश और महाकाश इन तीनों आकाशों में वस्तुतः एक ही आकाश है, अतः किसी भी आकाश का वर्णन किया जाये वह उस एक ही आकाश का वर्णन होता है, इसी तरह
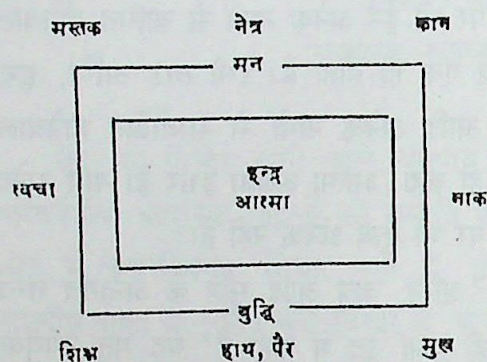
जीवात्मा	परमात्मा
इन्द्र	महेन्द्र
देव	महादेव
ब्रह्म	परब्रह्म, ज्येष्ठब्रह्म
ईश	ईश्वर, परमेश्वर
पुरुष	पुरुषोत्तम
नर	नारायण
रुद्र	महारुद्र
जीव	शिव

इत्यादि शब्द-प्रयोगों में विभिन्न वस्तुओं का वर्णन नहीं है, प्रत्युत एक ही सर्वगत स्थाणु आत्मा का वर्णन है। अतः अपनी इन्द्रियों के पीछे जो 'इन्द्र' है वही इन्द्र किंवा महेन्द्र, अग्नि आदि देवताओं के पीछे है, देखिए-

यहाँ भी पाठक अन्यान्य देवताओं की कल्पना कर सकते हैं। शरीर में इन्द्र है और सृष्टि में महेन्द्र है, शरीर में आत्मा है और सृष्टि में परमात्मा है. शरीर में देव है और जगत् में महादेव है, शरीर में ईश है और जगत् में परमेश्वर है। यहाँ जो छोटे-बड़े का भाव है वह अज्ञ जनों के बोध के लिये है, वस्तुतः इनमें भेद नहीं है क्योंकि दोनों स्थानों में एक ही तत्त्व है, इसका वर्णन भगवद्गीता में इस प्रकार है-

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनम्।
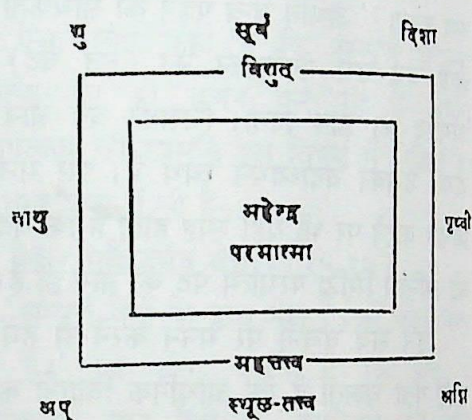
(२.२४)

'यह आत्मा नित्य (सर्वगतः) सर्वव्यापक (स्थाणुः) सर्वाधार, अचल और सनातन है।' ऐसी स्थिति में यदि हमने अपनी सुबोधता के लिये शरीरव्यापी आत्मा का नाम 'परमात्मा' किंवा 'महेन्द्र' रक्खा तो उस मूल एक तत्त्व में कौनसा भेद हो गया? अस्तु।

इस तरह वेदमन्त्रों में जो इन्द्र-देवता का वर्णन है, वह निःसन्देह इसी एक आत्मतत्त्व का ही वर्णन है। जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है, पिण्ड-ब्रह्माण्ड का न्याय एक ही है और इसी रीति से परमेश्वर का ज्ञान हो सकता है। वेदमन्त्रों में इसी रीति से परमेश्वर का ज्ञान दिया गया है। किसी को सन्देह न हो इसलिये यह बात वेद ने ही स्पष्ट कर दी है; देखिए-

ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम्।

(अथर्व०१०.७.१७)

'जो पुरुष में अर्थात् मनुष्य के शरीर में ब्रह्म देखते हैं, वे परमेष्ठी को भी जान सकते हैं।' अर्थात् मनुष्य के शरीर में जो आत्मा, ब्रह्म अथवा इन्द्र का साक्षात्कार करते हैं, वे समष्टि-जगत् में परमात्मा, परब्रह्म किंवा महेन्द्र को जान सकते हैं क्योंकि पिण्ड-ब्रह्माण्ड का एक ही नियम है।

इस विवेचन से पाठकों ने जान लिया होगा कि वेद का इन्द्र देवता किसी तरह परमेश्वर का बोध करता है और साथ ही जीवात्मा का भी वर्णन करता है। जो लोग इस तरह वेद का अध्ययन करेंगे, वे ही वेदमन्त्रों में सर्वत्र परमात्म-ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ होंगे। आधुनिक लोग केवल शब्द का ऊपरी अर्थ देखते हैं, अतः वे वेदमन्त्रों के मुख्यार्थ से वंचित रह जाते हैं। शरीर में जीवात्मा है, इतना ज्ञान होने से ही जगत् में परमात्मा है, यह ज्ञान हो जाता है। जो कहते हैं कि इन्द्र देवता किसी अन्य पदार्थ का बोध कराता है, वे गलती पर हैं। व्याकरणाचार्य भगवान् पाणिनि मुनि ने भी 'इन्द्रिय' शब्द की सिद्धि करते हुए कहा है-

इन्द्रियं इन्द्रलिंगं इन्द्रदृष्टं इन्द्रसृष्टं इन्द्रजुष्टं इन्द्रदत्तं इति वा। अष्टा०५.२.९३॥

इन्द्रः आत्मा तस्य लिङ्गं करणेन कर्तुरनुमानात्। (कौमुदी)

'इन्द्र नाम आत्मा का है, यह आत्मा अन्दर है ऐसा अनुमान इन्द्रिय व्यापार देखने से होता है, क्योंकि यह इन्द्र ने किया है, बनाया है और वही इससे कार्य करता है'। इस सूत्र के देखने से यह सिद्ध होता है कि 'इन्द्र' शब्द का जो अर्थ हमने कहा है वह ऋषिसम्मत है। अतः वेद का इन्द्र देवता शरीरस्थित स्थायी जीवात्मा का और सृष्टिव्यापक परमात्मा का समानतया बोधक है। उदाहरण देखिये-

इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा शमस्य च शृङ्गिणो वज्रबाहुः। सेदु राजा क्षयति चर्षणीनामरान् न नेमिः परि ता बभूव॥

ऋग्०१.३२.१५॥

'इन्द्र स्थावर-जङ्गम-जगत् का राजा है, वही प्रभु शान्त और सींगवाले मारक पशुओं का भी स्वामी है। सब प्रजाओं का वही एक राजा है। जिस तरह नेमि के चारों ओर चक्र होता है, उसी प्रकार उस प्रभु के चारों ओर यह विश्व है।' इस प्रकार के मन्त्रों में इन्द्र शब्द परमात्मा किंवा परमेश्वर वाचक है। अब जीवात्मा के विषय में देखिए-

अहमिन्द्रो न परा जिग्य इद्धनं न मृत्यवेऽव तस्थे कदा चन। ऋग्०१०.४८.५॥

'मैं इन्द्र हूं, मेरा पराजय नहीं होता, यह धन मेरे पास ही रहता है, मैं कभी नहीं मरता, मैं अमर हूँ। यह वर्णन शरीर में रहने वाले प्रबुद्ध जीवात्मा का है। यहाँ पाठक इस बात को ध्यान में रक्खें कि आज जो जीव है, वही कालान्तर में उन्नत होता हुआ शिव बन जाता है। आज जो छोटा इन्द्र है, वही एक दिन महेन्द्र बनेगा, आज जो बद्ध है वही मुक्त होगा। इसीलिए जीवात्मा

और परमात्मा के नाम एक ही वेद में आये हैं। अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि नाम इसी कारण वेद में इन दोनों के हैं। पिता-पुत्र के नाम एक होना ही सिद्ध करता है कि जो आज पुत्र है वही कुछ समय व्यतीत होने के पश्चात् पिता बनेगा। प्रत्येक पुत्र पिता होने का अधिकारी है, इसी तरह प्रत्येक आत्मा परमात्मा बनेगा, प्रत्येक पुरुष कभी न कभी पुरुषोत्तम हो जायेगा। इस तरह वेदमन्त्रों में जैसा पुरुष का वर्णन है वैसा ही पुरुषोत्तम का भी वर्णन है, इसीलिये श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है कि 'सब वेदों से ईश्वर का ही वर्णन होता है।' (गीता १५.१५) यहाँ तक जो विवेचन किया गया है उससे यह वैदिक वर्णन की शैली सुस्पष्ट हो जायेगी।

अब विशेष स्पष्टीकरण के लिये अग्निदेव का थोड़ा सा वर्णन देखते हैं-

त्वं ह्यग्ने प्रथमो मनोताऽस्या धियो अभवो दस्म होता। (ऋग्०६.१.१)

'हे अग्ने! (त्वं प्रथमः मनोता) तू पहला मननकर्त्ता है और हे (दस्म) दर्शनीय अग्ने! तू (धियः होता) बुद्धि का प्रदाता है।' यहाँ सायणाचार्य 'मनोता' शब्द का अर्थ 'मनः यत्र ऊतं सम्बद्धं भवति' ऐसा करते हैं। जहाँ मन सम्बद्ध हुआ होता है, यह बात प्रत्येक मनुष्य अपने अन्तःकरण का विचार करके जान सकता है। इसी प्रकार बुद्धि का दाता यहाँ आत्मा ही है। इसलिये यह वर्णन जीवात्मपरक है। यही विषय ऐतरेयब्राह्मण में अधिक स्पष्ट किया गया है। अब यह भाग देखिये-

'त्वं ह्यग्ने प्रथमो मनोतेति। ...तिस्रो वै देवानां मनोतास्तामु हि तेषां मनांस्योतानि। वाग्वै देवानां मनोता, तस्यां हि तेषां मनांस्योतानि। गौर्वै देवानां मनोता...अग्निर्वै देवानां मनोता...।' (ऐत०ब्रा०२.१०)

'देवों के तीन मनोता हैं, वाक् देवों का मनोता है क्योंकि उसमें देवों का मन सम्बन्धित हुआ होता है। गौ और अग्नि ये दूसरे दो मनोता हैं।' यहाँ जो वाणी को मनोता कहा है, उससे शरीरान्तर्गत जीवात्मा के साथ इस मन्त्र का सम्बन्ध स्पष्ट होता है-

अयं होता प्रथमः पश्यतेममिदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु। अयं स जज्ञे ध्रुव आ निषत्तोऽमर्त्यस्तन्वा३ वर्धमानः॥ ऋग्०६.९.४॥

'यह पहिला हवनकर्त्ता अग्नि मरणधर्मवाले मनुष्यों में अमर ज्योतिरूप है। यह (अमर्त्यः तन्वा वर्धमानः) अमर होता हुआ भी शरीर के साथ बढ़ता है और इस जीवनरूप यज्ञ में स्थिर है।' यहाँ मर्त्य-शरीरों में जो अमर आत्मा की ज्योति है, उस आत्माग्नि का ही वर्णन है। मनुष्य का जीवन रूप शतसांवत्सरिक यज्ञ चल रहा है और इस जीवनयज्ञ में यही आत्म ज्योतिरूप अमर आत्माग्नि प्रदीप है। श्रीसायणाचार्य इस मन्त्र का अर्थ (मर्त्येषु..शरीरेषु अमृतं मरणरहितं इदं ज्योतिः जाठररूपेण वर्तते) 'मरनेवाले शरीर में अमरज्योति उदर में पाचक-शक्ति रूप से है।' ऐसा करते हैं। तात्पर्य, यहाँ का अग्नि आग नहीं है, परन्तु मर्त्य-शरीरों में जो अमर सत्य तत्त्व है, वही है। अब 'अग्नि' शब्द से परमेश्वर वर्णन निम्नलिखित मन्त्र में देखिये-

अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम। स नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च॥ ऋग्०१.२४.२॥

'हम (अमृतानाम् प्रथमस्य अग्नेः) अमर देवों में पहले अग्निदेव का (चारु नाम) सुन्दर नाम (मनामहे) मन में लाते हैं। वही हम सबको प्रकृति में (पुनः दात्) पुनः-पुनः डालता है और जिससे हम अपने माता-पिता को बारम्बार देख सकते हैं।'

यहाँ सम्पूर्ण अमर देवों में पहले प्रथम स्थान में रहने वाले अग्निदेव का वर्णन है, यह अग्निदेव जीवात्मा को पुनर्जन्म का योग करता है। यह निःसन्देह परमेश्वर है। अतः उसके नाम-स्मरण करने का उल्लेख है। यहाँ कई पाठक प्रश्न करेंगे कि यहाँ तो 'अग्नि' नाम स्पष्ट है, अतः इससे मुख्य देव का ग्रहण कैसे किया जा सकता है? इस विषय में यह कथन है कि वेद में बहुधा सभी देवताओं के लिये प्रायः सभी नाम प्रयुक्त हुए हैं, अर्थात् अग्नि को इन्द्र कहा है और इन्द्र को भी अग्नि कहा है। इसी प्रकार अन्य देवताओं को भी अन्य देवताओं के नाम दिये हैं। इस कारण हम कह सकते हैं कि इन शब्दों का जो अर्थ लौकिक संस्कृत में है, वही अर्थ वेदमन्त्र में नहीं है, देखिये-

एष ब्रह्मा एष इन्द्रः॥ (ऐ०उ०५.३)

स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः॥

(महानारा०११.१३, कैवल्य ९)

स इन्द्रः सोऽग्निः सोऽक्षरः।

(नृ०पू०१.४)

एष हि खल्वात्मा इन्द्रः॥

(मैत्री०उप०६.८)

'वही ब्रह्मा, इन्द्र, शिव, अग्नि, अक्षर और आत्मा है।' अर्थात् ये सब नाम एक सत्तत्व के हैं। जो तत्त्व पूर्वोक्त ऋग्वेद के 'इन्द्रं मित्रं' इत्यादि मन्त्र में कहा गया था, वही यहाँ कहा गया है। वेद में भी अग्नि को 'तू इन्द्र है' ऐसा कहा है और इन्द्र को ही 'तू अग्नि है' ऐसा कहा है, देखिये-

त्वम॑ग्न॒ इन्द्रो॑ वृष॒भः स॒ताम॑सि॒ त्वं विष्णु॑रुरुगा॒यो न॑म॒स्यः॑।

त्वं ब्र॒ह्मा र॑यि॒विद् ब्र॑ह्मणस्पते॒ त्वं वि॑धर्तः सचसे॒ पुर॑न्ध्या॥

त्वम॑ग्ने॒ राजा॒ वरु॑णो धृ॒तव्र॑त॒स्त्वं मि॒त्रो भ॑वसि द॒स्म ईड्य॑ः।

त्वम॑र्य॒मा सत्प॑ति॒र्यस्य॑ सं॒भुजं॒ त्वमंशो॑ वि॒दथे॑ देव भाज॒युः॥

त्वम॑ग्ने॒ त्वष्टा॑ विध॒ते सु॒वीर्यं॒ तव॒ ग्नावो॑ मित्रमहः सजा॒त्यम्।

त्वमा॑शु॒हेमा॑ ररिषे॒ स्वश्व्यं॒ त्वं न॒रां शर्धो॑ असि पुरू॒वसु॑ः॥

त्वम॑ग्ने रु॒द्रो असु॑रो म॒हो दि॒वस्त्वं शर्धो॒ मारु॑तं पृ॒क्ष ईशिषे।

त्वं वातै॑ररु॒णैर्या॑सि शंग॒यस्त्वं पू॒षा वि॑ध॒तः पा॑सि॒ नु त्मना॑॥

त्वम॑ग्ने द्रविणो॒दा अ॑र॒कृते॒ त्वं दे॒वः स॑वि॒ता र॑त्न॒धा अ॑सि।

त्वं भगो॑ नृपते॒ वस्व॑ ईशिषे॒ त्वं पा॒युर्दमे॒ यस्तेऽवि॑धत्॥ ऋग्०२.१.३-७॥

इन मन्त्रों में अग्नि के लिये 'इन्द्र, वृषभ, विष्णु, ब्रह्मा, ब्रह्मणस्पति, राजा वरुण, मित्र, अर्यमा, अंश, त्वष्टा, रुद्र, असुर, भग' ये शब्द प्रयुक्त किये हैं। इससे भी 'एक सत्य वस्तु के अनेक नाम होते हैं' यही बात सिद्ध होती है और अग्नि शब्द से 'आग' अर्थ लेने वालों का पक्ष खण्डित हो जाता है। जो यूरोपियन विद्वान् कहते हैं कि ऋग्वेद का 'इन्द्रं मित्रं०' मन्त्र आधुनिक होने के कारण अप्रमाण है, वे यदि, वही बात इस प्रकार अग्निसूक्त में भी कही है, देखेंगे, तो उनको अपना

मत बदलना पड़ेगा। केवल अग्निसूक्त में ही नहीं, प्रायः सब देवताओं के विषय में ऐसा वर्णन आता है अर्थात् वेद का अग्नि इन्द्र है और इन्द्र अग्नि है, अतः दोनों एक हैं, यह बात इसी से सिद्ध होगी, और यदि इसी विचार-परम्परा से सब देवताओं से एक ही सत्य वस्तु का ज्ञान हुआ तो फिर 'सब वेद एक ही परमपद का वर्णन करते हैं।' यही बात सिद्ध हुई। फिर 'सब वेद एक ईश्वर का वर्णन करते हैं' इस विधान में किसी को भी सन्देह ही नहीं रहेगा।

यदि अग्नि और इन्द्र एक ही हैं, तो दोनों के वर्णन एक दूसरे के लिये भी प्रयुक्त हो सकते हैं। इतनी बात कोई न भी माने, परन्तु इन्द्रसूक्तों में जो इन्द्र देवता का स्वरूप वर्णन किया है, वह तो मानना ही पड़ेगा, वह देखिये-

रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय। इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश॥ ऋग्०६.४७.१८॥

'इन्द्र प्रत्येक पदार्थ के रूप में तद्रूप होकर रहा है, यह उसका रूप देखनेयोग्य है। यह इन्द्र अपनी शक्तियों से बहुत रूप धारण करता है।'

इस मन्त्र में तो यह बात निःसन्देह कही गयी है कि 'परमेश्वर ही अपनी माया से अनेक रूप धारण करता है' यह वेदान्तशास्त्र का कथन है और वह इन्द्र सूक्त में है। यह मन्त्र देखकर म०विल्सन ने कहा है कि

Indra is here indetified with parameshwara, the supreme first cause, identical with creation.

इन्द्रसूक्त में इस प्रकार परमेश्वर का स्वरूप वर्णन किया है।

यूरोपियन लोगों के अन्तःकरणों में इस विषय में सन्देह होना स्वाभाविक है, परन्तु भारतीय विद्वान् जब कुछ भी विचार न करते हुए उन्हीं के सुर में सुर मिलाकर उन्हीं के समान नाचने लगते हैं, तब आश्चर्य होता है। अस्तु, जो बात इन्द्र के विषय में कही है, वह अग्नि के विषय में भी सत्य है, क्योंकि अग्नि और इन्द्र एक ही हैं, भिन्न नहीं, यह बात इससे पूर्व कही जा चुकी है।

इस तरह वेद में अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि देवताओं के वर्णन से एक ही परमात्मा का वर्णन किया गया है, जो पाठक इस प्रकार देखेंगे उनको यह बात स्पष्ट हो जायेगी कि वेद के मन्त्र एक ही परमतत्त्व का बोध करते हैं।

वेद में जो ब्रह्म के वर्णन के सूक्त हैं, जैसे नासदीय सूक्त, वे तो स्पष्ट ही हैं; अथर्ववेद में अध्यात्मविद्या के अनेक सूक्त हैं, उनके विषय में भी किसी को सन्देह नहीं हो सकता, परन्तु यहाँ हमने वेद के उस भाग से परमेश्वर का वर्णन सिद्ध करने का यत्न किया है कि जिसके विषय में सर्वसाधारण को सन्देह है। आशा है कि विद्वान् इसका विचार करके इस दृष्टि से वेदमन्त्रों का मनन करेंगे और वेद के मन्त्रों से जो परमपद का ज्ञान मिलता है, वह प्राप्त कर उस परमपद की प्राप्ति के लिए यत्न करेंगे।

अब इस स्थान पर एक शंका का विचार करना आवश्यक है। वह यह कि 'परमेश्वर की क्या आवश्यकता है और जब उसकी हमें आवश्यकता नहीं तो फिर हम उसका विचार ही क्यों करें?' आजकल के शिथिल लोग ऐसा प्रश्न करते हैं, अतः इस पर भी थोड़ा सा विचार करना अत्यन्त आवश्यक है।

इस प्रकार की शंका करनेवाले अपनी परतन्त्रता को नहीं जानते। जानते होते तो ऐसा प्रश्न ही नहीं कर सकते। मनुष्य की प्रत्येक शक्ति अल्प है और उस शक्ति का विकास विश्व की महती शक्ति के साथ सम्बन्ध होने पर ही सम्भव है। उदाहरण के लिये देखिये-

मनुष्य के आँख है, पर वह सूर्य के होने पर ही कार्य कर सकती है, सूर्य के बिना वह शक्तिहीन है। सूर्य प्रकाश के साथ उसका सम्बन्ध होने से उसकी शक्ति विकसित होती है, अन्यथा नहीं। अर्थात् मनुष्य की दृष्टि अल्पशक्तियुक्त है और वह महती सौर शक्ति से सम्बन्धित होने पर ही कार्यक्षम होती है।

मनुष्य की दूसरी इन्द्रिय कान है, वह आकाश के साथ सम्बन्धित होने पर ही कार्य कर सकती है। जहाँ आकाश नहीं, वहाँ कान कुछ भी कार्य नहीं कर सकते अर्थात् मनुष्य के छोटे से कान महान् आकाश के साथ सम्बन्धित हैं।

मनुष्य के शरीर के घन और द्रवभाग क्रमशः अन्न और जल के साथ सम्बन्धित हैं। खाने को अन्न तथा पीने को पानी न मिले तो ये शरीर के भाग क्षीण होंगे और अन्त में मृत्यु की शरण जाने की अवस्था प्राप्त होगी।

मनुष्य के शरीर में प्राण है और वह विश्वव्यापक महाप्राण वायु के साथ सम्बन्धित है। यदि विश्वव्यापक महाप्राण से मानवी-शरीर का प्राण वियुक्त हो जाये तो जीवन ही समाप्त हो जाये।

इसी प्रकार मानवी शरीर के सब सत्त्वांश विश्व व्यापक महातत्त्वों के साथ सम्बन्धित हैं। मनुष्य-शरीर में एक भी ऐसा तत्त्व नहीं कि जो विश्वव्यापक महातत्त्वों से वियुक्त होने पर भी कार्यक्षम रह सके।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि जब ऐसी वस्तुस्थिति है तो हमारा आत्मा किसके साथ सम्बन्धित होकर अपनी उन्नति कर सकता है, इसका विचार प्रत्येक विचारक को करना चाहिये। यदि परब्रह्म, परमात्मा, परमेश्वर अथवा ईश्वर को न माना जाये, तो उस निराधार स्थिति में हमारा यह स्फुलिंगरूप आत्मा किस प्रकार विकसित हो सकता है? अतः नास्तिक-तत्त्वज्ञान अपने आत्मा को निराधार बनानेवाला है, इसलिये कदापि स्वीकार करने योग्य नहीं है। और आस्तिक-तत्त्वज्ञान अपने आत्मा को महती परमात्मशक्ति का अखण्ड आधार देता है, इसीलिये यह सर्वथा आदरणीय है।

पुत्र कुछ समय के पश्चात् पिता अवश्य होगा, परन्तु बालपन में उसको अपने पिता के आधार से ही अपनी उन्नति करनी चाहिये। इसी प्रकार प्रत्येक नर कभी न कभी नारायण अवश्य बनेगा; परन्तु जब तक वह नारायण नहीं बनता, केवल नर ही है, तब तक उसको नारायण की सहायता लेनी ही चाहिये। इसीलिये ईश्वर में भक्ति करना प्रत्येक नर के लिये योग्य है। 'भगवान्' की भक्ति से ही 'नर' का निःसन्देह 'विजय' होगा। अतः कुतर्क छोड़कर प्रत्येक मनुष्य भगवान् की शरण ग्रहणकर आत्मा को कृतकृत्य करे।

Vaidika Vāg Jyotiḥ
ISSN 2277-4351
Vol.1, No.2 (88-95) Jan-jun 2013

यो देवानां नामधा एक एव

(स्व०) वासुदेवशरण अग्रवाल, लखनऊ (उत्तर प्रदेश)

वेदों में '**एको देव:**' यह एक ब्रह्मविषयक सिद्धान्त है। किन्तु अनेक देवों के रूप में उस ब्रह्म की नाना दिव्यशक्तियों का वर्णन किया गया है। अनेक देवों के नाम उस एक ब्रह्म की ही संज्ञाएं हैं। ऋषियों ने आरम्भ में ही इस तत्त्व को सम्यक् रूप से जान लिया था और निश्चित शब्दों में इसका उल्लेख किया है-

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा। यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या।। ऋग्०१०.८२.३।।

अर्थात् वह ईश्वर सबका पिता या पालनं करनेवाला जनक है। वही इस विश्व के सब धर्मों का विधान करनेवाला है। वह समस्त भुवनों के विज्ञान का अधिपति है। देवों के जितने नाम हैं, वे सब उसी एक ईश्वर में घटित होते हैं। फिर भी उसका रहस्य ज्ञात नहीं होता। अतएव उसका सबसे महान् संकेत 'संप्रश्न' है, अर्थात् वह एक अज्ञेय तत्त्व है, जिसे सदा एक प्रश्न के रूप में ही मानना होगा। वह बुद्धि के लिये अप्रतर्क्य है। वह एक गूढ़ पहेली है। जिसे 'शीर्ष-प्रहेलिका' भी कहा गया है। उसकी मीमांसा बहुधा रूपों में की जाती है, फिर भी उस प्रश्न का कोई समाधान या उत्तर प्राप्त नहीं होता। वह ब्रह्म या ईश्वर-तत्त्व 'प्राणमय सुपर्ण' भी कहा गया है। अनेक कवि उस एक सुपर्ण का अपनी वाक्-शक्ति से नाना रूपों में वर्णन करते हैं-

सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।। ऋग्०१०.११४.५।।

एक ब्रह्म के बहुधा भाव की कल्पना ऋग्वेद का मुख्य विषय दार्शनिक सिद्धान्त है। इस विलक्षण ब्रह्मतत्त्व के लिये 'एक' और 'बहुधा' इन दोनों पक्षों का प्रतिपादन वेदों में पाया जाता है। ऋषियों ने अपने मानसिक आनन्द की अनुभूति से गद्‌गद होकर एक ओर उस अखण्ड चैतन्य के लिये ''एकमेवाद्वितीयम्' कहा है और दूसरी ओर उसकी नाना-देवात्मक शक्तियों से मुग्ध होकर उसी के सम्बन्ध में 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' यह मत प्रकट किया है-

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।। ऋग्०१.१६४.४६।।

अर्थात् इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, गरुत्मान्, सुपर्ण, यम, मातरिश्वा-ये सब एक ही ईश्वर के अनेक नाम हैं। ज्ञानीलोग जिस दृष्टिकोण से ईश्वर की शक्ति का विचार करते हैं, वैसी ही संज्ञा या नाम के द्वारा उसका वर्णन करते हैं। वस्तुतः उस ईश्वर की सहस्रों महिमाएं हैं। उस अनन्त महिमाशाली ब्रह्म के उतने ही नाम हैं, जितनी वाक् की शक्तियाँ हैं-

सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद्ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्॥ ऋग्०१.११४.९॥

जितने छन्द हैं, सब उसी ईश्वर की महिमा का वर्णन करते हैं। वह सब छन्दों या वेद-वाणियों में व्याप्त विश्वरूप वृषभ है या वर्षारूप प्राण है। उसी की महती वर्षण-शक्ति से विश्व जन्म ले रहा है। उन सब छन्दों को जिनका पर्यवसान ब्रह्म में है, कौन पूरी तरह ज़ानता है? किसी की बुद्धि में सृष्टि के सब अर्थ प्रतिभासित हो सके हैं?

कश्छन्दसां योगमा वेद धीरः।

ऋग्०१०.११४.९॥

कवियों ने अपनी बुद्धि के बल से इस विश्व का यज्ञ के रूप में वर्णन किया है-

यज्ञं विमाय कवयो मनीषः।

ऋग्०१०.११४.६॥

और इस विराट् यज्ञ का यज्ञपति देव वही एक ब्रह्म है। उस यज्ञ के देव को अग्नि भी कहा है-

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्॥ ऋग्०१.१.१॥

वही यज्ञ का देवता है, वही पुरोहित, ऋत्विज और होता है और वही प्रत्येक अध्यात्मकेन्द्र में मन, प्राण और पञ्चभूत-इन सात रत्नों का आधान करनेवाला है। इन्हीं सात रत्नों को पुराणों की परिभाषा में **'महदादिविशेषान्ताः'** कहा गया है।

ऋग्वेद में जब ईश्वर को 'अग्नि' शब्द से कहा गया है तो सब देवों का उसमें अन्तर्भाव समझ लिया जाता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों की स्पष्ट परिभाषा है-

अग्निः सर्वा देवताः। (शत०१.६.३.२०)

जहाँ अग्नि की सत्ता होती है, वहीं सब देवता निवास करते हैं। अग्नि के रूप में विश्व की सब दिव्य शक्तियाँ या देवगण मानव के अध्यात्मकेन्द्र में निवास करते हैं। मूलतः ऋग्वेद में ही अग्नि के सर्वदेवमय होने का विस्तार से उल्लेख किया गया है-

'हे अग्नि! तुम प्रतिदिन अपने तेज से प्रकाशित होते हो। तुम जलों के भीतर से और पाषाण के भीतर से एवं वन-वृक्षों और औषधियों के भीतर से प्रकट होते हो। हे मनुष्यों के सम्राट्! तुम्हारा शुद्ध रूप सब ओर से प्रकट हो रहा है।

'हे अग्नि! यज्ञ के साथ प्रधान ऋत्विज तुम ही हो, तुम ही हमारे गृहपति यजमान हो।

'हे अग्नि! तुम वृषभ इन्द्र हो। तुम ही त्रिलोकी को अपने तीन विराट् चरणों में नापनेवाले विष्णु हो। तुम ब्रह्मा और ब्रह्मणस्पति हो। तुम अपनी शक्ति से सबको धारण करते हो।'

'हे अग्नि! तुम व्रतधारी राजा वरुण हो। तुम ही सब चमत्कारों का विधान करनेवाले मित्र हो। तुम सत्पति अर्यमा हो। तुम ही अंशु सोम हो।

'हे अग्नि! तुम ही त्वष्टा हो।'

'हे अग्नि! तुम द्युलोक के महान् शक्तिशाली असुर रुद्र हो। तुम ही मरुद्गण हो और तुम ही अन्नपति हो। तुम ही वेगवान् वात के रूप में गमन करते हो। तुम ही रक्षक पूषा हो।

'तुम ही द्रविणोदा अर्थात् द्रविणरूप रत्नों के देने वाले हो। तुम ही सविता देव हो। तुम ही भग हो। तुम ही वसुओं के स्वामी हो।

'हे अग्नि! तुम्हें ही लोग पिता, भ्राता, पुत्र और सखा के रूप में मानते हैं।

'हे अग्नि! तुम ही ऋभु हो और निकट होने से सदा पूजनीय हो।

'हे अग्नि! तुम ही इडा, भारती, सरस्वती- इन तीन देवियों के रूप हो।

'हे अग्नि! तुम ही श्रेष्ठतम प्राणशक्ति हो (उत्तमं वयः)। तुम ही श्री और तुम ही रयि हो।

'हे अग्नि! तुम ही आदित्य के मुख और देवों की जिह्वा हो। तुम्हारे द्वारा ही विश्वेदेव और मर्त्य-मनुष्य अन्न लेते हैं। तुम ओषधियों के पवित्र शिशु हो।

'तुम्हारी महिमा द्युलोक और पृथिवी में व्याप्त है।' (ऋग्०२.१.१-१५)

इस प्रकार इस सूक्त में सर्वदेवत्व या सर्वदेवमय अग्नि के स्वरूप का उपबृंहण पाया जाता है, जो ऋग्वेद का मौलिक दृष्टिकोण है। जहाँ अग्नि रहता है, वहीं वह अपने साथ सब देवों को ले आता है **(स देवाँ एह वक्षति)**। अथवा इसी को दूसरे प्रकार से कहें तो जो अग्नि को समर्पित किया जाता है, वह उसे सब देवों के पास ले जाता है अर्थात् अग्नि ही देवों तक पहुंचने का साधन है **(स इद्देवेषु गच्छति)**।

प्रश्न होता है कि यह अग्नि क्या है? एक ओर विराट्रूप में अग्नि ब्रह्म की संज्ञा है, जो ब्रह्म सब देवों का अधिष्ठान और आरम्भण है और दूसरी ओर अग्नि का स्वरूप प्राण है। इसे ही ऋग्वेद में और भगवद्गीता में वैश्वानर कहा गया है-

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥
(श्रीमद्भगवद्गीता १५.१४)

अर्थात् प्रत्येक अध्यात्मकेन्द्र या शरीर में प्राण और अपान के संघर्ष से उत्पन्न जो वायु में अन्न को पचानेवाली शक्ति है, वही वैश्वानर अग्नि है और वही ईश्वर का रूप है। वह वैश्वानर एक ओर सब प्राणधारियों के भीतर है और दूसरी ओर समस्त विश्व के लिये वही सूर्यरूप में विद्यमान है। इसे ही अध्यात्म और अधिदैवत का नित्य सम्बन्ध कहते हैं। इसी के लिये ऋग्वेद में कहा है-

वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः। इतो जातो विश्वमिदं वि चष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण॥ ऋग्०१.९८.१॥

'वैश्वानर अग्नि इसी पाञ्चभौतिक देह में अभिव्यक्त होता है और यहीं उसकी समस्त चेष्टाएं होती हैं। प्राणापान के रूप में इस शरीर में विद्यमान रहते हुए वैश्वानर अग्नि सूर्य के साथ स्पर्धा करता है, अर्थात् विराट् सूर्य और आध्यात्मिक वैश्वानर इन दोनों का छन्द या स्पन्दन समान है।' जैसा कहा है-

प्राणो वै समञ्चनप्रसारणम्।

(शत०८.१.४.१०)

अर्थात् समस्त विश्व का संकोच-विकास अग्नि, प्राण या ब्रह्म के नियमित स्पन्दन का ही रूप है। यह ऋषियों का अनुभव था कि उसे ही अग्नि, हिरण्यगर्भ, प्रजापति, नारायण, प्राण-इन अनेक नामों से कहा गया है-

ब्रह्मयज्ञो वा एष यत् पूर्वेषां चयनम्।

(मै०उप०१.१)।

अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तःपुरुषे।

(बृह०५.९.११; मैत्रा०२.६)।

अग्निर्वायुरादित्यः कालो यमः प्राणोऽन्नम्।
ब्रह्म रुद्रो विष्णुरित्येकेऽन्यमभिध्यायन्ति॥

(मैत्रा०४...

ब्रह्मणो वावैता अग्र्यास्तनवः परस्यांमृत-स्याशरीरस्य।। (मैत्रा०४.६)।

ब्रह्म खल्विदं वाव सर्वम्। (मैत्रा०४.६)।

हिरण्यवर्णः शकुनो हृद्यादित्ये प्रतिष्ठितः।

मद्‌गुर्हंसस्तेजोवृषः सोऽस्मिन्नग्नौ यजामहे।।

(मैत्रा०उप०६.३४)।

इस प्रकार सृष्टि का जो मूलतत्त्व है, उसके ही अनेक नाम वेदों में आते हैं। वह प्राण या चेतनारूप है। जैसा कहा है-

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।

यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम्।।

नमस्ते प्राण क्रन्दाय नमस्ते स्तनयित्नवे।

नमस्ते प्राण विद्युते नमस्ते प्राण वर्षते।।

प्राणो विराट् प्राणो देष्ट्री प्राणं सर्व उपासते।

प्राणो ह सूर्यश्चन्द्रमाः प्राणमाहुः प्रजापतिम्।।

प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातो ह प्राण उच्यते।

प्राणे ह भूतं भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।।

अथर्व०११.४.१,२,१२,१५।।

इस प्रकार प्रणा ही प्रजापति और प्राण ही ईश्वर एवं प्राण ही ब्रह्म है। यह भारतीय अध्यात्म-विद्या की आधारशिला है। जो विराट् जगत् में ब्रह्म है, वही अध्यात्म में प्राण, प्राणचेतना, संवित् या आत्मा है। किन्तु यह उल्लेखनीय है कि विराट् रूप में ब्रह्म है उसकी शक्ति अनादि, अनन्त है। अनेक नामों और रूपों से उसी की अभिव्यक्ति हो रही है। इस विश्व को एक वृक्ष या अश्वत्थ कहा गया है। इस प्रकार के अनन्त वृक्षों की समष्टि परात्पर ब्रह्मरूपी वन है। उस परात्पर ब्रह्म से परे और कुछ नहीं है-

तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास।।

ऋग्०१०.१२९.२।।

ऋग्वेद में प्रश्न किया है-

किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः। मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद् यदध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन्।।

ऋग्०१०.८१.४।।

'वह कौन-सा वन था और कौन-सा वृक्ष था, जिससे गढ़-छीलकर द्युलोक और पृथिवी बनाया गया है? हे मनीषियो! अपने मन से उसका विचार करो, जिसने भुवनों को धारण कर रखा है और जो सबका अधिष्ठाता है।

इन प्रश्नों का उत्तर तैत्तिरीय ब्राह्मण में इस प्रकार पाया जाता है-

ब्रह्म तद्वनं ब्रह्म स वृक्ष आस

यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।

मनीषिणो मनसा प्रब्रवीनि वो

ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्।।

तै०ब्रा०२.८.९.६।।

अर्थात् ब्रह्म ही वह वन है और ब्रह्म ही वह वृक्ष है, जिससे गढ़-छीलकर द्युलोक और पृथिवी को बनाया गया। हे मनीषियो! मैं अपने मन के विचार से कहता हूँ कि ब्रह्म ही लोकों को धारण करते हुए इनका अधिष्ठाता है।

इस प्रकार वैदिक मान्यता के अनुसार ब्रह्म ही परमतत्त्व है। उसी में सब देवों, सब लोकों और सब यज्ञों का पर्यवसान है। वही महान् शक्तिसम्पन्न इन्द्र है। उसके समान और कोई नहीं है और न उससे बढ़कर कोई है। यदि यह आकाश और यह पृथिवी अनन्तगुणा बड़ी हो जायें तो भी

उस ईश्वर की महिमा को पूरी तरह प्रकट नहीं कर सकतीं। यह ऋषियों की युक्ति थी कि उस महान् ब्रह्म को कभी **सहस्रशीर्षः पुरुषः** के रूप में कहा है, कभी दशाङ्गुल पुरुष के रूप में, कभी महिमादेवों के रूप में, कभी विराट् के रूप में, तो कभी धाता-विधाता के रूप में। इस प्रकार उसके नाम और रूपों का अन्त नहीं है। वही सूर्य रूप में प्रत्यक्ष दर्शन दे रहा है। जैसा यजुर्वेद के ब्रह्मोद्य प्रकरण में स्पष्ट कहा है-

ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः। यजु०२३.४८॥

अर्थात् जो सूर्य की ज्योति है, उससे ब्रह्म की ज्योति का कुछ आभास प्राप्त हो रहा है। यह सूर्य भी एक नहीं है-किन्तु इसी की सूत्ररेखा में पिरोये हुए कोटि-कोटि सूर्य इस अनन्त ब्रह्माण्ड में हैं और ब्रह्म की ज्योति उन सबसे महान् है। इस प्रकार ऋषियों ने देखा है कि ब्रह्म या देवतत्त्व नामरूपों का अन्त नहीं है। जहां तक सहस्राक्षरा वाणी का विस्तार है, सभी ब्रह्म के नाम हैं और जहाँ तक विश्व में रूपों का विस्तार है, सभी ब्रह्मतत्त्व की अभिव्यक्ति है।

इस पद्धति पर सोचते हुए वेदों में ऋषियों ने भगवान् का रुद्र रूप में वर्णन किया। उसकी भी दो कोटियां हैं। एक ओर कहा गया है-

एको रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे।

अर्थात् रुद्र एक है दो नहीं। दूसरी ओर कहा है-

असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधि भूम्याम्।
तेषांꣳ सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि॥

यजु०१६.५४

अर्थात् रुद्रों की संख्या नहीं है। वे अनन्त हैं। वस्तुतः जितने देव हैं, वे सब भगवान् रुद्र के ही रूप हैं। विश्व में जितने नर-नारी, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, वन-वनस्पति अथवा जितने भी प्राणधारी चेतन पदार्थ हैं, वे सब रुद्र की शक्ति से ही जीवित हैं। इनमें से लगभग शताधिक रुद्रों का परिगणन यजुर्वेद के शतरुद्री अध्याय में किया गया है। वह बहुत ही उदात्त वर्णन है, जिसमें व्यापक दृष्टि से विश्व और सामाजिक व्यष्टि और समष्टि जीवनपर दृष्टि डाले हुए अनेक प्राणियों का परिगणन पाया जाता है। उन नामों में साधु और असाधु, सत् और असत्, व्यक्ति और विराट्, अध्यात्म और अधिदैवत जगत् को रुद्र का रूप मानकर प्रणामभाव अर्पित किया गया है। **'नमस्ते रुद्र मन्यवे'** यही सबकी टेक है। रुद्र के दो रूप हैं। एक घोर, दूसरा अघोर या शान्त। तस्कर, स्तेन, व्रात आदि घोर रूप हैं। नाना व्याधियें और रोगादि भी रुद्र के घोर रूप हैं। जो अशिव और पापिष्ठ हैं, उन्हें शान्त और शिव बनाना यही रुद्रों के नमस्कार का फल है। आज संसार में हम देख रहे हैं, कि शस्त्रास्त्रधारी, निषंगी, कवची, उग्र, भीम, अग्रेवध, दूरेवध (दूर से मारनेवाले), हन्त्र और हनीयस्, इषुकृत्, धनुष्कृत्-इन प्राचीन रुद्रों के अनेक नये-नये रूप दुर्मति एवं अघपूर्ण भावों से मानव-जाति को आतंकित कर रहे हैं। इनसे त्राण का एकमात्र उपाय भगवान् रुद्र की शिवरूप में आराधना है-

यथा शमसद् द्विपदे चतुष्पदे विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन्ननातुरम्॥

या ते रुद्र शिवा तनूः शिवा विश्वाहा भेषजी।
शिवा रुतस्य भेषजी तया नो मृड जीवसे॥
मीढुष्टम शिवतम शिवो नः सुमना भव।

यजु०१६.४८,४९,५१॥

मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः। मा नो वीरान् रुद्र भामिनो वधीर्हविष्मन्तः सदमित् त्वा हवामहे॥ यजु०१६.१६॥

इन वाक्यों में आर्त मानव का भगवान् के समक्ष चीत्कार पाया जाता है कि उनकी करुणा का अवतार हमारे पुत्र-पौत्रों पर, गोष्ठ और गौओं पर, ग्राम और बस्तियों पर बना रहे और विध्वंस की ज्वालाओं से हमारी रक्षा हो।

रुद्र का घोर रूप मृत्यु या काल है, जो लोक का क्षय और संहार करने के लिये सदा प्रवृत्त है। अणु-अस्त्र और अन्न का अभाव दोनों महाकाल ही हैं। इनसे रक्षा का उपाय भगवान् के प्रति शुद्ध हृदय से किया हुआ नमस्कार या प्रणामभाव है। उसी के साथ भगवान् के अनन्त नामों का स्मरण है। नामों के अपरिमित और असंख्यात शब्दों में ऋषियों ने संग्रह या संक्षेप की रीति से ओंकार या प्रणव को ईश्वर का वाचक कहा है-

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥

कठोप०-१.२.१५॥

ओंकार बीजगणित के संकेत की भांति सब वेदों का सार कहा गया है। वेदों में चतुष्पाद ब्रह्म ही परमतत्त्व है। उसके एक पाद में निर्गुण ब्रह्म है और तीन पादों में त्रिगुणात्मक विश्व है। इसी को ओंकार की अ,उ,म् और चौथी अर्धमात्रा से व्यक्त किया है। ईश्वर के नामों का जो शब्दात्मक विस्तार है, उसे ही प्रणव के संक्षिप्त प्रतीक द्वारा व्यक्त किया है। '**तज्जपस्तदर्थभावनम्**' का फल यही है कि चतुष्पाद ब्रह्म के स्वरूप का स्थूल और सूक्ष्म अनुभव किया जाये, विश्व के जन्म, स्थिति और संहार के दुर्धर्ष नियम हैं, उनका परिज्ञान किया जाये और भगवान् की अनन्त करुणा का आवाहन करते हुए आत्मसमर्पण किया जाये।

भगवान् की महाकरुणा के आवाहन का एक उत्तम उदाहरण शुनःशेप की करुण प्रार्थना है। शुनःशेप के पिता अजीगर्त ने उसे वरुण की बलि देने के लिये यूप से बांध दिया। राजा हरिश्चन्द्र ने अपने पुत्र रोहिताश्व की रक्षा के लिये उसके स्थान पर शुनःशेप की बलि देनी चाही। इस प्रकार शुनःशेप के चारों ओर निष्ठुर मृत्यु का ताना-बाना बुन गया। उसने रक्षा का कोई उपाय न देखकर भगवान् वरुण से ही प्रार्थना की।

'हे देव वरुण! हम मनुष्य होने के नाते आपके व्रत का दिन-प्रति-दिन उलङ्घन करते हैं।

'हमें मृत्यु के अर्पण मत करो और अपने क्रोध का भागी मत बनाओ।

'हे वरुण! आपनी वाणियों से हम तुम्हारे हृदय को अपने अनुकूल बनाना चाहते हैं, जैसे कोई सारथि रश्मियों से अश्वों को वश में करता है।

'मेरे मनोभाव मुझसे दूर-दूर भागते हैं। केवल धनप्राप्ति की उनकी इच्छा है, जैसे पक्षी अपने घोंसलों में जाते हैं।

'कब हम दूर-द्रष्टा, शक्तिशाली, वरुण को प्रसन्न कर सकेंगे।

'मित्र और वरुण दोनों एक साथ विचरते हैं, व्रती उपासक कभी नहीं छोड़ते।

'हे वरुण! तुम आकाश में उड़नेवाले पक्षियों के और समुद्र में चलती हुई नावों के मार्ग को जानते हो।

'तुम घूमते हुए कालचक्र के बारह महीनों को और तेरहवें मलमास को भी जानते हो।

'तुम वायु के बृहत् मार्ग को और देवों के स्थानों को भी जानते हो।

'तुम व्रत को धारण करके मनुष्यों के बीच में निवास करते हुए संकल्पपूर्वक अपने साम्राज्य का संचालन करते हो।

'वहीं से तुम विश्व के भूत-भविष्य का अवलोकन करते हो।

'वह बुद्धिशाली आदित्य हमारे मार्गों को सुशोभन बनाये और आयुष्य प्रदान करे।

'स्वर्ण का परिधान पहने हुए वरुण ने अपने -आपको सुन्दर वेश में अलंकृत किया है। उसके गुप्तचर उसके सब ओर बैठे हैं।

'कोई शत्रु उसका पराभव नहीं कर सकता और कोई मनुष्यद्रोही उसका सामना नहीं करता और न कोई दुष्टकर्मा उस देव से विरोध करता है।

'जो मनुष्यों को सम्पूर्ण यश देता है, और हमें भी यशस्वी बनाता है।

'जैसे गौएं चरने के लिये वन में जाती हैं, वैसे ही हमारे मनोभाव वरुण के समीप जाते हैं।

'हे वरुण! तुम्हारे लिये मैंने मधु का संग्रह किया है। हम सब मिलकर तुम्हारी स्तुति करें। तुम्हें जो प्रिय हो उसका तुम भक्षण करो।

'मैंने उसके रमणीय रथ को पृथिवी पर आते हुए देखा है और उसने मेरे इस स्तोत्र को सुन लिया है।

'हे वरुण ! मेरे इस आवाहन को कृपापूर्वक सुनो। मैं रक्षा के लिये तुम्हें पुकार रहा हूँ।

'हे मेधावी देव! तुम समस्त पृथिवी और द्युलोक के स्वामी हो। अपने मार्ग पर चलते हुए तुम मेरा आवाहन सुनो।

'हे देव! हमारे जीवन की रक्षा के लिये तुम हमारे उत्तम, मध्यम और अधम बन्धनों से मुक्त करो। (ऋग्०१.२५.१-२१)

शुनःशेप की इस तरह करुण प्रार्थना से भगवान् वरुण प्रसन्न हुए और उसे उसके जीवन का वरदान दिया। हरिश्चन्द्र का यूप और अजीगर्त का परशु वरुण देव की कृपा से शुनःशेप का कुछ नहीं बिगाड़ सके।

इसी प्रकार की एक सच्ची प्रार्थना वरुण के लिये भक्त वसिष्ठ ने की थी-

'हे राजा वरुण! मैं मृत्यु के कारण इस पृथिवी की मिट्टी के घर में प्रवेश न करूं। हे बलधारी देव! प्रसन्न होओ। रक्षा करो।

'मैं मशक की तरह फूला हुआ अहंकार से फुरफुराता घूमता हूँ। हे बलधारी देव! प्रसन्न होओ, रक्षा करो।

'हे पवित्र और शक्तिशाली देव! अपने संकल्प की दीनता के कारण मैं तुमसे विपरीत रहा हूँ। हे बलधारी देव! प्रसन्न होओ, रक्षा करो।

'हे देव! जल के बीच में खड़ा हुआ भी मैं प्यासा हूँ। ह बलधारी देव! प्रसन्न होओ, रक्षा करो।

'हे वरुण! मनुष्य होने के नाते हमने जो पाप देवों के विरुद्ध किया है और हे देव! अपने चित्त की न्यूनता से हमने जो तुम्हारे धर्म का उल्लंघन किया है, उसके कारण हमारा विनाश मत करो।'

इस प्रकार सच्चे हृदय से भगवान् के प्रति अपने पापों की क्षमा-प्रार्थना मनुष्य को पापमुक्त करती है और वह नयी शक्ति प्राप्त करके पवित्र, दिव्य जीवन का अधिकारी बनता है। देव और मानव की सजातीयता का सिद्धान्त वेद को मान्य है।

अस्ति हि वः सजात्यं रिशादसो देवासो अस्त्याप्यम्। ऋग्०८.२७.१०॥

अतः मनुष्य का अधिकार है कि अपने दिव्य स्वरूप की अनुभूति करे और नाम-स्मरण एवं प्रार्थना के द्वारा अनन्त अनादि देवता के साथ सम्बन्ध स्थापित करे।

Vaidika Vāg Jyotiḥ
ISSN 2277-4351

Vol.1, No.2 (96-102) Jan-jun 2013

वेद का चरम लक्ष्य-वैदिक स्तुति-प्रार्थना-उपासना और उसका स्वरूप

(स्व०) युधिष्ठिर मीमांसक, रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, सोनीपत (हरियाणा)

यद्यपि चिरकाल से लोक में यह प्रसिद्धि है कि वैदिक संहिताओं में केवल याज्ञिक कर्मकाण्ड का ही वर्णन है, अध्यात्म विषय केवल उपनिषदों में ही प्रतिपादित किया गया है।[1] वस्तुतः प्राचीन सिद्धान्तानुसार यह विचार सर्वथा मिथ्या है। प्राचीन मतानुसार वैदिक संहिताओं का कर्मकाण्ड में विनियोग होने पर भी वह उसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय नहीं है। उनका मुख्य प्रतिपाद्य विषय तो अध्यात्म ही है। वैदिक मन्त्रों का कर्मकाण्ड में विनियोग मात्र किया गया है और कई स्थानों पर तो वह विनियोग इतना अस्वाभाविक है कि साधारण संस्कृतज्ञ भी जान सकता है कि वह मन्त्रों के साथ बलात् जोड़ा गया है, मन्त्रार्थ का उसके साथ दूर का भी सम्बन्ध नहीं। इसके लिये हम यहाँ तीन उदाहरण उपस्थित करते हैं-

उद्बुध्यस्वाग्ने-मन्त्र बुधग्रह की पूजा में विनियुक्त किया गया है।

शन्नोदेवी-मन्त्र शनैश्चरग्रह की पूजा में विनियुक्त है।

दधिक्राव्णो अकारिषम्-मन्त्र दधिभक्षण में विनियुक्त है।

प्रथम मन्त्र में, '**बुध्यस्व**' क्रिया पद है। उसके एक देश बुध का बुध-ग्रह नामक साथ सादृश्य होने से वह बुध की पूजा में विनियुक्त किया गया है। 'शन्नो देवी' मन्त्र का सन्धिजरूप शन् का शनि-ग्रह के एक देश के साथ सादृश्य है और '**दधिक्राव्णो अकारिषम्**' के दधिभाग दही-वाचक दधि के साथ सादृश्यमात्र है। इन मन्त्रों का वस्तुतः बुध, शनि ग्रह और दधि (दही) के साथ दूर का भी सम्बन्ध नहीं है।

इसके विपरीत मन्त्रों में अध्यात्मविषय की प्रतीति स्पष्ट एवं युक्तिसंगत प्रतीत होती है। हां, यह प्रतीति प्रायः उन्हीं को होती है, जो सात्त्विक और सन्मात्रनिबद्धबुद्धि योगीजन हों। स्कन्दस्वामी ने निरुक्तभाष्यटीका ७.५ में इस विषय पर बहुत ही सुन्दर प्रकाश डाला है। वह लिखता है-

तत्र अध्यात्मविदस्तावत् सन्मात्रनिबद्धबुद्धयः शिथिलीभूतकर्मग्रहग्रन्थयो भिन्नविषयभवसंक्रम-स्थानवैराग्याभ्यासवशात् समासादितस्थिरसमाधयो निरस्तबाह्यविषयैषणा निरुद्धान्तः-करणवृत्तयो निष्कम्पदीपकल्पाः क्षेत्रज्ञज्ञानमननाः...अन्यं न पश्यन्ति न शृण्वन्ति।

अर्थात् जो अध्यात्मवित् हैं, जिनकी बुद्धियाँ सन् मात्र (परमसत्ता ब्रह्म) में निबद्ध हैं, जिनके कर्मों की ग्रह-ग्रन्थियाँ शिथिलीभूत हो चुकी हैं, जिन्होंने विभिन्न विषयरूपी संसार-सागर में वैराग्य और अभ्यास के द्वारा स्थिर समाधि प्राप्त कर ली है, जिनकी बाह्य विषयों की एषणा समाप्त हो चुकी है, अन्तःकरण की वृत्तियाँ निरुद्ध हो गयी हैं। निष्कम्प प्रदीप के समान, जो क्षेत्रज्ञ (ब्रह्म)-के ज्ञान में ही

मनन करनेवाले हैं, वे (परमात्मा से) अन्य को न देखते हैं, न सुनते हैं, (ऐसे महानुभावों को ही वेदों में अध्यात्मज्ञान की प्रतीति होती है, अन्य को नहीं)।

इतना ही नहीं, वेदों में अग्नि आदि के विप्र, कवि, द्विजन्मा, विपश्चित्, प्रमति आदि विशेषण बहुत अधिक होते हैं। ये विशेषण अभिधा (मुख्य) वृत्ति से चेतन-ज्ञानवान् पदार्थ में ही घट सकते हैं, भौतिक जड़ अग्नि से नहीं। शास्त्रकारों का सिद्धान्त है कि जहाँ मुख्यार्थ की बाधा हो वहाँ लक्षणार्थ की कल्पना की जाती है, अन्यथा नहीं। अतः यदि कथंचित् पहले यह निश्चित हो जाए कि मन्त्रों में श्रुत, अग्नि आदि भौतिक जड़ पदार्थों के ही वाचक हैं, किसी चेतन पदार्थ के नहीं, तब तो कवि आदि शब्दों में लक्षणार्थ की कल्पना स्वीकार की जा सकती है। वेद का मुख्यार्थ क्या है? इसमें वेद स्वयं स्वतः प्रमाण है। इस दृष्टि से कवि, विपश्चित् आदि पदों के सान्निध्य से अग्निपद उन-उन मन्त्रों में चेतन ब्रह्म वा आत्मा का ही वाचक है। आचार्य शंकर ने अग्नि आदि पदों को ब्रह्म का वाचक माना है। उन्होंने वेदान्तसूत्र (१.२.२८) के भाष्य में लिखा है-

अग्निशब्दोऽपि अग्रणीत्वादियोगाश्रयेण परमात्मविषय एव भविष्यति।

अर्थात् अग्नि शब्द भी 'आगे ले जानेवाला' आदि योगार्थ के द्वारा परमात्मविषयक ही होगा।

शंकराचार्य के इस वचन से यह भी स्पष्ट होता है कि यास्क के 'अग्रणीर्भवति' (निरु०७.४) आदि निर्वचन अध्यात्म प्रक्रिया में भी अनुगत हैं।

वेद स्वयं इस तत्त्व को निम्न ऋचा में अत्यन्त स्पष्ट रूप में दर्शाता है-

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ ऋग्०१.१६४.४६॥

अर्थात् एक सत् (ब्रह्म)-को ही मेधावीजन इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान्, यम और मातरिश्वा कहते हैं।

इस प्रकार वेद की अन्तःसाक्षिता के पश्चात् हम प्राचीन वाङ्मय से कतिपय ऐसे वचन उद्धृत करते हैं, जिनसे स्पष्ट हो जायेगा कि वेदों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय अध्यात्म ही है। यथा-

१. कठोपनिषद् की एक श्रुति है-

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति।
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥ (१.२.१५)

अर्थात् सब वेद जिस पद का अभ्यास (पुनः-पुनः कथन) करते हैं, सारे तपस्वी लोग जिसका कथन करते हैं, जिसकी चाहना करते हुए ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, उस पद को तुझे संग्रह से बताता हूं। वह 'ओम्' है।

२. उपर्युक्त कठश्रुति के अनुसार योगीराज श्रीकृष्ण ने भी कहा है-

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति।
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥ गीता०८.११॥

अर्थात् जिस अक्षर अविनाशी ब्रह्म का वेदविद् कथन करते हैं, वीतराग यति लोग जिसमें प्रविष्ट होते हैं (जिसको प्राप्त करते हैं), जिसकी

चाहना करते हुए ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं, उस पद को संक्षेप में तुम्हारे लिये कहता हूँ।

३. आगे पुनः श्रीकृष्ण ने कहा है-

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः। गीता०१५.१५

अर्थात् सब वेदों से मैं (ब्रह्म) ही जानने योग्य हूँ।

४. महर्षि व्यास अपने पुत्र शुक को अध्यात्म का उपदेश करके अन्त में उपसंहार करते हुए कहते हैं-

दशेदमृक्सहस्राणि निर्मथ्यामृतमद्भुतम्।
नवनीतं यथा दध्नः काष्ठादग्निर्यथैव च।
तथैव विदुषां ज्ञानं पुत्रहेतोः समुद्धृतम्॥
महा०शान्ति०२४६.१४-१५॥

अर्थात् दस सहस्र ऋचाओं का मन्थन करके मैंने यह अद्भुत अमृत निकाला है। मक्खन जैसे दही से और अग्नि जैसे काष्ठ से मन्थन करके निकाली जाती है, उसी प्रकार विद्वानों-ब्रह्मविदों का ज्ञान पुत्र के लिये (१० सहस्र ऋचाओं का मन्थन करके) निकाला है।

५. आचार्य कात्यायन ने ऋग्वेद के देवता (प्रतिपाद्य विषय) का निर्देश करनेवाले 'सर्वानुक्रमणी' ग्रन्थ के आरम्भ में लिखा है-

समस्तानां प्रजापतिः। ओङ्कारः सर्वदेवत्यः पारमेष्ठ्यो ब्राह्मो वा दैव आध्यात्मिकः।

अर्थात् समस्त ऋचाओं का प्रजापति देवता (=प्रतिपाद्य विषय) है। ओङ्कार सर्वदेवतावाला है। परमेष्ठी वा ब्रह्मरूप देव अध्यात्मविषयक है।

६. यास्क मुनि ने भी निरुक्त ७.४ में लिखा है- **महाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते।**

अर्थात्-अत्यन्त ऐश्वर्यशाली विविध शक्तिसम्पन्न होने से एक ही आत्मा बहुत प्रकार से (विभिन्न गुणों द्वारा) स्तुति किया जाता है।

यदि उपर्युक्त उद्धरणों पर गम्भीरता से विचार किया जाये, तो ज्ञात होगा कि कठश्रुति का **'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'** लेख तभी उपपन्न होगा, जब कि सम्पूर्ण वेद उसी एक पद 'ओ३म्' का आमनन=अभ्यास=बार-बार कथन=उपदेश करते हों। यदि वेद ओ३म्=ब्रह्म=अध्यात्म का प्रतिपादन नहीं करते, केवल यज्ञों के ही प्रतिपादक हों, तो कठश्रुति का लेख प्रमाद-वचन होगा। गीता के दोनों वचनों में कठश्रुति की ही प्रतिध्वनि है। अतः गीता का भी यह मत है कि वेद अध्यात्म के प्रतिपादक हैं। चतुर्थ प्रमाण में स्पष्ट कहा है कि ऋग्वेद की दस सहस्र ऋचाओं का मन्थन करके उक्त अध्यात्म-ज्ञानरस मक्खन निकाला है। व्यास जी ने यहाँ दही से नवनीत और काष्ठ से अग्नि के निकालने के दो दृष्टान्त बड़े ही सुन्दर दिये हैं। इनसे उक्त विषय अति स्पष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह कि जैसे दही के प्रत्येक अंश में विद्यमान नवनीत का अंश ही मन्थन द्वारा पृथक् किया जाता है अथवा प्रकट किया जाता है, उसी प्रकार ऋग्वेद की सभी ऋचाओं में अध्यात्म ज्ञान के अंश विद्यमान हैं, उन्हीं को मन्थन द्वारा प्रकाश में लाया गया। पांचवें प्रमाण में कात्यायन ने स्पष्ट कह दिया कि समस्त ऋचाओं का प्रजापति ओंकार ही देवता-प्रतिपाद्य विषय है। छठे प्रमाण में यास्क का वचन भी यही ध्वनित करता है कि वेद में एक ही महान् देव की विभूतियों-गुणों का भिन्न-भिन्न रूप से गान किया गया है।

इतना ही नहीं, ऋग्वेद का एक मन्त्र तो कहता है-

यस्तन्न वेद् किमृचा करिष्यति।

ऋग्०१.१६४.३९॥

अर्थात् जो अक्षर अविनाशी परब्रह्म को नहीं जानता वह ऋचाओं से क्या करेगा? वेदाध्ययन का क्या फल पायेगा? अर्थात् उसका वेद पढ़ना व्यर्थ ही है।

इसी ऋचा का अधिक स्पष्टीकरण उपनिषद् के निम्न मन्त्र में मिलता है-

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति नो चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।

अर्थात् यदि इसी जन्म में ईश्वर को जान लिया तब तो ठीक है, अन्यथा महान् विनाश है (जीवन का)।

इसी प्रकार कतिपय आचार्यों के ऊपर उद्धृत वचनों से स्पष्ट है कि वेद का मुख्य प्रतिपाद्य विषय अध्यात्म ही है। इतना ही नहीं, इस युग के महान् वेदाभ्यासी और योगी स्वामी दयानन्द सरस्वती और अरविन्द घोष की भी यही मान्यता है कि वेद का मुख्य प्रतिपाद्य विषय अध्यात्म ही है। इन दोनों अध्यात्म ज्ञान की विभूतियों ने इस बात का प्रतिपादन अपने ग्रन्थों में पर्याप्त विस्तार तथा युक्तिप्रमाण-पुरस्सर किया है। अध्यात्मज्ञान के प्रेमियों को स्वामी दयानन्द सरस्वती की **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** और श्री अरविन्द घोष का **वेद-रहस्य** अवश्य देखना चाहिये।

ईश्वर-प्राप्ति के वैदिक उपाय-

वेद ईश्वरप्राप्ति का प्रधान उपाय आत्मज्ञान बताता है। पुरुषसूक्त का एक प्रसिद्ध मन्त्र है-

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ यजु०३१.१८॥

अर्थात् मैं उस महान् आदित्य के समान प्रकाशमान, अविद्या आदि तमों से परे वर्तमान पुरुष को जानता हूँ। उसी को जानकर मनुष्य मृत्यु का उल्लङ्घन करता है (अमृत हो जाता है), और कोई मार्ग (भवसागर से) छूटने का नहीं है।

किन्तु उस पुरुष वा आत्मा वा परमात्मा का ज्ञान भी तो सरल नहीं है। गीता के शब्दों में-

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥

अर्थात् अनेक जन्म में प्रयत्न करते-करते मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करता है।

महर्षियों ने ईश्वर-प्राप्ति का साधन योगाभ्यास बताया है। महर्षि पतञ्जलि ने योगदर्शन में उसी योग की विस्तृत व्याख्या की है। योग का लक्षण निम्न प्रकार है-

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। (योगदर्शन १.२)

अर्थात् चित्त की वृत्तियों का, जो बाह्य विषयों में भटक रही हैं, निरोध हो जाना। और निरोध होने पर-

तदा द्रष्टुःस्वरूपेऽवस्थानम्। (योगदर्शन १.३)

सबके द्रष्टा प्रभु के स्वरूप में स्थित हो जाना ही योग है। इसी के दो भेद हैं-सम्प्रज्ञात समाधि और असम्प्रज्ञात समाधि।

चित्तवृत्तिनिरोध के उपाय-

परन्तु यह चंचल प्रमाथी मन निरुद्ध कैसे हो, इसका उपाय पतञ्जलि ने बताया है-

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।

(योगदर्शन १.१२)

अर्थात् अभ्यास और वैराग्य के द्वारा ही मन का निरोध सम्भव है। यही उपदेश भगवान् श्रीकृष्ण ने भी गीता में दिया है-

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।।

(६.३५)

इन दो उपायों में अभ्यास क्या है? वैराग्य क्या है? इसका विचार करना चाहिये।

वैराग्य नाम है सांसारिक विषयों से वितृष्ण होना, उनकी इच्छा से रहित होना। यह विषयों से वितृष्णा सम्यग् ज्ञान से ही सम्भव है। सम्यग् ज्ञान होना अत्यन्त दुष्कर है और आजकल के समय में जब कि संसार में सर्वत्र अज्ञानवर्धक, भोगेच्छावर्धक सामग्री वा दृश्यों की ही भरमार है। इसलिये आजकल के समय में ईश्वर की प्राप्ति या संसार से मुक्ति कैसे हो, इसका विचार करना अत्यावश्यक है।

हमारे विचार में इसका एकमात्र उपाय अभ्यास एक तत्त्वचिन्तन है। वह एकतत्त्व का चिन्तन कैसे किया जाये और किसका किया जाये, इसका उत्तर भगवान् पतञ्जलि देते हैं-

तस्य वाचकः प्रणवः। तज्जपस्तदर्थभावनम्।

(योगदर्शन १.२७-२८)

अर्थात् परम प्रभु का वाचक सर्वश्रेष्ठ नाम है-प्रणव अर्थात् ओम्'। उसका जप और उसके अर्थ की भावना करनी चाहिये।

इसी को सन्त लोग **भगवन्नामस्मरण** के रूप में बताते हैं। इस स्मरण में जप और अर्थ की भावना दोनों का ही अन्तर्भाव हो जाता है।

नाम-स्मरण की दूसरी प्रक्रिया-

भगवन्नाम-स्मरण की एक प्रक्रिया का उल्लेख हमने योगदर्शन सूत्रों द्वारा किया। उसकी दूसरी प्रक्रिया है-

स्तुति-प्रार्थना-उपासना-

स्तुति का लक्षण है-किसी भी पदार्थ में विद्यमान गुणों का यथोचित रूप में वर्णन करना। इस दृष्टि से जब हम कहते हैं कि 'देवदत्त बहुत श्रेष्ठ व्यक्ति है, सदाचारी है, सत्यवादी है' तब हमारा अभिप्राय केवल इतना ही नहीं होता कि हम जिससे देवदत्त की स्तुति करते हैं, वह उसके गुणों को जान जाये। अपितु हमारी इच्छा होती है कि वह व्यक्ति जिसके प्रति हम देवदत्त के गुणों का वर्णन करते हैं, वह उसके समीप जाये, उससे भेंट करे, उसका संग करे और उससे लाभ उठाये। जब हम भगवान् राम के मर्यादा-पुरुषोत्तमत्व के गुणों का बखान करते हैं तो हमारी इच्छा होती है कि संसार उनके आदर्शों पर चले।

इसलिये स्तुति तब तक निरर्थक ही रहती है जब तक उसके अनन्तर क्रिया प्रार्थना वा उपासना न की जाये। अतः स्तुति का अन्त होता है प्रार्थना में अथवा उपासना में।

प्रार्थना नाम है-स्तुत्य के गुणों का बखान करके उससे उन गुणों की प्राप्ति के लिये सामर्थ्य याचना करना और उपासना नाम है-उस स्तुत्य के गुणों को अपने अन्दर धारण करके उसके समीप बैठना। जब तक उपास्य और उपासक में एकरूपता न होगी, उपासना-समीप बैठना, समीप जाना वा बन्धुत्व-प्राप्ति करना नितान्त असम्भव है; क्योंकि **समानशीलव्यसनेषु मैत्री**-समान गुण-कर्मवालों में ही मैत्री होती है। भगवान् हों ज्ञान के पुञ्ज, सत्यव्रत, सर्वदोषविवर्जित और हम हों अज्ञानान्धकार से आवृत्त, अनृतवादी, सर्वदोषयुक्त-तब कभी भी उपासना नहीं हो सकती। इसलिये वेद में स्तुति के साथ प्रार्थना वा उपासना दोनों में से एक अंग अवश्य सम्बद्ध रहता है।

अब हम कतिपय ऐसे मन्त्र उपस्थित करते हैं, जिनमें प्रभु की स्तुति-प्रार्थना और उपासना का हृदयकारी वर्णन है जिन्हें गाकर भक्त की आत्मा मस्ती में झूम उठती है।

वैदिक स्तुति-प्रार्थना-उपासना-

(१). **त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ । अधा ते सुम्नमीमहे॥** ऋग्०८.९८.११॥

'हे वसो! सबको बसानेवाले, सारे संसार को आच्छादित करनेवाले अर्थात् सबसे महान् तुम ही हमारे पिता हो, पालक हो, रक्षक हो। हे शतक्रतो! सैंकड़ों सहस्रों प्रकार के कार्यों को करने वाले विविध ब्रह्माण्ड के रचयिता प्रभो! तुम ही हमारी माता हो। तुम-जैसे सर्वतोमहान् माता-पिता को पाकर तुमसे ही तुम्हारे उस सुख की, उस आनन्द की कामना करते हैं, याचना करते हैं जो तुम्हारे में है। जिससे तुम आनन्दस्वरूप हो। वही नित्यानन्द हमें भी प्राप्त कराओ।'

२. **स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये॥** ऋग्०१.१.९॥

हे अग्ने! प्रकाशमान् ज्ञानस्वरूप प्रभो! आप हमारे पर वैसे ही कृपालु होओ, वैसे ही सुखों के प्राप्त करानेवाले होओ। जैसे पिता अपने पालकों के सुख की कामना करता है और हमें स्वस्ति-नित्य रहने वाले अखण्ड कल्याण के लिये समर्थ करो।'

(३). **विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद् भद्रं तन्न आ सुव॥**

ऋग्०५.८२.५॥

'हे सम्पूर्ण संसार के प्रकाशक और उत्पन्न करने वाले देव! हमारे सम्पूर्ण दुरितों को, पापों को-पापमयी वासनाओं को हमसे दूर करिये और जो कुछ भी संसार में भद्र है, हमारे लिये कल्याणकारी है, ऐसे उत्तम श्रेष्ठ गुणों वा पदार्थों को प्राप्त कराइये।'

(४) **नमः सायं नमः प्रातर्नमो रात्र्या नमो दिवा। भवाय च शर्वाय चोभाभ्यामकरं नमः॥**

अथर्व०११.२.१६॥

'हे भव! सारे संसार को उत्पन्न करनेवाले और सुखस्वरूप तथा सर्वजीवों के सभी दुःखों के नाश करनेवाले प्रभो! तुम्हारे दोनों स्वरूपों के लिये हम प्रातः-सायं, दिन-रात बहुधा नमस्कार करते हैं। आप कृपा करके हमारे लिये सुख देनेवाले और दुःखों को दूर करनेवाले होइये।'

(५) **अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम॥** ऋग्०१.१८९.१॥

'हे मार्गदर्शक नेता! आप हमें धन, सम्पत्ति वा आत्मिक कल्याण के लिये अच्छे मार्ग से-शुभमार्ग से ले चलिये। हे देव! आप हमारे सब कर्मों को जानने वाले हैं, क्योंकि आप घटघटवासी हैं। इतना ही नहीं, हे प्रभो! हम आपकी बहुत प्रकार से स्तुति-प्रार्थना करते हैं।'

(६) **यद्ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये। यदेनश्चकृमा वयमिदं तदवयजामहे स्वाहा॥**

यजु०३.४५॥

'हे पापों के दूर करने वाले प्रभो! हमने जो ग्राम में, जो सभा में, जो अपनी इन्द्रियों के विषय में अर्थात् अपने और पराये के लिये जो भी पाप-बुरा कर्म, बुरा आचरण मनसा-वचना-कर्मणा किया है, उसको हम इसी समय आपकी प्रत्यक्षता में आपको सर्वद्रष्टा जानते हुए छोड़ रहे हैं, स्वाहा वह हमारी प्रतिज्ञा सुआह बने-सच्ची बने। हम

अपनी प्रतिज्ञा के निभाने के लिये समर्थ हों। प्रभो! हमें इस शुभ प्रतिज्ञा के निभाने के लिये सामर्थ्य दो।'

इस प्रकार वेद में प्रभु की सर्वत्र विविध नामों से स्तुति करके अपने दोषों को दूर करने और शुभगुणों की प्राप्ति के लिये प्रार्थनाएं मिलती हैं। उपनिषद् की एक प्रार्थना सर्व-प्रसिद्ध है-

असतो मा सद् गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्मामृतं गमय॥

हे प्रभो! हमें असत् से-अज्ञान से सत्=ज्ञान की प्राप्ति कराओ। ज्ञान प्राप्त होने पर तम-अन्धकार को दूर करके अपनी शुभ ज्योति-प्रकाश को प्राप्त कराओ और मृत्यु से-जन्म-मरण के चक्र से छुड़ाकर अमृत को प्राप्त कराओ।

वैदिक प्रार्थनाओं का एक वैशिष्ट्य

वैदिक प्रार्थनाओं का एक सर्वतोमुख वैशिष्ट्य यह है कि उसमें प्रायः समष्टि का निर्देश है। सर्वत्र बहुवचन का प्रयोग है। इससे स्पष्ट होता है कि वैदिक धर्म में समष्टि को व्यक्ति से प्रधानता दी है। अर्थात् अपने सुख की वा कल्याण की अपेक्षा सामूहिक कल्याण को महत्त्व दिया गया है। इसी के अनुरूप हम भगवान् वाल्मीकि के शब्दों में आज भी कामना करते हैं-

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

अर्थात् सब सुखी हों, सब स्वस्थ हों, सब कल्याण के भागी हों। कोई भी दुःखी न रहे।

सब मनःकामनाएं, चाहे वे लौकिकी हों चाहे पारलौकिकी, प्रभु की प्रार्थना, प्रभु की भक्ति, प्रभु के नामस्मरण और उसके यथार्थ अर्थ की भावना से पूर्ण होती है।

ओम् खं ब्रह्म॥

पाद-टिप्पणी-

१ तस्मिंश्च वेदे द्वौ काण्डौ-कर्मकाण्डो ब्रह्मकाण्डश्च। बृहदारण्याख्यो ग्रन्थो ब्रह्मकाण्डः, तद्व्यतिरिक्तं शतपथब्राह्मणं संहिता चेत्यनयोर्ग्रन्थयोः कर्मकाण्डत्वम्। (काण्वसंहिता सायणभाष्य उपक्रमणिका)

Vaidika Vāg Jyotiḥ
ISSN 2277-4351
Vol.1, No.2 (103-109) Jan-jun 2013

भक्ति - एक वैदिक दृष्टिकोण

(सन्दीप कुमार चौहान, शोधच्छांत्र-वेदविभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार)

हमारी वेदस्वरूपा सनातन संस्कृति का परमतत्व भगवान् है और भक्ति उसका हृदयधाम। किसी चरित्र के गुण, माहात्म्य, कृपा का स्मरण कर चित्त द्रवीभूत हो जाए और अखण्ड धारा प्रवाह में मन की वृत्तियाँ उस चरित्र में ही रहे, उसी को भक्ति कहते हैं।[1] "पूज्येष्वनुरागो भक्ति" पूज्य वर्ग में अनुराग का नाम भक्ति है।

भक्ति को सभी आचार्यों ने विभिन्न शब्दों में परन्तु एक स्वर से भगवान के प्रति अनुराग कहा है। शाण्डिल्य अपने भक्ति सूत्र में स्पष्ट कहते हैं- **सा परानुरक्तिरीश्वरे।**[2]

अर्थात् वह (भक्ति) ईश्वर के प्रति परम अनुराग है। यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने योग्य हैं, ईश्वर के प्रति केवल 'अनुराग' होना भक्ति नहीं है। मनुष्य का अनुराग कई स्थानों पर एक साथ हो सकता है। वह प्रायः धन, मन, सांसारिक भोग, सुख आदि के प्रति एक साथ अनुरक्त रहता है और इसके साथ ही उसका अल्प अनुराग ईश्वर के प्रति भी रहता है। वह पूजा आदि करता है मन्दिर जाता है भजन कीर्तन आदि में भाग लेता है। उसका यह अनुराग भक्ति नहीं है। भले ही यह सब भक्ति प्राप्ति के मार्ग में सहायक हो, किन्तु यह भक्ति नहीं है। **भक्ति है ईश्वर के प्रति परम अनुराग, हृदय में ईश्वर व ईश्वर प्रेम के अतिरिक्त और कुछ भी न होना।** इस परम-प्रेम के हृदय में उदित होते ही भक्त समस्त जगत् को ईश्वरमय ही देखता है। अतः उसका प्रेम केवल ईश्वर के प्रति ही रहता है। ऐसी परम अनुरक्ति का नाम ही भक्ति है। देवर्षि नारद भी अपने भक्ति सूत्र में कहते हैं- **सा त्वस्मिन् परम प्रेमरूपा।**[3] अर्थात् वह (भक्ति) इष्ट में प्रेमरूपा है। देवर्षि इससे एक पग और आगे बढ़कर भक्ति का लक्षण करते हुए कहते हैं- **अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्।**[4] और **मूकास्वादनवत्।**[5]

अर्थात् प्रेमभक्ति का स्वरूप अनिर्वचनीय है, वह गूँगे के स्वाद के समान है। इसका तात्पर्य यह नहीं हैं कि 'भक्ति' उसी प्रकार की है जैसे गूँगा मिठाई का स्वाद न बता सकता हो[6] क्योंकि गूँगा तो कुछ बता ही नहीं सकता। वास्तव में इसका आशय यह है कि जैसे गूँगा किसी भी विषय को वाणी द्वारा नहीं समझा सकता, उसी प्रकार भक्ति के प्रेम सुख को न बता पाना।

देवर्षि नारद और महर्षि शाण्डिल्य द्वारा भक्ति का उक्त स्वरूप अथवा परिभाषा भक्ति के वैदिक दृष्टिकोण को अपने शब्दों में व्यक्त करना मात्र है। भगवती श्रुति के मंत्रों में भक्ति

के महान गुरुओं द्वारा दी गई 'भक्ति' की परिभाषा (स्वरूप) का दिग्दर्शन करने के लिए वैदिक भक्ति की भावना और उसकी प्रक्रिया को समझना आवश्यक है।

वैदिक भक्ति के सोपान स्तुति, प्रार्थना व उपासना कहे गए हैं। "स्तुति से ईश्वर में प्रीति उसके गुण कर्म स्वभाव से अपने गुण कर्म स्वभाव का सुधारना।"[7]

यहाँ ध्यान देना चाहिए कि ईश्वर में प्रीति का नाम, स्तुति और उसके गुण, कर्म, स्वभावों से अपने गुण कर्म सुधारने से है।

दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि ईश्वर के गुण, कर्म व स्वभाव को जानकर उससे प्रीति हो जाएगी और फिर उससे अपने गुण, कर्म, स्वभावों को भी हम ईश्वर की भाँति बनाने का प्रयत्न करेंगे तो यह प्रक्रिया 'स्तुति' कहलाएगी।

मनोवैज्ञानिक रूप से किसी वस्तु अथवा व्यक्ति से प्रीति का कारण उस वस्तु अथवा व्यक्ति के गुण कर्म स्वभाव हैं अर्थात् यदि हम किसी व्यक्ति से प्रीति (प्रेम) करना चाहते हैं तो हमें उसके गुण कर्म स्वभाव जानकर उनको अपने मन में ध्यान करना और वाणी से वाचन करना होता है। जितना हम मन-वचन में उन गुण आदि का प्रयोग करते जाते हैं, उसके प्रति हमारी प्रीति वा प्रेम प्रगाढ़ होता जाता है। यह मनो योग 'स्तुति' का मूलाधार है जो कालान्तर में भक्ति की परिभाषा के रूप में प्रस्फुटित हुआ।

सामवेद में एक मंत्र आता है-

पावमानीः स्वस्त्ययनीः सुदुघा हि घृतश्चुतः। ऋषिभिः संभृतो रसो ब्राह्मणेष्वमृतं हितम्॥[8]

(पावमानीः हि) पवित्र वेद की ऋचाएं ही (स्वस्त्ययनी) स्वस्ति सम्पादिका (सुदुघा) सुदुहा (घृतश्चुतः) घृत क्षरा अर्थात् स्नेह (प्रेम) वर्षाने वाली हैं। (रसः) रस = अनुराग = सोम = मधु है (ऋषिभिः सम्भृतः) ज्ञानियों द्वारा = भक्तों द्वारा भरा जाता है (ब्राह्मणेषु अमृतं हितम्) ब्राह्म जीवन जीने वाले = भक्तों में वह अमृत निहित होता है।

इस मंत्र में ऋचाओं को पावमानी अर्थात् अन्तकरण को पवित्र करने वाली कहा गया है। ऋचाओं का अर्थ स्तुति कर्म होता है। ऋगर्चनी अर्थात् ऋक् अर्चनी = स्तुति वाली है।[9] मंत्र में 'घृत क्षरा' शब्द है जो घृत के स्नेहन गुण के लक्षण के कारण यहाँ आया है। स्नेहन, अत्यन्त अनुराग और प्रेम का द्योतक है।[10] महर्षि दयानन्द ने ईश्वर के 'मित्र' नाम की व्याख्या में लिखा है कि "मेद्यति स्निह्यति स्निहयते वा' अर्थात् जो सबको स्नेह करने और प्रीति करने योग्य हैं"[11] और अंत में मंत्र में कहा गया है कि ब्राह्मणों में (जो ब्रह्ममय जीवन जीते हैं) वह मधु रस = अनुराग रहता है।

इसका अर्थ हुआ कि वेद की स्तुति युक्त ऋचाओं के गायन से ईश्वर में प्रेम व अनुराग बढ़ता जाता है। वेद में स्तुति के पर्याय 'स्तोम' जरिता, गरिता व गायत्र आदि भी हैं।

देवर्षि नारद ने गर्गाचार्य का मत उद्धृत करते हुए लिखा है- **कथादिष्विति गर्गः।**[12]

अर्थात् भगवान् की कथा आदि में अनुराग होना ही भक्ति है।

यहाँ कथा के सम्बन्ध में भाई हनुमान प्रसाद पोद्दार का कहना है कि भगवान की महिमा, उनके गुण और नामों के कीर्तन तथा श्रवण में मन लगाना निस्संदेह भक्ति का प्रधान लक्षण हैं।" महर्षि शाण्डिल्य ने तो प्रत्यक्ष कहा है **रागार्थ प्रकीर्त्ति साहचर्याच्चेतरेषाम्।**[13] अर्थात् कीर्तन करना अनुराग अर्थ में कहा है उसके साथ होने से नाम, श्रवण-वन्दन का भी यही फल है।

इस विवेचन से स्पष्ट हुआ है कि 'भक्ति' में प्रेम = अनुरक्ति = अनन्य प्रेम चाहिए और वह अपने इष्ट के गुण, कर्म व स्वभावों को मन में दृढ़ करके उनके बार-बार वाचन से होता है।

वेद में 'स्तुति' सम्बन्धी अनेक मंत्र हैं जो व्यक्ति के ईश्वर की भक्ति में अनन्य प्रेम की अवधारणा के मूल हैं।

इस प्रकरण में हम सबसे पहले गायत्री[14] मंत्र के नाम से प्रसिद्ध मंत्र को लेते हैं।[15]

ओ३म्[16] भूर्भुवः स्वः।[17] तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥

इसका अर्थ है-

भूः - (भूरिति वैः प्राणः)* जो सब जगत् के जीने का हेतु और प्राण से भी प्रिय है, इससे परमेश्वर का नाम 'भूः' है।

भुवः - (भुवरित्यपानः)* जो मुक्ति की इच्छा करने वालों मुक्तों और अपने सेवक धर्मात्माओं को सब दुःखों से अलग करके सर्वदा सुख में रखता है इसलिए परमेश्वर का नाम 'भुवः' है।

स्वः - (स्वरिति व्यानः) जो सब जगत् में व्यापक होके सबको नियम में रखता और सबके ठहरने का स्थान तथा सुखस्वरूप है, इससे परमेश्वर का नाम 'स्वः' है।

सवितुः - सकलजगदुत्पादक, सकल ऐश्वर्यदाता

देवस्य - सुखप्रदाता

वरेण्यं - अत्यन्त ग्रहण करने योग्य

भर्गः - शुद्ध विज्ञानस्वरूप, दुःखविनाशक तेजस्वरूप का

तत् - उसका

धीमहि - हम लोग सदा प्रेमभक्ति से निश्चय करके अपने आत्मा में धारण करें।

यः - जो पूर्वोक्त सविता देव परमेश्वर है वह

नः - हमारी

धियः - बुद्धियों को

प्रचोदयात् - कृपा करके सब बुरे कामों से अलग करके सदा उत्तम कामों में प्रवृत्त करे।

मंत्र का प्रत्येक शब्द मंत्रार्थ[18] के द्वारा भक्ति से ओत-प्रोत दृष्टिगोचर होता है-

पहली महाव्याहृति 'भुवः' का अर्थ ध्यान से देखने पर पता लगता है कि संसार में जीव के लिए सबसे प्रिय वस्तु प्राण है और इसका स्रोत भगवान है अतः वस्तु से अधिक उसका स्रोत और भी अधिक प्रिय रहेगा।[19] इसी आधार पर वेद में ईश्वर को "भुवः" अर्थात् प्राणों से भी प्रिय कहा गया है।

अत्यन्त प्रिय के प्रति ही अनन्य प्रेम और परम अनुरक्ति हो सकती है।[20]

अन्य महाव्याहृतियों में भी इसी प्रकार ईश्वर की स्तुति है और सवितुः, देवस्य, वरेण्यं और भर्गः ईश्वर के विभिन्न गुण-कर्म-स्वभावों का वर्णन कर रहे हैं जो स्तुति ही है।

'वरेण्यं' अत्यन्त ग्रहण करने योग्य अर्थात् अनन्य भक्ति के योग्य" के भाव को प्रकट करते हुए स्वामी समर्पणानन्द जी ने कहा है[21] कि- पूर्ण रूप से धारण किया गया तब समझना चाहिए जब वह स्वादुतम अन्न के समान आग्रहपूर्वक वरण करके खाया जाए (अर्थात् अनन्य प्रेम = परम अनुरक्ति) जो अन्न-खिन्न मन से जैसे-तैसे गले के नीचे उतार लिया जाता है वह 'धकेलेन्यम' भले ही हो 'वरेण्यम्' नहीं कहला सकता। वह स्वाद भी साधारण नहीं अलौकिक हो जिसे 'तत्' कहकर अनिवर्चनीयता का रूप दे दिया जाए।[22]

'धीमहि' में तो स्पष्ट ही प्रेम भक्ति का अत्युच्च भाव व उपदेश- आदेश है।

'धियो यो नः प्रचोदयात्' ये दोनों ही समर्पणात्मक और शरणागति को ध्वनित करते हैं। जहाँ कहा गया है कि हम धारण करते हैं और यह धारण किया गया हमारी बुद्धि और कर्मों को उत्तम प्रेरणा करें।[23]

सामवेद में एक मंत्र है-

इन्द्र जठरं नव्यं न पृणस्व मधोर्दिवो न। अस्य सुतस्य स्वा३र्नोप त्वा मदाः सुवाचो अस्थुः॥[24]

अर्थात् हे जीवात्मा अपने अन्तकरण को नवीन सुन्दर द्यौ के समान मधु से भर, इसके आनन्द से तुझे सुप्रसन्नताएँ प्राप्त हों। यहाँ प्रेम भक्ति करने का उपदेश प्राप्त होता है। ऋग्वेद में अनन्य भक्ति के लिए कहा गया है-

वयं सोम व्रते तव मनस्तनूषु बिभ्रतः।[25]

अर्थात् हे भक्त वत्सल प्रभु हम तो आप के मधुर मिलन के लिए ही इस मन को अपने तन में धारण कर रहे हैं।

यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम्।

स्युष्टे सत्या इहाशिषः॥[26]

हे प्राणधन! अब तो मैं आपकी भव-भय हारिणी पावन भक्ति द्वारा तुझमें इतना तन्मय हो गया हूँ कि मैं तू बन गया, और तू मैं बन गया हूँ।

उत स्वया तन्वा३ सं वदे तत्कदा न्वं१न्तर्वरुणे भुवानि। किं मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृळीकं सुमना अभि ख्यम्॥[27]

हे प्रभु! वह दिन कब आयेगा, जब मैं तेरी प्रेममयी गोद में बैठकर तुझसे मधुर वार्तालाप करूँगा। हे अन्तर्यामिन! कब मैं तेरे दिव्य स्वरूप में इतना लवलीन हो जाऊँगा कि अपनी सुधबुध भूल जाऊँगा। नाथ कब आप मेरे हृदय मन्दिर के द्वार पर स्वयं आकर

निःशंकरूप से मेरी भेंट स्वीकार करोगे। हे प्रभु वह कौन सी शुभ घड़ी होगी, जब मैं अपने शुद्ध, पवित्र और निर्मल अन्तःकरण द्वारा तेरे मंगलमय परमानन्द स्वरूप के दर्शन कर कृतकृत्य हो जाऊँगा, और अपने को धन्य समझूँगा।

यथा पूर्वेभ्यो जरितृभ्य इन्द्र मयइवापो न तृष्यते बभूथ। तामनु त्वा निविदं जोहवीमि विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्॥[28]

हे इन्द्र! जैसे तू पूर्व के सभी भक्तों के लिए प्रेमरस के प्यासों के लिए जल के समान सुखदायक होता है। मैं तुझको उसी भक्तिभाव से बार-बार पुकारता हूँ, जिससे हम पाप वारण बल व जीवन विज्ञान को प्राप्त कर लें।

स्वामी वेदानन्द जी ने इस मंत्र की व्याख्या में कहा है कि "प्यास सता रही है। जल मिलते ही वह शान्त हो जाती है। प्यासे को तो जल ही अमृत है, प्यासे को वस्त्र दो नहीं लेगा, प्यासे को भोजन दो नहीं लेगा। वस्त्र और भोजन उपयोगी हैं परन्तु प्यास नहीं बुझा सकते। अतः प्यासे के लिए ये सुखदायी नहीं। इसी प्रकार यहाँ भक्त उसी भक्ति भावना से, प्रेमाभक्ति से, परम अनुरक्ति के वशीभूत संसार ताप से झुलस कर शान्ति के लिए पुकार रहा है।[29] अनन्य प्रेम को प्रदर्शित करते वेद के कुछ अन्य मंत्र देखिए-

स्वादुष्किलायं मधुमाँ उतायं तीव्रः किलायं रसवाँ उतायम्। उतो न्वस्य पपिवांसमिन्द्रं न कश्चन सहत आहवेषु॥[30]

यह प्रभु-प्राप्ति का रस अत्यन्त स्वादु है, अत्यन्त मधुर है, और अत्यन्त तीव्र अर्थात् तेज है। इतना तेज कि एक बार जिसको इस प्रभु-प्राप्ति के पावन रस का नशा चढ़ गया, फिर कभी उतरता नहीं। संसार के क्षणिक नशे तो थोड़ी देर तक रहते हैं। परन्तु यह नशा तो सदा ही बना रहता है।

प्र सम्राजे बृहदर्चा गभीरं ब्रह्म प्रियं वरुणाय श्रुताय।[31]

अर्थात् (सम्राजे) जो सबका सम्राट है (श्रुताय) जिसकी महिमा सर्वत्र सुनायी दे रही है ऐसे (वरुणाय) सबके वरण करने योग्य और सबको बचाने वाले भगवान के लिए (प्रियम्) प्यार से भरी (गभीरम्) गहरी (ब्रह्म) वेद विहित- स्तुति (बृहत्) खूब (प्र-अर्च) अच्छी तरह गा।

अयं सु तुभ्यं वरुण स्वधावो हृदि स्तोम उपश्रितश्चिदस्तु।[32]

अर्थात् हे (स्वधावः) शक्तिशाली और अन्नदाता (वरुण) वरणीय भगवन् (तुभ्यम्) तेरे लिए (अयम्) यह मेरी (स्तोम) भक्ति (हृदि) तेरे हृदय में (सु) अच्छी तरह (उपश्रितश्चित्) प्राप्त (अस्तु) होवे।

आधुनिक काल के वेदभाष्यकार शिरोमणि महर्षि दयानन्द का पुनीत जीवन प्रभु प्रेम से ओत-प्रोत था। उनके सभी ग्रन्थ भगवद् भक्ति से भरे हुए हैं।[33] उन्होंने अपने वेदभाष्य में वेद मन्त्रों के भक्ति परक अर्थ करते हुए जितना ईशगुणगान किया है।[34] उतना किसी अन्य वेदभाष्यकार ने नहीं किया। महर्षि ने मनुष्यों में भगवद् भक्तिभाव की अमृतदायिनी धारा प्रवाहित करने के लिए वेदमंत्रों पर आधारित एक ग्रन्थ लिखा है।[35]

उसमें वेद मंत्रों में प्रभु प्रेम, अनन्य भक्ति व परम अनुराग के दिग्दर्शन सहज हैं[36]-

आर्याभिविनय में महर्षि दयानन्द लिखते हैं कि-

1. हे 'अंग' मित्र! जो भक्त आपको आत्मादि दान करता है उसको भद्रम् व्यवहारिक और पारमार्थिक सुख अवश्य देते हो। हे 'अंगिर' प्राणप्रिय! यह आप का सत्यव्रत है कि स्वभक्तों को परमानन्द देना।[37]
2. हे परमैश्वर्यवान् आपको प्रीतिपूर्वक हृदय में अत्यन्त प्रेम से गावें, यथावत् स्तुति करें।[38]
3. आपकी कृपा से हम विद्वानों का दिव्यगुणों के साथ उत्तम प्रीतियुक्त आप में रमण और आप का सेवन करने वाले हों।[39]
4. हे परमात्मन्! आपके बिना हमारा कल्याण करने वाला और कोई नहीं। प्रभो! हमको आपका ही सब प्रकार से भरोसा है, सो आप ही पूरा करेंगे।[40]
5. हम लोग आपकी ही अत्यन्त स्पर्धा अर्थात् प्राप्ति की इच्छा करते हैं। जो प्राप्त होने में आप थोड़ा भी विलम्ब करेंगे, तो हमारा कुछ भी ठिकाना न लगेगा।[41]

इस प्रकार ज्ञान-विज्ञान की समस्त विधाओं के समान ही 'भक्ति' नामक परमतत्व प्राप्ति का ज्ञान अर्थात् उसका स्वरूप, साधन, साध्य, उसका फल और क्रिया का मूलाधार भी वेद है और भक्ति में उसके आचार्यों द्वारा समर्थित प्रेम, अनुराग, समर्पण के साधन आदि का जैसा विशुद्ध रूप वेदों में प्राप्त होता है वह अन्यत्र असम्भव ही है अर्थात् वैदिक भक्ति सर्वोत्तम मनुष्य को शीघ्र अध्यात्म लाभ देने वाली कामधेनु है।

पाद-टिप्पणियां-

१ भक्ति तत्व, कल्याणमल लोढ़ा, पृष्ठ 1

२ भक्ति सूत्र संख्या - 2

३ भक्तिसूत्र - 2

४ नारद भक्तिसूत्र - 51

५ तदेव - 52

६ यह केवल लाक्षणिक भाव है। अन्यथा किसी भी स्वाद का वर्णन कोई भी व्यक्ति नहीं कर सकता। यह केवल और केवल अपना व्यक्तिगत अनुभव होता है। हमारी दृष्टि में 'मूकास्वादनवत्' का अर्थ यही है कि किसी भी स्वाद की अनिर्वचनीयता के समान।

७ सत्यार्थ प्रकाश - सप्तम समुल्लास महर्षि दयानन्द सरस्वती, पृष्ठ 163

८ क्रमांक 1300

९ निरुक्त 7/1

१० स्नेहयुक्त पदार्थों का प्रत्येक अणु एक दूसरे से अत्यन्त अनुराग रखता है। इसी अनुराग के कारण वे एक दूसरे से मिले रहते हैं। द्रष्टव्य - वेद प्रवचन- पं० गंगा प्रसाद उपाध्याय, पृष्ठ 185

११ सत्यार्थ प्रकाश प्रथम समुल्लास, पृष्ठ 13

१२ नारद भक्तिसूत्र - 17

१३ शाण्डिल्य भक्ति सूत्र - 57

१४ "गायत्र गायते स्तुति कर्मण:" अर्थात् गायत्र गायति (गाने) से है, स्तुति कर्म से है। दूसरे अर्थ में गायत्री और स्तुति परस्पर पर्याय है। निरुक्त - 1/7

१५ मन्त्र सं. ऋग्वेद 3/62/10, यजुर्वेद - 3/35,

22/9, 30/2, 36/3, सामवेद - 1462 है।

[१६] यह मंत्र का भाग नहीं है।

[१७] ये महा व्याहृतियां यजुर्वेद - 36/3 में ही हैं। अन्य स्थानों पर इनके बिना ही यह वेद मंत्र प्राप्त होता है।

* तैत्तिरीयोपनिषद् - शिक्षावल्ली - 5/3

[१८] पञ्चमहायज्ञविधि - महर्षि दयानन्द सरस्वती, पृष्ठ - 9 से लिया गया है।

[१९] महामंत्र - महात्मा आनन्द स्वामी, पृष्ठ 67

[२०] तुलना करें-सा परानुरक्तिरीश्वरे। शाण्डिल्य भक्तिसूत्र - 2

सा त्वस्मिन् प्रेमरूपा। नारद भक्ति सूत्र - 2

[२१] गायत्री मंत्र की इतनी महत्ता क्यों? पृष्ठ 3

[२२] तुलना करें-अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्।

मूकास्वादनवत्। नारद भक्तिसूत्र - 51 व 52

[२३] तुलना करें-यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धोभवति, अमृतोभवति, तृप्तोभवति।

यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति। नारद भक्तिसूत्र 4 व 5

[२४] क्रमांक - 953

[२५] 10/57/6

[२६] ऋग्वेद - 8/44/23

[२७] तदेव - 7/86/2

[२८] तदेव - 1/175/6

[२९] स्वाध्याय सन्दोह - पृष्ठ 115

[३०] ऋग्वेद - 6/47/1

[३१] तदेव - 5/85/1

[३२] तदेव - 7/86/8

[३३] द्रष्टव्य- सत्यार्थ प्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पंचमहायज्ञविधि, संस्कारविधि आदि।

[३४] विस्तार के लिए वेदभाष्य का अवलोकन अपेक्षित है।

[३५] आर्याभिविनय

[३६] प्रभुभक्त दयानन्द और उनके आध्यात्मिक उपदेश, आचार्य भद्रसेन, पृष्ठ 36

[३७] आर्याभिविनय प्रथम प्रकाश, विनय संख्या - 6

[३८] तदेव - विनय संख्या - 9

[३९] तदेव - विनय संख्या - 18 का भाग

[४०] आर्याभिविनय-द्वितीय प्रकाश-विनय संख्या-३९

[४१] तदेव - विनय संख्या - 46

Vaidika Vāg Jyotiḥ
ISSN 2277-4351
Vol.1, No.1 (110-113) Jan-Jun 2013

वेद प्रतिपादित देवहित आयु और उसका स्वरूप

प्रशस्यमित्र शास्त्री, बी०-२९ आनन्द नगर (जेल रोड) रायबरेली-२२९००१ (उ०प्र०)

ऋग्वेद का निम्न प्रसिद्ध मन्त्र है, जिसे हम स्वस्तिवाचन में पढ़ने के साथ ही यजमान आदि की दीर्घ आयुष्य, आशीर्वाद एवं शुभ कामना प्रकट करने के लिये भी पढ़ते हैं-

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥ ऋग्०१.८९.८

इस मन्त्र में 'देवहित-आयु' की प्रार्थना की गयी है। अब प्रश्न होता है कि यह देवहित आयु क्या है तथा इसका परिणाम कितना है? यही नहीं अपितु अनेक वेदमन्त्रों में चक्षुरादि इन्द्रियों के सबल होने के साथ ही जीवन एवं स्वास्थ्य आदि की जब कामना की जाती है तो वहां भी विशेषण के रूप में 'देवहित' शब्द प्रयुक्त होता है। जैसे-

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्॥ यजु०३६.२४

आचार्य सायण का अर्थ : यज्ञमय जीवन-

चारों वेदों के सुप्रसिद्ध भाष्यकार आचार्य सायण 'भद्रं कर्णेभिः' आदि ऋग्वेदीय मन्त्र की व्याख्या में 'देवहितं यदायुः' इस पद का भाष्य करते हुए लिखते हैं-

''यदायुः षोडशाधिकशत प्रमाणं विंशत्यधिकशतप्रमाणं वा'' अर्थात् 'देवहित-आयु' का तात्पर्य है कि ११६ वर्ष की आयु अथवा १२० वर्ष की आयु।

अब प्रश्न होता है कि सायणाचार्य के इस अर्थ का आधार क्या है? ''देवहित-आयु'' का प्रमाण ११६ या १२० वर्ष ही क्यों माना जाय? इसका उत्तर हमें छान्दोग्य-उपनिषद् के निम्न वाक्य में प्राप्त होता है-

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशति वर्षाणि तत्प्रातः सवनं चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री यानि चतुश्चत्वारिंशद् वर्षाणि तन्माध्यन्दिनं सवनं चतुश्चत्वारिंशदक्षरास्त्रिष्टुप् यान्यष्टाचत्वारिंशद् वर्षाणि तत् तृतीयं सवनम् इति अष्ट चत्वारिंशद् अक्षरा जगती।

छान्दोग्यपोनिषद् ३.१६.१

अर्थात् मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन ही एक यज्ञ है। इस यज्ञमय जीवन के प्रारम्भिक २४ वर्ष प्रातःसवन है जबकि अगले ४४ वर्ष माध्यन्दिन सवन है तथा अग्रिम ४८ वर्ष तृतीय सवन के रूप में समझना चाहिये। इस प्रकार इसका कुल योग ११६ वर्ष होता है।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि सोमयाग के प्रातः माध्यन्दिन एवं तृतीय सवन क्रमशः गायत्र, त्रैष्टुभ, जागत कहे जाते हैं। ये छन्द क्रमशः २४, ४४ एवं ४८ अक्षरों वाले होते हैं।

जहाँ तक १२० वर्ष का प्रश्न है, सम्भव है कि छान्दोग्योपनिषद् के किसी संस्करण में माध्यन्दिन सवन को भी ४८ वर्ष का स्वीकार किया गया है।

मनुष्य की औसत आयु एक सौ वर्ष-

वैदिकग्रन्थों में मनुष्य की औसत आयु एक सौ वर्ष मानी गयी है। ऐतरेय आरण्यक में लिखा है-

शतं वर्षाणि पुरुषायुषो भवति।

(ऐ०आर०२१.२९)

अर्थात् पुरुष की सामान्य आयु एक सौ वर्ष होती है। अन्यत्र भी इसी प्रकार का भाव वैदिक-ग्रन्थों में उपलब्ध है-

शतायुर्वै पुरुषः शतवीर्यः

(मैत्रायणी संहिता १६.४)

शतायुः पुरुषः शतेन्द्रियः

(तैत्ति०संहिता २.३.११५)

माध्यन्दिन यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय का द्वितीय मन्त्र है-

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः।

अर्थात् मनुष्य कर्म करते हुए सक्रिय सबल स्वस्थ रहकर ही एक सौ वर्ष पर्यन्त जीवन की कामना करे। यहाँ एक सौ वर्ष से तात्पर्य औसत रूप से एक सौ वर्ष है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि एक सौ वर्ष से अधिक जीवन नहीं है। क्योंकि मन्त्रों में भी है-

भूयश्च शरदः शतात्॥

(माध्यन्दिन यजु०३६.२४)

माध्यन्दिन शतपथब्राह्मण में लिखा है-

अपि हि भूयांसि शताद् वर्षेभ्यः पुरुषो जीवति (मा०शतपथ १.९.३.१९)

सम्प्रति भारतवर्ष में औसत अधिकतम आयु ६५ वर्ष-

भारतवर्ष में इस समय मनुष्यों की आयु औसत रूप में केवल ६०-६५ वर्ष के बीच मानी गयी है। जबकि संयुक्त राष्ट्र के विश्व स्वास्थ्य संगठन के १९९५ के आंकड़ों के हिसाब से अमेरिका, यूरोप तथा जापान प्रभृति विकसित देशों में मनुष्य की औसत आयु पचहत्तर वर्ष तक मानी गयी है। इन देशों में पौष्टिक भोजन एवं आम चिकित्सा सुविधाओं की अच्छी व्यवस्था होने से ऐसा है-

अफ्रीका महाद्वीप के कई देशों जैसे- सोमालिया, इथियोपिया, युगाण्डा आदि में तो औसत आयु मात्र ४० वर्ष ही मानी गयी है। इन देशों में अत्यधिक गरीबी, कुपोषण के साथ ही साथ चिकित्सा व्यवस्था की जर्जर स्थिति होने से मृत्यु दर भी अधिक है। अतः औसत आयु बहुत कम है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अभी विश्व में वेद प्रतिपादित एक सौ वर्ष की औसत आयु विश्व में कहीं भी परिलक्षित नहीं हो पा रही है।

''जरा'' ही देवहित आयु है-

वास्तव में पूर्ण आयुष्य अर्थात् कम से कम एक सौ वर्ष की आयु के साथ ही स्वस्थ निरोग रहते हुए वृद्धावस्था के द्वारा मृत्यु को प्राप्त करना ही 'देवहित-आयु' की प्राप्ति है। रोग द्वारा अल्प समय में मृत्यु या दुर्घटना आदि के द्वारा आकस्मिक-मृत्यु की प्राप्ति का अभाव तथा पूर्ण निरोग रहते हुए वृद्धावस्था को प्राप्त कर मृत्यु की प्राप्ति की स्थिति का नाम ही देवहित-आयु की प्राप्ति है। इस सम्बन्ध में वैदिक-ग्रन्थों में निम्न प्रमाण द्रष्टव्य हैं-

जरा वै देवहितम् आयुः।

(मैत्रायणी संहिता १.७.५)

यही वाक्य काठक संहिता तथा कपिष्ठल कठ संहिता में भी प्राप्त होता है। जैसे-

जरा वै देवहितमायुः।

(काठक संहिता ९.२) तथा (कपिष्ठल कठ संहिता ८.५)

अभीष्ट आयु एवं आरोग्य प्राप्ति के लिये यज्ञ-श्रीमद्भगवद्गीता में लिखा है-

सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्ट कामधुक्॥

(३.१०)

अर्थात् यज्ञ की रचना के साथ ही प्रजापति का यह निर्देश भी हुआ कि जो मनुष्य निरन्तर यज्ञ का अनुष्ठान करता है, वह अभीष्ट कामनाओं को निरन्तर प्राप्त करता रहता है। अभीष्ट एवं यथाकाम आयु की प्राप्ति में यज्ञ सहायक होता है। अथर्ववेद में निम्न मन्त्र द्रष्टव्य है-

न तं यक्ष्मा अरुन्धते नैनं शपथो अश्नुते।
यं भेषजस्य गुल्गुलोः सुरभिर्गन्धो अश्नुते॥

(१९.३८.१)

अर्थात् जो अग्नि होम में गुग्गुल का प्रयोग करता है, उसे क्षय आदि रोग नहीं होता।

चिकित्साशास्त्रों में जहाँ विविध रोगों के निवारण के लिये विधिध प्रकार की औषधियों एवं उनके द्वारा चिकित्सा करते हुए रोगों की मुक्ति का उल्लेख है, वहीं इष्टियों एवं यज्ञों के सम्पादन का भी संकेत करते हुए इनके माध्यम से मनुष्य को निरोग होने तथा उसकी आयु में वृद्धि का उल्लेख प्राप्त होता है। जैसे-

प्रयुक्तया ययाचेष्ट्या राजयक्ष्मा पुरा जितः।
तां वेदविहिताम् इष्टिमारोग्यार्थी प्रयोजयेत्॥

(चरक चिकित्सा स्थान ८.१२१)

जो लोग यज्ञ नहीं करते, उनका चिन्तन, मनन याज्ञिकों के समान सात्त्विक नहीं हो पाता तथा वे सदाचार की ओर भी उन्मुख नहीं हो पाते। दुराचारी एवं अधर्मात्मा व्यक्ति की आयु भी अल्प संभावित है, अतः महाभारत में भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर से कहा है-

अधर्मज्ञा दुराचारास्ते भवन्ति गतायुषः।

(अनुशासन पर्व....)

जबकि चरित्रवान् एवं धार्मिक याज्ञिक प्रकृति के लोगों के बारे में वे कहते हैं-

'शतं वर्षाणि जीवति' वे स्वस्थ सबल नीरोग होकर पूर्ण एक सौ वर्ष की आयु प्राप्त कर जरावस्था के द्वारा मृत्यु को प्राप्त करते हैं। यही वेद प्रतिपादित 'देवहित-आयु' भी है।

दीर्घ संध्या से दीर्घ आयु-

मनुस्मृति के चतुर्थ अध्याय में लिखा है कि ऋषियों ने दीर्घकाल तक दीर्घ सन्ध्या एवं गायत्री जप आदि के द्वारा दीर्घ आयु प्राप्त किया-

ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुयुः।
प्रजां यशश्च कीर्तिंच ब्रह्मवर्चसमेव च॥

(मनु०४.९४)

अथर्ववेद के एक अन्य मन्त्र (१९.७१.१) से भी संकेत मिलता है कि गायत्री-जप से आयुप्राण, कीर्ति आदि की प्राप्ति में वृद्धि होती है।

पञ्चमहायज्ञों में नृयज्ञ अर्थात् अतिथियज्ञ या घर में आये हुए विद्वान् सदाचार सफल अतिथि की पूजा का विधान भी 'यज्ञ' शब्द से बोध्य है। 'यज्ञ' का अर्थ बहुत व्यापक है। 'यज्ञ' शब्द पञ्चमहायज्ञों का वाचक है। इसका अर्थ केवल देवयज्ञ या

अग्निहोत्र ही नहीं है। ब्रह्मयज्ञ अर्थात् संध्या तथा अतिथि यज्ञ आदि भी यज्ञ के अन्तर्गत आते हैं। इसी कारण विद्वान् अतिथि के प्रति नमन या सत्कार मात्र से तथा उसके द्वारा प्रयुक्त आशीर्वचन मात्र से भी मनुष्य की आयु की वृद्धि सम्भावित है। इसी कारण मनुस्मृति में कहा है-

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥

(मनु०१.११२)

अस्तु कुछ भी हो वास्तव में 'देवहित-आयु' अर्थात् यज्ञमय जीवन का निर्माण करते हुए समस्त इन्द्रियों से स्वस्थ सबल सक्रिय रहते हुए कम से कम ११६ वर्ष जीवन बिताकर जरावस्था द्वारा मृत्यु की प्राप्ति हो तभी हम वैदिक भावना को हृदयांगम कर सकते हैं। वेद ने हमें संकेतों में ही इसका उपदेश दिया है। हम वेद के इन संदेशों को ठीक तरह से समझें तथा जीवन में क्रियान्वित करें तो निश्चय ही सार्थकता को प्राप्त कर सकते हैं। वेदमन्त्रों के उपदेश हमें जीवन की सफलता एवं उसके उद्देश्य के प्रति निरन्तर प्रेरित करते हैं।

Vaidika Vāg Jyotiḥ
ISSN 2277-4351

Vol.1, No.2 (114-122) Jan-jun 2013

गोभिल गृह्यसूत्र के परिप्रेक्ष्य में अग्निहोत्र की प्राचीन विधि

(दिनेशचन्द्र शास्त्री, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, वेदविभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार)

अग्निहोत्र आदि गृह्यकर्मों के करने का अधिकार उन्हें है जो कि आहिताग्नि होते हैं, इस लेख में गोभिलीय गृह्यसूत्र के आधार पर अग्न्याधान तथा अग्निहोत्र की विधि का वर्णन संक्षेप से लिखा जाता है। गोभिल गृह्यसूत्र का आरम्भ अग्न्याधान तथा अग्निहोत्र की विधि से होता है।

अग्न्याधान के काल तथा स्थान-

अग्न्याधान का अभिप्राय है-अग्नि का आधान करना अर्थात् अग्नि की स्थापना करना। ब्रह्मचारी जब गृहस्थ में प्रवेश किया करता था तो प्राय: वह अपनी नवीन अग्नि का अपने गृह में स्थापन किया करता था जो कभी बुझने न पाती थी। दैनिक अग्निहोत्र आदि कर्म इसी स्थापित अग्नि के द्वारा किये जाया करते थे।

गोभिल गृह्यसूत्र में अग्न्याधान के काल तथा स्थान के सम्बन्ध में निम्नलिखित सूत्र आये हैं। यथा-

''ब्रह्मचारी वेदमधीत्यान्त्यां समिधमभ्याधास्यन्'।। १.१.७।।

''जायाया वा पाणिं जिघृक्षन्''।। १.१.८।।

''प्रेते वा गृहपतौ परमेष्ठिकरणम्''।।
१.१.१२।।

''तथा तिथि नक्षत्रपर्व्वसमवाये''।।१.१.१३।।

''दर्शे वा पौर्णमासे वाऽग्निसमाधानं कुर्वीत''।।१.१.१४।।

''वैश्यकुलाद्वा ऽम्बरीषाद्वा ऽग्निमाहत्याभ्यादध्यात्''।।१.१.१६।।

''अपिवा बहुयाजिन एवागाराद् ब्राह्मणस्य वा, राजन्यस्य वा, वैश्यस्य वा''।।१.१.१६।।

''अपिवाऽन्यं मथित्वाऽभ्यादध्यात्।।१.१.१।।

''यथा कामयेत तथा कुर्यात्''।।१.१.१९।।

''ब्रह्मचारी एक, दो या समग्र वेदों का नियमपूर्वक अध्ययन कर ब्रह्मचर्यकाल की समाप्ति के समय अन्तिम अग्निहोत्र की समिधाओं[1] का जब आधान करने लगे तब वह नवीन अग्नि का आधान करे'' १.१.१।। इस नवीन स्थापित अग्नि में अब से नियमपूर्वक अग्निहोत्र किया करे।

''या जब वह विवाह के निमित्त किसी कन्या का पाणिग्रहण करने लगे तब अग्न्याधान करे अर्थात् नवीन अग्नि का आधान करे, स्थापना करे।'' १.१.८।।

ब्रह्मचारी जिसे कि ब्रह्मचर्यकाल में ही किसी ने कन्यासम्बन्धी वाग्दान कर दिया हो वह ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्यकाल की अन्तिम समिधा नवीन अग्नि में दे सकता है, दूसरा नहीं।

इस अवस्था में अर्थात् अन्तिम समिधा जब नवीन स्थापित अग्नि में दी गयी हो तब इसी अग्नि में ही विवाह सम्बन्धी होम भी होना चाहिये। और विवाह के पश्चात् यही अग्नि आगे के लिये गृहकृत्यों तथा गृह संस्कारों के काम में भी लानी चाहिये। परन्तु जिस ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्यकाल में

ही कन्या सम्बन्धी वाग्दान न मिला हो वह स्नातक होते समय तथा उस के पश्चात् भी जब तक कि उसे वाग्दान न मिल जाये या वह विवाह के निमित्त प्रवृत्त न हो-अपना अग्निहोत्र अपने पिता द्वारा स्थापित अग्नि में करता रहे। और ब्रह्मचर्यकाल में आचार्य की अग्नि में अग्निहोत्र करता रहे।

''अथवा गृहस्वामी अर्थात् घर के बुजुर्ग पिता माता की मृत्यु पर अग्न्याधान करना चाहिये।'' १.१.१२॥

यह तीसरा विकल्प है। पिता माता की मृत्यु पर भाई नियमानुसार पैतृक सम्पत्ति को आपस में बांट लेते हैं। उस समय उनके पृथक् पृथक् हो जाने पर उनके अग्निहोत्र आदि गृह्यकर्मों के लिये उनकी अग्नियाँ भी पृथक् पृथक् हो जानी स्वाभाविक प्रतीत होती हैं। इस विकल्प के अनुसार ब्रह्मचर्यकाल की समाप्ति पर या विवाह के समय पृथक् अग्न्याधान की कोई आवश्यकता नहीं।

''उपरोक्त तीनों विकल्पों में जब भी अग्न्याधान करना हो तब उत्तम तिथि, उत्तम नक्षत्र और उत्तम पर्व का ध्यान करके ही अग्न्याधान करना चाहिये।'' १.१.१३॥

''अथवा नक्षत्र का ध्यान न करते हुए अमावास्या या पौर्णमासी के दिन अग्नि का आधान अर्थात् स्थापना कर लेनी चाहिये।'' १.१.१४॥

इस अग्न्याधान के सम्बन्ध में इतना स्मरण रखना चाहिये कि विवाह होने से पूर्व स्नातक यदि अग्न्याधान करे तो वह अकेले ही इसका आधान करेगा, परन्तु विवाह के अनन्तर यदि अग्न्याधान किया जायेगा तो पति और पत्नी मिलकर ही अग्न्याधान करें। सूत्र १४वें में जो **''अग्निं समाधानम्''** में सम् उपसर्ग है, उसका अभिप्राय टीकाकारों ने यह दर्शाया है कि पति और पत्नी इकट्ठे होकर अर्थात् पति भार्या के साथ मिलकर ही अग्नि की स्थापना करे।

अग्नि कहां से ली जाये?

''वैश्य के कुल अर्थात् गृह से या भट्ठी से अग्नि लाकर उसका आधान करे।'' १.१.१५॥

''अथवा बहुत यज्ञ करने वाले के ही घर से, चाहे वह ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो या वैश्य, अग्नि लाकर उसका आधान करे॥'' १.१.१६॥

''अथवा नई अग्नि को मथ कर उसका आधान करे॥'' १.१.१७॥

''जिस प्रकार जिस तरह चाहे उस तरह अग्नि का आधान करे॥'' १.१.१९॥

अग्निस्थापन का प्रकार

अनुगुप्ता अप आहृत्य, प्रागुदक् प्रवणं देशं समं वा परिसमूह्योपलिप्य, मध्यतः प्राचीं रेखामुल्लिख्योदीचीञ्च संहतां पश्चात्, मध्ये प्राचीस्तिस्र उल्लिख्याभ्युक्षेत्॥ १.१.९॥

''सुरक्षित जल लाकर, पूर्व या उत्तर की ओर झुकाव वाले अथवा समतल स्थान को ठीक प्रकार कुशाओं के द्वारा समतल स्थान को ठीक प्रकार कुशाओं के द्वारा साफ कर, उसे (गोबर द्वारा) लीप कर, इस स्थल में (दक्षिण की ओर) पश्चिम से पूर्व की ओर एक रेखा (१२ अंगुल की, कुशा द्वारा) खींचकर, इसके पश्चिम में इससे स्पर्श करती हुई एक रेखा (२१ अंगुल की) दक्षिण से उत्तर की ओर खींचकर, इस पिछली रेखा के बीच में (सात सात अंगुल के अन्तर से) पूर्व की ओर जाती हुई तीन रेखाएं (प्रादेश प्रमाण की) खींच कर जल छिटके॥''

भूर्भुवः स्वरित्यभिमुखमग्निं प्रणयन्ति॥ १.१.११॥

तत्पश्चात् **''ओ३म् भूर्भुवः स्वः''**-इस मन्त्र को बोलकर अपने सम्मुख (रेखांकित स्थण्डिल पर) अग्नि को स्थापित करते हैं।''११॥

गृह्य अग्नि

स यदेवान्त्यां समिधमभ्यादधाति, जायाया वा पाणिं जिघृक्षन् जुहोति तमभिसंयच्छेत्॥

१.१.२०॥

स एवास्य गृह्योऽग्निर्भवति॥१.१.२१॥

''वह स्नातक जिस अग्नि में अन्तिम समिधा का आधान करता है, या पत्नी का पाणिग्रहण करता हुआ जिस अग्नि में लाजाहोम करता है, उस अग्नि की सम्यक् प्रकार से रक्षा करे''॥१.१.२०॥

''वह ही अग्नि इसकी गृह्य अग्नि अर्थात् गृह्यकर्मों-अग्निहोत्र तथा संस्कार आदि कर्मों-के निमित्त होती है,,॥१.१.२१॥

इस अग्नि को गृह्य, औपवसथ्य तथा औपासन भी कहते हैं।

प्रातरग्निहोत्र

तेन चैवास्य प्रातराहुतिर्हुता भवति॥

१.१.२२॥

''अर्थात् अन्तिम समिधा का आधान जिस दिन प्रात:काल किया जाये या विवाह सम्बन्धी होम जब प्रात:काल किया जाये तब समझ लेना चाहिये कि मेरा आज का प्रात:काल का अग्निहोत्र इस समिधाधान द्वारा या विवाह होम द्वारा सम्पन्न हो गया। इस दिन प्रात:काल और अग्निहोत्र के करने की आवश्यकता नहीं।

दैनिक अग्निहोत्र

सायमाहुत्युपक्रम एवात ऊर्ध्वं गृह्योऽग्नौ होमो विधीयते॥ १.१.२३॥

जब सायंकाल की आहुति से अग्निहोत्र [illegible] अग्निहोत्र गृह्य अग्नि में ही किये जाते हैं॥१.१.२३॥

इसका अभिप्राय यह है कि अन्तिम समिधा का आधान या विवाह होम जब दिन में किया हो तब उसी दिन सायंकाल से अग्निहोत्र का आरम्भ समझ कर अगले दिन प्रात:काल के अग्निहोत्र में दैनिक अग्निहोत्र की समाप्ति समझनी चाहिये। अर्थात् प्रथम दिन के सायंकाल के अग्निहोत्र को तथा अगले दिन के प्रात:काल के अग्निहोत्र को एक कर्म समझना चाहिये।

यदि विवाह-होम रात्र में हो तब इसी विवाह-होम द्वारा समझ लेना चाहिये कि अगले दिन का भी प्रात:काल का अग्निहोत्र हो गया।

इस अवस्था में दैनिक अग्निहोत्र इस अगले दिन के सायंकाल से आरम्भ होकर तीसरे दिन के प्रात: काल में अग्निहोत्र समाप्त होगा।

इसका अभिप्राय यह है कि दैनिक अग्निहोत्र में जिस हवि द्वारा (पकायी हुई या स्वाभाविक, दही अथवा दूध) सायंकाल का अग्निहोत्र प्रारम्भ करना चाहिये। उसी हवि द्वारा ही प्रात:काल का अग्निहोत्र समाप्त करना चाहिये। यह न होना चाहिये कि सायंकाल का अग्निहोत्र तो एक हवि द्वारा किया और अगले दिन प्रात:काल का अग्निहोत्र दूसरी हवि द्वारा कर दिया। इससे ये दो कर्म हो जायेंगे और ये दोनों अग्निहोत्र मिलकर एक कर्म न कहलायेंगे।

कई आचार्य यह भी मानते हैं कि दैनिक अग्निहोत्र प्रात:काल से प्रारम्भ होता है और [illegible]

एक समय का किया गया अग्निहोत्र असमाप्त अग्निहोत्र ही जानना चाहिये।

अग्निहोत्र के काल

सायंकाल का अग्निहोत्र सूर्यास्त के समय होना चाहिये या उसके आगे पीछे, इसी प्रकार प्रात:काल का अग्निहोत्र सूर्योदय के समय होना चाहिये या उसके आगे पीछे, इस सम्बन्ध में गोभिल गृह्यसूत्र में निम्नलिखित दो सूत्र ध्यान देने के योग्य हैं। यथा-

पुराऽस्तमयादग्निं प्रादुष्कृत्यास्तमिते सायमाहुतिं जुहुयात्॥ १.१.२७॥

पुरोदयात् प्रात: प्रादुष्कृत्योदितेऽनुदिते वा प्रातराहुतिं जुहुयात्॥ १.१.२८॥

'सूर्य के अस्त होने से पहिले, स्थापित अग्नि को, प्रकट कर सूर्य के अस्त हो जाने पर सायं काल की आहुति अग्नि में देनी चाहिये॥१.१.२७॥

प्रात:काल सूर्य के उदय होने से पूर्व, स्थापित अग्नि को, प्रकट कर सूर्य के उदित हो जाने पर या उसके उदित होने से पूर्व ही प्रात:काल की आहुति अग्नि में देनी चाहिये॥१.१.२८॥

मनु ने प्रात:काल के अग्निहोत्र के तीन काल लिखे हैं। अनुदित काल, समयाध्युषित काल और उदित काल। रात्रि का अन्तिम भाग जब कि ग्रह तथा नक्षत्र दिखायी देते हो, अनुदित काल है। इस समय में अग्निहोत्र हो सकता है। इसके अनन्तर प्रभात के समय जब कि ग्रह और नक्षत्र दीखने बन्द हो जावें और सूर्य का दर्शन अभी तक न हो, इस काल को समयाध्युषित कहते हैं। इस समय में भी अग्निहोत्र के करने की विधि है। तीसरा काल है-उदित काल। सूर्य-रश्मियों से समन्वित हुआ-हुआ जब, रेखामात्र दिखायी दे उस समय भी अग्निहोत्र का विधान है। इस काल को उदित काल कहते हैं। इन तीनों कालों की इस प्रकार की व्याख्या गोभिल आचार्य के पुत्र ने अपने ग्रन्थ 'गृह्या संग्रह' में की है। इसलिये उदितकाल के अग्निहोत्र के सम्बन्ध में यदि गोभिलाचार्य के २८वें सूत्र तथा उसके पुत्र के विचारों को एकत्र किया जाये तो परिणाम यह निकलता है कि प्रात:काल में उदित काल के अग्निहोत्र का काल सूर्य के रेखामात्र दीखने के काल से लेकर सूर्य जब तक पूर्णमण्डल में नहीं आ लेता और इस पूर्ण मण्डल रूप में जब तक वह लगभग एक हाथ और क्षितिज के ऊपर नहीं चढ़ जाता तब तक है। इन दोनों कालों के मध्य में प्रात:काल का उदित पक्ष का अग्निहोत्र समाप्त हो जाना चाहिये।

गोभिल आचार्य ने २८वें सूत्र में अनुदित होम की भी विधि विकल्प द्वारा दर्शायी है। इसकी व्याख्या ऊपर हो चुकी है। अग्निहोत्र के करने वालों को यह सदा ध्यान में रखना चाहिये कि उपर्युक्त तीन कालों में से अग्निहोत्र के लिये किसी एक काल के चुन लेने में अग्निहोत्र के करनेवाले को पूर्ण स्वाधीनता है। परन्तु एक बार इन तीनों कालों में से किसी एक काल के चुन लेने पर फिर उसे काल के बदलने का अधिकार नहीं रहता। यदि कभी काल का अतिपात हो जाये तो प्रायश्चित्त कर लेने पर वह उस काल के अग्निहोत्र को प्रदर्शित अन्य कालों में भी कर सकता है और आगे से वह पूरा यत्न करे कि उसके चुने हुए काल का कभी अतिपात न होने पाए। तो भी आचार्यों ने उदित काल को अग्निहोत्र के निमित्त अधिक उत्तम माना है। प्रात:काल के अग्निहोत्र के सम्बन्ध में ये तीन विकल्प हैं। सायंकाल के अग्निहोत्र के काल का वर्णन २७वें सूत्र में कर दिया गया है।

अग्निहोत्र के समय आचमन आदि के निमित्त जलसंग्रह की विधि-

पुरा प्रादुष्करणवेलायाः सायं प्रातरनुगुप्ता अप आहरेत् परिचरणीयाः॥१.१.२४॥

अपि वा सायम्॥१.१.२५॥

अपि वा कुम्भाद्वा मणिकाद्वा गृह्णीयात्॥१.१.२६॥

"अग्निहोत्र की अग्नि को प्रकट करने से पूर्व सायंकाल तथा प्रातःकाल दोनों समयों में पृथक्-पृथक् सुरक्षित जल को लाया करे, जिसके द्वारा कि आचमन आदि करने होते हैं॥१.१.२४॥

"अथवा सायंकाल के समय में ही जल लाये और इसी जल द्वारा प्रातःकाल के कृत्यों को भी करे"॥१.१.२५॥

"यदि बाहर से जल इस प्रकार न लाना चाहे तो घर के घड़े से अथवा मटके से जल ले लिया करे॥१.१.२६॥

अग्निहोत्र की विधि

उदगग्नेरुत्सृप्य प्रक्षाल्य पाणी पादौ चोपविश्य त्रिराचमेत् द्विः परिमृजीत्॥१.२.५॥

इन्द्रियाण्यद्भिः संस्पृशेत्॥१.२.७॥

हृदयस्पृशस्त्वेवाप आचामेत्॥१.२.२९॥

(क) 'स्थापित अग्नि के उत्तर में जाकर, हाथों और पैरों को धोकर, बैठकर तीन बार आचमन करे और दो बार मुख धोए॥१.२.५॥

"पश्चात् जल द्वारा इन्द्रिय-स्पर्श करे॥१.२.७॥

"आचमन में इतने इतने जल से आचमन करे कि जल केवल हृदय तक नीचे जा पाए, पेट तक नहीं।"॥१.२.२९॥

अग्निमुपसमाधाय परि१समूह्य दक्षिणजान्वक्तो दक्षिणेवाग्निमदितेऽनुमन्यस्वेत्युदकाञ्जलिं प्रसिञ्चेत्॥१.३.१॥

अनुमतेऽनुमन्यस्वेति पश्चात्॥१.३.२॥

सरस्वत्यनुमन्यस्वेत्युत्तरतः॥१.३.३॥

देव सवितः प्रसुवेति प्रदक्षिणमग्निं पर्य्युक्षेत् सकृद्वात्रिर्वा॥१.१.४॥

पर्य्युक्षणान्तान् व्यतिहरन्नभिपर्य्युक्षन् होमीयम्॥१.१.५॥

(ख) "स्थापित अग्नि को प्रकट करके अर्थात् उसके ऊपर आयी हुई भस्म को हटाकर, होम काल के समीप उसे इन्धन द्वारा सम्यक् प्रदीप्त करे, पश्चात् अग्नि के चारों ओर पड़ी मिट्टी आदि को एकत्र कर, दाहिने घुटने को पृथिवी पर टेक कर, अग्नि की दक्षिण दिशा में "अदितेऽनुमन्यस्व" इस मन्त्र को पढ़कर (अञ्जलि का अग्रभाग पूर्व की ओर कर) जलाञ्जलि से सींचे॥१.३.१॥

"अनुमतेऽनुमन्यस्व' इस मन्त्र को पढ़कर पश्चिम में जलाञ्जलि से सींचे, (इस अवस्था में अञ्जलि का अग्रभाग उत्तर की ओर हो)"॥१.३.२॥

"सरस्वत्यनुमन्यस्व" इस मन्त्र को पढ़कर उत्तर की ओर जल सींचे, (इसमें अञ्जलि का अग्रभाग पूर्व की ओर होना चाहिये)।"१.३.३॥

"देव सवितः प्रसुव....." इत्यादि मन्त्र पढ़कर अग्नि के चारों ओर, प्रदक्षिणा के रूप में, जलाञ्जलि की धारा द्वारा जल सींचे, एक बार इस प्रकार जल सींचे या तीन बार सींचे।"१.३.४॥ तीन बार सींचने के पक्ष में साथ साथ इस मन्त्र का भी तीन बार उच्चारण करें।

"चारों ओर जल सींचते समय जलाञ्जलि धारा के आरम्भ तथा अन्त को क्रमशः अन्दर और बाहर रखे, अथवा दोनों को परस्पर मिला दे, या अधिकाधिक दूर दूर करता चला जाये। अग्निहोत्र

में आहुति के निमित्त जो वस्तु लाई गयी हो, उसे भी उदक धारा से घेरे अथवा उसे जल से स्पर्श करे॥ '१.३.५॥

(ग) **अथ हविष्यस्यान्नस्याग्नौ जुहुयात् कृतस्य वा ऽकृतस्य वा॥** १.३.६॥

अकृतं चेत् प्रक्षाल्य जुहुयात् प्रोदकं कृत्वा॥ १.३.७॥

अथ यदि दधिपयोयवागूं वा, कंसेन वा चरुस्थाल्या वा स्रुवेणैव वा॥ १.३.८॥

अग्नये स्वाहेति पूर्वां, तूष्णीमेवोत्तरां, मध्ये चैवापराजितायाञ्चैव दिशीति सायम्॥ १.३.९॥

अथ प्रातः, सूर्याय स्वाहेति पूर्वां, तूष्णीमेवोत्तरां, मध्ये चैवापराजितायाञ्चैव दिशि॥ १.३.१०॥

समिधमाधायानुपर्य्युक्ष्य तथैवोदकाञ्जलीन् प्रसिञ्चेदन्वमंस्था इति मन्त्र विशेषः॥ १.३.११॥

प्रदक्षिणमग्निं परिक्रम्यापां शेषं निनीय पूरयित्वा चमसं प्रतिष्ठाप्य यथार्थम्॥ १.३.१२॥

"इसके पश्चात् (समिधा डालकर) हवि के योग्य किसी अन्न का अग्नि में होम करे, चाहे यह अन्न कृत अर्थात् सिद्ध किया हुआ हो, चाहे अकृत अर्थात् सिद्ध किया हुआ न हो।

हवि के योग्य अन्नों में जौं मुख्य माने जाते हैं और उससे कुछ घटिया, धान माने जाते हैं। ये जौं या धान गन्दे या कीट आदि से दूषित न होने चाहियें। आहुति जब द्रव वस्तु की देनी हो तो स्रुव द्वारा देनी चाहिये। और यदि कठिन वस्तु की आहुति देनी हो तो हाथ द्वारा देनी चाहिये। अग्नि को और अधिक प्रदीप्त करने की यदि आवश्यकता जान पड़े तो पंखे आदि द्वारा उसे प्रदीप्त कर लेना चाहिये। कइयों में यह भी लिखा है कि मुख की फूंक द्वारा भी इस अग्नि को प्रदीप्त कर लेना अनुचित नहीं। कृत या सिद्ध अन्न से अभिप्राय भात या सत्तू आदि का है। और अकृत या न सिद्ध किये हुए अन्न से अभिप्राय धान आदि का है, जिसके ऊपर कि छिलका अभी साथ रहता है। धान पर से जब तुष अर्थात् छिलका उतार दिया जाये तब जो चावल निकलते हैं-जिन्हें कि अग्नि पर चढ़ाकर भात के रूप में बदला नहीं-वे कृताकृत हैं अर्थात् एक दृष्टि से (धान की दृष्टि से) वे कृत अर्थात् सिद्ध हैं, और दूसरी दृष्टि से (भात की दृष्टि से) वे अकृत हैं, अभी सिद्ध नहीं हैं। इस प्रकार हव्य पदार्थ तीन प्रकार के हुए। कृत, अकृत तथा कृताकृत।

"हवि यदि अकृत हो अर्थात् धान आदि के रूप में हो तो उसे धोकर और पुनः सुखाकर उसकी आहुति देनी चाहिये।"१.३.७॥

अर्थात् एक समय बहुत सा धान धोकर उसे सुखा लेना चाहिये, पश्चात् दैनिक अग्निहोत्र इस धान की आहुति द्वारा करते रहना चाहिये।

"और यदि दही, दूध या जौं की लस्सी की आहुति दे तो कांसी के बर्तन द्वारा, चरुस्थाली द्वारा या स्रुव द्वारा दिया करे॥" १.३.८॥

धान और जौं के न होने पर दही द्वारा भी आहुति दी जा सकती है और दूध द्वारा भी। दही और दूध के भी न होने पर जौं की लस्सी द्वारा आहुति देनी चाहिये।

"अग्नये स्वाहा"-इस मन्त्र को पढ़कर प्रथम आहुति दे। "प्रजापतये स्वाहा'-इस मन्त्र को मन से बोल कर द्वितीय आहुति दे। प्रथम आहुति अग्नि के मध्य में, तथा द्वितीय अग्नि की पूर्वोत्तर दिशा में देनी चाहिये। यह सायंकाल की आहुतियां हैं। १.३.९॥

''अब प्रातःकाल की आहुतियाँ कही जाती हैं। ''सूर्याय स्वाहा''-इस मन्त्र को पढ़कर प्रथम आहुति दे, ''प्रजापतये स्वाहा''-इस मन्त्र को मन में बोल कर द्वितीय आहुति दे। प्रथम आहुति अग्नि के मध्य में, तथा द्वितीय अग्नि की पूर्वोत्तर दिशा में देनी चाहिये।''१.३.१०॥

-पूर्व लिखा जा चुका है कि गोभिल आचार्य के मत में दैनिक अग्निहोत्र सायंकाल के अग्निहोत्र से आरम्भ होता है और अगले दिन के प्रातःकाल के अग्निहोत्र में समाप्त होता है। गोभिल आचार्य यह भी मानते हैं कि इस दैनिक अग्निहोत्र की समाप्ति के लिये इन दोनों कालों में आहुति पदार्थ भी एक ही होना चाहिये। अर्थात् उपर्युक्त हवियों में से जिस हवि की आहुतियां सायंकाल की हैं, उसी हवि की आहुतियाँ अगले दिन प्रातःकाल भी देनी चाहियें। ऐसा न होना चाहिये कि सायंकाल की आहुति एक हवि से हो और अगले दिन प्रातःकाल की आहुति दूसरी हवि से। अग्निहोत्री को उतनी अवश्य स्वतन्त्रता है कि वह चाहे तो एक दिन के अग्निहोत्र को एक प्रकार की हवि द्वारा समाप्त करले और दूसरे दिन के दैनिक अग्निहोत्र को दूसरे प्रकार की हवि द्वारा समाप्त कर ले।

''अब पुनः समिधाओं का आधान करे (बिना मन्त्र बोले), तत्पश्चात् 'देव सवितः प्रसुव०'-इत्यादि मन्त्र पढ़कर पूर्वोक्त विधि से अग्नि के चारों ओर उदक सींचे और अन्त में 'अदितेऽन्वमंस्थाः'-इस मन्त्र को पढ़कर (अग्नि के पश्चिम भाग में) जलाञ्जलि दे, और 'सरस्वत्यन्वमंस्थाः'-इस मन्त्र को पढ़कर (अग्नि के उत्तर भाग में) जलाञ्जलि दे।'' १.३.१२॥

यहाँ गोभिल गृह्यसूत्र के टीकाकार ने यह लिखा है कि ''अगले उल्लिखनार्थ'' से अभिप्राय है वामदेव्य साम के गान आदि का अथवा प्रातःकाल के अग्निहोत्र के पश्चात् ब्रह्मयज्ञ के करने का।

अग्निहोत्र स्वयं करे या अन्यों से भी करा लिया करे

एवमत ऊर्ध्वं गृह्येऽग्नौ जुहुयाद्वा हावयेद्वाऽऽजीवितावभृथात्। १.३.१३॥

अथाप्युदारहन्ति॥ १.३.१४॥

कामं गृह्येऽग्नौ पत्नी जुहुयात् सायं प्रातर्होमौ, गृहाः पत्नी, गृह्यं एषो ऽग्नि भवतीति॥ १.३.१५॥

''इसके आगे अर्थात् एक दिन सायंकाल के तथा प्रातःकाल के अग्निहोत्र के आगे, पूर्वोक्त विधि के अनुसार इस स्थापित गृह्य अग्नि में या तो गृहपति स्वयं यज्ञ किया करे अथवा किसी द्वारा अग्निहोत्र कर दिया करे, जीवनावधिपर्यन्त यह अग्निहोत्र होता रहे॥ १.३.१४॥

''दूसरे से अग्निहोत्र करा लेने के सम्बन्ध में ब्राह्मण में लिखा भी है।'' १.३.१४॥ यथाः-

''चाहे गृह्य अग्नि में पत्नी अग्निहोत्र कर दिया करे, सायंकाल का अग्निहोत्र भी और प्रातःकाल का अग्निहोत्र भी। क्योंकि गृह का अर्थ पत्नी है अतः गृह्य-अग्नि का अर्थ है ''पत्नी सम्बन्धी अग्नि।'' १.३.१५॥

इस मन्त्र की टीका में पण्डित चन्द्रकान्त तर्कालंकार भट्टाचार्य ने व्यर्थ का शब्दजाल बिछाया है। सूत्रकार तो विचारों में उदार प्रतीत होता है। वह सूत्र १.३.१५ में स्पष्ट शब्दों में अग्निहोत्र का अधिकार पत्नी को दे रहा है। यह बात पौराणिक पण्डितों से कैसे सही जाये। बस, टीकाकार ने इधर-उधर के प्रमाण इकट्ठे कर इस सूत्र के स्वच्छन्द और स्वतन्त्र भाव को छिपाना चाहा है, उस पर परदा डाल देना चाहा है। टीकाकार

लिखता है कि **''यावता होमनिष्पत्तिर्भवति, तावन्मात्रं पत्नीमध्यापयेत्।''** अर्थात् ''पत्नी को उतना ही पढ़ा देना चाहिये जिससे कि वह अपने अग्निहोत्र के कर सकने के योग्य बन सके।''

सूत्रकाल ने तो पत्नी के पढ़ाने या न पढ़ाने के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा। परन्तु, चूंकि पत्नी के अनपढ़ होने के कारण पत्नी अग्निहोत्र कर ही नहीं सकती, इसीलिये टीकाकार को भय लगा की कि पत्नी कहीं अधिक न पढ़ा दी जाये, उसने अपनी टीका में पत्नी की पढ़ाई का बन्धन लगा देना आवश्यक समझा।

सूत्रकार का हृदय पत्नी के पढ़ने के सम्बन्ध में संकुचित प्रतीत होता। बलिवैश्वदेवयज्ञ के सम्बन्ध में सूत्रकार निम्नलिखित सूत्र लिखता है। यथा:-

स्वयं त्वेवैतान् यावद्वसेद् बलीन् हरेत्॥ १.४.१५॥

अपि वाऽन्यो ब्राह्मण:॥ १.४.१६॥

दम्पती एव॥ १.४.१७॥

स्त्री ह सायं प्रात: पुमानिति॥ १.४.१९॥

अर्थात् ''पति स्वयं बलिवैश्वदेव यज्ञ करे''॥ १.४.१५॥

''या अन्य कोई ब्राह्मण यह यज्ञ कार्य कर देवे''॥ १.४.१६॥

''वास्तव में दम्पती अर्थात् पति और पत्नी ही बलिवैश्वदेव यज्ञ किया करें॥ ''१.४.१७॥

''स्त्री सायंकाल और पुरुष प्रात:काल बलिवैश्वदेवयज्ञ किया करें॥ १.४.१९॥

इस प्रकार इस प्रकरण के सम्बन्ध में भी सूत्र १.४.१६ केवल खण्डन के लिये ही सूत्रकार ने लिखा प्रतीत होता है। इसी कल्पना के अनुसार अगले दो सूत्र १.४.१७ एवं १.४.१९ चरितार्थ हो सकते हैं।

सूत्र १.४.१९ पर टीकाकार एक और टिप्पणी चढ़ाते हैं। आप लिखते हैं कि **''अमन्त्रम्, तूष्णीम् इत्यर्थ:''**। अर्थात् पत्नी जब बलिवैश्वदेवयज्ञ करे तो मन्त्रों का वह उच्चारण न करे, वह चुपचाप इस यज्ञ को करे।

टीकाकार से पूछना चाहिये कि सूत्रकार ने तो सूत्र में ''अमन्त्रम्'' पद पढ़ा नहीं, तो तुम्हें क्या अधिकार है कि इस प्रकार की टिप्पणी सूत्रकार के सूत्र पर चढ़ा दो। क्या सूत्रकार लिखना चाहता तो सूत्र में ''अमन्त्रम्'' पद न लिख सकता था। वास्तव में यह लेख भी टीकाकार के हृदय की अनुदारता का ही द्योतक है।

वैसे तो उचित है कि पति और पत्नी दोनों मिलकर अग्निहोत्र किया करें, ऐसा अभिप्राय सूत्रकार का प्रतीत होता है। क्योंकि सूत्र १.३.१५ में सूत्रकार कहता है कि गृहस्थी का अग्निहोत्र जिस अग्नि में होता है उसका 'गृह्य अग्नि' यह नाम ही पत्नी के सम्बन्ध से पड़ा है। इस अवस्था में अग्निहोत्र में मुख्य अधिकार पत्नी का ही प्रतीत होता है। हां, यदि पत्नी भी विशेष कार्य वश अग्निहोत्र न कर सके तो ऐसी अवस्था में अन्य किसी से-अर्थात् ऋत्विक् आदि से-भी अग्निहोत्र करा लेना होता है। अग्निहोत्र पहले तो पति और पत्नी को स्वयं ही करना चाहिये, इसके निमित्त ऋत्विक् की कोई आवश्यकता नहीं। परन्तु यदि पति और पत्नी अग्निहोत्र करने में असमर्थ हों तब भले ही ऋत्विक् द्वारा अग्निहोत्र कराया जा सकता है। ऐसी अवस्था में चार ऋत्विजों की आवश्यकता नहीं। अपितु एक ही ऋत्विज् चाहिये। कई

टीकाकारों की सम्मति है कि एक ऋत्विक् ''होता'' होना चाहिये। कई टीकाकार यह भी लिखते हैं कि पति या पत्नी यदि स्वयं पृथक्-पृथक् भी अग्निहोत्र के करने में असमर्थ हों तो भी ऋत्विक् द्वारा, अग्निहोत्र के काल में किसी एक को अग्नि के समीप उपस्थित रहना आवश्यक है, चाहे वह लेटा रहे या किसी भी सुखस्थिति में बैठा रहे। पति या पत्नी में से किसी की समक्षता में ही अग्निहोत्र हो, यह आवश्यक है।

कई टीकाकार यह भी लिखते हैं कि पति या पत्नी की असमर्थता में पुत्र, कुमारी, अथवा शिष्य भी उनके अग्निहोत्र को कर सकते हैं।

पाद-टिप्पणी-

१ समिधा अंगूठे से अधिक स्थूल न होनी चाहिये, न वह त्वचा से रहित होनी चाहिये, न कीटदूषित होनी चाहियें, न फाड़ी हुई होनी चाहियें, न पत्तों सहित होनी चाहियें और न सारहीन होनी चाहिये। वह प्रादेश मात्र लम्बी होनी चाहिये। अंगूठे और उसके पास की अंगुली को यदि एक-दूसरे से परे जहाँ तक हो सके फैलाया जाये तो इतने परिमाण को प्रादेश कहेंगे।

Vaidika Vāg Jyotiḥ
ISSN 2277-4351
Vol.1, No.2 (123-130) Jan-jun 2013

भार्गव-वारुणी विद्या का जीवन में महत्त्व

(दिनेश आर०माछी, संस्कृतविभागाध्यक्ष, सरकारी विनयन कालेज शहेरा, जिला, पंचमहल, गुजरात)

कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयारण्यक के नवम प्रपाठक में एवं तैत्तिरीयोपनिषद् की भृगुवल्ली में अनुवाक १ से ६ तक भार्गवी वारुणी विद्या का निरूपण किया गया है। इस विद्या का सम्प्रदायप्रवर्त्तक वरुण है, इसलिये यह **वारुणी विद्या** कहलाती है। शंकराचार्य तैत्तिरीयोपनिषद् के शाङ्करभाष्य में कहते हैं-**सैषा भार्गव भृगुणा विदिता वरुणेन प्रोक्ता वारुणी विद्या**[१] अर्थात् यह भार्गवी-भृगु की जानी हुई और वारुणी-वरुण की कही हुई विद्या है। तैत्तिरीयारण्यक में सायणाचार्य भी कहते हैं- **भृगुणा लब्धा भार्गवी। वरुणेन प्रोक्ता वारुणी।**[२] भारतीय संस्कृति में वारुणि शब्द पैतृकवंश ही होगा ऐसा मानना आवश्यक नहीं है वह विद्यावंश भी हो सकता है, ऐसा प०पू०पाण्डुरङ्ग शास्त्री कहते हैं। यहाँ वारुणि शब्द विद्यावंश के सन्दर्भ में भी हो सकता है, जिस तरह जन्मवंश है, इस तरह विद्यावंश भी हो सकता है। यहाँ परम्परा से विद्या मिलती है, वह विद्यावंश कहलाता है।[३] पं० भगवद्दत्त ने भी भृगु को इतिहास पुराण की विद्या की परम्परा को चलाने वाला कहा है।[४] शंकराचार्य भी कहते हैं-**आख्यायिका विद्या स्तुतये**[५] अर्थात् यह आस्यायिका विद्या की स्तुति के लिये है।

आत्मतत्त्व का जिज्ञासु भृगु अपने पिता वरुण के पास जाता है और उससे प्रश्न करता है कि - **अधीहि भगवो ब्रह्मेति।** हे भगवन्! आप मुझे ब्रह्म का उपदेश कीजिये। पिता वरुण ने अपने पास विधिपूर्वक आये हुए उस पुत्र से यह वाक्य कहा- **अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति।**[६] अर्थात् अन्न, प्राण, नेत्र, श्रोत्र, मन और वाक् ये ब्रह्म की उपलब्धि के द्वार हैं। इस प्रकार इन द्वारभूत अन्नादिको बतलाकर उसने उस भृगु को ब्रह्म का लक्षण बतलाया। वह क्या है? सो बतलाते हैं-**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति।**[७] तात्पर्य यह है कि उत्पत्ति, स्थिति और लयकाल में प्राणी जिसकी तद्रूपताका त्याग नहीं करते यही उस ब्रह्म का लक्षण है। तू उस ब्रह्म को विशेषरूप से जानने की इच्छा कर, अर्थात् जो ऐसे लक्षणों वाला ब्रह्म है, उसे अन्नादि के द्वारा प्राप्त कर।

पं०पू०पाण्डुरंग शास्त्रीजी इस श्रुति में एक दूसरा आश्वासन भी बताते हैं, प्राणीमात्र की उत्पत्ति भगवान् से हुई है, मेरी उत्पत्ति भी भगवान् से हुई है। जीव और शिव दोनों साथ में बैठे थे, शिव उपवास करके वहीं बैठे रहे और जीव स्वादु अत्ति करने के लिये इस शरीर में आया। इसलिये उपनिषद्कार कहते हैं-पुत्र डर नहीं, जिससे यह

सृष्टि-निर्माण हुई, मनुष्य निर्माण हुआ, तूं निर्माण हुआ, उसको ब्रह्म समझ। उसका ही आधार लेकर जिन्दगी जीना चाहिये-येन जातानि जीवन्ति। वह सबको जीवित रखता है। सम्भालता है, इसलिये उस पर विश्वास रखो। इस तरह **यतो वा इमानि भूतानि..** इस मन्त्र में यह रहस्य छुपा है। श्रुति जीवात्मा को सान्त्वना देती है।[८]

उस भृगु ने अपने पिता से ब्रह्म की उपलब्धि के द्वार और ब्रह्म का लक्षण सुनकर ब्रह्मसाक्षात्कार के साधनरूप से तप किया। इस आख्यायिका में तप का बहुत महत्त्व है। वरुण पुत्र भृगु को बार-बार तप करने के लिये कहता है। इसलिये यहाँ तप का अर्थ क्या है, वो भी जानना आवश्यक है। शंकराचार्य कहते हैं कि जिनके साध्य विषय नियत हैं, उन साधनों में तप ही सबसे अधिक सिद्धि प्राप्त करानेवाला साधन है-यह बात लोक में प्रसिद्ध ही है। इसलिए पिता के उपदेश न देने पर भी भृगु ने ब्रह्मविज्ञान के साधनरूप से तप को स्वीकार किया। वह तप बाह्य इन्द्रिय और अन्त:करण का समाहित करना ही है, क्योंकि ब्रह्मप्राप्ति उसी के द्वारा होनेवाली है। यहाँ शंकराचार्य ने महाभारत का भी उदाहरण दिया है-**मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तप:।**[९] अर्थात् मन और इन्द्रियों की एकाग्रता ही परम तप है।

यहाँ तप का जो बार-बार उपदेश दिया गया है, वह उसका प्रधान साधनत्य प्रदर्शित करने के लिये है। अर्थात् जब तक ब्रह्म का लक्षण निरतिशय न हो जाये और जब तक तेरी जिज्ञासा शान्त न हो जाये तब तक तप ही तेरे लिये साधन है। तात्पर्य यह है कि तू तप से ही ब्रह्म को जानने की इच्छा कर। उस भृगु ने तप करके **अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। अन्नेन जातानि जीवन्ति। अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।**[१०] अर्थात् अन्न ब्रह्म है-ऐसा जाना। क्योंकि निश्चित अन्न से ही ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने पर अन्न से ही जीवित रहते हैं तथा प्रयाण करते समय अन्न में ही विलीन हो जाते हैं।

अन्नब्रह्म की उपासना से जीवन शुद्ध होता है। **अन्नाद्वै प्रजा प्रजायन्ते। या: काश्च पृथिवीम् आश्रिता:। अथो अन्नेनैव जीवन्ति।**[११] अर्थात् अन्न से ही प्रजा उत्पन्न होती है। जो कुछ प्रजा पृथिवी को आश्रित करके स्थित है, वह सब अन्न से ही उत्पन्न होती है, फिर वह अन्न से ही जीवित रहती है और अन्त में उसी में लीन हो जाती है, क्योंकि अन्न ही प्राणियों का ज्येष्ठ (पहले उत्पन्न होनेवाला) है। इसी से वह सर्वौषध कहा जाता है। जो लोग अन्न ही ब्रह्म है, इस प्रकार उपासना करते हैं, वे निश्चय ही सम्पूर्ण अन्न प्राप्त करते हैं। अन्न ही प्राणियों में बड़ा है, इसलिये वह सर्वौषध कहलाता है। जिस देश के पास अन्न सामग्री है, वह देश अन्न के बारे में स्वावलम्बी है। यदि शस्त्रसामग्री, यन्त्रसामग्री और औद्योगिक सामग्री कम होगी तो चलेगा लेकिन अन्नसामग्री ज्यादा नहीं चाहिये। क्योंकि अन्न मनुष्य की मुख्य आवश्यक चीज है। राष्ट्र की दृष्टि से भी अन्न को प्रधानता देनी चाहिये। जिस तरह ब्रह्म सबका है, सब के लिये है, इस तरह अन्न भी सब का है, सबके लिये है। हमारे अर्थशास्त्र, राज्यशास्त्र और धर्मशास्त्र ऐसे होने चाहियें कि समाज में सभी को अन्न मिले। गीताकार

ने जो उदरपरायण लोग केवल अपने लिये ही अन्न पकाते हैं, उनको पापी कहा है- **तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः। भुञ्जते ते त्वंघ पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।**[१२] इसलिये उन देवों द्वारा दिये हुए अन्न को बांटकर भुगतना चाहिये। वही अर्थ में अन्न को ब्रह्म समझकर उपासना करने का उपदेश दिया है। यदि ''**अन्नं ब्रह्म**'' है तो सभी को मिलना चाहिये, यह प्रथम बात है, परोपकार ये दूसरी बात है और लोक सेवा ये तीसरी बात है।

भृगु ने इस तरह अन्न को ब्रह्म समझकर अभ्यास किया। वह भावनामय जीवन जीने लगा। वह फिर से पिता के पास गया। आचार्य सायण कहते हैं- **पुनरपि मन्त्रपुरःसरं गुरुमुपससारैव न त्वालस्यं कृतवान्।**[१३] पिता के पास जाकर बोला- ''**अधीहि भृगवो ब्रह्मेति**'' हे भगवन्! मुझे ब्रह्म का उपदेश कीजिये। पिता ने फिर से तप करने के लिये कहा और तप से ब्रह्म को जांनने के लिये कहा। पिता ने ऐसा कहा तो भृगु सोचने लगा। भृगु ने विचार किय कि ''**अन्नं ब्रह्म**'' ये बात सही है, किन्तु प्राण नहीं होगा तो अन्न का क्या मतलब? मनुष्य में प्राण ही नहीं होगा तो अन्न का कोई मतलब नहीं है। अन्न से भी ज्यादा महत्त्ववाला दूसरा कोई होगा और वह प्राण है, जिसके ऊपर अन्न अवलम्बित है, इसलिये भृगु ने सोचा की प्राण को ब्रह्म समझकर उपासना करनी चाहिये। शरीर में प्राण ही मुख्य तत्त्व है। प्राण से ही जीवन है। भूतमात्र प्राण से ही उत्पन्न होते हैं। **प्राणेन जातानि जीवन्ति**। उत्पन्न होने पर प्राण से ही प्राणी जीवित रहते हैं और **प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।**[१४] - मरणोन्मुख होने पर प्राण में ही लीन हो जाते हैं। सायणाचार्य कहते हैं- **प्राणाभावे तु देहं नोत्यादयतीत्यर्थः। यथोत्पत्तिहेतुत्वं तथा जीवनहेतुत्वमपि कौषीतकिभिराम्नायते- 'यावदस्मिञ्शरीरे प्राणो वसति तावदायुः' इति। प्राणोत्क्रान्तौ देहस्य मरणं प्रसिद्धम्।**[१५]

भृगु ऋषि ने प्राण को ब्रह्म समझकर उसकी उपासना की। प्राणब्रह्म की उपासना से प्राण तेजस्वी बनता है। प्राण सबको प्रिय है।- ''**आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।**''[१६] प्राण को ब्रह्म समझना अर्थात् जीवन में चैतन्य लाना, तेजस्विता लाना, आत्मीयता लाना, सरलता, भावमयता लाना। जिस तरह मुझमें प्राण है, इस तरह दूसरे में भी प्राण है। मुझे मेरे प्राण ऊपर प्रेम है, इस तरह दूसरों के भी प्राण ऊपर प्रेम होना चाहिये। याज्ञवल्क्य, वसिष्ठ, पतंजलि, शंकराचार्य, तुकाराम, स्वामी विवेकानन्द, गाँधीजी, पाण्डुरंग शास्त्री जी आदि के जीवन तेजस्वी थे, उन्हें सबके ऊपर निःस्वार्थ भाव से प्रेम किया यही प्राणोपासना कही जाती है। जिसने जीवन में से सभी पातक निकाल दिये, जिसने जीवन को क्षुद्र नहीं रखा और जीने का हेतु भी क्षुद्र नहीं है, ऐसे श्रद्धावान्, ध्येयनिष्ठ और तेजस्वी मनुष्य प्राण ब्रह्म की उपासना के अधिकारी हैं। भृगु ने इस तरह प्राण को ब्रह्म समझकर उपासना की, प्राण को ब्रह्म समझकर वह फिर अपने पिता वरुण के पास आया और बोला भगवन् मुझे ब्रह्म का उपदेश दीजिए। वरुण ने फिर से तप करने के लिये कहा तब उसने तप किया और तप करके ''**मनो ब्रह्मेति व्यजानात्**''[१७] मन ब्रह्म है-ऐसा जाना, क्योंकि मन से ही ये मनुष्य उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने पर मन

द्वारा ही जीवित रहते हैं और अन्त में प्रयाण करते हुए मन में ही लीन हो जाते हैं।

मनोब्रह्म की उपासना से मन भव्य बनता है। वेदान्त के सिद्धान्तानुसार सारा जगत् मन ने ही उत्पन्न किया है। ये जगत् दीर्घ स्वप्न है। मन वासना से जगत् निर्माण करता है।[१८] जिन्दगी में जो कुछ आनन्द मिलता है वो मन से ही मिलता है। मन से ही जगत् का निर्माण होता है और अन्त में मन में ही विलीन हो जाता है- **''मन: प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति''**। मन ही ब्रह्म के पास पहुंचता है इसलिये भी मन को ब्रह्म कहा जाता है। बन्धन और मोक्ष का कारण वह मन ही है। **मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो: बन्धाय विषयासक्तं मुक्तये निर्विषयं स्मृतमिति।।** [१९] मनो ब्रह्म की उपासना के लिये मन को उदात्त, व्यापक, सुखी, आनन्दी, उत्साही और तेजस्वी बनाना होगा। अगर मन दु:खी और असमाधानी रहे तो मनो ब्रह्म की उपासना नहीं होगी, सायणाचार्य के मतानुसार मन चेतन है-**प्राणस्य जडत्वात्ब्रह्मत्वमयुक्तम्। ''प्रज्ञानं ब्रह्म विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'' इत्यादौ ब्रह्मणश्चेतत्वं प्रतीयते। मनश्च ज्ञानशक्तित्वाच्चेतनम्। जन्मादिकारत्वं लक्षणं च मनसि विद्यते।**[२०]

भृगु का जीवन शुद्ध हुआ, प्राण तेजस्वी बना, मन भव्य और दिव्य हुआ, तब वह पिता के पास गया। पिता ने कहा **''तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति।''**-तू तप से ब्रह्म को जानने की इच्छा कर, तप ही ब्रह्म है। तब भृगु ने तप किया और तप करके **''विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्।''**[२१] क्योंकि विज्ञान से ही यह जीव उत्पन्न होते हैं। उत्पन्न होने पर विज्ञान से ही जीवित रहते हैं। और फिर मरणोन्मुख होकर विज्ञान में ही प्रविष्ट हो जाते हैं।

इस मन्त्र के सन्दर्भ में सायणाचार्य अपने भाष्य में कहते हैं-**मनसश्चक्षुरादिवत्करणत्वेन कर्तृपरतन्त्रत्वान्न ब्रह्मत्वं युक्तम्। विज्ञानस्य तु कर्तृत्वं 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' इति स्पष्टमेवाऽऽम्नातम्। तल्लक्षण च तत्र सुलभम्। कर्म द्वारा देहोत्पत्तिहेतुत्वात्। 'यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते। पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पाप: पापेन।'' इत्यादिश्रुते:...तस्माल्लक्षणलक्षितस्य विज्ञानस्य ब्रह्मत्वं युक्तम्।**[२२]

भृगु ने विज्ञान को ब्रह्म समझकर उपासना की। भृगु ने सोचा कि यह सारा संसार ज्ञा है और वह ज्ञान ही ब्रह्म है। सारा जीवन ही ज्ञान है। ज्ञान से ही सब जीते हैं, ज्ञान ही जीवन है। सुबह आँख खुलने से ही ज्ञान का आरम्भ होता है। सारा जगत् ज्ञान के ऊपर ही आश्रित है। अत: ज्ञान को ही ब्रह्म समझो। ज्ञान को विशिष्ट प्रकार का करना वो ही ज्ञान की उपासना है। विशिष्ट प्रकार का ज्ञान मतलब जो ज्ञान जीवन में साकारित हुआ है, वही ब्रह्म है। उसको ही विज्ञान कहा जाता है। ब्रह्म सर्वव्यापक है, ये जो हम समझते हैं, वही ज्ञान है। और उस ज्ञान की मनुष्य अपने जीवन में अनुभूति करे तब उसे विज्ञान कहा जाता है। विज्ञान मतलब विशेष प्रकार का ज्ञान, जीवन में साकारित हुआ ज्ञान। उसको ही ब्रह्म समझो-ऐसा श्रुति कहती है। जीवन में प्राप्त किये ज्ञान को कर्त्तव्य में लाना चाहिये, यथा मनुष्य को **'सत्यं वद'** ऐसा ज्ञान होता है। किन्तु कुछ प्रसंग ऐसा आ जाये कि

मनुष्य सत्य बोल नहीं पाता। **'धर्मं चर'** ऐसा ज्ञान है लेकिन धर्म का आचरण नहीं होता। इसलिये जीवन में साकारित किया ज्ञान कर्त्तव्य में लाना चाहिये।

भृगु ने इस प्रकार विज्ञान ब्रह्म की उपासना की। वह पुनः पिता वरुण के समीप गया और बोला- **'अधीहि भगवो ब्रह्मेति।'**। वरुण ने उससे कहा- **तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति।** तब उसने तप किया और तप करके अन्त में **आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।**[२३] अर्थात् ब्रह्म आनन्द है ऐसा जाना, क्योंकि आनन्द से ही ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने के बाद आनन्द के द्वारा ही जीवित रहते हैं और प्रयाण करते समय आनन्द में ही समा जाते हैं।

अब श्रुति इस भार्गवी वारुणी विद्या का महत्त्व और फल दिखलाती है-**सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता। स य एवं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या।।**[२४] अर्थात् वह यह भृगु की जानी हुई और वरुण की उपदेश की हुई विद्या परमाकाश में स्थित है। जो ऐसा जानता है वह ब्रह्म में स्थित होता है, वह अन्नवान् और अन्न का भोक्ता होता है; प्रजा, पशु और ब्रह्म तेज के कारण महान् होता है। जो ऐसा जानता है वह ब्रह्म में स्थित होता है, वह अन्नवान् और अन्न का भोक्ता होता है; प्रजा, पशु और ब्रह्मतेज के कारण महान् होता है। ब्रह्म तेज, अर्थात् शम, दम एवं ज्ञानादि के कारण होने वाले तेज से महान् होता है। तथा कीर्ति के कारण भी महान् होता है। कीर्ति अर्थात् शुभाचरण के कारण होनेवाली ख्याति से वह महान् हो जाता है।

इस प्रकार तैत्तिरीयारण्यक के नवम प्रपाठक में अनुवाक १-६ तक एवं तैत्तिरीयोपनिषद् में भृगुवल्ली में प्रथम अनुवाक् से षष्ठ अनुवाक् तक यह भार्गवी वारुणी विद्या का निरूपण किया गया है। षष्ठ अनुवाक् में भार्गवी वारुणी विद्या का महत्त्व और फल दिखाया गया है। यहां शङ्कराचार्य अपने भाष्य में इस विद्या का तात्पर्य दिखलाने के लिये कहते हैं- तप से शुद्धचित्त हुए भृगु ने प्राणादि में पूर्णतया ब्रह्म का लक्षण न देखकर धीरे-धीरे भीतर की ओर प्रवेश कर तपरूप साधन द्वारा ही सबकी अपेक्षा अन्तरतम आनन्द को ब्रह्म जाना। अतः जो ब्रह्म को जानने की इच्छावाला हो उसे साधन रूप से बाह्य इन्द्रिय और अन्तःकरण का समाधान रूप परम तप ही करना चाहिये-यह इस प्रकरण का तात्पर्य है। अब आख्यायिका से निवृत्त होकर श्रुति अपने ही वाक्य से आख्यायिका से निष्पन्न होनेवाला अर्थ बतलाती है-अन्नमय आत्मा से प्रारम्भ हुई यह भार्गवी वारुणी विद्या परमाकाश से अर्थात् हृदयाकाशस्थित गुहा के भीतर अद्वैत परमानन्द में प्रतिष्ठित है अर्थात् वही इसका पर्यवसान होता है। इसी प्रकार जो कोई दूसरा पुरुष भी इसी क्रम से तपरूप साधन के द्वारा क्रमशः अनुप्रवेश करके आनन्द को ब्रह्मरूप से जानता है वह इस प्रकार विद्या से स्थिति लाभ करने से आनन्द और परब्रह्म से स्थिति प्राप्त करता है, यानि ब्रह्म ही हो जाता है।

पू०पाण्डुरंग शास्त्री (पू०दादा) अपने तैत्तिरीयोपनिषद् के प्रवचन में प्रस्तुत षष्ठ अनुवाक्

का तात्पर्य इस प्रकार दिखलाते हैं-भृगु ने तप किया और अन्त में **आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।** आनन्द ही ब्रह्म है, यह निर्णय पर आया। सभी प्राणीमात्र आनन्द से ही उत्पन्न होते हैं यह एक विशेष बात है- **आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।** समग्र विश्व की भेदविवक्षा खड़ी हुई है वह खेलने के लिये है। भगवान् ने यह जगत् निर्माण किया है वो तो सिर्फ लीला ही है-**लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्** समग्र विश्व आनन्दमय है, क्योंकि समग्र विश्व आनन्द से भरा हुआ है। प्रत्येक व्यक्ति में आनन्द है, किन्तु इधर-उधर के लोग रुलाते हैं, इसलिए लोग रोतें हैं, लेकिन वह अज्ञान है, उसको ही माया कहते हैं। विश्व में भिन्न-भिन्न प्रकार के आनन्द हैं, वैषयिक लोगों का कुछ आनन्द होता है, वो वित्त, कीर्ति एवं स्त्री तक मर्यादित हैं। दूसरा विद्या का आनन्द है, तीसरा ईश्वरभक्ति का आनन्द है, एक स्वयं का भी आनन्द होता है। मनुष्य की सभी दौड़ आनन्द-प्राप्ति के लिये चल रही है। आनन्द ही ब्रह्म है, यह बिल्कुल सत्य बात है। समग्र विश्व एवं समग्र जीवन में आनन्द ही है, इसलिये आनन्द को ब्रह्म समझकर उसकी उपासना करनी चाहिये। **सुखार्थं सर्वभूतानाम्** अर्थात् सुख के लिये ही प्राणीमात्र प्रयत्न कर रहे हैं।

आनन्द स्वाश्रयी होना चाहिये। दूसरा आये या न आये, मैं आनन्दित हूँ। मनुष्य जीवन में **शान्तिरस्तु पुष्टिरस्तु तुष्टिरस्तु-** ये तीन बात आ जाये तो वहाँ आनन्द की परिसमाप्ति है। आनन्द भोगने के बाद उस में से शान्ति मिलनी चाहिये, जीवन पुष्ट होना चाहिये और समाधान मिलना चाहिये। आनन्द उसको कहा जाता है, जिसमें शक्ति पुनर्सर्जित होती है। स्त्री, वित्त एवं कीर्ति के आनन्द में शक्तिक्षीणता, पराश्रय आदि दोष आते हैं; उसमें शान्ति, पुष्टि और तुष्टि नहीं होती।

इस तरह पू०दादाजी के मतानुसार आनन्द स्वाश्रयी होना चाहिये। अब पू०पाण्डुरंग शास्त्रीजी यह भार्गवी वारुणी विद्या का ब्रह्मज्ञान किसको प्राप्त नहीं होता, उसका निरूपण करते हैं। भगवद्द्रोह करनेवाला, सच्चे ब्राह्मण का द्वेष करने वाला, भगवान् का हिस्सा हो उसके ऊपर स्वयं का हक्क करने वाला, संस्कृति का द्रोह करनेवाला, वेदों का विद्वेष करनेवाला, दुर्वृत्त व्यक्ति का पोषण करनेवाला, परस्त्री की और विकार की दृष्टि से देखनेवाला और गुरु का अनिष्ट करनेवाला यह विद्या प्राप्त नहीं कर सकता अर्थात् उपर्युक्त लोग ब्रह्मज्ञान के अधिकारी नहीं हैं।[२५]

भृगु ऋषि ने अपने जीवन में से सारे दुर्गुण और दोष निकाल दिया और अपना जीवन निर्दोष कर दिया। इसलिये उसको ज्ञान हुआ। ज्ञान ये कोई प्राप्त करने की चीज नहीं है, जीवन में से अज्ञान निकालना है। ज्ञान तो जगत् में है, और ज्ञान ही ब्रह्म है। ब्रह्म सर्वत्र है अत: ज्ञान को किस तरह ले जाया जायेगा ? अज्ञान की निवृत्ति हो जाये तो ज्ञान आ जाता है। इसलिये जीवन में से अज्ञान निकालना होगा। श्रुति हमें धीरे-धीरे ऊपर की ओर ले जाती है। अन्नब्रह्म की उपासना से जीवनशुद्ध होता है, प्राणब्रह्म की उपासना से प्राण तेजस्वी बनता है, मनोब्रह्म की उपासना से मन भव्य और दिव्य बनता है और विज्ञानब्रह्म की उपासना से जीवनज्ञान आत्मस्पर्शी होता है। यहाँ भृगु ने

बिलकुल जल्दी नहीं की है, उन्होंने बहुत धीरज, रखी है। भृगु ने कितने साल तप किया होगा? अनेक वर्ष चले गये होंगे फिर भी इस अभ्यास के साथ जुड़े रहें **स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेविता दृढ़भूमिः।**[२६]

यहाँ भृगु ने प्रथम अन्न को ब्रह्म समझकर उपासना की, बाद में प्राण, मन और विज्ञान को ब्रह्म समझकर उपासना की है। इसका मतलब ये नहीं होता की आगे की उपासना निरर्थक हुई। ये सब ब्रह्म को जानने के लिए सीढ़ियां हैं। ये सब बार-बार तप से मजबूत होते हैं। पिता को गुरु समझकर उसके पास जाना चाहिये, क्योंकि पिता प्रथम गुरु है।[२७] जीवन का ध्येय और दृष्टिकोण पिता देता है। इस दृष्टि से भृगु को जिज्ञासा हुई और स्वयं पिता के पास जाता है। पिता वरुण पुत्र का कल्याण करना चाहता था इसलिये जानते हुए भी उन्होंने भृगु को त्वरित ब्रह्म का उपदेश नहीं किया, भृगु स्वयं अपने पुत्र थे, फिर भी पिता ने ब्रह्मविद्या नहीं दी, क्योंकि अध्यात्म में बिलकुल लागवग नहीं चलती। पिता ने कहा इसलिये भृगु ने बार-बार तप चालू रखा, कठोर तपश्चर्या की। आचार्य सायण भी कहते हैं-**एकाग्रचित्तस्योत्तमाधिकारिणः सेयं विद्या सुलभा।**[२८] ज्ञान को रटन की आवश्यकता नहीं है। ज्ञान परब्रह्म है, ज्ञान का वर्णन नहीं कर सकते; जिस तरह ब्रह्म अनिर्वचनीय है, इस तरह ज्ञान भी अनिर्वचनीय है।

भार्गवी-वारुणी विद्या में जीवनदर्शन है। जिसने यह विद्या जीवन में प्रतिष्ठित की है, उसके पास तेज, शक्ति और जीवन का वैभव है। यह विद्या जीवन में पचाने से इहलोक और परलोक में महान् कीर्ति मिलती है। तेजस्वी जीवन जीने की आसक्ति निर्माण होती है। जीवन दैवी बनता है, मनुष्य को प्रगति करने की मनीषा निर्माण होती है, इस विद्या से मनुष्य महान् बनता है। यहाँ श्रुति का भी कथन है-**प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन महान् कीर्त्या।**[२९] इस विद्या का श्रवण, चिन्तन और मनन से जीवन अलौकिक बनता है। यह राजविद्या है, क्योंकि यह जीव को राजा बनाती है। जगत् में मैं राजा हूँ, मैं किसी का गुलाम नहीं हूँ, इस प्रकार का गौरव जीवात्मा महूसस करता है। इस प्रकार भार्गवी वारुणी विद्या का मनुष्य जीवन में बहुत महत्त्व है।

पाद-टिप्पणियां-

१ तैत्तिरीयोपनिषद्, शां०भा०३.६.१॥

२ तैत्तिरीयारण्यकम्, सा०भा०९.६॥

३ तत्त्वज्ञान-गुजराती, वर्ष-४६, पुष्प ७, पृ०५,६, जून २००८॥

४ वैदिक वाङ्मय का इतिहास (प्रथम भाग) पृ०१०७॥

५ तैत्तिरीयोपनिषद् ३.१.१॥

६ तदेव।

७ तदेव।

८ तत्त्वज्ञान, गुजराती, वर्ष-४६, पुष्प-७, पृष्ठ ८-९, जून २००८॥

९ तैत्तिरीयोपनिषद् शां०भा०३.२.१॥

१० तैत्तिरीयोपनिषद् ३.२.१॥

११ तैत्तिरीयोपनिषद् २.२.१॥

१२ श्रीमद्भगवद्गीता ३.१२,१३॥

१३ तैत्तिरीयारण्यकम् सा०भा०९.३॥

१४ तैत्तिरीयोपनिषद् ३.३.१॥

१५ तैत्तिरीयारण्यकम्, सा०भा०९.३॥

१६ बृहदारण्यकोपनिषद्, २.४.५, गीताप्रेस गोरखपुर, उ०प्र०, सं०२०५२॥

१७ तैत्तिरीयोपनिषद् ३.४.१॥

१८ चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत्। मैत्रायण्युपनिषद्, ४.३, १०८, उपनिषद्-ज्ञानखण्ड, ब्रह्मवर्चस्, शान्तिकुञ्ज, हरिद्वार, पृ०४०६, सं०२००४॥

१९ मैत्रायण्युपनिषद् ४.३, तदेव, पृ०४०७॥

२० तैत्तिरीयारण्यकम्, सा०भा०९.४॥

२१ तैत्तिरीयोपनिषद् ३.५.१॥

२२ तैत्तिरीयारण्यकम्, सा०भा०९.५॥

२३ तैत्तिरीयोपनिषद् ३.६.१॥

२४ तदेव ३.६.१॥

२५ तत्त्वज्ञान, गुजराती, वर्ष-४६, पुष्प १२, पृ०३ थी १७, नवेम्बर-२००८॥

२६ तदेव, पुष्प-११, पृ०३ थ्री १६, ओकटोबर-२००८।

२७ तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् इति। तैत्तिरीयारण्यकम्, सा०भा०९.१॥

२८ तदेव, ९.६।

२९ तैत्तिरीयोपनिषद् ३.६.१॥

Vaidika Vāg Jyotiḥ
ISSN 2277-4351
Vol.1, No.2 (131-135) Jan-jun 2013

वेद और स्वामी दयानन्द

(भारतेन्दु द्विवेदी, एसो० प्रो०एवं विभागाध्यक्ष-सं०वि०, का०न०रा०स्ना०महाविद्यालय, ज्ञानपुर, भदोही)

स्वामी दयानन्द युगद्रष्टा थे। स्वामी दयानन्द ने आर्यसमाज की स्थापना के साथ आर्यसमाज के दस नियम बनाये। इन नियमों में स्वामी जी ने सत्य और वेद के महत्त्व को समझकर तीसरा नियम बनाया था-"वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।" स्वामी जी ने वेद को सर्वोपरि स्थान दिया है और यह निर्देश दिया था कि वेदाध्ययन और वेद का प्रचार सब आर्यों के लिये अनिवार्य है। वेद को सब सत्य विद्याओं की पुस्तक के रूप में स्वीकार किया था। वेदों को गड़ेरियों का गीत कहने वाले पाश्चात्य विद्वानों ने भी वेदों के महत्त्व को अन्ततः स्वीकार किया है। ऋग्वेद की गणना विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ के रूप में स्वीकार की गयी है। पाश्चात्य देशों में वेदों के महत्त्व को स्वीकार कर उच्च शोधकार्य हो रहे हैं।

ऋग्वेद ज्ञानवेद है, यजुर्वेद यज्ञवेद है, सामवेद उपासना वेद है और अथर्ववेद विज्ञानवेद है। ज्ञान, कर्म, उपासना और विज्ञान वेद चतुष्टय के साधन हैं। ज्ञान, कर्म और उपासना का लक्ष्य विज्ञान है। वेदवित् वही है जिसने ज्ञान, कर्म और उपासना द्वारा विज्ञान की प्राप्ति की है। ऋक् से ज्ञान प्राप्त करते हुए, यजुः से कर्म-साधना और साम से उपासना करनी चाहिये। ज्ञान, कर्म और उपासना से विज्ञान लोक में प्रवेश होता है। इस प्रकार चारों वेदों का अध्ययन, मनन और चिन्तन एक आवश्यक धर्म है।

१. वेद ईश्वरीय ज्ञान है

स्वामी दयानन्द वेदों को ईश्वरीय ज्ञान मानते थे। उन्होंने **'आर्योद्देश्यरत्नमाला'** में लिखा है-जो ईश्वरोक्त सत्य विद्याओं से युक्त ऋक् संहितादि चार पुस्तक हैं, जिनसे मनुष्यों को सत्यासत्य का ज्ञान होता है, उनको वेद कहते हैं।[1]

सत्यार्थप्रकाश में स्वामी दयानन्द ने लिखा है-जो सबको उत्पन्न करके धारण कर रहा है, वह परमात्मा है, उस परमात्मा से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद प्रकाशित हुए।[2]

वेद कैसे प्रकाश में आये? इस सम्बन्ध में स्वामी जी ने लिखा है-'सृष्टि के आदि में परमात्मा ने अग्नि, वायु, आदित्य तथा अङ्गिरा-इन चार ऋषियों के आत्मा में एक-एक वेद को प्रकाशित किया।

अग्नेर्वा ऋग्वेदो जायते वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः। शत०ब्रा०[3]

स्वामी जी ने मनुस्मृति के एक श्लोक को उद्धृत करते हुए लिखा है-'जिस परमात्मा ने आदि सृष्टि में मनुष्यों को उत्पन्न करके अग्नि आदि चारों वेद ब्रह्मा को प्राप्त कराए और उस ब्रह्मा ने अग्नि, वायु, आदित्य और तु अर्थात् अंगिरा से ऋक्, यजुः, साम और अथर्ववेद का ग्रहण किया है।

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्मं सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुः सामलक्षणम्॥
मनु० १.१३[४]

ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका में भी स्वामीजी ने लिखा है-'जो सर्वशक्तिमान् परमेश्वर है, उसी से **(ऋचः)** ऋग्वेद, **(यजुः)** यजुर्वेद, **(सामानि)** सामवेद, **(आंगिरसः)** अथर्ववेद ये चारों उत्पन्न हुए हैं।'[५]

स्वामी जी ने लिखा है-"अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा-इन चारों मनुष्यों को जैसे वादित्र को कोई बचावे वा काठ की पुतली को चेष्टा करावे, इसी प्रकार ईश्वर ने उनको निमित्र मात्र किया था। क्योंकि उनके ज्ञान से वेदों की उत्पत्ति नहीं हुई। किन्तु इससे यह जानना कि वेदों में जितने शब्द, अर्थ और हैं, वे सब ईश्वर ने अपने ही ज्ञान से उनके द्वारा प्रकट किये हैं।'[६]

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने **सत्यार्थप्रकाश** में वेद ईश्वरकृत हैं, इसके क्या प्रमाण हैं, प्रश्न उपस्थित कर वेद ईश्वरकृत हैं, इस सम्बन्ध में निम्न प्रमाण दिये हैं-

उत्तर-(१) जैसा ईश्वर, पवित्र, सर्वविद्यावित्, शुद्धगुणकर्मस्वभाव, न्यायकारी, दयालु आदि गुणवाला है, वैसे जिस पुस्तक में ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव के अनुकूल कथन हो, वह ईश्वरकृतः, अन्य नहीं।

(२) और जिसमें सृष्टिक्रम, प्रत्यक्षादि प्रमाण, आप्तों के और पवित्रात्मा के व्यवहार के विरुद्ध कथन न हो, वह ईश्वरोक्त।

(३) जैसा ईश्वर का निर्भ्रम ज्ञान वैसा जिस पुस्तक में भ्रान्तिरहित ज्ञान का प्रतिपादन हो, वह ईश्वरोक्त।

(४) जैसा परमेश्वर है और जैसा सृष्टि रक्खा है, वैसा ही ईश्वर, सृष्टि, कार्य, कारण और जीव का प्रतिपादन जिसमें होवे।

(५) और जो प्रत्यक्षादि प्रमाण-विषयों से अविरुद्ध शुद्धात्मा के स्वभाव से विरुद्ध न हो, वह परमेश्वरोक्त पुस्तक होता है।

इस प्रकार के वेद हैं।[७] इस प्रकार स्वामी दयानन्द ने सिद्ध किया है कि वेद ईश्वरोक्त हैं।

(२) वेद स्वतः प्रमाण हैं

स्वामी दयानन्द वेदों को एकमात्र प्रमाण मानते हैं। उनके अनुसार वेद स्वतः प्रमाण हैं। **ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका** में उन्होंने लिखा है-"ईश्वर की कही हुई जो चारों मन्त्र संहिताएं हैं, वे ही स्वयं प्रमाण होने योग्य हैं, अन्य नहीं, परन्तु उनसे भिन्न भी जो जीवों के रचे हुए ग्रन्थ हैं, वे भी वेदों के अनुकूल होने से परतः प्रमाण के योग्य होते हैं।"[८]

भ्रमोच्छेदन में स्वामी जी ने लिखा है "ईश्वरोक्त है, वही वेद होता है। जीवोक्त को वेद नहीं कहते हैं। जितने ब्राह्मणग्रन्थ हैं, वे सब ऋषि, मुनि प्रणीत और संहिता ईश्वर प्रणीत हैं। जैसा ईश्वर के सर्वज्ञ होने से तदुक्त निर्भ्रान्त सत्य और मत के साथ स्वीकार करने योग्य होता है, जीवोक्त नहीं हो सकता क्योंकि वे सर्वज्ञ नहीं। वेद स्वतः प्रमाण और ब्राह्मण परतः प्रमाण हैं।"[९]

वेद स्वतः प्रमाण क्यों है तथा निर्भ्रम क्यों है? इसे स्वामी जी ने **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** में स्पष्ट किया है। 'क्योंकि वेद ईश्वर के रचे हुए हैं और ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वविद्यायुक्त तथा सर्वशक्तिशाली है। इस कारण से उनका कथन निर्भ्रान्त और प्रमाण के योग्य है और जीवों के बनाए ग्रन्थ स्वतः-प्रमाण के योग्य नहीं होते क्योंकि वे सर्वविद्यायुक्त और सर्वशक्तिमान् नहीं

होते। इसलिये उनका कहना स्वत: प्रमाण के योग्य नहीं हो सकता। यह बात सिद्ध होती है कि वेद विषय में जहाँ कहींह प्रमाण की आवश्यकता हो, वहां सूर्य और दीपक के समान वेदों का ही प्रमाण लेना उचित है। अर्थात् जैसे सूर्य और दीपक अपने प्रकाश से प्रकाशमान् होके सब क्रिया वाले द्रव्यों को प्रकाशित कर देते हैं, वैसे ही वेद भी अपने प्रकाश से प्रकाशित होके अन्य ग्रन्थों का भी प्रकाश करते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो-जो ग्रन्थ वेदों से विरुद्ध हैं, तब भी अप्रमाण के योग्य नहीं ठहर सकते, क्योंकि वे तो अपने ही प्रमाण से प्रमाण युक्त हैं।[१०]

इस प्रकार स्वामी दयानन्द ने वेदों को स्वत: प्रमाण माना है।

(३) वेद नित्य हैं

सत्यार्थप्रकाश में वेद नित्य हैं या अनित्य इस प्रश्न को उपस्थित कर स्वामी दयानन्द ने लिखा है-"वेद नित्य हैं। क्योंकि परमेश्वर के नित्य होने से उसके ज्ञानादि गुण भी नित्य हैं। जो नित्य पदार्थ हैं, उनके गुण, कर्म, स्वभाव नित्य और अनित्य द्रव्य के साथ अनित्य होते हैं।"[११]

वेदों की नित्यता के सम्बन्ध में **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** में स्वामी जी ने लिखा है-जैसे इस कल्प की सृष्टि में शब्द अक्षर अर्थ और सम्बन्ध, वेदों में हैं, इस प्रकार से पूर्वकल्प में थे और आगे भी होंगे, क्योंकि जो ईश्वर की विद्या है, सो नित्य एक ही रस बनी रहती है, उनके एक अक्षर का भी विपरीत भाव कभी नहीं होता। सो ऋग्वेद से लेकर चारों वेदों की संहिता अब जितनी प्रकार की हैं; कि इनमें शब्द, अर्थ, सम्बन्ध, पद और अक्षरों का जिस क्रम से वर्तमान है, इसी प्रकार का ... सब दिन ... रहता है क्योंकि ईश्वर का ज्ञान नित्य है, उनकी वृद्धि, क्षय और विपरीतता भी नहीं होती, इस कारण से वेदों को नित्य स्वरूप ही मानना चाहिये।[१२]

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में स्वामी दयानन्द ने वैशेषिक सूत्रकार कणादमुनि, न्यायशास्त्रकार गौतममुनि, योगशास्त्रकार पतञ्जलि, वेदान्तशास्त्रकार कृष्ण द्वैपायन व्यासमुनि, सांख्यशास्त्रकार कपिलमुनि को उद्धृत करते हुए वेदों की नित्यता को प्रतिपादित किया है।

वेदों की नित्यता के सम्बन्ध में उपसंहार के रूप में स्वामी जी ने लिखा है-"जो सदा निर्विकार स्वरूप, अज, अनादि, नित्य, सत्य सामर्थ्य से युक्त और अनन्त विद्या वाला ईश्वर है, उसकी विद्या से वेदों के प्रकट होने और उसके ज्ञान में वेदों के सदैव वर्तमान रहने से वेदों को सत्यार्थयुक्त और नित्य सब मनुष्यों को मानना योग्य है। यह संक्षेप में वेदों के नित्य होने का विचार किया।[१३]

(४) चार वेद

वेद चार क्यों है? एक वेद क्यों नहीं? इस सम्बन्ध में स्वामी जी ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में इसके दो कारण बताये हैं (१) भिन्न-भिन्न विद्या जानने के लिये अर्थात् जो तीन प्रकार की गान विद्या है (उसको जानने के लिये वेदों का विभाग किया गया है), एक तो यह कि उदात्त और षड्जादि स्वरों का उच्चारण ऐसी शीघ्रता से करना जैसा कि ऋग्वेद के स्वरों का उच्चारण द्रुत अर्थात् शीघ्रवृत्ति में होता है, दूसरी माध्यमवृत्ति जैसे कि यजुर्वेद के स्वरों का उच्चारण ऋग्वेद के मन्त्रों से दोगुने काल में होता है, तीसरी विलम्बित वृत्ति है, जिसमें प्रथम वृत्ति से तिगुना काल लगता है, जैसा कि सामवेद के स्वरों के उच्चारण व गान में फिर

उन्हीं तीनों वृत्तियों के मिलाने से अथर्ववेद का भी उच्चारण होता है, परन्तु इसका द्रुतवृत्ति से उच्चारण अधिक होता है, इसलिये वेदों के चार विभाग हुए हैं।[१४] (२) ऋग्वेद में सब पदार्थों के गुणों का प्रकाश किया है, जिससे उनमें प्रीति बढ़कर उपकार लेने का ज्ञान प्राप्त हो सके, क्योंकि बिना प्रत्यक्ष ज्ञान के संस्कार और प्रवृत्ति का प्रारम्भ ही नहीं हो सकता और आरम्भ के बिना यह मनुष्य जन्म व्यर्थ ही चला जाता है, इसलिये ऋग्वेद की गणना प्रथम ही की है। यजुर्वेद में क्रिया काण्ड का विधान लिखा है, सो ज्ञान के पश्चात् ही कर्त्ता की प्रवृत्ति यथावत् हो सकती है, क्योंकि जैसा ऋग्वेद में गुणों का कथन किया है, वैसा ही यजुर्वेद में अनेक विद्याओं के ठीक-ठीक विचार करने में संसार के व्यवहारी पदार्थों से उपयोग सिद्ध करना होता है, जिनसे लोगों को नाना प्रकार का सुख मिले, ...इसलिये ईश्वर ने ऋग्वेदादि का उपदेश किया है कि जिनसे मनुष्य लोग ज्ञान और क्रिया-काण्ड को पूर्ण रीति से जान और आनन्द की उन्नति और अथर्ववेद से सर्वसंशयों की निवृत्ति होती है, इसलिये इनके चार विभाग किये हैं।[१५]

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में ही स्वामी जी ने लिखा है कि ज्ञानकाण्ड के लिये ऋग्वेद, क्रियाकाण्ड के लिये यजुर्वेद, इनकी उन्नति के लिये सामवेद और शेष अन्य रक्षाओं के प्रकाश करने के लिये अथर्ववेद की प्रथम, दूसरी, तीसरी और चौथी करके संख्या बांधी है। क्योंकि (ऋच स्तुतौ, यज् देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु, षो अन्तकर्मणि और साम सान्त्व प्रयोगे, अथर्व तिश्चरतिकर्मा) इन अर्थों के विद्यमान होने से चार वेदों अर्थात् ऋग्, यजु, साम और अथर्व की यह

इसलिये किया है कि जिससे तीनों वेदों की अनेक विद्याओं के सब विघ्नों का निवारण और उनकी गणना अच्छी प्रकार से हो सके।[१६]

इस प्रकार चारों वेदों की आवश्यकता पर स्वामी ने अपने विचार स्पष्ट किये कि मूलरूप में वेद चार हैं, जो ईश्वर प्रदत्त हैं।

स्वामी दयानन्द ने स्पष्ट रूप से मार्गदर्शन करते हुए सत्यार्थप्रकाश में लिखा है-वेद परमेश्वरोक्त हैं। इन्हीं के अनुसार सब लोगों को चलना चाहिये और जो कोई किसी से पूछे कि तुम्हारा क्या मत है? तो यही उत्तर देना है कि हमारा मत वेद अर्थात् जो कुछ वेद में कहा है, हम उसको मानते हैं।[१७]

ईश्वरप्रदत्त ज्ञान पर सृष्टि के प्रारम्भ में ऋषियों ने समाज की सुदृढ़ आधारशिला पर आधारित समाज की स्थापना की थी। यह आधारशिला इतनी सुदृढ़ थी कि सदियाँ बीत जाने पर भी भारतीय समाज एक सूत्र में बंधा रहा। विश्व को ज्ञान की ज्योति प्रदान करने वाले वेदों ने भारतीय समाज का मार्गदर्शन कर अखण्डरूप में बनाये रखा। आज समाज वेदों के अध्ययन और स्वाध्याय से दूर होता जा रहा है। स्वामी दयानन्द को इसका पूर्व में ही अनुमान था। अतः उन्होंने वेदाध्ययन, वेदों का स्वाध्याय और प्रचार प्रत्येक आर्य का परमधर्म कहा था। उन्हें ज्ञात था कि भारतीय राष्ट्र और समाज को अखण्डरूप में स्थापित करने और जोड़े रखने में केवल ईश्वरीय ज्ञान वेद ही समर्थ है।

वेद ही एकमात्र सत्य है और वेद ही एकमात्र सत्य का मार्गदर्शन करने में समर्थ हैं। आज समाज और राष्ट्र में विघटनकारी शक्तियाँ अपना पैर फैला रही है, इसका प्रमुख कारण है अपने उन मूलभूत

परित्याग, जिन पर हमारा राष्ट्र और समाज खड़ा हुआ था। अतः आज आवश्यकता इस बात की है कि प्रत्येक आर्य-परिवार महर्षि के बताये हुए मार्ग का अनुसरण करते हुए वेदों का स्वाध्याय, अध्ययन और प्रचार करे, इससे न केवल उसका वर्तमान ही सफल होगा, अपितु भविष्य भी सफल होगा।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** में लिखा है-

''नावेदविन्मनुते तं बृहन्तमिति। यो मनुष्यो वेदार्थान्न वेत्ति, स नैव तं बृंहन्तं परमेश्वरं धर्मं विद्यासमूहं व वेत्तुमर्हति। कुतः? सर्वासां विद्यानां वेद एवाधिकरणमस्त्यतः।....॥

'वेदों को नहीं जानने वाला मनुष्य परमेश्वरादि सब पदार्थ विद्याओं को अच्छी प्रकार से नहीं जान सकता और जो-जो जहां-जहां भूगोल या पुस्तकों अथवा मन में सत्यज्ञान प्रकाशित हुआ है और होगा वह सब वेदों में से ही हुआ है। क्योंकि जो सत्य विज्ञान है सो ईश्वर ने वेदों में रखा है। इसी के द्वारा अन्य स्थानों पर भी प्रकाश होता है। विद्या के बिना मनुष्य अन्धे के समान होता है। इससे सम्पूर्ण विद्या के मूल को बिना पढ़े किसी मनुष्य को यथावत् ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये सब मनुष्यों को वेदादिशास्त्र अर्थज्ञान सहित अवश्य पढ़ने चाहिएं।[१८]

पाद-टिप्पणियां-

१ आर्योद्देश्यरत्नमाला
२ सत्यार्थप्रकाश समुल्लास ७
३ सत्यार्थप्रकाश समुल्लास ७
४ सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास-७
५ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदोत्पत्तिविषयः
६ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका
७ सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास-७
८ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका
९ भ्रमोच्छेदन
१० ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका
११ सत्यार्थप्रकाश समुल्लास-७
१२ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-वेद नित्यत्व विचार
१३ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका वेदानां नित्यत्व विचार
१४ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका
१५ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, प्रश्नोत्तर विषय।
१६ सत्यार्थप्रकाश समुल्लास-७
१७ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, प्रश्नोत्तर विषय
१८ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पठन-पाठन विषय

Vaidika Vāg Jyotiḥ
ISSN 2277-4351
Vol.1, No.2 (136-143) Jan-jun 2013

मनुस्मृति, आर्यसमाज एवं नारी : एक विवेचन

(भारती आर्य, द्वारा-विश्वभारती अनुसन्धान परिषद्, ज्ञानपुर, भदोही (उ०प्र०)

वेद भारतीय संस्कृति के आधार ग्रन्थ हैं। स्मृतियां भी भारतीय संस्कृति के आधार व प्रामाणिक ग्रन्थ हैं। महर्षि मनु के अनुसार श्रुति वेद हैं और स्मृतियाँ धर्मशास्त्र हैं। दोनों से ही धर्म का सन्देश मिलता है।

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।[1]

महर्षि मनु ने वेदों को धर्म का मूल कहा है **''वेदोऽखिलो धर्ममूलम्''।**[2]

वेद, स्मृतियाँ, श्रेष्ठ आचरण और अन्तरात्मा की प्रसन्नता-ये चार धर्म के साक्षात् लक्षण कहे गये हैं।

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।

एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्।।[3]

मनु के अनुसार धर्म के प्रति जिज्ञासा करने वाले लोगों के लिये श्रुति ही सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है।

प्रमाणं परमं श्रुतिः।[4]

जो मनुष्य धर्म का पालन करता है, उसे इस संसार में यश, उन्नति और परलोक में अनुपम सुख मिलता है।

वेदों में जिन तत्त्वों का संक्षेप में वर्णन है, उनका ही स्मृतियों में विस्तृत वर्णन है। स्मृतिग्रन्थ भारतीय आचार-संहिताएं हैं। ये हमें अन्धकार से प्रकाश की ओर, संकोच से विकास की ओर ले जाती हैं। इससे लौकिक और पारलौकिक मार्ग प्रशस्त होता है। इनमें मनुष्यों के कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, आचार-शिक्षा, व्यवहार-नीति, कर्म-विज्ञान, सांस्कृतिक जीवन, ग्राह्य-अग्राह्य, धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य, आचार-अनाचार, दण्ड-व्यवस्था का विशद वर्णन मिलता है। इसलिये कालिदास ने कहा है **''श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्।''**[5]

वैदिककाल में स्त्रियों को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। वे पराक्रमी, वीरांगना, सबला, पुरुषों के समान वेदपाठी, मन्त्रद्रष्टा और ऋषिकाएं थीं। वे शास्त्रार्थ भी करती थीं। उदाहरण के लिये गार्गी और याज्ञवल्क्य ऋषि का शास्त्रार्थ सुप्रसिद्ध है। आदि गुरु शंकराचार्य और उस समय के प्रसिद्ध विद्वान् मण्डन मिश्र के शास्त्रार्थ की अध्यक्षता और बाद में शंकराचार्य के साथ विदुषी भारती का शास्त्रार्थ विश्वविख्यात है।

ऋग्वेद की ऋचाओं में नारी के महिमामय, गौरवशाली महत्त्व को बताते हुए कहा गया है कि मैं ज्ञान में ध्वज के तुल्य अग्रणी, ज्ञानवाली विदुषी हूँ। जैसे शरीर में शिर का महत्त्वपूर्ण स्थान है, वैसे ही समाज और राष्ट्र में मूर्धा और शिर के तुल्य हूं। मैं तेजस्विनी बोलने वाली एवं विजयिनी हूँ। पति का आचरण मेरे अनुकूल है। मेरे पुत्र शत्रुओं का नाश करने वाले हैं। मेरी पुत्रियाँ तेजस्विनी और

गुणवती हैं। मैं विजयिनी हूँ। पति के जीवन में मेरा यश उत्तम है।

अहं केतुरहं मूर्धा ऽहमुग्रा विवाचनी।
ममेदनु क्रतुं पतिः सेहानाया उपाचरेत् ॥[६]
मम पुत्राः शत्रुहणो ऽथो मे दुहिता विराट् ।
उताहमस्मि संजया पत्यौ मे श्लोक उत्तमः ॥[७]

वैदिक परम्परा में माता को ही प्रथम गुरु माना गया है। महाभारत में भी कहा गया है **''नास्ति मातृ समो गुरुः।''**[८]

माता से बढ़कर कोई गुरु नहीं है जो माता की भक्ति करता है, वह लोक व परलोक दोनों को जीत लेता है। माता-पिता, गुरु के समान ही पूज्य हैं। मनुस्मृति में कहा गया है-

उपाध्यायान् दशाचार्य, आचार्याणां शतं पिता। सहस्रं तु पितॄन् माता, गौरवेणातिरिच्यते।।[९]

अर्थात् दश उपाध्यायों से बड़ा आचार्य, सौ आचार्यों से बड़ा पिता, पिता से भी हजार गुणा माता का महत्त्व अधिक है।

माता ही अपने बच्चों का सर्वांगीण विकास कर सकती है। वह बच्चों की प्रथम शिक्षिका है। माता अपने बच्चों को जैसा चाहे वैसा बना सकती है। गर्भ से ही बच्चों में अच्छे संस्कार डाल सकती है। महर्षि मनु ने संस्कारों पर बल दिया है। मनु ने माता को पृथिवी की मूर्ति माना है। **''माता पृथिव्या मूर्तिः''**।[१०] महाभारत में माता को भूमि के समान महान् माना गया है। **''माता गुरुतरा भूमेः।''**[११], **''माता मूर्तिः प्रजापतेः''**। माता को प्रजापति की मूर्ति माना गया है।

नास्ति मातृसमा छाया, नास्ति मातृ समागतिः। नास्ति मातृसमं त्राणं, नास्ति मातृसमा प्रिया।।[१२]

महाभारत में कहा गया है कि माता के समान कोई श्रेष्ठ रक्षक नहीं है, न माता के समान कोई आश्रयदाता है, न माता के समान कोई पालक है। न माता के समान कोई प्रिय है।

जो व्यक्ति सदा विद्वान् वृद्धों की सेवा करता है, उसकी आयु, विद्या, यश अर्थात् कीर्ति और बल बढ़ता है।

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम्।।[१३]

महर्षि मनु ऐसे महान् ऋषि हुए हैं, जिन्होंने उच्च गौरव और सम्मान स्त्रियों को दिया। जिस परिवार व समाज में स्त्रियों का आदर एवं सम्मान होता है, वहां देवता अर्थात् दिव्यगुण, दिव्य सन्तान और दिव्य लाभ आदि प्राप्त होते हैं। जहाँ इनका आदर व सम्मान नहीं होता है अर्थात् अपमान होता है वहां सदा विपत्तियाँ आती हैं।

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैताः तु न पूज्यन्ते सर्वाः तत्राफलाः क्रियाः।।[१४]

महर्षि मनु ने स्त्रियों को सन्तान की उत्पत्ति करके, भोग्योदय करने वाली, आदर के योग्य, घर की ज्योति, गृहशोभा, गृहलक्ष्मी, घर का संचालन करने वाली, गृहस्वामिनी, घर को स्वर्ग बनाने वाली, संसार यात्रा की आधार स्तम्भ माना है। शोभा, लक्ष्मी और स्त्री में कोई अन्तर नहीं है। वे घर की प्रत्यक्ष शोभा हैं।

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु च विशेषोऽस्ति कश्चन।।[१५]

विद्या का मानव जीवन में बहुत अधिक महत्त्व है। माता-पिता का प्रमुख कर्त्तव्य है कि अपने बच्चों को उच्च एवं अच्छी शिक्षा प्रदान करें। विद्या से विनम्रता आती है, विनम्रता से योग्यता

आती है। योग्यता से धन प्राप्त होता है। धन से धर्म और धर्म से सुख प्राप्त होता है।

विद्या ददाति विनयं, विनयात् याति पात्रता। पात्रत्वाद् धनं आप्नोति, धनात् धर्मः ततः सुखम्।। (हितोपदेश)

जो माता-पिता अपनी सन्तानों को पढ़ाते नहीं हैं। वे माता-पिता अपने बच्चों के शत्रु हैं। वे विद्वानों की सभा में तिरस्कृत और कुशोभित होते हैं। जैसे हंसों के मध्य में बगुला।

माता शत्रुः पिता वैरी, येन बालो न पाठितः। न शोभते सभा मध्ये, हंस मध्ये वको यथा।। (हितोपदेश)

महर्षि मनु ने विद्या के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए विद्या को अमूल्य रत्न कहा है। ऊंच-नीच या बालक जिससे भी अच्छी प्रकार शिक्षा प्राप्त हो ग्रहण कर लेनी चाहिये।

विषादप्यमृतं ग्राह्यं, बालादपि सुभाषितम्।[१६]

महर्षि मनु ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि राजा सब कन्या और लड़कों को ब्रह्मचर्य में रखकर विद्वान् बनाये। जो कोई इस आज्ञा को न माने तो उसके माता-पिता को दण्ड देना चाहिये। राजा की आज्ञा से आठ वर्ष के पश्चात् लड़की व लड़के किसी को घर में नहीं रखना चाहिये अर्थात् आचार्य-कुल में रहे।

कन्यानां सम्प्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम्।।

वैदिक व मनुकाल में स्त्रियों को शिक्षा का अधिकार था। मुगल काल और अंग्रेजों के शासन काल में भारत में स्त्रियों को शिक्षा का अधिकार नहीं था। उस समय अनेक कुरीतियां प्रचलित थीं। उस समय भारतीय समाज में नारी की स्थिति अच्छी नहीं थी। सामाजिक संकीर्णता तथा करीतियों ने नारी की स्थिति को और भी दयनीय बना दिया था। उस समय बाल-विवाह, अनमेल-विवाह, बहु-विवाह, दहेजप्रथा, पर्दा-प्रथा, सती-प्रथा, विधवाओं की दयनीय स्थिति, विधवा-विवाह का निषेध, बालिका वध, अशिक्षा आदि अनेक कुरीतियां प्रचलित थीं। उनका पालन एवं समर्थन धर्म के नाम पर किया जा रहा था। भारतीय नारियों को शिक्षा एवं वेदाध्ययन के अधिकार से वंचित कर दिया गया था और वे घर पर ही रहती थीं।

ब्रह्म-समाज के प्रवर्त्तक राजाराम मोहन राय व महर्षि दयानन्द ने उस समय स्त्रियों की स्थिति सुधारने के अनेक कार्य किये। अन्य लोगों ने भी इसमें सहयोग किया। ईसाई मिशनरियों ने अपने धर्म के प्रचार के लिये लड़कियों के स्कूल खोले।

महाराष्ट्र में समाज सुधारक ज्योतिराव फुले, बंगाल में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने कन्याओं के लिये विद्यालयों की स्थापना की। इन सभी लोगों ने कन्याओं को साक्षर बनाने पर बल दिया।

महर्षि दयानन्द सरस्वती की प्रेरणा से आर्यसमाज ने स्त्रियों को साक्षर बनाने के साथ-साथ वेद, वेदांग पढ़ने और गृहोपयोगी कलाओं को सिखाने पर बल दिया। आर्यसमाज ने १८८३ में महर्षि दयानन्द के निर्वाण के बाद शिक्षा कार्यक्रमों को तेजी से अपनाया ताकि ईसाई मिशनरियों के प्रचार और प्रसार के कारण उत्पन्न हुए भीषण संकट से भारत को बचाया जा सके। प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति का यथार्थ रूप नई पीढ़ी के सामने प्रस्तुत किया। ईसाई मिशनरियों की भांति आर्य उपदेशक तैयार किये गये। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिये डी०ए०वी० विद्यालयों की स्थापना की गयी। वहाँ सन्ध्या-हवन करना छात्रों के लिये अनिवार्य था।

इन कालेजों में महर्षि दयानन्द सरस्वती के बताए हुए पाठ्यक्रमों का जैसे-वेद-वेदांग, व्याकरण, दर्शनशास्त्रों की शिक्षा व्यवस्था नहीं थी। इस पद्धति से असन्तुष्ट पं० गुरुदत्त विद्यार्थी, महात्मा मुंशीराम जैसे लोगों ने वैदिक धर्म और संस्कृति के प्रचार एवं प्रसार के लिये गुरुकुलों की स्थापना की। बालकों का पहला गुरुकुल पंजाब में १९०० ई० में गुजरांवाला में स्थापित किया गया।

महात्मा मुंशीराम जी ने अपनी डायरी में २६ जनवरी १८८६ ई० में लिखा है, जब वह कचहरी से लौटकर घर के अन्दर गये तो वेद कुमारी अर्थात् महात्मा जी की पुत्री दौड़ी आयी, जो पाठशाला से सीख कर आई थी, सुनाने लगी-

एक बार ईसा बोल,
तेरा क्या लगेगा मोल?
ईसा मेरा राम रमैया
ईसा मेरा कृष्ण कन्हैया॥

इस गीत को सुनने से उन्हें लगा कि आर्यजाति की पुत्रियों को इस तरह के गीतों के साथ-साथ अपने धर्मग्रन्थों की निन्दा करना भी सिखाया जा रहा है। इस विषय पर महात्मा मुंशीराम जी ने अपने मित्रों और सहयोगियों से बात की, वे सब इस भी इस बात से चिन्तित थे।

महात्मा मुंशीराम जी और लाला देवराज जी, जो क्रमशः जालन्धर आर्यसमाज के प्रधान व मन्त्री थे। दोनों ने अनेक विघ्न-बाधाओं का सामना करते हुए वैदिक संस्कृति के आदर्शों एवं धर्म की रक्षा के लिये सन् १९०० में 'कन्या महाविद्यालय, जालन्धर' की स्थापना की और अपना तन-मन-धन सभी समर्पित कर दिया। इसके बाद गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना की।

इस प्रकार 'कन्या महाविद्यालय, जालन्धर' देवराज जी की त्याग-तपस्या का और 'गुरुकुल कांगड़ी' अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द अर्थात् (महात्मा मुंशीराम जी) की कल्पना का मूर्त रूप है। इन दोनों महापुरुषों को स्त्री-शिक्षा व गुरुकुल प्रणाली के जन्मदाता के रूप में सदा याद किया जायेगा। इसके बाद अनेक गुरुकुलों की स्थापना हुई। आचार्य रामदेव और आचार्य विद्यावती जी ने १९२३ में 'कन्या गुरुकुल, देहरादून' १९५६ में दिल्ली में 'नरेला कन्या गुरुकुल' की स्थापना हुई। पं० आनन्दप्रिय ने 'बड़ौदा कन्या महाविद्यालय' की स्थापना की। 'अनेक पुत्री पाठशालाएं' और कन्या विद्यालयों की स्थापना की गयी। इन विद्यालयों में कन्याओं को आर्य संस्कृति, सभ्यता, धर्म-शिक्षा, वेद, गीता, उपनिषद्, दर्शन, सत्यार्थप्रकाश आदि पढ़ाए जाते थे। नियमित रूप से सन्ध्या-हवन भी सिखाया जाता था। इन पाठशालाओं को सरकारी अनुदान मिलने के कारण प्रचलित विषय भी पढ़ाये जाते थे। इसलिये अध्यापिकाएं भी सरलता से मिल जाती थीं। ये पाठशालाएं आर्यसमाज के भवनों में चलायी जाती थीं। इन्हीं सभी लोगों के अथक प्रयासों से आज स्त्रियाँ सभी क्षेत्रों में आगे आईं।

विद्या अध्ययन के बाद जब छात्र शिक्षित होकर निकले, उसके बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे अर्थात् विवाह करे। मनु ने विवाह-संस्कार में पति-पत्नी के गुण, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विस्तृत वर्णन किया है। जिस प्रकार वायु सभी प्राणियों का आधार है, उसी प्रकार गृहस्थाश्रम भी सभी आश्रमों का आधार है। गृहस्थाश्रम सभी आश्रमों में सर्वश्रेष्ठ है। गृहस्थ ही ज्ञान और अन्न से अन्य आश्रमों का

पालन करता है। ऋषि, देवता, पितृगण, प्राणी और अतिथि सभी गृहस्थ से सन्तुष्ट होते हैं।

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तव:।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमा:।। [१७]

मनु के अनुसार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति के लिये गृहस्थ को प्रतिदिन पंचमहायज्ञ करने चाहियें। ब्रह्मयज्ञ अर्थात् सन्ध्या, देवयज्ञ अर्थात् हवन, पितृयज्ञ (माता-पिता की सेवा-शुश्रुषा), बलिवैश्वदेवयज्ञ अर्थात् पत्नी को प्रात:काल और सांयकाल दोनों समय पके हुए भोजन की आहुतियां देनी चाहिये। अतिथियज्ञ को महर्षि मनु ने बहुत महत्त्व दिया है। अतिथि के आने की कोई तिथि नहीं होती है। अतिथि को जल, आसन, भोजन, मधुर वचन आदि से स्वागत करना चाहिये। यदि कुछ भी न मिले तो जल से सत्कार करना चाहिये। राजा, ऋत्विज, स्नातक, गुरुजन, दामाद, श्वसुर और मामा का मधुपर्क से सत्कार करना चाहिये।[१८] आर्यसमाज के संस्थापक धर्म-धुरन्धर, युग-प्रवर्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने ग्रन्थों में पंचमहायज्ञों को प्रतिदिन करने का निर्देश दिया है।

पत्नी का कर्त्तव्य है कि पति, गुरु व अतिथि को खिलाकर खाए। मनु ने स्त्रियों के मुख्य कर्त्तव्य सन्तान उत्पन्न करना, सन्तान की रक्षा करना, अतिथियों का सत्कार करना, धार्मिक कृत्य, अग्निहोत्र, यज्ञ आदि करना, बड़े लोगों की सेवा-शुश्रुषा करना, पति की आज्ञापालन करना, पति को देवता के समान सम्मान देना, घर के सभी कार्यों को सुचारू रूप से चलाना आदि। पति की सेवा से स्त्री स्वर्गलोक को प्राप्त करती है।

अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा।
दाराधीनस्तथा स्वर्ग: पितृणामात्मनश्च ह।। [१९]

सन्तानोत्पत्ति, धर्म कार्य, उत्तम सेवा, रति तथा अपना और पितरों का जितना सुख है यह सब स्त्रियों के अधीन है।

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहे कार्येषु दक्षया।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्त हस्तया।। [२०]

स्त्रियाँ सदा आनन्दित होके, चतुरता से कार्यों में लगी रहें। अन्नादि से उत्तम संस्कार, पात्र, वस्त्र, गृह आदि के संस्कार और घर के भोजनादि में जितना धन आदि लगे उसको उसको यथायोग्य करने में सदा प्रसन्न रहे।

पति अपनी पत्नी को अपने शरीर के तुल्य माने। वह पत्नी को भोजन, वस्त्र, आभूषण आदि से सन्तुष्ट रखे, उसे कभी दु:खित न होने दे। स्त्री को प्रसन्न रखने से पुत्र, यश, आयु प्राप्त होता है। जिस कुल में नित्य स्त्री से पति और पति से स्त्री प्रसन्न और सन्तुष्ट रहती है। उस कुल का निश्चय ही कल्याण होता है।

सन्तुष्टो भार्यया भर्ता, भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं, कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्।। [२१]

जिस कुल में स्त्री, पुत्रवधु, बहन, भानजी, कन्या आदि शोक करती हैं। वह कुल शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। जहाँ ये प्रसन्न रहती हैं, वह कुल सर्वदा उन्नति करता है।

शोचन्ति जामयो यत्र, विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैता, वर्धते तद्धि सर्वदा।। [२२]

अपना कल्याण चाहने वाले कन्या के पिता, भाई, पति और देवर आदि को चाहिये कि वे सदा कन्या का आदर सत्कार करें तथा उसे वस्त्र आदि से अलंकृत करें।

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैता: पतिभिर्देवरस्तथा।

पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः।।[२३]

महर्षि मनु के अनुसार यदि माता-पिता अपनी कन्या का विवाह नहीं करते हैं तो कन्या पति को स्वयं वरण कर सकती है। उसे थोड़ा भी दोष नहीं लगता।[२४]

अथर्ववेद में भी इसका प्रमाण मिलता है-

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।[२५]

कन्या ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदशास्त्रों का अध्ययन कर विदुषी बनकर अपने सदृश युवा पति का वरण करे। विवाह-पद्धति में अनेक अन्धविश्वास प्रचलित थे। आर्यसमाज ने इन दोषों को दूर करने का प्रयत्न किया। विवाह के लिये वर-कन्या के गुण, कर्म, स्वभाव की समानता को महत्त्व प्रदान किया। महर्षि मनु के अनुसार स्त्री की रक्षा बचपन में पिता, युवा अवस्था में पति और वृद्धावस्था में पुत्र करते हैं।

पिता रक्षति कौमारे, भर्ता रक्षति यौवने।

रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा, न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति।।[२६]

स्त्रियों के सुखी जीवन की कामना से उनका सुझाव है कि गुणहीन व दुष्ट पुरुष से कभी भी विवाह न करें, चाहे जीवनपर्यन्त अविवाहित रहें। विधवाओं को पुनर्विवाह का अधिकार दिया है।

मनु ने विवाह को कन्या के आदर स्नेह का प्रतीक बताया है। अतः विवाह में किसी भी प्रकार के लेन-देन अर्थात् दहेज को अनुचित बताते हुए बल देकर उसका निषेध किया है।[२७] स्त्रीधन के बारे में बताते हुए कहते हैं कि विवाह में अग्नि के समक्ष माता-पिता के द्वारा जो दिया जाता है, विदाई में दिया गया धन, प्रेमवश पति के द्वारा प्राप्त धन, भाई आदि के द्वारा दिया गया धन, माता-पिता के द्वारा विधिध अवसरों पर दिया गया धन व सामान, बाद में मिलने वाली वस्तुओं, भेंटों को स्त्रीधन माना है।[२८] महर्षि मनु ने पुत्र और पुत्री को समान माना है। पुत्री भी पुत्र के समान आत्मरूप है। दोनों में कोई भेद नहीं करना चाहिये।

यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा।।[२९]

मनु ने पुत्र के पुत्र पौत्र और पुत्री के पुत्र दौहित्र में कोई अन्तर नहीं माना। पुत्रहीन माता का समस्त धन दौहित्र को मिलता है।[३०] कुमारी कन्या को माता का धन मिलता है।[३१] माता के मरने पर संगे भाई-बहन धन को बराबर-बराबर बांट लें।[३२]

महर्षि मनु ने माता-पिता को बहुत ऊंचा स्थान दिया है। माता-पिता बालक के जन्म के समय जितना कष्ट उठाते हैं, उससे मनुष्य सौ वर्ष में भी उऋण नहीं हो सकता।

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते संभवे नृणाम्।

न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि।।[३३]

माता-पिता और आचार्य को सदा प्रसन्न रखें। इनके प्रसन्न होने से सारा तप पूर्ण होता है। मातृभक्ति से यह लोक, पितृभक्ति से अन्तरिक्षलोक और गुरुभक्ति से ब्रह्मलोक प्राप्त होता है।

माता-पिता, बहन, पुत्री और पत्नी से वाद-विवाद कलह और व्यर्थ की बहस नहीं करनी चाहिये।[३४] स्त्री की हत्या करने वाले को प्राणदण्ड देने का विधान है।[३५] वृद्ध माता-पिता, देवताओं, अतिथियों, पतिव्रता स्त्री, बालक और पुत्र का भरण-पोषण करना चाहिये। जो इनका भरण-पोषण नहीं करता, उसे राजा दण्ड दे।[३६] माता के समान मौसी, सास, बुआ, गुरुपत्नी, बड़ी बहन, बड़े भाई की पत्नी और सभी वृद्ध स्त्रियों के चरणस्पर्श कर प्रणाम करें।

आर्यसमाज ने समाज सुधार के क्षेत्र में अग्रणी और प्रशंसनीय भूमिका का निर्वाह किया है। आर्यसमाज ने बालविवाह का विरोध किया। १६ वर्ष से कम आयु की कन्या व २५ वर्ष से कम आयु के पुरुष का विवाह नहीं होना चाहिये। भारतीय कानून की दृष्टि में १८ वर्ष से कम आयु की लड़की और २१ वर्ष से कम आयु के लड़के का विवाह नहीं होना चाहिये।

विधवा-विवाह के निषेध के कारण समाज में सती प्रथा का प्रचलन था। जिसको दूर करने में राजा राममोहन राय और आर्यसमाज ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द व रानाडे ने विडोज रिमैरेज एक्ट पास करवाया और विधवा-विवाह करवाए। बहुविवाह का भी आर्यसमाज ने विरोध किया।

श्री मंगलदेव जी की प्रेरणा से आर्यसमाज ने 'श्रीमद् दयानन्द विधवा-आश्रम' और 'विधवा हितकारिणी सभा' की स्थापना की। इसका उद्देश्य निराश्रित विधवाओं के लिये विधवा आश्रम स्थापित करना, विधवाओं को दस्तकारी आदि कार्यों को सिखाकर आत्मनिर्भर और स्वावलम्बी बनाना था।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने कहा है कि जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश जलवायु आदि का उपयोग करने का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को है। उसी प्रकार ब्राह्मण, स्त्री, पुरुष चाहे वह नीच जाति का हो या उच्च जाति का सभी को परमात्मा द्वारा दिया गया वेद-ज्ञान सभी के लिये समान है।

महर्षि मनु ने भी कहा है कि धर्मज्ञान होने से स्त्रियां स्वयं अपनी रक्षा कर सकती हैं और सुरक्षित रहती है।[३८] इसलिये स्त्रियों को वेद पढ़ना पढ़ना, सुनना-सुनना, अच्छी बातों को ग्रहण करना और बुरी आदतों का त्याग करना चाहिये। जिससे दुःखों से मुक्ति और आनन्द प्राप्त हो।

'लेडिज फर्स्ट' का सन्देश महर्षि मनु ने पहले ही दे दिया था। उसके अनुसार नवविवाहितों, कुमारियों, रोगिणी, गर्भिणी, वृद्ध, भारवाहकों, गाड़ी वालों, स्नातकों, वर, राजा, स्त्रियों आदि के लिये पहले रास्ता छोड़ देना चाहिये। इन सबको भोजन कराने के बाद ही गृहस्थ को भोजन करना चाहिए। यही बड़ों के प्रति सम्मान और शिष्टाचार है।[३९] महर्षि मनु के अनुसार समाज के सभी लोगों का कर्त्तव्य है कि स्त्रियों की रक्षा करें।[४०] महर्षि मनु के इन कथनों का आज समाज में पालन किया जाये तो अत्याचार, बालिका-वध, बलात्कार, भ्रूण-हत्या आदि न हो।

इस सन्दर्भ में आर्यसमाज का और अधिक उत्तरदायित्व है कि वे समाज में फैली हुई बुराइयों, कुरीतियों को दूर करने का प्रयास करें और **'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'** के उद्घोष को लेकर आर्यजन आगे बढ़ें।

पाद-टिप्पणियां-

१ मनु०२.१०

२ मनु०२.६

३ मनु०२.१२

४ मनु०२.१३

५ रघुवंश २.२

६ ऋग्०१०.१५९.१

७ ऋग्०१०.१५९.३

८ महा०शान्ति०प०३४२.२८

९ मनु०२.[illegible]

१० मनु०२.२२६

११ वनपर्व ३१२.६०

१२ शान्तिपर्व २६७.३१

१३ मनु०२.१२१

१४ मनु०३.५६

१५ मनु०९.२६

१६ मनु०२.२३९

१७ मनु०३.७७

१८ मनु०३.६७

१९ मनु-९.२८

२० मनु०५.१५०

२१ मनु०३.६०

२२ मनु०३.५७

२३ मनु०३.५५

२४ मनु०९.९०-९१

२५ अथर्व०११.५.१८

२६ मनु०९.३

२७ मनु०३.५१-५४

२८ मनु०९.१९४-१९५

२९ मनु०९.१३०

३० मनु०९.१३१

३१ मनु०९.१३१

३२ मनु०९.१९२-१९३

३३ मनु०२.२२७

३४ मनु०४.१८०

३५ मनु०९.२३२

३६ मनु०३.७२, मु०११.१० का परिशिष्ट

३७ मनु०२.१३१-१३३

३८ मनु०९.१२

३९ मनु०२.१३८, मनु०३.११४

४० मनु०९.४-८, मनु०९.३४९

Vaidika Vāg Jyotiḥ
ISSN 2277-4351

Vol.1, No.2 (144-148) Jan-jun 2013

वेदों में आदर्श परिवार की अवधारणा

(सुशील कुमार 'अमित', प्राध्यापक, गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर, हरिद्वार)

आज के इस भौतिकतावादी युग में जो परिवार वेदानुकूल आचरण करता है, वही परिवार सच्चे अर्थों में 'आदर्श' परिवार के रूप में जाना जाता है। श्रेष्ठता, शिष्टता, मधुरता, एकता, अखण्डता, उत्कृष्टता तथा सच्चरित्रता आदि गुणों से युक्त परिवार ही 'आदर्श परिवार' कहलाता है। छोटों के प्रति स्नेह, बड़ों के प्रति आदर तथा समान अवस्था वाले पुरुषों के प्रति मित्रता का भाव रखना ही 'आदर्श परिवार' का लक्षण है। इसी कारण 'आदर्श परिवार' की सम्पूर्ण समाज में प्रतिष्ठा होती है।

राष्ट्र और समाज का लघु रूप परिवार होता है, इसमें पति-पत्नी, माता-पिता, दादा-दादी, नाना-नानी, भाई-बहिन एवं पौत्र-पौत्री आदि पारिवारिक सदस्यों का समन्वित रूप होता है। 'आदर्श परिवार' सभी के लिये प्रेरणा का स्रोत होता है।

अथर्ववेद में 'आदर्श परिवार' के सम्बन्ध में अनेक निर्देश एवं उपदेश समुपलब्ध हैं। यथा-

ऊर्जं बिभ्रद् वसुवनिः सुमेधा अघोरेण चक्षुषा मित्रियेण। गृहानैमि सुमना वन्दमानो रमध्वं मा बिभीत मत्॥ [1]

व्यक्ति को चाहिए कि वह बल को धारण करके, सशक्त होकर समाज में धन का दान करते हुए, सुन्दर बुद्धिवाला होकर, निर्दोष, शान्त, प्रेमपूर्ण, मैत्रीभाव से युक्त रहते हुए मानव दृष्टि से देखते हुए, प्रसन्नचित्त रहकर सबका आदर करते हुए ही घरों में रहे तथा कभी किसी से भय न करे।

अथर्ववेद के उक्त मन्त्र में पुरुषार्थ की वृद्धि, धन की वृद्धि, ज्ञान की वृद्धि तथा परिवार के प्रति सहज स्नेह-भावना का उपदेश दिया गया है।

'आदर्श परिवार' सदैव निर्भय रहे, विपत्ति में घबराये नहीं। इसी बात की पुष्टि यजुर्वेद के निम्नलिखित मन्त्र में हो रही है-

गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रत एमसि। ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः॥ [2]

जिसका अभिप्राय यह है कि हे परिवार के सदस्यो! तुम गृहस्थाश्रम से मत डरो, तुम किसी प्रकार से भयभीत मत हो। शक्ति को धारण करने वाले बनो। प्रसन्नचित्त एवं बुद्धिमानी से रहकर धर्म एवं व्यवहार युक्त बनो।

'आदर्श परिवार' में साहस, धैर्य होना चाहिये। अगर परिवार में प्रसन्नता बढ़ती है तो शक्ति का संचय होता है।

वास्तव में स्वर्ग और नरक इसी धरती पर हैं, जिस परिवार अथवा गृहस्थ में सुख, शान्ति का वास होता है, वह परिवार अथवा गृहस्थ 'स्वर्ग'

के समान होता है और जहाँ विकृति, कुटिलता, वैमनस्य का वास होता है, वहाँ 'नरक' होता है। **आर्योद्देश्यरत्नमाला** में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने स्वर्ग और नरक की परिभाषा इस प्रकार दी है-

''जो विशेष सुख और सुख की सामग्री को जीव का प्राप्त होना (है, वह) वह स्वर्ग कहाता है।[3]

''जो विशेष दुःख और दुःख की सामग्री को जीव का प्राप्त होना है, उसको नरक कहते हैं।''[4] परिवार अथवा गृहस्थ को स्वर्ग बनाने का सन्देश अथर्ववेद में इस प्रकार उपलब्ध है-

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः। अश्लोणा अङ्गैरह्रुताः स्वर्गे तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान्॥[5]

जहाँ पवित्र हृदयवाले और शुद्धात्मा गृहीजन परस्पर स्नेहभाव रखते हुए, शुभकर्म करते हुए, रोगरहित शरीर वाले होकर आनन्द में रहते हैं वह घर स्वर्ग के समान, सब अंगों से स्वस्थ और सदाचारी रहकर माता-पिता तथा पुत्रों का दर्शन कर आनन्द में रहते हैं।

वास्तव में स्वस्थ गृहस्थ ही 'आदर्श परिवार' है अर्थात् वह स्वर्ग है। परिवार के प्रत्येक सदस्य की प्रवृत्ति सत्कर्मों में सदैव लगी रहनी चाहिये तथा बुरे कर्मों से हमेशा बचते रहना चाहिये।

'आदर्श परिवार सदैव दूध, घी व उत्तम धनधान्य से परिपूर्ण होता है। अथर्ववेद में कहा गया है कि-

उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः।
अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः॥[6]

गाय, बकरी, भेड़ आदि परिवार के लिये पशुधन होना भी आवश्यक है। जिससे कि परिवार के सभी सदस्य हृष्ट-पुष्ट रहें। इसी परिप्रेक्ष्य में ''आदर्श परिवार'' का अन्य उदाहरण अथर्ववेद के मन्त्र में देखिए-

यज्ञं दुहानं सदमित् प्रपीनं पुमांसं धेनुं सदनं रयीणाम्। प्रजामृतत्वमुत दीर्घमायू रायश्च पोषैरुप त्वा सदेम॥[7]

जहाँ सदा यज्ञ-याग होते हों, समृद्धि का केन्द्र हो, पुरुषों से युक्त, गौओं से युक्त, ऐश्वर्यों से परिपूर्ण, अमृतत्व से सम्पन्न, सन्तान से युक्त तथा धन-धान्य-समृद्धि के साथ जहाँ ईश्वर की उपासना होती हो, वहाँ 'आदर्श परिवार' का वास होता है।

अथर्ववेद के अनुसार 'आदर्श परिवार' में पुत्र और पत्नी का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है-

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्॥[8]

पुत्र पिता का आज्ञाकारी होना चाहिये और माता के मनोनुकूल होना चाहिये। पत्नी सदैव अपने मधुर व शान्तिदायक वचन बोलने वाली होनी चाहिये।

अथर्ववेद के इस मन्त्र में सुन्दर एवं 'आदर्श परिवार' का वास्तविक स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। अगर हम इस प्रकार के सदुपदेश जीवन में धारण करें तो निश्चित ही परिवार स्वर्ग बन जायेगा। परिवार के समस्त सदस्यों के लिये उत्तम् गुणों का होना आवश्यक है। सद्गुणों के ही अपनाने से परिवार में सुख, समृद्धि होती है। यजुर्वेद का सन्देश है-

विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒तानि॒ परा॑ सुव।

यद्भ॒द्रं तन्न॒ आ सु॑व॥ [९]

हे सकल जगत् के उत्पत्तिकर्त्ता, समग्र ऐश्वर्ययुक्त, सब सुखों के दाता परमेश्वर! आप हमारे सारे दुर्गुणों, दुर्व्यसनों तथा दुःखों को दूर कीजिए और जो भी कल्याणकारी गुण, कर्म, स्वभाव हैं, वह सब हमको प्राप्त कराइये। अतएव सद्‌गुण अपनाने से परिवार में देवत्व का वास होता है और दुर्भावना आदि का नाश होता है।

परिवार में रहने वाला प्रत्येक मनुष्य पुरुषार्थी हो। कर्महीन की सारी योजनाएं असफल हो जाती हैं। अगर हमें सफलता प्राप्त करनी है तो अहर्निश परिश्रम करें। यजुर्वेद का उपदेश है-

कु॒र्वन्ने॒वेह कर्मा॑णि जिजीवि॒षेच्छ॒तꣳ समाः॑।

ए॒वं त्वयि॒ नान्यथे॒तो॒ऽस्ति न कर्म॑ लिप्यते॒ नरे॑॥ [१०]

यहाँ कर्मों को करता हुआ ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे। इस प्रकार तुझ मनुष्य में कर्म लिप्त नहीं होता है, इससे भिन्न और कोई मार्ग नहीं है। हम आजीवन (सौ वर्ष तक) कर्मठ, पुरुषार्थी एवं उद्योगी होकर ही जीने की कामना करें। हमें यह जानना चाहिये कि कर्त्तव्य-बुद्धि से किया गया ही कर्म शुभ होता है। अनासक्ति के भाव से ही जीवन में पवित्रता आती है। शुभ-कर्मों से ही परिवार के प्रत्येक सदस्य का जीवन सुखी होता है। अतः वेद में कहा गया है कि-

भ॒द्रं कर्णे॑भिः शृणुयाम देवा भ॒द्रं प॑श्येमा॒क्षभि॒र्यजत्राः। स्थि॒रैरङ्गै॑स्तुष्टु॒वाꣳ स॑स्त॒नूभि॒-र्व्य॒शेमहि दे॒वहि॑तं॒ यदायुः॑ [११]

हम भद्र सुनें, भद्र देखें तथा भद्र वचन बोलें तथा अंगों से सुकर्म करते रहें व दीर्घायु को प्राप्त करें।

वेदों के अनुसार परिवार के प्रत्येक सदस्य में सात्त्विक-भाव होना चाहिये। दुर्भावनाओं से कोसों दूर होना चाहिये। सात्विकवृत्ति वाला परिवार सदैव ही फलता-फूलता रहता है। वेद का कथन है कि अपने ही पुरुषार्थ से उपार्जित धन का भोग करें। इसी पवित्र भावना की पुष्टि यजुर्वेद का यह मन्त्र कर रहा है-

ईशा वा॒स्य॒मि॒दꣳ सर्वं॒ यत्किञ्च॒ जग॑त्यां॒ जग॑त्। तेन॑ त्य॒क्तेन॑ भुञ्जीथा॒ मा गृ॒धः॒ कस्य॑ स्वि॒द्धन॑म्॥ [१२]

यह सब जो कुछ पृथिवी पर चराचर वस्तु है, वह सब परमात्मा से व्याप्त है। उस परमात्मा के द्वारा दिये हुए पदार्थों का त्याग की भावना से भोग करना चाहिये। किसी के भी धन का लालच नहीं करना चाहिये।

परमात्मा सर्वव्यापक है, वह संसार के कण-कण में समाया हुआ है। अतः अनासक्ति भाव से ही पदार्थों का भोग करना चाहिये। अनासक्तिभाव से परिवार के प्रत्येक सदस्य में ईश्वर-भक्ति, ईश्वर-विश्वास एवं आस्तिकता की भावना जागृत होगी।

वेदों के अनुसार प्रत्येक परिवार में पारस्परिक प्रेम, एकता, सौमनस्य, स्वावलम्बन, धन-समृद्धि आदि सद्‌गुणों का प्रचुर मात्रा में वास रहना चाहिये। जिस परिवार में सद्‌गुण नहीं होते वह परिवार शीघ्र नष्ट हो जाता है। परिवार के सदस्यों को ऐसा कोई भी घृणित कार्य नहीं करना चाहिये, जिससे परिवार

नष्ट हो। परिवार में स्वार्थपरता एवं धनलिप्सा नहीं होनी चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति को अशुभ लक्ष्मी या धन से बचना चाहिये। अथर्ववेद का सन्देश है कि-

या मा लक्ष्मीः पतयालूरजुष्टाभिचस्कन्द वन्दनेव वृक्षम्। अन्यत्रास्मत् सवितस्तामितो धा हिरण्यहस्तो वसु नो रराणः।। [१३]

जो पतन की ओर ले जाने वाली लक्ष्मी मुझ पर चढ़ गयी है जैसे आकाशबेल किसी वृक्ष पर चढ़ जाती है। हे परमात्मन्! तुम्हारे हाथों में ऐश्वर्य है। आप हमें ऐश्वर्य प्रदान करें, तथा निन्दनीय लक्ष्मी को हमसे दूर रखें।

इस प्रकार परिवार के प्रत्येक सदस्य को चाहिये कि वह पतन की ओर जाने वाली लक्ष्मी का परित्याग करें और जो उत्थान करने वाली लक्ष्मी है, उसको ग्रहण करें। इस प्रकार की लक्ष्मी स्थायी है, जो परिवार को उन्नति की ओर अग्रसर करती है।

परिवार में सत्य का व्यवहार तथा असत्य का त्याग होना चाहिये। क्रोध, ईर्ष्या आदि दुर्गुणों से परिवार को बचना चाहिये। परिवार किसी का ऋणी नहीं होना चाहिये। ऐसा परिवार सदैव सुखी होता है।

अथर्ववेद का कथन है-

अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन् तृतीये लोके अनृणाः स्याम। ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान् पथो अनृणा आ क्षियेम।। [१४]

हम इस लोक में, परलोक में तथा द्युलोक में भी कभी ऋणी न हों, जो देवयान व पितृयाण लोक हैं, उन सभी मार्गों पर ऋणरहित होकर रहें।

इस मन्त्र में परिवार के लिये एक महत्त्वपूर्ण शिक्षा है। जो परिवार अनृणी होता है, वह स्वयं में सुखी परिवार होता है। जो ऋणयुक्त परिवार होता है, वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। इस प्रकार परिवार में अकरणीय कर्मों को नहीं करना चाहिये, जिससे परिवार की छवि धूमिल हो।

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा। सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया।। [१५]

भाई-भाई से, बहिन-बहिन से द्वेष न करें। सब एक-दूसरे से मिलकर अनुकूल होकर शिष्टतापूर्वक मधुर वचन बोलें।

परिवार में पारस्परिक प्रेम का भाव रहना चाहिये। इस प्रकार के व्यवहारर से परिवार की समुन्नति होगी। पारिवारिक कर्त्तव्यों के अन्तर्गत पति-पत्नी, माता-पिता, सास-ससुर, भाई-बहिन, पुत्र-पुत्री आदि में कुशलता का व्यवहार होना चाहिये।

'आदर्श परिवार' में सद्बुद्धि का होना, सौमनस्य, सद्भाव, एकता, समन्वय, योगक्षेम, धर्म एवं ऐश्वर्य, संगठन, सुख-सम्पन्नता, निर्भयता, स्वावलम्बी, निरोग, प्रेमभाव, भ्रातृभाव, पुत्र की कर्मठता, अनृणता, अतिथि-सत्कार, अन्न-समृद्धि, तेजस्विता आदि गुणों का पाया जाना ही मानव-जीवन का लक्ष्य है। गृहस्थ-जीवन में उसी परिवार को आदर्श परिवार कहा जाता है, जिसमें स्नेह हो। स्नेह से सुख और समृद्धि निरन्तर बढ़ती है, अथर्ववेद का आदेश है-

इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्। क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वस्तकौ ।। [१६]

पाद-टिप्पणियां-

१ अथर्व०७.६०.१

२ यजु०३.४१

३ आर्योद्देश्यरत्नमाला-महर्षि दयानन्दसरस्वती रत्न सं०१४

४ आर्योद्देश्यरत्नमाला-महर्षि दयानन्दसरस्वती रत्न सं०१५

५ अथर्व०६.१२०.३

६ अथर्व०७.६०.५

७ अथर्व०११.१.३४

८ अथर्व०३.३०.२

९ यजु०३०.३

१० यजु०४०.२

११ यजु०२५.२१

१२ यजु०४०.१

१३ अथर्व०७.११५.२

१४ अथर्व०६.११७.३

१५ अथर्व०३.३०.३

१६ अथर्व०१४.१.२२

Vaidika Vāg Jyotiḥ
ISSN 2277-4351
Vol.1, No.2 (149-154) Jan-jun 2013

आर्ष साहित्य में प्रत्याहार

राम हरीश मौर्य, पूर्व शोधच्छात्र, वेद विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

प्रति + आ + √ हृ + घञ् से प्रत्याहार शब्द निष्पन्न होता है। यह अष्टाङ्ग योग की पाँचवी योगावस्था है। जिसका अर्थ है–पीछे हटना, वापस चलना, प्रत्यावर्तन, पीछे रखना, रोकना, इन्द्रिय दमन करना आदि। योगशास्त्र में प्रत्याहार का अर्थ है–इन्द्रियों का अपने बाह्य विषयों से हटाकर अन्दर की ओर ले जाना, अन्तर्मुख होना। जब चित्त की बाहरी विषयों को उपेक्षा कर अन्तर्मुखी प्रवृत्ति होती है, तब प्रत्याहार कहा जाता है। जहाँ इन्द्रियाँ वश में की जाती है उसे प्रत्याहार कहते है। प्रत्याहार एक ऐसी विद्या है जो मन और ज्ञानेन्द्रियों को नियन्त्रित करती है। मन दोहरी भूमिका अदा करता है एक ओर वह ज्ञानेन्द्रियों को सन्तुष्ट करता है तो दूसरी ओर वह आत्मा से मिलता है। प्रत्याहार ज्ञानेन्द्रियों को शान्त करता है और उन्हे अन्तर्मुखी बना देता है जिससे साधक दैवी शक्ति की ओर अग्रसर हो सके। यदि मनुष्य की बुद्धि इन्द्रियों के वश में होती है तो वह अपना आपा खो बैठता है। इसके विपरीत यदि श्वास का सुसंगत नियत्रण हो तो इन्द्रियाँ वासना के बाह्य विषयों के पीछे भागने के बजाय अन्तर्मुखी हो जाता है और मनुष्य उसके क्रूर शासन से मुक्त हो जाता है।

साधक जब प्रत्याहार की अवस्था को प्राप्त होता है तब आत्म परीक्षण की खोज के मार्ग से जाता है। इन्द्रिय–विषयों के तीव्र परन्तु आकर्षक इन्द्रजाल पर विजय प्राप्त करने के लिए उसे अपनी इच्छा के विषयों के स्रष्टा का अपने मन में स्मरण करते हुए भक्ति के पृथक्करण की आवश्यकता होती है। वास्तव में मनुष्य जाति के लिए दासता एवं मुक्ति का कारण मन है। मन दैवी शक्ति है। सात्विक मन मोक्ष का साधन है और पापी मन पाप का।

अवः परेण पितरं यो अस्य वेदावः परेण पर एनावरेण। कवीयमानः क इह प्र वोचद्देवं मनः कुतो अधि प्रजातम्॥[1]

मनुष्य के जन्म के साथ ही सैकड़ो वृत्तियाँ मनुष्य को प्राप्त होती है। उसका कर्त्तव्य है कि वह सद्वृत्तियों को अपने पास रखे और दुष्टवृत्तियों को दूर करे।

एकशतं लक्ष्म्यो३ मर्त्यस्य साकं तन्वा ऽ जनुषोऽधि जाताः। तासां पापिष्ठा निरितः प्र हिण्मः शिवा अस्मभ्यं जातवेदो नि यच्छ॥[2]

मैत्रायण्युपनिषद् में कहा गया है कि बन्धन एवं मोक्ष का कारण मन है। जब यह वासना के विषयों के बन्धन में होता है तब दासता और जब विषयों से निर्लिप्त होता है तब मुक्ति का कारण बनता है–

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्तये निर्विषयं स्मृतमिति।।[3]

प्रत्याहार आध्यात्मिक जीवन के लिए प्रथम सोपान है। प्रत्याहार में सफल होने पर ही दीर्घ काल तक मन को एकाग्र किया जा सकता है। यदि हम इच्छानुसार मन को इन्द्रियों से हटाना तथा लगाना सीख ले तो यह मनोनिग्रह की दिशा में ठोस कदम होगा ऐसा करने से हम कभी भी मन को बहिर्गामी वृत्ति से रोक सकते हैं। जब ज्ञानेन्द्रियाँ बाहरी विषयों की उपेक्षा करके उनकी ओर आकृष्ट नहीं होगी तब साधक साधना की ओर आकृष्ट होगा। अतएव पतञ्जलि ने कहा है कि इन्द्रियों का अपने विषयों से सम्बन्ध न रखकर चित्त के स्वरूप का अनुसरण करना प्रत्याहार है–

स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।।[4]

इन्द्रियों का स्वभाव है चित्त (चित्तमन्तःकरणसामान्यम्[5]) अनुसरण करना। चित्त यदि बाह्य विषयों की ओर लगा है तो इन्द्रियाँ भी बहिर्मुखी होगी। चित्त ने यदि बाह्य विषयों से मुख मोड़ लिया है और अन्दर की ओर प्रवृत्ति को है तो इन्द्रियाँ भी अन्तर्मुखी हो जायेंगी। यजुर्वेद में एक रूपक बाँधा गया है–

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयते-ऽभीशुभिर्वाजिनऽइव। हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु।।[6]

इन्द्रियों की बलवत्ता के लिए प्रार्थना है कि मेरे मुख में वाक्य शक्ति, नासिका में प्राण शक्ति, आँख में दर्शन शक्ति और कानों में श्रवण शक्ति, अच्छी प्रकार बनी रहे। मेरे केश पक कर श्वेत न हो जाय, दाँतों से रक्त न बहे, बाहुओं में खूब बल हो, उरूओ में ओज, जंघाओं में गति और पैरों में स्थिरता हो पैर लड़खड़ाने न लगे, प्रभो! सर्वाङ्ग स्वस्थ तथा अच्युत रहे। तथा सभी इन्द्रियाँ कल्याण कारी कार्यो को करे आदि–

वाङ् म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः। अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम्।।
ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः पादयोः प्रतिष्ठा। अरिष्टानि मे सर्वात्मानिभृष्टः।। [7]

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांस-स्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः।।[8]

योगी को एक बार जब सृष्टि की पूर्णता की अनुभूति होती है तब उसे इन्द्रिय–विषयों की तृष्णा मिट जाती है और उन्हे वैराग्य की दृष्टि से सदा देखता है वह सर्दी–गर्मी में, सुख–दुख में, मान–अपमान में, पाप–पुण्य में अशान्ति का अनुभव नही करता है। वह दो विरोधी भावनाओ जय–पराजय के साथ स्थिर चित्त से व्यवहार करता है। वह स्वयं द्वन्द्व भावनाओं से मुक्त हो जाता है। उपनिषदों एवं पुराणों में प्रत्याहार को स्पष्ट करते हुए कहा गया है–

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेषु स्वभावतः।।
बलादाहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते।[9]

विषयेषु विचरतामिन्द्रियाणां बलादाहरणं प्रत्याहारः। यद्यत्पश्यति तत्सर्वमात्मेति प्रत्याहारः।।

सर्वविषय पराङ्मुखत्वं प्रत्याहारः। अष्टादशसु मर्मस्थानेषु क्रमाद्धारणं प्रत्याहारः।।[10]

शब्दादि विषयान्पञ्च मनश्चैवाति. चञ्चलम्। चिन्तयेदात्मनो रश्मीन्प्रत्याहारः स उच्यते।।[11]

विषयेष्वात्मतां दृष्ट्वा मनसश्चित्त. रञ्जकम्। प्रत्याहारः स विज्ञेयोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः।।[12]

विषयेभ्यः इन्द्रियार्थेभ्यो मनोनिरोधनं प्रत्याहारः।[13]

चित्तस्यान्तर्मुखीभावः प्रत्याहारस्तु सत्तम।[14]

चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम्।

तत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते।।[15]

शब्दादिष्वनुरक्तानि निगृह्याक्षाणि योगवित्।

कार्याच्चित्तानुकारीणि प्रत्याहारपरायणः।।

वश्यता परमा तेन जायतेऽतिच. लात्मनाम्। इन्द्रियाणामवश्यैस्तैर्न योगी साधकः।।[16]

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेषु स्वभावतः। निग्रहः प्रोच्यतेसद्भिः प्रत्याहारस्तु सत्तमाः।।[17]

इस प्रकार प्रत्याहार का प्रधान लक्ष्य इन्द्रियों को वश में करना है। विषयों में विचरण करती हुई इन्द्रियों को बल पूर्वक अपनी ओर आकृष्ट कर लेने को प्रत्यहार कहा जाता है। अर्थात् इन्द्रियाँ बाह्य भोगों में रस लेने को ही अभ्यस्त होती है; उन्हें बाह्य उपकरण में से हटा कर अन्तः करण को रसानुभूति से जोड़ लेने को प्रत्याहार कहते है। इसके अभाव में साधना सफल नही हो सकता। व्यास जी योग दर्शन के भाष्य में प्रत्याहार को मधुमक्खियों का उदाहरण देकर स्पष्ट किया है–

स्वविषयसंप्रयोगाभावे चित्तस्वरूपानुकार इवेति चित्तनिरोधे चित्तवन्निरुद्धानीन्द्रियाणि नेतरेन्द्रियजयवदुपायन्तरमपेक्षन्ते। यथा मधुकरराजं मक्षिका उत्पन्तमनूत्पतन्ति निविशमानमनुनिविशन्ते यथेन्द्रियाणि चित्तनिरोधे निरुद्धानीत्येष प्रत्याहारः।।[18]

अर्थात् इन्द्रिय के अपने विषयों के साथ सन्निकर्ष न होने पर इन्द्रयों के द्वारा चित्त के स्वरूप का अनुकरण कर लिया जाता है, इसलिए चित्त का निरोध होने पर चित्त के समान इन्द्रियाँ भी निरुद्ध हो जाती है; अन्य इन्द्रिय जय के समान अन्य उपायों की अपेक्षा नही करती। यथा मधुमक्खियाँ उड़ते हुए मधुमक्खियों के राजा के पीछे उड़ जाती है और बैठते हुए उस मधुमक्खियों के राजा के पीछे बैठ जाती है; वैसे ही इन्द्रियाँ चित्त के निरुद्ध होने पर निरुद्ध हो जाती हैं यही प्रत्याहार है। भोज राज के अनुसार विषयों के प्रति अभिमुख न होने पर इन्द्रियों का सम्बन्ध केवल चित्त से ही रहता है इसलिए इन्द्रियाँ भी चित्त के स्वरूप का अनुकरण करती है–

इन्द्रियाणि विषयेभ्यः प्रतीपमाह्रियन्ते ऽस्मिन्निति। तस्मिन्सति चित्तस्वरूपमान्नानु. कारीणीन्द्रियाणि भवन्ति।।[19]

गोरक्ष संहिता में प्रत्याहार को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि दिन के तीसरे काल में सूर्य अपनी प्रभा समेट लेता है, वैसे ही योगी भी प्रत्याहार से मन के विकारों का हरण कर लेता है। जैसे कछूआ अपने अङ्गो को समेट कर अपने ही अङ्ग में छिपा लेता है, वैसे ही योगी भी प्रत्याहार द्वारा इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाकर आत्मा में लीन कर लेता है।

यथातृतीय कालस्यो रविः प्रत्याहरेत्प्रभाम्। तृतीयाङ्गस्थितो योगी विकारं मानसं तथा।।

अङ्गमध्ये यथाङ्गान् कूर्मः संकोचयेद ध्रुवम्। योगी प्रत्याहरेदेवमिन्द्रियाणि तथात्मनि।।[20]

महाभारत के शान्तिपर्व में साधना के विघ्नों को योग का दोष कहा गया है और इनमें पांच दोषों को मुख्य रूप से कहा गया है–

योगदोषान् समुच्छिद्य पञ्च यान् कवयोविदुः। कामं क्रोधं च लोभं च भयं स्वप्नं च पञ्चमम्।।

क्रोधं शमेन जयति कामं संकल्पवर्जनात्। सत्त्वसंसेवनाद धीरो निद्रामुच्छेत्तमर्हति।।[21]

विद्वानों ने योग के जो–काम, क्रोध, लोभ, भय, और स्वप्न ये पाँच दोष बताये है उनका पूर्णतया उच्छेद्य करे। इनमें से क्रोध को शम मनोनिग्रह के द्वारा जीते, काम को संकल्प के त्याग द्वारा पराजित करे तथा धीर पुरुष सत्त्वगुण का सेवन करने से निद्रा का उच्छेद्य कर सकता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य ये छः विकार ही आत्मा में देहाभिमान उत्पन्न करने वाले होने कारण मनुष्य के शत्रु भी माने गये है इन से मन को दूर करने का प्रयत्न करना आवश्यक है। घेरण्ड संहिता में षट् शत्रुओं का नाश करते हुए प्रत्याहार करने का उपदेश किया गया है–

यस्य विज्ञान मात्रेण कामादिरिपुनाशनम्।।

यतो यतो मनश्चरति चाञ्चल्य वशतः सदा। ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्।।

पुरस्कारं तिरस्कारं सुश्राव्यं दुश्रुतं तथा। मनस्तस्यान्नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्।।

सुगन्धो वापि दुर्गन्धो घ्राणेषु जायते मनः। तस्मात् प्रत्याहारेदेतदात्मन्येव वशं नयेत्।।

मधुराम्लकटुतिक्तादि रसान्याति तदात्मनः। तदा प्रत्याहरेत्तेभ्य आत्मन्येव वशं नयेत्।।[22]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रत्याहार को योग का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अङ्ग माना गया है इसीकारण अमृतनादोपनिषद् में प्रत्याहार को प्रथम योगाङ्ग के रूप में स्वीकार करते हुए कहा गया है कि– **प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोऽथधारणा। तर्कश्चैव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते।।**[23] कभी–कभी ऐसा भी होता है कि यम–नियमों का पालन करने वाले व्यक्ति का मन विषयों में भटक जाता है। इसमें कारण यह है कि यम–नियमों का

सम्बन्ध मुख्यतः चित्त की हिंसादि वृत्तियों तथा कर्मेन्द्रियों से है जबकि विषयों में व्यक्ति की प्रवृत्ति आँख, नाक, कान, त्वचा तथा रसना इन ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा होता है। शब्द, स्पर्श, रूप रस तथा गन्ध आदि अपने–अपने विषयों को देखते ही इन्द्रियाँ उनमें जाने को उसी प्रकार उद्यत हो जाती है। जैसे बलवान घोड़े घास को देख कर उधर दौड़ पड़ते है। क्योकि मन के बिना तो ये इन्द्रियाँ अपने विषयो का ज्ञान कर ही नही सफती। इस प्रकार प्रत्याहार मनोनिग्रह की कला है। सामवेदीय ऋचाओं में प्रत्याहार की उपयोगिता दृष्टि गोचर होती है–

कनिक्रन्ति हरिरा सृज्यमानः सीदन् वनस्य जठरे पुनानः। 24

आ त्वा सहस्त्रमा शतं युक्ता रथे हिरण्यये। ब्रह्मयुजो हरय इन्द्र केशिनो वहन्तु सोमपीतये।। 25

अर्थात् साधना के मार्ग पर अग्रसर उपासक प्रत्याहार की साधना से सम्पन्न होकर योग की साधनाओ से नवोत्पन्न होता हुआ वन में आसन जमाकर अपने आप को पवित्र करता हुआ प्रभु का आह्वान करता है तथा जैसे हजारों लाखों सूर्य किरणे सूर्यरथ को वहन करती है; इसी प्रकार ब्रह्म के साथ योग विधि से संयुक्त उपासक जो कि प्रत्याहार आदि साधनों से सम्पन्न है तथा योग ज्ञान द्वारा सूर्य चन्द्र एवं अग्नि के समान प्रकाशमान है वे ही परमेश्वर का सम्यक आह्वान कर सकते है।

कहने का तात्पर्य यह कि सकाम भावना को निष्काम भावना से जीते; कामनाओं को निःस्पृहता से जीते, लोभ के विचार को सन्तोष से जीते, भय को सतत् जागरूकता से जीते, आलस्य को उत्साह से जीते। इसी प्रकार धैर्य और संयम का आश्रय लेकर विषय वासना एवं असंयम को जीते, विद्वानों की संगति के द्वारा अहंकार और दम्भ को वश में करे। इसी प्रकार चिन्ता को चिन्तन से, दुर्भावना को सद्भावना से और मनः संयम से कुकर्मों की ओर प्रवृत्ति को रोके। मन को नियन्त्रण में न रखने से ही कुकर्मों एवं दुर्गुणों की ओर प्रवृत्ति होती है। योग को जानने वाला मनुष्य प्रत्याहार परायण होकर शब्दादि विषयों में लगी हुई इन्द्रियों को रोक कर उन्हें चित्तानुकारिणी बना ले इससे जितेन्द्रियता में दृढ़ता आ जाती है। इस दृढ़ता के अभाव में कोई भी योग साधक योगी नहीं हो सकता। इस प्रकार यम–नियम आसन, प्रणायम और त्रिविध संयम के वीच में 'प्रत्याहार' की साधना बड़ी महत्वपूर्ण एवं अनिवार्य है। इसकी पुष्टि भोज वृत्ति के द्वारा की जा सकती है–

"तदयं योगो यमनियमाभिः प्राप्तबीजभावा आसनप्राणायामैरङ्कुरितः प्रत्याहारेण कुसुमितो ध्यानधारणासमाधिभिः फलिष्यतीति।[26]

पाद-टिप्पणियां-

1. अथर्ववेद–9/9/18

2. अथर्ववेद–7/115/3

3. मैत्रायणी उपनिषद्– 4/3–ट

4. योगदर्शन–2/54

5. योग वार्तिक–1/2

6. यजुर्वेद–34/6

7. अथर्ववेद–19/60/1–2

8. ऋग्वेद–1/89/8

9. जाबालदर्शनोपनिषद्–7/1–2

10. शाण्डिल्योपनिषद्–1/8/1

11. अमृतनादोपनिषद्–5

12. तेजोबिन्दूपनिषद्–1/34

13. मण्डलब्राह्मणोपनिषद्–1/7

14. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्–1/2/30

15. योग चूडामण्युपनिषद्–120

16. विष्णु पुराण–6/7/43–44

17. कूर्मपुराण–उपरिविभाग–11/38

18. योगदर्शन व्यास भाष्य–2/54

19. योगदर्शन भोजवृत्ति–2/54

20. गोरक्ष संहिता–2/23–24

21. महाभारत शान्तिपर्व–240/4–5

22. घेरण्ड संहिता–4/1–5

23. अमृतनादोपनिषद्–7

24. सामवेद–530

25. सामवेद–245

26. योगदर्शन भोजवृत्ति–2/55

Vaidika Vāg Jyotiḥ
ISSN 2277-4351

Vol.1, No.2 (155-161) Jan-jun 2013

वैदिक साहित्य में वर्णित सेना एवं उसके प्रकार

(नरेश कुमार, असिस्टेण्ट प्रोफेसर (तदर्थ), वेदविभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार)

समाज, राष्ट्र एवं देश को यदि उन्नत होना है तथा विकास के मार्ग पर बढ़ना है तो उसके लिये आवश्यक है कि वह आन्तरिक एवं बाह्य खतरों से पूर्णतः सुरक्षित हो। विदित ही है कि प्रत्येक देश को सर्वदा विभिन्न प्रकार के बाह्य एवं आन्तरिक शत्रुओं से असुरक्षा का भय बना रहता है। ये उभयविध शत्रु सामाजिक व्यवस्था, राजनीतिक शक्ति एवं आर्थिक विकास में व्यवधान उपस्थित करते रहते हैं। जब आन्तरिक कलह एवं उपद्रवों की अत्यधिक अभिवृद्धि हो जाती है, अथवा निकटवर्ती शत्रुओं द्वारा उत्पन्न समस्याएँ विकराल रूप धारण कर लेती हैं, उस समय युद्ध आरम्भ होने की सम्भावनायें बढ़ जाती हैं। सबल सेना के बल पर ही राष्ट्र की सुरक्षा सम्भव है। वर्तमानकाल में जलसेना-स्थलसेना-वायुसेना आदि विभिन्न प्रकार की सेनाएं राष्ट्र-सुरक्षार्थ गठित की जाती हैं। वेद भी सेना के विभिन्न प्रकारों एवं उनके महत्त्व को प्रतिपादित करता है-

ऋग्०३.५६.३ में प्रयुक्त **त्र्यनीकः** पद यह प्रतीत होता है कि उस समय तीन प्रकार की होती थी, किन्तु स्पष्ट रूप से सेना के प्रकारों का वर्णन उपलब्ध नहीं होता है। ऋग्वेद में वर्णन प्राप्त होता है कि विजयप्राप्ति के लिये इन्द्र ने दुन्दुभि की ध्वनि से घोर नाद करती हुई पताकायुक्त अश्वारोही, पदाति वीरों तथा रथ-सेना के साथ युद्ध किया था। जैसा कि अधोलिखित मन्त्र में द्रष्टव्य है-

आमूरज प्रत्यावर्तयेमाः केतुमद्दुन्दुभिर्वाव-दीति। समश्वपर्णाश्चरन्ति नो नरोऽस्माकमिन्द्र रथिनो जयन्तु॥[1]

ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक आर्य तीन प्रकार की सेना से परिचित थे, किन्तु त्रि-अंगिनी सेना के स्वरूप के विषय में निश्चितरूपेण कहा नहीं जा सकता, क्योंकि वेद में रथ एवं पदाति सेना का विवरण तो प्राप्त होता है किन्तु अश्व-सेना का स्पष्ट रूप से उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि वेद में प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष रूप से तीन प्रकार की सेनाओं का विश्लेषण प्राप्त होता है।

सेना में अश्व का प्रयोग-

वैदिक साहित्य में युद्धार्थ अश्व के प्रयोग का वर्णन प्राप्त होता है। कुछ स्थलों पर रथ में जोतने के लिये भी अश्व के उपयोग का वर्णन प्राप्त होता है। इस परिप्रेक्ष्य में मन्त्र द्रष्टव्य है-

इन्द्राकुत्सा वहमाना रथेना वामत्या अपि कर्णे वहन्तु। निः षीमद्भ्यो धमथो निः षधस्थान्मघोनो हृदो वरथस्तमांसि॥[2]

वेद में अश्वारोहण का वर्णन तो अनेक स्थलों पर प्राप्त होता है किन्तु पृथक् रूप से अश्वसेना का प्रयोग प्राप्त नहीं होता। वेद में इन्द्र के दधिक्रा नामक अश्व का, उसके पराक्रम का तथा उसकी शक्ति का वर्णन प्राप्त होता है। रथ सेना की प्रयाण वेला में यह सबसे आगे रहता

था। यह शक्तिशाली अश्व युद्धभूमि में शत्रुओं का संहारक, अनुशासन में रहने वाला, शीघ्रगामी सेनाओं पर आक्रमण करने वाला, सरल मार्ग से गमन करने वाला था। जिस पर भयंकररूप से कड़कने वाली विद्युत् सभी को भयभीत कर देती है, उसी प्रकार समस्त शत्रुओं के संहारक तथा आक्रमणकारी दधिक्रा से सभी भयभीत होते थे। वह अपने तेज एवं पराक्रम से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा निषाद पञ्च जनों को आकृष्ट कर लेता था। जैसा कि अधोलिखित ऋग्वेद के मन्त्रों में द्रष्टव्य है-

उतो हि वां दात्रा सन्ति पूर्वा या पूरुभ्यस्त्रसदस्युर्नितोशे। क्षेत्रासां ददथुरुर्वरासां घनं दस्युभ्यो अभिभूतिमुग्रम्॥

उत वाजिनं पुरुनिष्षिध्वानं दधिक्रामु ददथुर्विश्वकृष्टिम्। ऋजिप्यं श्येनं प्रुषितप्सुमाशुं चर्कृत्यमर्यो नृपतिं न शूरम्॥

यं सीमनु प्रवतेव द्रवन्तं विश्वः पूरुर्मदति हर्षमाणः। पड्भिर्गृध्यन्तं मेधयुं न शूरं रथतुरं वातमिव ध्रजन्तम्॥

यः स्मारुन्धानो गध्या समत्सु सनुतरश्चरति गोषु गच्छन्। आविर्ऋजीको विदथा निचिक्यत्तिरो अरतिं पर्याप आयोः॥

उत स्मैनं वस्त्रमथिं न तायुमनु क्रोशन्ति क्षितयो भरेषु। नीचायमानं जसुरिं न श्येनं श्रवश्चाच्छा पशुमच्च यूथम्॥[3]

ऋग्वेद में कामना की गयी है कि समस्त मानवों के हितैषी देव हमें अश्वों के साथ युद्ध में पार कराने वाले हों।[4] युद्ध क्षेत्र में जिस प्रकार वीरों की प्रशंसा की गयी है उसी प्रकार अश्वों की भी प्रशंसा प्राप्त होती है। यजुर्वेद में अश्व तथा अश्वपति दोनों को ही नमन किया गया है। जैसा कि अधोलिखित मन्त्र में द्रष्टव्य है-

नमः सभाभ्यः सभापतिभ्यश्च वो नमो नमोऽश्वेभ्योऽश्वपतिभ्यश्च वो नमो नमऽआव्याधिनीभ्यो विविध्यन्तीभ्यश्च वो नमो नमऽउगणाभ्यस्तृꣳहतीभ्यश्च वो नमः॥[5]

इस प्रकार हम देखते हैं कि युद्ध भूमि में अश्व को योद्धा के सहायक रूप में चित्रित किया गया है।

रथ-सेना सम्बन्धी विवेचना-

युद्ध के अवसर पर रथ का प्रयोग वाहन के रूप में किया जाता है। प्रायः रथ में सारथि और योद्धा 'रथी' दो ही व्यक्ति बैठा करते थे, किन्तु कुछ मन्त्रों में दो से अधिक व्यक्तियों के बैठने का विवेचन प्राप्त होता है। रथ में अश्वों के अतिरिक्त मेढ़ों, हरिणियों, बैलों आदि को भी रथ में जोते जाने का उल्लेख मिलता है। वृत्रासुर के साथ युद्ध में पूषा को गाड़ी को मेढ़े के द्वारा वहन करने का तथा इन्द्र के हृष्ट-पुष्ट अश्वों का वर्णन प्राप्त होता है। जैसा कि अधोलिखित मन्त्र में द्रष्टव्य है-

ओकिवांसा सुते सचाँ अश्वा सप्तीइवादने। इन्द्रा न्वग्नी अवसेह वज्रिणा वयं देवा हवामहे॥[6]

ऋग्वेद में एक स्थल पर मुद्गल की पत्नी मुद्गलानी के रथ में बैलों को जोते जाने का उल्लेख प्राप्त होता है। यथा-

ककर्दवे वृषभो युक्त आसीदवावचीत्सारथिरस्य केशी। दुधेर्युक्तस्य द्रवतः सहानस ऋच्छन्ति ष्मा निष्पदो मुद्गलानीम्॥१०.१०२.६॥

रथ को अश्व से बनाया जाता था तथा गोचर्म की रस्सियों से उसे कस कर बाँधा जाता था तथा उसे इन्द्र के वज्र के सदृश सुदृढ़ माना जाता था।[७] यह रथ इन्द्र का बल, मरुतों की सेना, मित्र का गर्भ तथा वरुण की नाभि स्वरूप माना गया है। जैसा कि अथर्ववेदीय अधोलिखित मन्त्र में द्रष्टव्य है-

इन्द्रस्यौजो मरुतामनीकं मित्रस्य गर्भो वरुणस्य नाभिः। स इमां नो हव्यदातिं जुषाणो देव रथ प्रति हव्या गृभाय॥[८]

रथ में जोते जाने वाले अश्वों को बैलों से अधिक शक्तिशाली, अत्यधिक शब्द करने वाले, शत्रु को पादाक्रान्त करने वाले तथा शत्रु का विनाशक बतलाया गया है। जैसा कि ऋग्वेदीय मन्त्र में द्रष्टव्य है-

रथवाहनं हविरस्य नाम यत्रायुधं निहितमस्य वर्म। तत्रा रथमुप शग्मं सदेम विश्वाहा वयं सुमनस्यमानाः॥६.७५.८॥

अश्वों को नियन्त्रित करने के लिये कशा का प्रयोग किया जाता था, जिसका प्रयोग संग्रामों में अश्वों को प्रेरित करने के लिये, उनके उन्नत भोगों पर प्रहार करने के लिये तथा निम्न स्थानों पर समीप से ताड़न के लिये किया जाता था।[९] रथ सेना अनेक रूपों से युक्त भयंकर शब्द करती हुई आगे प्रस्थान किया करती थी। 'अनस्वति वाहिनी विश्वरूपां कुरुटिनी' (अथर्व०१०.१.१५)। रथारूढ़ राजा युद्ध के लिये रथ पर अनेक प्रकार के आयुधों को रखा करता था। प्रायः इस प्रकार के रथ की कामना की जाती थी, जिसमें रथ के चलाने के साधन तथा आयुध विद्यमान हों तथा रमण के लिये उत्तम सुखदायक साधन हों। यजुर्वेद में इसी प्रकार के रथ की कामना की गयी है। जैसा कि अधोलिखित मन्त्र में द्रष्टव्य है-

रथवाहनꣳ हविरस्य नाम यत्रायुधं निहितमस्य वर्म। तत्रा रथमुप शग्मꣳ सदेम विश्वाहा वयꣳ सुमनस्यमानाः॥[१०]

पदातिसेना विषयक वर्णन-

वैदिक साहित्य के अनुशीलन के यह स्पष्ट होता है कि वैदिक आर्य वीर प्रायः युद्ध के लिये पैदल ही प्रस्थान किया करते थे। वेद में विभिन्न देवताओं तथा उनके वीरों के लिये रथ का तथा उनके आरोहण के लिये अश्व के प्रयोग का विवरण अत्यल्प ही किया गया है। योद्धा युद्धावसर पर शत्रु सेना पर टूट पड़ते थे तथा उसका छेदन-भेदन किया करते थे।[११] वीर योद्धाओं के उत्साहवर्द्धनार्थ वीरता से परिपूर्ण गुणों का स्मरण कराया जाता था। मरुत्देवता वीर का यह कार्य स्वयं किया करते थे। ये शूरवीर प्रायः पैदल ही युद्ध किया करते थे। अथर्ववेद के एक मन्त्र कहा गया है कि इन्द्र के द्वारा युद्ध की क्रीड़ा के समय सैनिकों सैनिकों के पदघोष सुनायी पड़ते हैं। यथा-

यैरिन्द्रः प्रक्रीडते पद्घोषैश्छायया सह।
तैरमित्रास्त्रसन्तु नोऽमी ये यन्त्यनीकशः॥[१२]

अन्यत्र उल्लेख मिलता है कि इन्द्र से प्रेरित होकर मरुद्गण दस्युओं का वध करने के लिये पैदल ही गये थे।[१३] इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिकवाङ्मय में पदाति सेना का युद्धार्थ प्रयोग किया जाता था।

स्त्रीसेनाविषयक वर्णन-

वैदिकसाहित्य में पुरुषों के सदृश स्त्रियों के भी युद्ध में भाग लेने का वर्णन प्राप्त होता है। ऋग्वेद में पर्याप्त साधनसम्पन्न देवपत्नियों से सुरक्षार्थ प्रार्थना की गयी है। यथा-

अभि नो देवीरवसा महः शर्मणा नृपत्नीः। अच्छिन्नपत्राः सचन्ताम्॥१.२२.११॥

ऋग्वेद में भग देवता तथा वरुण की बहिन उषा की स्तुति की गयी है, वह अपने रथ पर विराजमान होकर शत्रु को वशीभूत किया करती थी।[१४] एक अन्य मन्त्र में वर्णित है कि इन्द्र के द्वारा नमुचि नामक दास का विनाश करने के अवसर पर दासों ने स्त्रियों का आयुध के रूप में उपयोग किया था, अर्थात् स्त्रीसेना का निर्माण किया था। उस समय इन्द्र ने यह सोचकर कि स्त्री सेना मेरा कुछ नहीं कर सकती है, उसने नमुचि की दो सुन्दर स्त्रियों को अन्दर बन्द कर दिया था तथा युद्ध करने के लिये दस्युओं पर आक्रमण किया था।[१५] अन्यत्र मुद्गल की पत्नी मुद्गलानी के रथारूढ़ होकर सहस्रों गायों को जीता था। इस अवसर पर इन्द्र उसके रथी थे तथा मुद्गलानी ने सारथि का कार्य किया था। यथा–

उत्स्म वातो वहति वासो अस्या अधिरथं यदजयत्सहस्रम्। रथीरभून्मुद्गलानी गविष्टौ भरे कृतं व्यचेदिन्द्रसेना॥ ऋग्०१०.१०२.२॥

अन्यत्र मुद्गलानी के पराक्रम का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि परित्यक्ता स्त्री जिस प्रकार पति को प्राप्त करके उत्कर्षित होती है तथा जिस प्रकार मेघ पृथिवी पर चक्रवत् वर्षा करता है, उसी प्रकार मुद्गलानी ने बाणों की वर्षा करके अनेकों गौ-संघों के अभिलाषी जनों को अपने सारथ्य से शत्रुओं के द्वारा अपहृत गौओं पर विजय प्राप्त करायी थी। सुखप्रद अन्न एवं धन को भी प्राप्त कराया था। उदाहरणार्थ मन्त्र द्रष्टव्य है–

परिवृक्तेव पतिविद्यमानट् पीप्याना कूचक्रेणेव सिञ्चन्। एषैष्या चिद्रथ्या जयेम सुमङ्गलं सिनवदस्तु सातम्॥[१६]

सामवेद में उल्लेख मिलता है कि इन्द्र की पत्नी इन्द्राणी अविजिता अमुषिता तथा सर्वप्रधाना थी।[१७] तै०सं० में इन्द्राणी सेना की प्रेरक देवी मानी गयी है-**इन्द्राणी वै सेनायै देवता**[१८]। अथर्ववेद में एक विशिष्ट प्रकार की स्त्री सेना का तथा उसके पराक्रम का वर्णन है, जो इन्द्राणी के संरक्षण में झिल्ली से बाहर निकली हुई सर्पिणी के सदृश २१ भागों में विभक्त होकर युद्धार्थ प्रस्थान करते समय शत्रु के नेत्रों को सर्पिणियों के समान आच्छन्न कर दिया करती थी। उस समय शत्रु उसके सामने ठहर नहीं पाते थे। स्त्री की तुलना सर्पिणी से इसलिये की गयी है क्योंकि जिस प्रकार केंचुली से निकली हुई सर्पिणी नवजीवन एवं नवीन स्फूर्ति से युक्त हो जाती है उसी प्रकार स्त्रियाँ भी युद्ध भूमि में अपने तेजोमय, स्फूर्तियुक्त उत्साह का प्रदर्शन किया करती हैं। यथा–

अमूः पारे पृदाक्वः स्त्रिषप्ता निर्जरायवः। तासां जरायुभिर्वयमक्ष्याऽवपि व्ययामस्यघायोः परिपन्थिनः॥

विषूच्येतु कृन्तती पिनाकमिव बिभ्रती।
विष्वक्पुनर्भुवा मनोऽसमृद्धा अघायवः॥

न बहवः समशकन्नार्भका अभि दाधृषुः। वेणोरद्गाइवाभितोऽसमृद्धा अघायवः॥

प्रेतं पादौ प्र स्फुरतं वहतं पृणतो गृहान्।
इन्द्राण्येतु प्रथमाजीतामुषिता पुरः॥[१९]

इस प्रकार हम देखते हैं कि वेद में स्त्रियों के युद्धभूमि में प्रयाण, उनके वीरतायुक्त कार्यों का, सेना में प्रधान पद प्राप्त करने का तथा सैनिकों को संरक्षण प्रदान करने का वर्णन प्राप्त होता है। वैदिककालीन स्त्रियाँ पुरुषों के सदृश युद्ध में अपना योगदान दिया करती थी तथा वे अद्भुत साहस, पराक्रम, शूरवीरता और सुदृढ़ मनोबल से युक्त होती हुई पुरुषों के समान राष्ट्र सुरक्षा में योगदान देती थी।

युद्धार्थ पर्वतीय सेना, संग्रहीता सेना एवं आशु सेना का प्रयोग-

वैदिक साहित्य में ऐसी सेना का भी उल्लेख मिलता है जो दुर्गम एवं पर्वतीय स्थानों पर निवास करती हुई पर्वतों के मध्य कन्दराओं में रहते हुए गुप्त रूप से अभ्यास किया करती थी। पर्वतीय सैनिक की स्तुति करते हुए यजुर्वेद में कहा गया है- **नमः कपर्दिने च व्युप्तकेशाय च नमः सहस्राक्षाय च शतधन्वने च नमो गिरिशयाय च शिपिविष्टाय च नमो मीढुष्टमाय चेषुमते च॥१६/२९॥** **संग्रहीता सेना** एक विशिष्ट प्रकार की सेना होती थी जो युद्धकाल में इधर-उधर बिखरे हुए अस्त्र-शस्त्रों को तथा युद्ध-सामग्री को एकत्र करके संग्रह करने का कार्य किया करती थी। इस कार्य को करने वाले सैनिकों को 'संग्रहीता' कहा गया है। वेद में इनको नमन करते हुए कहा गया है-

नमः सेनाभ्यः सेनानिभ्यश्च वो नमो नमो रथिभ्योऽअरथेभ्यश्चवो नमो नमः क्षत्तृभ्यः संग्रहीतृभ्यश्च वो नमो नमो महद्भ्योऽअर्भकेभ्यश्च वो नमः॥[२०] इस प्रकार की सेना में अनेक सैनिकों को नियुक्त किया जाता था। आशु सेना से अभिप्राय सेना के एक शीघ्रगामी विभाग से है। वेद में द्रुतगामी सेना और द्रुतगामी रथ का वर्णन करते हुए उन्हें नमन किया गया है-

नमो वन्याय च कक्ष्याय च नमः श्रवाय च प्रतिश्रवाय च नमऽआशुषेणाय चाशुरथाय च नमः शूराय चावभेदिने च॥ [२१] वैदिक आर्य बात से सम्यक् रूप से परिचित थे कि आक्रमण के समय तत्काल कार्यवाही करने वाले सैनिक सतर्क, सचेत तथा द्रुतगति वाले होने चाहिये ताकि राष्ट्र की सम्यक्तया रक्षा की जा सके।

शिपिविष्ट सेना, प्रहारक सेना, श्रुत सेना, अन्नायुध सेना-

युद्धभूमि में सैनिकों के लिये पशुओं का उपयोग प्रायः किया जाता था, इस कारण से सेना के पशुओं की देखरेख, उनकी रक्षा एवं पालन-पोषण के लिये एक विभाग का गठन किया जाता था। वैदिक साहित्य में पशुपालन विभाग जिसे 'शिपिविष्ट विभाग' नाम से अभिहित किया गया है, उसको नमन किया गया है। यथा-

नमः कपर्दिने च व्युप्तकेशाय च नमः सहस्राक्षाय च शतधन्वने च नमो गिरिशयाय च शिपिविष्टाय च नमो मीढुष्टमाय चेषुमते च॥ [२२]

प्रहारक सेना के अन्तर्गत सैनिक आते हैं जो शत्रु को छिन्न-भिन्न करने की सामर्थ्य रखते हों। वेद में इस प्रकार के वीरों को नमन किया गया है।[२३] वेद में विजयेच्छुक वीरों द्वारा प्रहारक सेना पर विजयप्राप्ति का वर्णन प्राप्त होता है। यथा- **उतप्रहामतिदीवा जयति** (अथर्व०६.५०.६)। ये प्रहारक सैनिक शत्रुओं को यथाशीघ्र तितर-बितर किया करते थे जिससे कि कि विरोधी शासक का मनोबल क्षीण हो जाये। **श्रुत सेना**, सेना का एक विशिष्ट प्रकार का विभाग होता था जो युद्धक्षेत्र की अपनी स्थिति की सूचना अपने केन्द्र को प्रदान करता था तथा अपने सैनिकों के मनोबल में वृद्धि के लिये इसी सेना का एक विभाग विरोधी शत्रुपक्ष के समाचारों को जानने का प्रयास करता था। वेद में इसकी प्रशंसा करते हुए कहा गया है- नमो बिल्मिने च कवचिने च नमो वर्मिणे च वरूथिने च **नमः श्रुताय च श्रुतसेनाय च** नमो दुन्दुभ्याय चाहनन्याय च॥[२४] **अन्नायुध सेना**, वेद में शुद्ध अन्न के अभाव से ग्रस्त क्षेत्रों में शुद्ध अन्न पहुँचाने की व्यवस्था के लिये एक पृथक् विभाग की संरचना की गयी थी। वेद में ऐसे सैनिक को नमन किया

गया है जो युद्ध क्षेत्र में शुद्ध भोज्य सामग्री को पहुंचाते हैं।[२५]

वात-विज्ञानयुक्त सेना, भूगर्भ सेना सम्बन्धित विश्लेषण-

वैदिक साहित्य में इस प्रकार के वायुविज्ञान-वेत्ताओं का उल्लेख मिलता है जो वायु को नियन्त्रित करने तथा स्वेच्छापूर्वक उसे प्रवाहित करने में समर्थ थे। वहाँ सैनिकों के इस प्रकार के विभाग की संरचना की गयी थी जो वातविज्ञान के विशेषज्ञों की सहायता से वातविज्ञान रूपी आयुध का प्रयोग शत्रु पर कर सकें तथा स्वपक्षीय जनों की रक्षा कर सकें। ये सैनिक वायु में रोगोत्पादक एवं विनाशक द्रव्यों के मिश्रण द्वारा शत्रुपक्ष का विनाश किया करते थे। वेद में इस प्रकार की विद्या में प्रवीण रुद्र एवं मरुद् वीरों के नाम उल्लेखनीय हैं। वेद में रुद्र वीरों को उनके कार्यों के लिये नमन किया गया है। उदाहरणार्थ मन्त्र द्रष्टव्य है-

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो येऽन्तरिक्षे येषां वातऽइषवः। तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वाः। तेभ्यो नमोऽअस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः॥[२६]

वेद में **भूगर्भ सेना** भी उल्लेख मिलता है। वहाँ तीनों लोकों की सुरक्षा की दृष्टि से भूगर्भ में रहने वाले जीवों की रक्षा के लिये ऐसे सैनिकों की व्यवस्था की गयी थी जो शस्त्र धारण करने वाले शत्रुओं से उनकी रक्षा कर सकें। यजुर्वेदानुसार नीलग्रीवा वाले, श्वेतकण्ठ वाले, पृथिवी के गर्भ में रहने वाले एवं गतिशील सैनिकों का यह विभाग सहस्र योजन परिमाण वाले देश में शत्रु के विनाश के लिये धनुष धारण किया करता था।

इस प्रकार उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि वेद में विविध प्रकार की सेनाओं का उल्लेख प्राप्त होता है।

पाद-टिप्पणियाँ-

१ ऋग्०६.४७.३१॥

२ ऋग्०५.३१.९॥

३ ऋग्०४.३८.१-५॥

४ स वाजं विश्वचर्षणिरर्वद्भिरस्तु तरुता। विप्रेभिरस्तु सनिता। ऋग्०१.२७.९॥

५ यजु०१६.२४॥

६ ऋग्०६.५९.३॥

७ दिवस्पृथिव्याः पर्योज उद्धृतं वनस्पतिभ्यः पर्याभृतं सहः। अपामोज्मानं परि गोभिरावृतमिन्द्रस्य वज्रं हविषा रथं यज॥ अथर्व०६.१२५.२॥

८ अथर्व०६.१२५.३॥

९ आ जङ्घन्ति सान्वेषां जघनाँ उप जिघ्नते। अश्वाजनि प्रचेतसोऽश्वान्त्समत्सु चोदय॥ ऋग्०६.७५.१३॥

१० यजुर्वेद २९.४५॥

११ ऐधेव यामन्मरुतस्तुविष्वणो युधेव शक्रास्तविषाणि कर्तन॥ ऋग्०१.१६६.१॥

१२ अथर्व०५.२१.८॥

१३ वृष्णे यत्ते वृषणो अर्कमर्चानिन्द्र ग्रावाणो अदितिः सजोषाः। अनश्वासो ये पवयोऽरथा इन्द्रेषिता अभ्यवर्तन्त दस्यून्॥ ऋग्०५.३१.५॥

१४ भगस्य स्वसा वरुणस्य जामिरुषः सूनृते प्रथमा जरस्व। पश्चा स दघ्या यो अघस्य धाता जयेम तं दक्षिणया रथेन॥१.१२३.५॥

१५ ऋग्०५.३०.९॥

१६ ऋग्०१०.१०२.११॥

१७ इन्द्राण्ये तु प्रथमाजीता मुषिता पुरः- साम०पूर्वा०१.२७.१४॥

१८ तै०सं०२.२.८१॥

१९ अथर्व०१.२७.१-४॥

२० यजु०१६.२६॥

२१ यजु०१६.३४॥

२२ यजु०१६.२९॥

२३ नमो॒ वन्या॑य च॒ कक्ष्या॑य च॒ नम॑: श्र॒वाय॑ च प्रतिश्र॒वाय॑ च॒ नम॑ऽआ॒शुषे॑णाय चा॒शुर॑थाय च॒ नम॒: शूरा॑य चावभे॒दिने॑ च॥॥यजु०१६.३४॥

२४ यजु०१६.३५॥

२५ नमो॑ऽस्तु रु॒द्रेभ्यो॒ ये॑ऽन्तरि॑क्षे॒ येषां॒ वात॒ऽइष॑वः। तेभ्यो॒ दश॒ प्राची॒र्दश॑ दक्षि॒णा दश॑ प्र॒तीची॒र्दशोदी॑ची॒र्दशो॒र्ध्वाः। तेभ्यो॒ नमो॑ऽअस्तु॒ ते नो॑ऽवन्तु॒ ते नो॑ मृडयन्तु॒ ते यं द्वि॒ष्मो यश्च॑ नो॒ द्वेष्टि॒ तमे॑षां॒ जम्भे॑ दध्मः॥॥यजु०१६/६६॥

२६ यजु०१६.६५॥

२७ नीलग्रीवाः शितिकण्ठाः शर्वाऽअधः क्षमाचराः। तेषाꣳ सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि॥१६/५७॥

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol.1, No.2 (162-165) Jan-jun 2013
ISSN 2277-4351

सामवैदिकचिन्तने प्रकृतिमानवयोः सम्बन्धः

(रामराजउपाध्यायः, निदेशकः पौरोहित्यप्रशिक्षणपाठ्यक्रमस्य, श्रीलालबहुदारशास्त्री संस्कृतविद्यापीठ, नवदेहली-१६)

सा[१] च अमश्चेति ततः साम्नः सामत्वम् इत्यस्मिन् सा अर्थात् ऋचा अमः नाम स्वरो वर्तते। अर्थात् यस्या ऋचाया उपरि स्वरारोहणं कर्तुं शक्यते तस्या नाम ऋचा विद्यते। सामविषये प्राप्यते-[२] ऋच्यध्यूढं साम गीयते।

परञ्चैवं प्रश्न समुदेति यत् सामवेदस्यावश्यकता काऽऽसीत्। यतोहि सामवेदे ऋग्वेदस्य मन्त्रास्सन्ति। तत्र पृथक् पञ्चसप्ततिर्मन्त्रा एवं सामवेदस्य विद्यते। सामवेदे ऋग्वेदस्य ते एव मन्त्राः संगृहीतास्सन्ति ये गीयमाना विद्यन्ते। यतोहि ऋचां गायनेन देवानां प्रसादयित्वा पुरुषार्थचतुष्टयानामाप्तिः क्रियन्ते। सामवेदे यत्किमपि चिन्तितमस्ति तत्सर्वं प्रकृतिमानवसंबंधात्मकमेव। मानवस्य जीवनं प्रकृतिरूपर्याधारितं विद्यते। मानवस्य संरक्षणार्थं प्रकृतेः संरक्षणं चरमपरमोद्देश्यम्।

इदानीं जनाः वदन्ति पर्यावरणं प्रदूषितं भवति। पर्यावरणं किमस्तीति विषये, प्रकृतेः स्वरूपमपरं पर्यावरणं विद्यते। यावत् प्रकृतेः संरक्षणं न क्रियते तावत् पर्यावरणं शुद्धं भविष्यतीत्यनौचित्यचिन्तनं प्रतिभाति। विपुलवेदविद्याविचारकाः वदन्ति प्रकृतिमानवसंबन्धः वेदस्य प्रमुखप्रतिपाद्यमस्ति। जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मणे[३] सृष्ट्युत्पत्तिः प्रजापतिद्वारा अभवदिति लिखितमस्ति। सृष्टिप्रक्रियायां आकाशान्तरिक्षसलिलादीनां वर्णनमादौ जैमिनीयब्राह्मणे प्राप्यते। आपो वै अन्तरिक्षमित्यनुसारेण अन्तरिक्षाकाशयोः भावैक्यं मन्यते। जैमिनीयोपनिषदि प्राप्यते अन्तरिक्षे सूर्यः पृथिवीश्च कथं स्थिता वर्त्तते ? समाधाने सत्येते सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितास्सन्ति। सृष्टिप्रक्रियायामदितिरेव प्रकृतिः विद्यते। आदित्यश्चन्द्रः विद्युज्जलमन्तरिक्षादि पञ्चप्रकृतयस्सन्ति। सृष्टौ यत्किमपि जातत्वं जनितत्वञ्च विद्यते तत्सर्वं प्रकृतिरेव जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मणानुसारेण[४] प्रकृतिपुरुषयोः व्याप्य-व्यापकसम्बन्धः विद्यते।

संक्षेपेण वक्तुं शक्यते प्रजापतिः हिरण्यगर्भ एक एव। व्याहृतित्रयं द्वारा लोकत्रयस्य रचना जाता। प्रतिलोकस्याधिष्ठातृदेवता अदितिपुत्ररूपेण स्थापितास्सन्ति। विश्वस्य सर्वे पदार्थाः स्वकीये कारणे एव विलीनाः भवन्ति। इदमस्ति प्रलयस्य स्वरूपम्। जैमिनीयब्राह्मणानुसारेण[५] प्रजापतिः यज्ञेन विश्वस्य सृष्टिमकरोत्।

सामविधानब्राह्मणे प्राप्यते[६] सृष्टेः पूर्वं प्रलयावस्थायां ब्रह्म ह वा इदमग्र आसीत्। अस्य तेजो रसो अत्यरिच्यत। स ब्रह्मा समभवत्। स तूष्णीं मनसाध्यायत। तस्य यन्मन आसीत् स प्रजापतिः अभवत्। अस्मिन् विषये सायणाचार्याः निर्दिशन्ति यत् ब्रह्मणः सकाशात् हिरण्यगर्भस्योत्पत्तिरभवत्। व्याख्यां कुर्वन् तैरुच्यते

उक्तलक्षणस्य सिसृक्षि ब्रह्मणोऽत्र रसः संसारहेतुभूततेजोमयाधिष्ठानभूतं स्रष्टव्यविषयसामर्थ्योपेतं सत्वाख्यं विज्ञानम् अत्यरिच्यत् अर्थात् रजस्तमसि अभिभूय स्वयमेवान्तरितोऽभवत्। तदतिरिक्तः सत्त्वगुणो मायांशो ब्रह्मा व्यष्टि-समष्ट्यात्मना परिवृढः प्राणहिरण्यगर्भसूत्रात्मादि संज्ञकः समभवत् सम्यगुत्पन्नोऽभूत्। विषयेऽस्मिन्नुद्घोष्यते यत् तस्य ब्रह्मणः सिसृक्षीः रसस्तपवोऽधिष्ठातृ विज्ञानात्मकस्तेजस्ततो विभूयान्निमेष। स प्रथम उन्मुखो ब्रह्मा हिरण्यगर्भः प्राणादिसंज्ञकः समभवत्।

उपर्युक्तेन कथनेनैवमनुभूयते सः हिरण्यगर्भाख्यो ब्रह्मा तूष्णीं उपरतः समस्तव्यापारः सन् मनसा केवलेन निर्विषयेण अध्यायत् सृष्टव्यविषयचिन्तामकरोच्च। केन प्रकारेण सृष्टि भविष्यति। अथवा केन प्रकारेण संसारस्य रचना भविष्यति। अस्मिन् विषये स ब्रह्म अचिन्तयत्। गम्भीरचिन्तायाः निवारणे ध्यानस्यावश्यकता अस्ति तस्मात् कारणात् तस्य ध्यायमानस्य ब्रह्मणः यन्मनः आसीत् स सृष्ट्व्योपाय विषयाकरणशक्तिरस्ति। सः सैव मनोरूपा शक्तिः प्रजापतिः प्रजानानां सृष्टाः एतन्नामको विराडादिसंज्ञया व्यवहियमाणः सम्भृतः। यदा ब्रह्मा ध्यानमकरोत् तदा यन्मनपि आसीत् सः निवारणार्थे सृष्ट्व्योपायस्य विषये एकं समाधानं तस्याग्रे आगच्छत यत् मानवानां सृष्टिर्भवितुं शक्नोति परञ्च तेषां जीवनं कथं सुरक्षितं स्यात्। यतोहि केवलं सृष्टिः नास्त्यावश्यकमपितु तेषां जीवनं कथं भवेदित्यावश्यकम्। इदमेवचिन्तनमस्ति प्रकृतिमानवसंबन्धः॥

विषयेऽस्मिन् मानवजीवनाय प्रकृतेः संरचना जाता। प्रजापतेः मानवस्यात्पत्तिर्जाता प्रकृतेरप्युत्पत्तिर्जाता। कारणेनानेन प्रकृतिमानवयोस्संबंधः सहोदरस्य प्रतिभाति। सामविधानब्राह्मणस्य व्याख्यानावसरे सायणाचार्यस्योक्तिरस्ति तस्य विराडाख्य प्रजापतेः शिरः उत्तमांगः द्यौः द्युलोकः आसीत्।[7] तस्य द्यौः शिरः आसीद् उरोऽन्तरिक्षं मध्यं समुद्रं पृथिवी पादौ। अर्थात् उत्तमांगः द्यौः द्युलोक आसीत्। तथा उरः वक्षः तदुपलक्षितः मध्यदेश अन्तरिक्षं एतदाख्यं यद् द्यावापृथिव्योर्मध्यस्थानीयं मध्यभागं आसीत् तत्। इदमेव रूपमपरस्थानेऽपि लिखितमस्ति तथा मध्यभागान्तं प्रदेशावर्त्ति आश्रयणीयाश्रयशब्दः तत्समुद्रः आसीत् तथा पृथिवी प्रथिता भूमौ पादौ पादद्वयस्थानीया भवति। एतावता तत्र लोकत्रयात्मकमुक्तम्। द्यौः शिरस्त्याद्यवयवरूपत्वम् उपनिषदि वैश्वानरविद्यायाम् लिखितम्।

प्रकृतौ प्रथमं स्थानं द्युलोकस्य विद्यते। द्वितीयं स्थानमस्ति अन्तरिक्षस्य। उरो अन्तरिक्षमित्यनेनैवं प्रमाणी क्रियते यत् प्रजापतेः हृदयमन्तरिक्षं विद्यते। ततः समुद्रस्य रचना जाता। समुद्रस्य का आवश्यकता इति विषये प्राप्यते समुद्रजलस्यावशोषणं मेघाः कुर्वन्ति। यथावसरं समेषां संसारवासीनां जलस्यावश्यकतायाः पूर्तिर्भवति। अयं समुद्रः किमस्ति सूत्रे लिखितं यत् मध्यं समुद्रः अर्थात् मध्यस्थानमेव समुद्रोऽस्ति। ततो पृथिवीमरचयत्। अस्या रचनाया उद्देश्यं स्पष्टमस्ति। मानवानां जीवनं कस्योपरि भविष्यतीति विषये द्युलोके सम्भावना नास्ति। अन्तरिक्षेऽपि तथैव सम्भाव्यते। समुद्रेऽपि मानवानां जीवनं सफलीभूतं न भविष्यति। एतदर्थं स्पष्टमस्ति यत् मानवजीवनाय पृथिव्याः रचना जाता। पृथिवी

प्रजापते: पादौ विद्यते यतोहि सूत्रे स्पष्टमस्ति पृथ्वीपादौ।

सायणाचार्येणोक्तमस्मिन् प्रकरणे द्युलोकम्, अन्तरिक्षलोकं पृथिवीलोकञ्च लोकत्रयात्मकत्वसिद्धये तत एव सृष्टिं सृष्टस्योपजीवनाय साम प्रदानं चाह स वै इति। वै शब्द: प्रसिद्ध:। स खलु प्रजापति: इदं प्रतीयमानं विश्वं भूतं कृत्स्नं देवतीर्यङ् मनुष्यादि भूतजातं सृष्टवान्। सृष्टस्य तस्य उपजीवनं जीवनसाधनं साम प्रायच्छत् प्रकर्षेण दत्तवान्। अर्थात् प्रकृते: आदौ सर्जनां कृत्वा इदं विश्वभूतं जगत् स असृजत्। परन्तु कस्यापि सृजनेनैव सर्वाणि कार्याणि न सिद्ध्यन्त्यपितु निर्माणानन्तरं सृजनानन्तरं वा केन प्रकारेण निर्मितस्य संसारस्य रक्षा भविष्यतीति महत्त्वपूर्णं कृत्यं विद्यते। प्रश्नस्यास्य समाधाने सामवेदीयब्राह्मणे समाधानमिदं प्राप्यते-' स वा इदं विश्वं भूतमसृजत्। तस्य साम्नोपजीवनं प्रायच्छत्। अस्य स्पष्टीकरणं सामस्वराणां प्रदर्शनावसरे प्राप्यते। सामस्वरबोधकतालिकानुसारेण सामवेदे सप्तस्वरा: निगदिता:। नारदीय शिक्षायामपि प्राप्यते-

सप्तस्वरा: त्रयो ग्रामा: मूर्छनास्त्वेकविंशति:।
ताना एकोनपञ्चाशत् इत्येतत् स्वरमण्डलम्॥

अत्र सप्तस्वराणां विषये प्राप्यते-

षड्जश्च ऋषभश्चैव गान्धारो मध्यमस्तथा।
पञ्चमो धैवतश्चैव निषाद: सप्तम: स्वरा:॥

अत्र प्रथमो स्वरो विद्यते षड्ज:। स्वरस्यास्य स्वरबोधकवर्ण: **सा** इत्यस्ति। स्वरेणानेन देवानां तृप्तिर्भवति। पद्मपुष्पेवास्य स्वरस्य वर्णमस्ति। मयूरादागतोऽयं स्वर:। स्वरोत्पत्तिस्थानं कण्ठं विद्यते। स्वरस्यास्य प्रथमं गानमग्निनाभवत्। अस्य स्वरस्य देवता ब्रह्मा विद्यते। स्वरस्यास्योच्चारणस्थानानि नासिकाकण्ठतालुहृद- यजिह्वादन्तानि सन्ति। अस्य स्वरस्योच्चारणस्य प्रत्यक्षसम्बन्ध: प्रकृते: सह विद्यते। प्रकृतौ वनस्पतय: पशुपक्ष्यादय: भवन्ति। अस्य स्वरस्य सम्बन्ध: मयूरेण सह दृश्यते। पद्मपुष्पेति वनस्पत्यादय: स्वीक्रियते। इत्यनेन हेतुना अत्र वक्तुं शक्यते षड्जस्वरस्य संबन्ध: प्रकृते: सह प्राप्यते।

सामवेदस्य द्वितीय: स्वरो विद्यते ऋषभ: स्वर:। स्वरस्यास्य स्वरबोधकवर्ण: **रे** इत्यस्ति। स्वरेणानेन ऋषीणां तृप्तिर्भवति। शुकपक्षीवास्य स्वरस्य वर्णमस्ति। गोरादागतोऽयं स्वर:। स्वरोत्पत्तिस्थानं शिर: विद्यते। स्वरस्यास्य प्रथमं गानं ब्रह्मणाभवत्। अस्य स्वरस्य देवता अग्नि: ज्ञायते। स्वरस्यास्योच्चारणस्थानानि नाभिकण्ठादयस्सन्ति।

सामवेदस्य तृतीय: स्वरो विद्यते गान्धार:। स्वरस्यास्य स्वरबोधकवर्ण: **ग** इत्यस्ति। स्वरेणानेन पितृणां तृप्तिर्भवति। सुवर्णस्येवास्य स्वरस्य वर्णमस्ति। अजाविकागतोऽयं स्वर:। स्वरोत्पत्तिस्थानमनुनासिकं विद्यते। स्वरस्यास्य प्रथमं गानं सोमद्वारा अभवत्। अस्य स्वरस्य देवता गौ विद्यते।

चतुर्थ: स्वरोऽस्ति मध्यम:। स्वरस्यास्य स्वरबोधकवर्ण: **म** इत्यस्ति। स्वरेणानेन गन्धर्वाणां तृप्तिर्भवति। कुन्दपुष्पेवास्य स्वरस्य वर्णमस्ति। क्रौञ्चादागतोऽयं स्वर:। स्वरोत्पत्तिस्थानं हृदयं विद्यते। स्वरस्यास्य प्रथमं गानं विष्णुनाभवत्। अस्य स्वरस्य देवता ब्रह्मा अस्ति।

पञ्चम: स्वरो विद्यते पञ्चम:। स्वरस्यास्य स्वरबोधकवर्ण: **प** इत्यस्ति। स्वरेणानेन देवपितृऋषीणाञ्च तृप्तिर्भवति। कृष्णवर्णस्येवास्य स्वरस्य वर्णमस्ति। कोकिलादागतोऽयं स्वर:। स्वरोत्पत्तिस्थानं गलाहृदयञ्च विद्यते। स्वरस्यास्य

प्रथमोच्चारणं नारदेनाभवत्। अस्य स्वरस्य देवता सोमो ज्ञायते।

षष्ठः स्वरो विद्यते धैवतः। स्वरस्यास्य स्वरबोधकवर्णः **ध** इत्यस्ति। स्वरेणानेन यक्षाणां तृप्तिर्भवति। पीतवर्णीयास्य स्वरस्य वर्णमस्ति। अश्वादागतोऽयं स्वरः। स्वरोत्पत्तिस्थानं मस्तकं विद्यते। स्वरस्यास्य प्रथमं तुम्बुरुऋषिणा गानमभवत्। अस्य स्वरस्य देवता आदित्यः विद्यते।

सप्तमो स्वरोऽपि निषादः। स्वरस्यास्य स्वरबोधकवर्णः **नि** नित्यस्ति। स्वरेणानेन भूतसमुदायानां तृप्तिर्भवति। सप्तरंगीयवर्णस्येवास्य स्वरस्य वर्णमस्ति। हस्तिमाध्यमेनागतोऽयं स्वरः। स्वरोत्पत्तिस्थानं सन्धयस्सन्ति। स्वरस्यास्य प्रथमं गानं तुम्बुरु ऋषिणाभवत्। अस्य स्वरस्य देवता आदित्यो विद्यते।

उपर्युक्तेन सामवेदीयस्वरमाध्यमेनैवं प्रतिभाति प्रकृतेः संरक्षणार्थमेव सामस्वराणामाविर्भावः सञ्जातः। यतोहि प्रकृतिसंरक्षणं विना मानवजीवनं संभावितं नास्ति। साधारणोदाहरणेनेदं सिद्धमस्ति। वैज्ञानिकाः वदन्ति वृक्षादयः कार्बनडाइऑक्साइडेति वायुः स्वीकुर्वन्ति ऑक्सीजनेतिवायुः च उत्सर्जन्ति। मानवाः ऑक्सीजनेति वायुः स्वीकुर्वन्ति कार्बनडाऑक्साइडेति च वायुः उत्सर्जन्ति। अत्रैवमनुमीयते वृक्षादीनां जीवनं मानवं विना तथा मानवानां जीवनं वृक्षादीन् विना न सम्भाव्यते। यतोहि वृक्षादीनां जीवनाय कार्बनडाइऑक्साइडेति आवश्यकं मानवानां जीवनाय ऑक्सीजनेति आवश्यकं विद्यते। अयमेवास्ति प्रकृतिमानवयोः संबन्धः। उभयोर्मध्य पूरकाख्यात्मकं सम्बन्धं दृश्यते।

एतावता वक्तु शक्यते मानवजीवनाय प्रकृतेः संरक्षणं परमावश्यकमस्ति। मानवानां वनस्पतिनाञ्च मध्ये आनुपातिको संबंधो भवेदिति प्राचीनाचार्याः वदन्ति। **पूर्त्तकमलाकर**राख्यमेकं पौरोहित्यस्य अतिप्राचीनं पुस्तकं विद्यते। तस्मिन् पुस्तके तरुपुत्रकाख्यमेकं प्रयोगं प्राप्यते। तदनुसारेण प्रतिजनाः दश दश तरवः परिपालयन्तु स्वसन्तान इवेति निर्दिष्टः। इत्यनेनैवं ज्ञायते एकस्य जनस्य कृते दश तरवः आवश्यकास्सन्ति। एते यथा पर्यावरणं शुद्धं कुर्वन्ति यथावश्यकमस्ति एकस्य जनस्य। अर्थात् पर्यावरणसंरक्षणेन मानवजीवनं सुरक्षितं संरक्षितं भविष्यति। एतावता प्रकृतेः संरक्षणं कर्तव्यमिति भावः॥

पाद-टिप्पणियां-

१ बृहदारण्यकोपनिषदि १.३.२.२

२ छान्दोग्योपनिषदि

३ प्रजापतिः प्रजा असृजत्-जै०उप०ब्रा०१.३.१.१

४ जै०उप०ब्रा०१.२.३.३

५ जै०ब्रा०१.६७

६ सा०वि०ब्रा०१.१.१

७ सा०वि०ब्रा०१.१.५

८ सा०वि०ब्रा०१.१.६

Vaidika Vāg Jyotiḥ
ISSN 2277-4351
Vol.1, No.2 (166-178) Jan-jun 2013

Gratitude and Devotion in the Vedic Tradition

(Shashi Tiwari (Retd.), Maitreyi College, University of Delhi, &
General Secretary, WAVES, India)

The Vedic religion, as it developed through the centuries as 'Hindu Religion' incorporated ideas of different orders. A variety of beliefs, customs, rites and philosophies have amalgamated here to evolve an organic system. From the very beginning, India has witnessed conflicting civilizations. Each has contributed its own share to the common storehouse of Hinduism. According to the famous philosopher, and former President of India, Honorable Dr. Sarvepalli Radhakrishnan, 'Hinduism is more a culture that a creed.' We can see that the spirit of Hinduism is expressed in various ways through rituals, modes of worship, temples, philosophy, theology, dance, music, festivals, values and beliefs, but all have their base in Vedic concepts.

Long tradition of Hinduism has produced many scared works. The most ancient and authoritative are the revealed literature, the Vedas '*Śruti*'. There are the *Saṁhitās, Brāhmaṇas, Ā raṇyaka*s and *Upaniṣads*. The Upaniṣ-ads, record the philosophical and spiritual teachings given by the ancient seers. In addition to this, Hinduism has a vast corpus of auxiliary scriptures including the two great epics, the *Ramā yan̩ a* and the *Mahābhārata*. The *Bhagavad- Gītā* is regarded as the essence of the *Mahābhārata*. These epics have had a profound influence on all aspects of Hindu life and culture in India for thousand of years. Then there are eighteen Purāṇas, rich in myth and symbol of which the best known is the *Shrimad-Bhāgavatam* but traditionally epic and purāṇas are considered as the extension of Vedic texts in their contents and style.

A verse from the Vedas can be considered the essence of Vedic concept of openness - '*Ā no Bhadrāḥ kratavo yantu Viś vataḥ* (YV 25.14; RV1.89.1) meaning 'Let the noble thoughts come to us from every side'. This statement reflects the spirit of Vedic outlook which is stated in another Vedic verse as- *Ekam sad viprā bahudhā vadanti* (RV.1.164.46), 'there is one and the same Reality but the wise ones describe it in many ways.' That Reality is responsible for generation (creation), operation

(sustenance), and dissolution (merger). The Upaniṣad declares that 'one Supreme Being manifests in all humans, animals and other beings and one who understands this happens to be liberated from hatred. Do not create enmity with any one as God is within every one'

- *Yastu sarvāṇi bhūtāni ātmanyevānupaśyati/ sarvabhūteṣu cātmānam tato na vijugupsate//* (Īśa. Up. 6).

The tolerance for others is an essential quality for spiritual development of any individual. The Sanskrit wisdom proclaims- '*Vasudhaiva kutumbakam*' meaning 'the entire world is one family'.

I. *Ṛta* - The Inherent Law Principle

In Vedic view, *Ṛta* can be seen as the inherent law principle of the whole entity. The Vedic seers studied nature's drama very minutely. Sand-storm and cyclone, intense lightening, terrific thunder-claps, the heavy rush of rain in monsoon, the swift flood in the stream that comes down from the hills, the scorching heat of the sun, the cracking red flames of the fire, all are witness to power which is beyond man's power and control. They felt the greatness of these forces and activities and adorned them distinctively in the Vedic *Mantras*. Their realization of divine supreme power for managing creation, movement, change and destruction in the whole universe was not without any set arrangement. They called that order '*Ṛta*' after good deals of observation. Simply it is Eternal Order or Eternal Law. The word is obsolete in modern times, but its negative *Anṛita* (RV.1.105.6) meaning literally, disorder or chaos, has been used from ancient times as the negative of truth. *Ṛta*, in broader sense, is more than truth as it includes justice and goodness. *Ṛta* gives integration to natural substances, harmony in environment and reduces chaos to cosmos. Hence, the conception of *Ṛta* has an aesthetic content. It implies splendor and beauty. It is controlling and supporting power. It upholds sun in the sky. *Ṛta* as Universal Law governs everything in the cosmos. The whole of the manifested universe is working under it. This is the reason that the Vedic gods, upholding *Ṛta*, are all lawful, and beautiful and excellent. The brilliance and glory are their significance attributes. *Ṛta* exists before the manifestation of any phenomena. The phenomena of the world are shifting and changeable, but this principle regulating the periodical recurrence of phenomena is constant.

Ṛta implies not only the religious and philosophical framework but a total world-view, including the scheme of right conduct under various circumstances. It also implies such concepts as justice, virtue, morality, righteousness, law and duty. Most importantly, love of God is regarded here as the essence of righteousness because through it man becomes pure, kindhearted, honest and virtuous. On

the other side, *Ṛgveda* establishes *Sam* as ultimate goal in life for being peaceful and happy. All the natural energies, activities, worldly materials and resources are wished to be in harmony and concord for the welfare of all beings (RV7.35.1-15). Harmonization brings desired peace and smooth management which is result of *Ṛta.*

II. God-Realization and Its Ways

The Vedic view of the Divine is much subtler and deeper in spiritual content than the cults ordinarily known as monotheism and polytheism. This makes a difference in the entire conception of life and religion. According to the Vedic philosophy, God-realization is the main aim of human life. *Taittirīyopaniṣad* proclaims that god is One and That is the truth. - *Satyam jañam anantam brahma* (Tai. Up. 2.1.1). God is the sole controller of universe. He is present in all hearts. He is one and indivisible. The whole world is his creation. God is giver of light and warmth to the sun, the moon, and the stars and even to fire according to *Kathopaniṣad.* He is supreme power in the whole nature. One Supreme God is addressed by different names as *Devas.*

After a careful consideration, Upaniṣadic philosophy emphasizes that God is the only object of loving adoration. He alone is to be praised and adored for Divine assistance through out life. Man can have his direct relation with God without any hindrance and hitch because He looks upon every one and cares for all beings. God can help one out of one's sorrows and imperfection. Those who realize and praise God as their savior, creator and father, seek eternal bliss and not others. *Muṇḍakopaniṣad* declares–*yamevaiṣa vṛṇute tena labhyaḥ* (Kath.Up. 1.2.23; Mund.Up. 3.2.3). In fact, attainment of salvation is the ultimate goal of all means in ancient Indian thoughts but without the grace of God it is not possible. As says *Kaṭhopaniṣad* –'By the grace of God, Self (*Ātman*) can realize the glory of Self.

-Dhatuḥ prasādānmahimān-amātmanaḥ (Kath.Up. 1.2.23)

Kenopaniṣad (4.6) and *Chāndogyopniṣad* (3.14) have laid stress on the *Upāsanā* of Brahman , which is regarded as the main subject of *Sāmveda Saṁhitā* .

Vedic religion prescribes openness of thoughts and beliefs. That is the reason we find here description of different modes of worship and various ways of realization of God. Among them four ways are important-

1. The path of knowledge *(Jñāna)*
2. The path of action *(Karma)*
3. The path of Meditation *(Yoga)*
4. The Path of Devotion *(Bhakti)*

It is significant to note that first three paths involve Devotion *(Bhakti)* for their fulfillment.

Realization of Self is the path of knowledge (*Jñāna*). But it appears that the way of *Jñāna* passes through the way of devotion, *Bhakti*. It needs Self-determination and renunciation with absolute faith in the Great God. The devotion to God is an innermost means of gaining true knowledge. Knowledge devoid of devotion remains as mere information. Knowledge attains its consummation when the aspirant not only knows God, but he feels a consuming love to attain Him. Among all charities imparting of divine knowledge is regarded as the best charity by Upaniṣads and *Manusmṛti*. The man of knowledge is called in the Vedas *Vipra* (wise), *Kavi* (Poet-Philosopher) and *Ṛṣi* (seer), and by many such words. Prayers for wisdom (RV 7.32.26; AV 18.3.67), mental power (RV 3.62.10), mental perfection (RV10.25.1), talent (RV 8.4.16; YV 32.14), knowledge of Brahman (AV 11.5.5), and *Brahmcharya* (AV 11.5.17-19) are done in Vedic verses here and there. It is regarded that knowledge of Supreme is essential '*Ya it ta vidus ta ime samāsate*' (RV 1.164.39) meaning 'Those who have known That- they are perfect'.

The second is the way of action (*Karma*) which means performance of all actions and activities without any desire or motive. In the late religious literature we find a tendency to consider action useless or at best as a necessary evil, but in the Vedas action is accepted as a vital part of human life. The Vedas give emphasis on living a full life span with health and vigour and in joy of being (RV 7.66.16; YV 36.24; AV 19.67.1-7). The Vedic God Indra is the most typical representation of this conception. The path of *Karmayoga* recommends that actions performed without attachment to their results do not bind one –'*Na karma lipyate nare*'(YV40.2) meaning 'thus actions do not cling to man' and hence lead to God. Śrī Kṛṣṇa called it *Niṣkāma Karma* in Gītā. He said, 'Thy business is with the action only, never with its fruits; let not the fruit of action be thy motive, nor be thou to inaction attached' (Gītā 2.47). The Indian philosophic system classifies work in three categories – *Sāttvik, Rājas*, and *Tāmas*. *Niṣkāma Karma* comes under the first category, while *Sakāma karma* and *Akarma* belong to the second and third categories respectively. However, by self-control and modulation of desires, one can elevate oneself from an *Akarma* state to the *Niṣkāma* state. *Niṣkāma* does not mean that one would not get fruits out of it. It only suggests that one should work for its own sake and the best of fruits would follow automatically. For achieving this state, Śrī Kṛṣṇa suggests dedication of fruits of all activities to Supreme God. He, who acts offering all actions to God, shaking all attachment, remains untouched by sin as lotus leaf by water.

In such cases of complete surrender, it is combined with meditation and single minded devotion of God. God takes all the responsibilities of the individual and rescues him from troubles. Here too, devotion and remembrance of God is essential for detachment from the fruits of actions. The way of action leads to the realm of devotion, when fruits of actions are dedicated to God. With this view the *Iśopaniṣad* can be referred here. The last four mantras of this Upaniṣad are regarded by Ācharya S ań kara, the great commentator, as prayer of a person who has performed actions through out his life and now, at the final departure time, he is asking a superior region (*loka*) from God.

For the path of *Yoga*, the method of *Iśvarapraṇidhāna* (*Yogasūtra* 1/23) is prescribed by Maharshi Patañ jali. It again means 'dedication to Lord'. He says- 'Restriction of the fluctuations of mind i.e. *Yoga* can be attained through dedication to the Lord. Meditation is a necessary accessory of devotion. The Upaniṣads and Gītā emphasize on the contemplation of God at every moment. *Śravaṇa*, *manana*, *nididhyāsana* are said three steps of contemplation. In *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad* finally Yā jñ avalkya explained to Maitreyi, that it is the Self that should be realized, should be heard of, reflected on, and meditated upon. ' - *Ātmā vā are draṣṭavyaḥ śrotavyo mantavyo nididhyāsitavyo Maitreyi* (Br. Up. 4.5.6) According to Vedic philosophical thoughts, the God can be realized through the practice of meditation, chanting of His name 'Om', surrendering before Him, and absolute dedication. A devoted Yogī realizes His glory and greatness in the form of His grace. Thus these paths are associated directly or indirectly with the devotion to God.

III. The Path of Devotion (*Bhakti*)

Of the different ways by which we can concentrate our lives in the Supreme Lord, the way of devotion, the *Bhakti Marg* is regarded most accessible to all, may be the illiterate or the literate. It is the path of devotion to God and submission to His will. The Sanskrit term '*Bhakti*' means experience as well as practice, reverence as well as love and adoration to God. Gratitude and devotion to God is defined variously in the ancient Indian scriptures. There are many Sanskrit scriptures dealing devotion as their main theme. *Sāṇḍilya-Sūtra* (1.1.2) defines *Bhakti* as the deepest attachment and intense longing for God. *Nāradabhakti-Sūtra* (1.2) defines *Bhakti* as the highest form of love towards God. The *Bhagavadgītā* treats the way of devotion at length. The excellence of *Bhakti* is clearly brought out in the Gītā . Devotion and admiration for God is its highest teaching. This topic has been treated mainly in chapter twelve and in some sections of other chapters of this great treatise. In many places, Gītā states that the Supreme state is

attainable through the practice of devotion only. Here, undoubtedly devotion is described as surest, swiftest and easiest path. Devotion to God with all gratitude is regarded as the culmination of all paths in ancient religion of India. But the Vedas are the foundation of this devotional path. Here the Divinity is contemplated as the Lord and in most affectionate terms, as Father, Mother, Brother, Guest and so on. The worshiper seeks Divine Bliss (*Swasti*). He prays for Divine help (*Ūti*), benediction (*Śam*), protection (*Sarman*), assistance (*Avas*), mercy (*Mṛḍa*) benevolence (*Sumati*), love(*Vena*) etc. God is the Saviour (*Trātā*) , the merciful (*Marḍitā*) and protector (*Avitā*). He is the most beloved (*Presthaḥ*) and best (*Śreṣthah*) -RV 10.156.5. Here superlatives are very significant. He as well as the worshiper is described as the Loving Being (*Vena*- YV 32.8). According to Vedic ideology Divinity is common and universal.

The principal centre of spiritual life is the heart. By inward prayer, we enable the heart to participate in the union with God. By devotion and prayer we attain a state of mind in which we become detached from every thing pertaining to the world and are directly united with God. Devotion (*Bhakti*) includes faith and love. The faith and devotion are like oars of a boat which lead life towards God. Meditation of God is important for devotion because through it a devotee reaches nearer to God. The invocation of the Divine Names is a part of the spiritual movement of *Bhakti*. Attributes and characteristics of God are constantly chanted through these names in the prayers. Praise of the One Divine Being is done in prayers of all Indian languages with many names and forms.

In Vedas, *Om* and *Udgītha* are referred to as important names for the chanting of Brahman. It is believed that truly devotional and spiritual practice is constant repetition of the name of the God. 'Remember Govinda, remember Govinda, remember Govinda. O unintelligent! - *Bhaja Govindam, Bhaja Govindam, Govindam Bhaja mūḍhamate*- is a famous prayer sang by great philosopher Śaṅkara who propounded *Advaita* philosophy on the basis of Vedas. Through his inner joyfulness and natural bliss a devotee approaches God, the Merciful and Absolute Bliss. Prayer to God in pain and pleasure is a simple attribute of *Bhakti*.

In the way of devotion, special attention is given to the path of surrender and refuge to God. Sri Kṛṣṇa began to teach Arjun only when he fully surrendered at His feet accepting himself as His disciple. Gītā ends with this note that whoever surrenders to God with his entire ego, will be relieved from all sins. God saves one from all sins and sufferings who takes His refuse. Lord Kṛṣṇa says in Gītā, By single-minded devotion to Me, it

may be possible to understand, to see and enter Me" (11.54). He promises that "My devotee shall never perish" (Gītā 9.31) and he will be protected from every trouble in his life. In short, following are the essential requisites in the path of devotion and gratitude to God, according to Vedic tradition:

-Single minded devotion to God
-Meditation and chanting of prayers
-Perfect control over mind and senses
-Absence of attachment
-Complete surrender to God
-Seeking Divine Grace and kindness

Devotion to God is regarded the simplest attitude and the most effective way of attaining the highest realization in Hindu tradition ever since Vedic times. For a devotee all actions become the veritable offerings to the Supreme. All his thoughts become God-centric. He is simply to accept God as the only object of his thought, word and action. His life and existence is devoted to living in consonance with His will. A genuine urge and desire is sufficient to make the God take care of the devotee. God is never partial and is equal towards all beings. But since the true devotee always worships Him devotedly, He stands for him and looks after him completely.

IV. Devotion with Knowledge

Knowledge and devotion are complementary. Knowledge and love of God are ultimately one and the same because knowledge is the foundation of devotion. It is typical of Vedic worship that the worshipper seeks the knowledge of the Object to be worshipped. His devotion is not blind, but based on enlightenment. The Devotee asks, 'who was manifested as the one Lord of creation? Who upheld this earth and the sky? The Divine being was existed in the beginning. Then to whom we shall adore with our oblations?'

- *Hiraṇyagarbhaḥ samavartatāgre Bhūtasya jātaḥ patireka āsit. Sa dādhāra pṛthivīm dyām utemām kasmai devāya haviṣā vidhema//* RV 10.122.1

The devotion is best cultivated when one has accurate knowledge that Supreme resides in all creatures, and is the real motivating force of all actions, and is means and goal of all our attainments. The second verse says, 'He who bestows soul-force and vigour, whose laws the whole world including deities obeys.'

- *Ya ātmadā baladā yasya viśvam upāsate praśiṣam yasya devāḥ* / RV 10.121.2;YV 23.1.

The doctrine that all men, high and low, are equal before God happens to be the central idea of devotion. The sense of essential divinity of man is a special feature of Vedic religion and spiritual idealism. Man establishes his kinship with divine in the mother's womb according to *Ṛgveda* (8.83.8). The path of knowledge removes the ignorance which creates diversity of all living beings. One who realizes the Divine as the Loving One finds the

whole world united in Him, and the universe comes to have one home.

- Venas tat paśyan nihitam guhā sad yatra viśvam bhavatyekanīḍam /YV 32.8

In fact, it is knowledge (*Jñāna*) that finds fruition in devotion. There remains no scope for dualism and diversity in devotion. It is the basic realization of his imperfection that makes the devotee grateful and appreciative to the Lord. The thirst for union with the Lord is nothing but fervent yearning for perfection.

V. Divine Grace and the Devotee

While experiencing devotion to Supreme God, worshiper looks upon Him as Father, Creator, Saviour, Great Support, Helper, Friend, Merciful One and Most Beloved and prays for His grace. There are numerous Vedic mantras which express this type of feeling of devotee which is according to *Bhakti* ideal. For instance, a few are given below:

-Yo naḥ pitā janitā yo vidhātā/ RV 10.82.3

-Sa naḥ pitā janitā sa uta bandhuḥ/ AV 2.1.3

-Sa no bandhr janitā sa vidhātā/ YV 32.10

-Uta vāta pitāsi na uta bhrātota naḥ sakhā/ SV 1841

For a sincere devotee, God is full source of all strength, spiritual as well as physical. This results in absolute surrender to Him. In Him he has his ultimate refuge. Consequent upon the complete surrender, the divine grace (*Kripā*) comes. A *mantra* of Agni describes him as the great refuge of man, 'I will bring you oblation. I will send you my prayer. You are adorable in our invocations. O Deity! O King! You are fountain in the desert to a worshipful man.'

-Pra te yakṣi pa ta iyarmi manma bhuvo yathā vandyo haveṣu/ Dhanvanniva prapā asi tvamagna iyakṣve pūrave pratna rājan// RV 10.4.1

Here we find an attitude of worship in keeping with what has come to be known latterly as the spirit of *Bhakti*. As in the desert the thirsty man is saved by a fountain of water found in oasis, so in the world man is saved by Divine grace. When love deepens and absolute surrender happens, the grace of God descends on the devotee. God seems to be under the control of such a devotee. In Gītā, Lord Kṛṣṇa says, "He who is ever content, harmonious, self-controlled, determined, with mind and reasons dedicated to Me, he, My devotee, is dear to Me" (Gītā 12.14).

The worshiper seeks only Divine Bliss, help, benevolence, love, and protection. When a devotee disregards everything except devotion to God, it becomes responsibility of God to take care of the devotee. The devotee regains peace by meditation and seeks grace of God by prayer. The attractions of love between the worshipper and the Deity have found fine comparisons in a *mantra*. ' Like cattle to the village, like warriors to their horses, like loving milky cows to their calves, like the

husband to the wife, may the deity, the Upholder of the heaven, Lord of all bliss, turn towards us'.

- *Gāva iva grāmam yuyudhi ivāsvān*

vāśreva vatsam sumanā duhānā/

Patiriva jāyām abhi no nyetu dhartā

divaḥ savitā viśvavāraḥ//RV 10.149.4

He experiences the grace of God within him in every situation. God does not refuse His grace to any one who is his sincere devotee. Grace is said to be divinely bestowed to devotees without any discrimination. According to this, the chief thing in religion is Divine grace which is most needed by the humble and distressed. The devotee constantly realizes that all he has and all that he enjoys are from God who in His infinite kindness has endowed him with these. Even a *Jñāni* or *karmī* worships Almighty for His grace at the time of his death for better future.

VI. God's Gifts to Man and Man's Thanks to God

The gifts of God to men are as varied as men are varied. In Vedic way of life devotee expresses thanks with all modesty to God and praises Him with all sincerity for his well-being and his achievements from the sunrise till the end of the day through performing various religious practices, *yajans* and prayers. Praise and thanks are due to Him for life, health, food, intelligence, society and the whole creation. All the achievements and capacities in life are only possible due to the grace of God. Elements of nature that sustain life such as trees, sun, wind, day and night are all expressions of His grace. Truthful devotees thank God for His grace whenever they pluck a flower or a leave, whenever they take a bath in any holy river, whenever it rains, when there is sunrise or sunset, when there is good harvest and so on. In every prayer to God the devotee expresses hearty praise and thankfulness to God for his existence and wellbeing. Prayers, illustrate God and various deities as father and mother Who can protect the worshiper. All *namaḥ* is nothing but thankfulness. It shows sense of honour and gratitude towards respectable.

- *Namo Bharanta emasi* /RV1.1.7

- *Tryambakam yajāmahe*/ YV 3.60

- *Bhūyiṣṭham te nama uktim vidhema*/ RV 1.189.1; YV 3.25, 40.16

Similarly, a popular Sanskrit Prayer says, "You are my mother, You are my father, You are my relative, You are my friend, You are my learning, You are my wealth and You are all and every thing for me."

Tvameva mātā ca pitā tvameva

tvameva bandhuśca sakhā tvameva/

Tvameva vidyā draviṇam tvameva

tvameva sarvam mama devadeva//

Feeling of gratitude involves one's thought, speech and action. It is desired by a devotee that God always be in his memory so that he can lead a happy life by thanking Him. Devotee sings enumerable glories of God with feelings of dedication, and surrender to

Him. He performs religious rites for his purification and also for pleasing God. Praise and prayer to God is a natural function of a holy man because he likes to listen and sing enormous glories of God.

- *Tajo asi tejo mayi dhihi/*

Vīryam asi vīryam mayi dhihi/

Balma asi balam mayi dhihi/ YV19.9

VII. Expression of Gratitude to God

According to Vedic view, various types of help and support received in one's growth can be classified into three categories. They are – family and friends, 2. The great sages, and 3.God. These are called three debts – *Pitri Ṛṇa, Ṛṣi Ṛṇa*, and *Deva Ṛṇa.* Family and friend provide help and support in our immediate necessities. The great sages and teachers have provided the various levels of knowledge about life and nature which is always very helpful in our growth. God has provided us life and every thing to lead a good life. '*Jīvem Sardaḥ Satam*' is a famous prayer of Vedic origin. Besides, He has provided vast nature and its beautiful variations through seasons and other diverse elements for sustenance and growth. The Vedas direct that one has to repay these debts in one's life by performing certain prescribed actions and above all, by expressing gratitude for them time to time through prayers or *yajan*s. The act of giving earnest thanks is an elevating one because it also expresses the humility and humbleness of a person and reflects one's wisdom in recognizing the limitation of the individual ego and ability. It also provides everyone a calm, blissful and joyous frame of mind.

VIII. Perfection Pertains to Providence

For everlasting peace and bliss of mankind it is imperative that human beings should possess some divine qualities. In comparison to Maker, man is a feeble and frail creature full of flaws and foibles. Man, however strong he may be, is after all a tiny creature in the vast cosmos. Hence, he should not be puffed up with pride over his victory and forget his magnificent Master who is Supreme and sole Sovereign of the universe. He should ascribe his triumph to grace of God. He should resign himself to the will of Magnificent Maker and entrust all his desires and deeds to benign Benefactor. Man is abode of errors. Perfection pertains to Providence only. Admiration is attributed to omnipotent Almighty only. Obeisance suits Supreme Being only. Eulogy and praise befit beneficent Giver of bliss only. Adoration behooves benign Being only. A prayer from the Veda says: 'Profound obeisance is offered to Provider of bliss! Heartfelt homage is paid to beneficent Lord! Sincerest salute is made to benevolent God! Affectionate adoration is rendered to blissful and benign Supreme Being!'

-*Namaḥ śambhavāya ca mayobhavāya ca/ namaḥ śankarāya caMayaskarāya*

ca/ namaḥ śivāya ca śivatarāya ca//

-YV 16.41

IX. *Bhakti* Tradition in Ancient India

The charm of *Gītā*, Divine Song, appears more decided, when we find there an assurance from God about his constant relation and unconditional love with devotee. The ninth chapter deals with Divine constitution in which all creatures rest. The Lord describes that the surest way to approach Divine is to have unswerving devotion (*Ananyā bhakti*) with a life and conduct set forth in the scriptures. The verse says, "On Me fix your mind; be devoted to Me, worship Me, prostrate yourself before Me, harmonized thus in the Self, you shall come unto Me, having Me as your supreme goal" (Gītā 9. 34). "By one-pointed devotion to Me alone will you be able to know Me, see Me and enter Me" (Gītā 11.54). The eleventh chapter is called *Viśvarūpadarśna* i.e. the vision of the universal form of the Almighty. Here Śrī Kṛṣṇa showed his Almighty form to Arjun to widen his vision and to put into his mind a higher conception of worship. Finally Arjun, amazed and puzzled by the glorious manifestation of the God, offered his prayers wholeheartedly, "I fall before You, with my body, I worship as is fitting; You bless me. As father with the son, as friend with friend, as lover with the beloved, please bear with me. O Supreme God! Be pleased and kind to me" (Gītā 11.44, 45).

The *Bhakti* movement attained intensity and sweep up in different parts of India during medieval times. The *Vedantic* doctrines of Ramānuja and his disciple, Ramānanda, were the main source of inspiration for this reform movement. Ramānuja declared that it was possible for all men to attain communion with God and enjoy eternal bliss through devotion. His simple maxim was: "Let no one ask a man's caste or sect, whoever adores God, is God's own." He traveled far and wide. He has twelve disciples. Of them, Raidāsa was a cobbler, Dharṇa an untouchable peasant, Senā a barber, and Kabīra a low caste weaver. This was the case with other religious reformers also. The great Tulsīdāsa who lived in the time of Akbar, was a *brāhamin* by birth but he left parents in his childhood to become a minstrel and a devotee of God. He wrote immortal poetry on Srī Rāma but his Rāma was none other than eternal God. He desired only His absolute devotion for attaining His grace and thus Tulsīdāsa prayed, "I don't have any other desire in my mind despite a desire that I can get the devotion, bliss and grace of God."

Dādu, leader of the *Bhakti* movement in Rajputanā, was a low caste spinner. Nanak was the son of a small trader.

The Marathi poet, Nā madeva was a tailor, while Tukāram was a low caste trader. The great Bengal saint Chitanya, belonged to a poor family but he showed the path of divine Bliss through devotion to God by His popular name Śrī Kṛṣṇa. Vemannā, the celebrated poet of Andhra, was an illiterate peasant. In short, the doctrine that all men are equal before God, became the central idea of this movement. These saints were neither idle philosophers nor arm-chair social reformers. They were active among the people and earned their livelihood by hard work. They raised voice against blind superstition and the caste system, and proclaimed the equality of all men before God. Kabī ra, the fifteenth-century saint of Hindu -Muslim unity, said: "The Hindu God lives at Banaras, the Muslim God at Mecca. But He who made the world, lives not in a city made by hands. There is one Father of Hindu and Muslim, one God in all matter." Some of his poems sang the unity of Hindu and Muslims: "In all vessels, whether Hindu or Muslim, there is one soul." Again he proclaimed, "There is one earth and only one potter, one is the creator of all, all the different forms are fashioned by one wheel." All saints of this movement proclaimed that in the way of devotion all people, irrespective of caste, color, creed and lineage, are basically divine and have innate urge and potentiality for liberation.

Among the modern thinkers of India, the name of Swami Vivekā nanda is significance in this context. He was a disciple of Śrī Rāmakṛṣna Paramahaṁ sa whose association gave a new implication to his life. Śrī Rāmakṛṣna, as is well known, has sincerely practiced the various leading faiths, including Christianity, Islam and several approaches of *Sana ̄ tana Dharma,* one at a time, and attained God-realization through them all. Hence, the followers of several religions hold the Paramahaṁsadeva in great esteem. Particularly, his significant pronouncement pertaining to 'more than mere religious tolerance' – *yato mat tatho path* – is hailed as a modern carter of religious freedom. The sage had said, "All religions are true: one can attain God by any path of one's choosing provided it is practiced with sincerity and devotion." Furthermore, and this is equally important in the present-day context, he inspired his favorite disciple, Swami Vivekananda, to commit himself to the service of the poor and the downtrodden whom, alas, the world has in such a large numbers everywhere; not in 'an enforced or casual manner, but as a service of the living *Nārāyaṇas* (God-in-men)'. This counsel, later on, came to form the Ramakrishna Mission for 'selfless service of suffering humanity.' It is inspiring that even today people are

drawn to it with devoted commitment. Swami Vivekānanda took a great effort to join together the springs of India's religious thoughts. His Vedānta was to view humanity as the manifestations of Divinity.

X. Conclusion

Vedic religion teaches moral universalism and gratitude to God. Gratitude or devotion to God has universal appeal because it constitutes the essence of all types of religious practices. Indeed, gratitude to God is an inter-religious concept and a common virtue. The Vedic seers ask us to rise to the conception of God, who is beyond imagine and concept, who can be experienced but not known, who is the vitality of the human spirit and the ultimate of all that exists. This goal represents the transcendent unity of all religions which is above their empirical diversity. In fact, the unity of different religions can be realized in an inward and spiritual way. The feeling of gratitude towards God is a common sentiment in all spiritual experience. It is a universal foundation on which rests faith and devotion. But the building that is erected on this foundation differs with each individual. Each individual has, in some sense, his unique experience. The variety of experience adds to the spiritual richness of the world. Srī Rāmakṛṣna used to narrate a short story on the importance of faith. "There are various sects among Hindus, which sect or which creed should one follow? Pārvati once asked Mahādeva 'O Lord! What is the root of the Eternal, Everlasting, All embracing Bliss?' To her Mahā deva thus replied, 'The root is faith.' Let every one perform with faith the devotions and duties of his own creed." Finally it can be said that the cult of devotion which was stared by Vedic seers in their expressions through out the Vedic literature, later on developed and continued as the purest feeling of gratitude towards God in our religious tradition of India and thus refuted all man-made discrimination.

Abbreviations:

AV-Atharvaveda; RV- Ṛgveda;
SV- Sāmaveda ;YV-Yajurveda; Up. Upaniṣad;
Kath.Up.-Kathopaniṣad;
Mund. Up.-Muṇḍakopaniṣad;
Br.Up.-Bṛhadāraṇyakopaniṣad;
Tai.Up.-Taittirīyopaniṣad;
Isa.Up.- Īśopaniṣad

Vaidika Vāg Jyotiḥ
ISSN 2277-4351

Vol.1, No.2 (179-184) Jan-jun 2013

Themes In Vedic Mythology. Significance of Some Vedic Legends

(Kapil Dev Dvivedi, Director , Vishva Bharati Research Institute, Gyanpur (Bhadohi)

*(Lecture delivered in Centre for Religious Studies, University of Toranto Oct 12, 1990-**Editor**)*

In the Vedas we find some legends, which throw light on some divine phenomena. The deities like Vishnu, Indra, Savitar, Soma, Agni etc. are called supporters and sustainers of the world. They give light, energy, fame, progeny, happiness and bliss. They remove darkness, ignorance and obstacles. They provide happiness, intelligence and total welfare.

Lord Vishnu is called Vishnu, because he is omnipresent.

वेवेष्टि व्याप्नोति सर्वं जगद् इति विष्णु:।

Vishnu is derived from the root ViS.

In the RV. 1.22.17-21 it is said that:

Vishnu, the unconquerable preserver, strove three steps, bearing from thence fixed observances. Behold the acts of Vishnu, through which this intimate friend Indra perceives religious ceremonies. Sages constantly behold that highest position of Vishnu.

At another place (RV. 1.154.4) it is said that :- Where three stations, filled with honey, imperishable, gladden us spontaneously, who alone sustained the triple universe, the earth, the sky and all the worlds. May I attain that beloved heaven of his, where men devoted to the gods rejoice, for there is a spring of honey in the highest abode of the wide stepping Vishnu.

The author of बृहद्देवता explains what are these three steps of विष्णु. He says they are – 'पृथिव्याम् अन्तरिक्षे दिवि च ' on the earth, in the mid-region and in the sky.

त्रीणि भान्ति रजांस्यस्य, तत्पदानि तु तेजसा। तेन मेधातिथि: प्राह, विष्णुमेनं त्रिविक्रमम्॥ बृह० २.६४

Vishnu is called त्रिविक्रम, because he enlightens the earth, the mid-region and heaven. विष्णु is a synonym of Sun.

विष्णु is also the Supreme Being. His abode is called परमपद i.e. salvation. The sages, who have devoted their lives in penance, visualize that supreme abode of Vishnu.

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ॥ ऋग्०1.22.20

In the Vedas Indra is proclaimed as the sovereign leader of Gods. He performs several heroic deeds. बृहद्देवता says he performs three acts, viz. 1. Taking of water, 2. Slaying of वृत्र and 3. All kinds of heroic deeds.

In the book 'Nirukta' it has been discussed at length by the author यास्क that वृत्र means a demon वृत्र, or the cloud. During the rainy season the sun is covered by clouds and the sunrays disappear. This battle goes on. Sometimes the sun is Visible and sometimes the cloud prevail. With the help of पवि or thunderbolt the sun drives away clouds and becomes victorious. This phenomenon is called the battle of इन्द्र and वृत्र. When the clouds are cut-down, they shower rains and the rivers on the earth and swollen. In this way इन्द्र is called the deity of rains. He brings rains with the help of मरुत् देवता, The मरुत् देवतो are wind-gods. They always accompany इन्द्र and give him their full support. Therefore it is **'हनो वृत्रं जया अपः'**

O God Indra, slay the demon वृत्र and provide water to us.

The story of इन्द्र and वृत्र also has a psychological meaning. इन्द्र is the soul and वृत्र are vices and evils. The evil thoughts envelop the soul and endanger his existance. This is a battle between the virtues and the vices. It is an eternal fight, which goes on forever. Sometimes ill-thoughts dominate and sometime the virtues. Therefore in the Vedas it is said that-

पाप्मा हुतो न सोमः। यजु०६.३५

O God Indra, Slay down the evil-deeds and ill-intentions and preserve our nobility.

In the ब्राह्मणग्रन्थs वृत्रs are described as evil-deeds and vices, (पाप्मा वै वृत्रः, शत०ब्रा० ११.१.५.७). The evil-deeds are to be checked and nobility of mind and heart is to the preserved. By virtuous deeds इन्द्र becomes victorious and is supposed to be the king of all gods. Wherever a heroic deed is required, the Lord Indra is invoked for help.

In the Vedas we find several enemies of इन्द्र. They include वल, शंबर, अहि etc. They denote different shapes of clouds. At several places in the Vedas obstructions to the rains are described and that is attributed to वृत्र. वृत्र is derived from the root वृ to cover. Similarly the demons अहि, बल, शंबर are different forms of वृत्र who obstruct rains. इन्द्र slew them and waters rushed down. This is what बृहद्देवता describes :-

रसादानं तु कर्मास्य, वृत्रस्य च निबर्हणम्।
स्तुतेः प्रभुत्वं सर्वस्य, बलस्य निखिला कृतिः॥
बृहद्देवता २.६

It is true that the original base of most of the Rigvedic deities and their concept is some aspect or force of nature and it is then turned into a personified being. Such a process of transition from nature to concrete personification has worked behind so many Rigvedic deities. In the case of Indra, it is not possible to ignore an element of a real human personality, that of a military hero, who led his followers to grim but successful battles. He is such a superhuman hero, who came to be mingled with a powerful warring force of nature, and the resulting mythology developed with an insperable mixture of happenings of real life and the nature.

Now we may take up अश्विनौ, Ashvins or अश्विनी कुमार, they are called physicians of the gods (देवानां भिषजौ). In the Vedas several hymns are ascribed to the Ashvins. They are wonderful physicians. They have not only cured the gods and divinities, but they are invoked to cure human ailments also. They cured the sage Cyavana, who was aged and suffered acute weakness. They made him young.

पुनश्च्यवानं चक्रथुर्युवानम्। ऋग्० १.११८.६

The medicine prescribed to him, now-a-days is supposed to be च्यवनप्राश. This medicine is even today very popular in india and Doctors prescribe it for strength, rejuvenation and longevity.

The बृहद्देवता gives some hint, who are these Ashvins. Where do they live and what kind of property they possess.

The बृहद्देवता remarks :-

सूर्याचन्द्रमसौ तौ हि, प्राणापानौ च तौ स्मृतौ।
अहोरात्रौ च तावेव, स्यातां तावेव रोदसी॥

बृहद्०७.१२६

अश्नुवाते हि तौ लोकान् ज्योतिषा च रसेन च। पृथक्-पृथक् च चरतो दक्षिणेनोत्तरेण च॥ बृहद्० ७.१२७

The word अश्विन् is derived from the root अश व्याप्तौ, to pervade. अश्विन्s mean, who are pervading everywhere. Ashvins are two seperate entities, they are spread everywhere, Both of them have different qualities. One of them gives light or energy to the world and the other gives रस juice, water or humidity. They differ in qualities. One remains on the right-handside and the other on the left hand side. One is positive and the other is negative. There properties differ and even then they are united and make one unit. Therefore बृहद्देवता remarks that they may be taken according to the context (1) The sun and moon, (2) प्राण and अपान, the vital airs called प्राण and अपान, (3) Day and night, (4) The earth and heaven.

If we take some clue from this we can explain the growth of all vegetation, plants and herbs. They require light from the sun and

humidity from the moon. प्राण and अपान vital airs also serve the same purpose. Day and night also perform the same functions. They are positive and negative charges.

For the human being vital air called प्राणवायु provides oxygen and अपान वायु drives out carbon dioxide. If a man is treated by प्राणायाम or Breathing exercises then he is sure to be cured and recovered. The two आश्विन्s perform this magic and they are renowned for their medical efficiency.

The Lord रुद्र has been defined veriously. The निरुक्त and बृहद्देवता say- यद् अरोदीत् तद् रुद्रस्य रुदत्वम्, while pouring rains he roared with the lightning therefore he is called रुद्र.

अरोदीदन्तरिक्षे यद्, विद्युद्वृष्टिं ददन्नृणाम् ।
चतुर्भिर्ऋषिभिस्तेन, रुद्र इत्यभिसंस्तुतः ।। बृहद्० २.३४

रुद्र is the lord of rains. He causes rains and nourishes the plants and herbs. Therefore in the YV. he is called the Lord of plants and herbs. In the 16th chapter of the Yajurveda it is said that.

वृक्षाणां पतये नमः, कक्षाणां पतये नमः, वनानां पतये नमः, ओषधीनां पतये नमः।। यजु० १६.१८-१९

वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यः पशूनां पतये नमो नमः।।

यजु० १६.१७

There is a story in the पुराणs that after the churning of the ocean all jewels were taken by Gods, but none of them dared to drink the poison drawn out of the ocean. It was Lord Rudra, who come forward and drank it. Therefore he is known as विषपायी, who drinks poison and शंकर, because he blesses the people and provides them nectar or अमृत. It is well known that the plants absorb carbon dioxide and emit oxygen. रुद्र being Lord of plants and herbs, performs this fuction. In this way the plants may be regarded as personified रुद्रs and plant-protection may be regarded as service or prayer to Lord रुद्र.

On the other hand we find रुद्र as the destroyer of the world. In the Yajurveda it is said that there are innumerable रुद्र on the earth, in the mid region and in the sky.

असंख्याता सहस्राणि ये रुद्राऽअधि भूम्याम्।
यजु०१६.५४

अस्मिन् महत्यर्णवेऽन्तरिक्षे भवाऽअधि।
यजु० १६.५५

नीलग्रीवाः शितिकण्ठा दिवꣳरुद्राऽउपश्रिताः।
यजु० १६.५६

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये दिवि येषां वर्षमिषवः।
यजु० १६.६४

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो येऽन्तरिक्षे येषां वातऽइषवः।।
यजु०१६.६५

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये पृथिव्यां येषामन्नमिषवः।।
यजु०१६.६६

या ते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपापकाशिनी।
तया नस्तन्वा शन्तमया गिरिशन्ताभि चाकशीहि
।। यजु०१६.२

This indicates that there are innumerable forms of pollution. Lord Shiva on one hand protects the earth and he is शिव and शंकर blesses the earth with happiess and prosperity. On the other hand he is destroyer of the universe. If his orders are not obeyed and the natural laws are not strictly observed then he destroys the universe. In this way we can say that protection of environment is a must to please Lord Shiva.

There is a story in the Upanishad that the god, human beings and demons approached प्रजापति and they sought his blessings. He only said- द द द. The gods and others had hard time to understand this syllable. After a lot of deliberation the gods took the syllable द as दाम्यत, इन्द्रियदमनं कुरुत इति, control your sense-organs, eyes, ears, nose and tongue. The human beings took it as दत्त, दानं कुरुत, be charitably disposed, help the needy persons by giving them some money or other articles. The demons took this द syllable as दयत, जीवेषु दयां कुरुत, refrain from cruelity and show mercy on the creatures. In this way one syllable द uttered by प्रजापति was variously interpreted by gods and others according to their concepts.

We find in the Vedas a story of the king Pururavas and a nymph called Urvashi. The king fell in love with Urvashi and married her. They remained united for a long time and had a son named Ayus. Later on the nymph Urvashi left her husband Pururavas and went away to the heaven. The king was bewildered and kept on weeping, but he could not get her again. In the YV it is said :-

अग्नेर्जनित्रमसि वृषणौ स्थऽउर्वश्यस्यायुरसि पुरूरवाऽअसि। यजु०५.२

The dramatist Kalidas took this theme and wrote a drama called Vikramorvashiyam, where this love affair of the king Vikramaditya and Urvashi is depicted.

Who is this Pururavas and who is Urvashi ? How they united and later on are seperated. The whole story is metaphorical. Here Puru-ravas is actually the cloud, Puru means loud, and Ravas Means sound, so Pururavas means:- one who roars loudly, i.e. the cloud. Urvashi is lightning. उरु अश्नोति व्याप्नोति इति उर्वशी, one who expands herself widely. In the rainy season the cloud and lightning are united. They remain together and embrace each other. When the

rainy season is over, the lightning disappears. This is called seperation of पुरूरवस् and उर्वशी.

In this way the Vedic legends intend to express some subtle meanings. They personify the natural phenomena and give them names of males and females. A theme expressed by means of a story becomes more interesting and pleasing. Therefore this kind of method has been adopted in the Vedas for making it congenial.

***

विद्वज्जन-परिचय

प्रो० दिनेशचन्द्र शास्त्री	अध्यक्ष-वेदविभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
प्रो० वीरन्द्र कुमार अलंकार	प्रोफेसर, संस्कृतविभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ (पंजाब)
डॉ० बद्रीप्रसाद पंचोली	किशनगढ़-राजस्थान
डॉ० वेदप्रकाश शास्त्री	4-E, कैलाश नगर, फाजिलका, पंजाब
डॉ० रामनाथ वेदालंकार	वेदमन्दिर, गीता आश्रम, ज्वालापुर, हरिद्वार
डॉ० एम०एल० गुप्ता	पूर्व प्रधानाचार्य, एस०एस०जे० स्नातकोत्तर कॉलेज, भरतपुर (राज०)
डॉ० अपर्णा धीर	संयोजिका, परियोजना विभाग राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, जनकपुरी, नई दिल्ली
डॉ० अर्चना दुबे	वनस्थली, विद्यापीठ, जिला-टोंक (राजस्थान)
डॉ०कृष्णवल्लभ पालीवाल	एम०एस-सी०, पी-एच०डी०, नई दिल्ली-१२
डॉ०भवानीलाल भारतीय	सेवानिवृत्त प्रोफेसर, दयानन्द शोधपीठ, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़
(स्व०) श्रीपाद दामोदर सातवलेकर	सञ्चालक-स्वाध्यायमण्डल, पारडी (बलसाड)
(स्व०) वासुदेवशरण अग्रवाल	लखनऊ (उत्तर प्रदेश)
(स्व०) युधिष्ठिर मीमांसक	रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, सोनीपत (हरियाणा)
श्री सन्दीप कुमार चौहान	शोधच्छात्र-वेदविभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
डॉ० प्रशस्यमित्र शास्त्री	वैदिक प्रवक्ता, बी०-२९, आनन्द नगर, जेलरोड, रायबरेली (उ०प्र०)
डॉ० दिनेश आर०माछी	संस्कृतविभागाध्यक्ष, सरकारी विनयन कालेज शहेरा, जिला, पंचमहल, गुजरात
डॉ० भारतेन्दु द्विवेदी	एसो०प्रो० एवं विभागाध्यक्ष-सं०वि०,का०न०रा०स्ना०महाविद्यालय, ज्ञानपुर, भदोही
डॉ० भारती आर्य	द्वारा-विश्वभारती अनुसन्धान परिषद्, ज्ञानपुर, भदोही (उ०प्र०)
डॉ० सुशील कुमार 'अमित'	प्राध्यापक, गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर, हरिद्वार
डॉ० राम हरीश मौर्य	पूर्व शोधच्छात्र, वेद विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
डॉ० नरेश कुमार	असिस्टेण्ट प्रोफेसर (तदर्थ) वेदविभाग, गु०कां०वि०वि०, हरिद्वार
डॉ० रामराजउपाध्याय:	निदेशक, पौरोहित्य प्रशिक्षण पाठ्यक्रम, ला०ब०शा०सं०विद्यापीठ, नई दिल्ली-१६
प्रो०शशि तिवारी	पूर्वविभागाध्यक्ष, सं०वि०, मैत्रेयी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
डॉ० कपिलदेव द्विवेदी	पूर्व निदेशक, विश्वभारती अनुसन्धान परिषद्, ज्ञानपुर, भदोही (उ०प्र०)

-०-

UTTMUL 000 25/35/1/2012-TC ISSN 2277-435

'वैदिक वाग् ज्योतिः' 'Vaidika Vāg Jyotiḥ'

An International Half Yearly Refereed Research Journal on Vedic Studie

Vol. 1, Jan-June 2013, No.2

Imprint-line

(a)	Publisher's Name	:	Prof. A.K. Chopra (Registrar)
(b)	Printer's Name	:	Chandra Kiran Saini
(c)	Owner's Name	:	Registrar (A.K. Chopra)
(d)	Printing Press with complete address	:	Kiran Offset Printing Press Near Gurukul Kangri Pharmacy Kankhal, Haridwar 249 404 (Uttarakhand)
(e)	Place of publication with address	:	Grurkula Kangri Vishwavidyala Haridwar 249 404 (Uttarakhand
(f)	Editor's Name	:	Prof. Dinesh Chandra Shast

I, **Prof. A.K. Chopra** hereby declare that the particulars given above are tr to the best of my knowledge and belief.

Sd/-

(Prof. A.K. Chopr

Vaidika Vāg Jyotiḥ is a half yearly peer-reviewed
national Vedic Journal of Gurukul Kangri Vishwavidyalaya,
lwar . Manuscripts should be submitted to the Editor both in
ronic Form and in Hard Copy (Typed in double spacing on
ze paper). Research papers of late eminent vedic scholars
nmended by reviewers can also be consider for publication.

The Advice and Information in this Journal are believed to
ue and accurate but the person associated with the
uction of the journal can not accept any legal responsibility
ly errors or omissions that may be made.

Contact for :-

ion of Manuscript

or **'वैदिक वाग् ज्योतिः' 'Vaidika Vāg Jyotiḥ'**

Kangri Vishwavidyalaya, Haridwar - 249 404
nd, INDIA

shcshastri@gmail.com
10192541
kv.ac.in

For further Information Mail to :

Prof. Dinesh Chandra Shastri

ISSN 2277-4351
UTTMUL 000 25/35/1/2012-T
Vol. 1, Jan-June 2013, No.2

‘वैदिक वाग् ज्योतिः’ 'Vaidika Vāg Jyotiḥ'

An International Half Yearly Refereed Research Journal on Vedic Studie

Aims & Objectives

1. *To rectify and clarify the illusionary thoughts expressed by critics on Vedas, by referring to the existing logica proof and arguments, in Shastras.*

2. *To extract the knowledge-scientific or otherwise, hidden in Vedas.*

3. *To publish the original Vedic findings.*

4. *To prepare special edition on Vedic doctrine, containing detailed arguments for notified Vedic research outcomes*

5. *To accelerate Swāmī Dayānand Sarswatī's thoughts an opinions for clearing the illusions prevailing abou Vedas.*

6. *To publish critical edition of work carried out on Vedas b citing the facts that originally existed in Vedic book rarely available.*

मुद्रकः किरण ऑफसैट प्रिंटिंग प्रैस, कनखल, हरिद्वार फोन: 9837007222